परिभाषेन्दुशेखरः

व्याख्याकार

आचार्य विश्वनाथ मिश्र



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

८०

श्रीमन्नागेशभट्टविरचितः

परिभाषेन्दुशेखरः

'सुबोधिनी'-हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकार—

श्री विश्वनाथ मिश्र

प्राचार्य, राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, बीकानेर (राज०)

भूमिका लेखक—

श्री श्यामाचरण त्रिपाठी

प्राध्यापक : व्याकरणविभाग

राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, बीकानेर



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

पो० बा० नं० ११२९, गोपालमन्दिर लेन

वाराणसी २२१००१

प्रकाशक—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

सर्वाधिकार सुरक्षित

द्वितीय संस्करण १९९०

मूल्य ८०.००

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड

दिल्ली ११०००७

*

प्रमुख वितरक—

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

मुद्रक—

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

80

PARIBHĀSENDUŚEKHARA

OF

ŚRĪ NĀGEŚA BHAṬṬA

Edited with

'Subodhini' Hindi Commentary

By

Shri Vishwanath Mishra

Principal, Govt. Sanskrit College, Bikaner

Introduction by

Shri Shyamacharan Tripathi

Professor : Vyakarana Vibhag

Govt. Sanskrit College, Bikaner

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

© CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Booksellers)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001

Also can be had of
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road
DELHI 110007

*

Sole Distributors
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001

Telephone : 63076

समर्पण

जिनके पवित्र श्रीचरणों में बैठ कर
सारस्वतसुधा का समास्वादन किया,
उन दिव्यात्मा ज्ञाननिधि
श्रीरामयशस्त्रिपाठी
की
पावन स्मृति में
सादर समर्पित

❀

विनीत
विश्वनाथ मिश्र

पुरोवाक्

संस्कृत वाङ्मय में व्याकरणशास्त्र का गौरवपूर्ण स्थान है। 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्' इस उक्ति के द्वारा इस बात की सम्पुष्टि होती है। व्याकरणों का वैविध्य होने पर भी पाणिनीय व्याकरण ही सर्वमान्य है। महर्षि पाणिनि की लोकातिशायिनी सूक्ष्मेक्षिका जो अष्टाध्यायी के रूप में विश्वविश्रुत है, की विस्तृत एवं गम्भीर अभिव्यक्ति पतञ्जलि के महाभाष्य में उपलब्ध होती है। पातञ्जल महाभाष्य के भी स्वयं प्रौढ़ तथा व्याख्यासापेक्ष होने के कारण महावैयाकरण कैयट और नागेशभट्ट ने उसके सूक्ष्म रहस्यों का जो उद्घाटन किया, उसके लिये वैयाकरण जगत् उनका चिरऋणी रहेगा।

यद्यपि पाणिनि की अष्टाध्यायी के आधार पर काशिका आदि ग्रन्थों की भी रचना हुई है, तथापि उसके आधार पर भट्टोजिदीक्षित, नागेशभट्ट आदि विद्वानों द्वारा चलाई हुई परम्परा का आज संस्कृत-जगत् में अपना एक विशिष्ट स्थान है। इस परम्परा को गौरवान्वित करने में नागेशभट्ट की प्रखर प्रतिभा का वर्चस्व है। इनके द्वारा अनेक प्रौढ व्याकरणग्रन्थों का निर्माण हुआ है, जो व्याकरणशास्त्र के मानदण्ड के रूप में विद्वत्-समाज में प्रसिद्ध हैं। 'परिभाषेन्दुशेखर' भी उन्हीं में एक विशिष्ट कृति है।

'परिभाषेन्दुशेखर' पर श्री भैरवमिश्र की 'भैरवी', महामहोपाध्याय श्री तात्याशास्त्री की 'भूति' एवं विद्वन्मूर्धन्य श्री जयदेव मिश्र की 'विजया' टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। काशी की अध्ययन और अध्यापन परम्परा में इन्हीं टीकाओं का प्राधान्य है। आज भी वहाँ शास्त्रार्थ चर्चा का केन्द्रबिन्दु 'भूति' और 'विजया' टीकाएँ ही हैं।

एक समय था जब 'भूति' और 'विजया' के परिष्कारों से वाराणसी का संस्कृत-वायुमण्डल व्याप्त था, परन्तु समय परिवर्तनशील है। आज अध्ययनाध्यापन की परिपाटी उस प्रकार की नहीं है, जिस प्रकार वर्षों पूर्व प्रचलित थी। आज उसमें काठिन्य का अनुभव किया जा रहा है। अत एव छात्रों की कठिनाई को ध्यान में रख कर 'परिभाषेन्दुशेखर' की हिन्दी व्याख्या करना आवश्यक प्रतीत हुआ और इस दिशा में मेरा यह अल्प प्रयास है।

इस व्याख्या का मुख्य उद्देश्य यह है कि मूल का वास्तविक अर्थ छात्रों की समझ में आ जाय। एतदर्थ मैंने मूल को स्पष्ट करने का यथाशक्य प्रयास किया है। यद्यपि 'अनेकान्ता अनुबन्धाः' और 'निर्दिश्यमानत्व' जैसे दो-एक स्थलों पर परिष्कारांश का भी दिग्दर्शन कराया गया है, तथापि मेरा उद्देश्य मूल के अर्थ को स्पष्ट करना मात्र है। जहाँ कोई कठिन या विशेष विवे-

चनीय विषय आया है वहाँ 'विमर्श' या 'सारांश' ऐसा संकेत करके मैंने उस विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। स्पष्टीकरण के व्यामोहवश यह व्याख्या कुछ विस्तृत अवश्य हो गई है। मुझे अपने इस प्रयास में कितनी सफलता मिली है, इसका निर्णय तो विद्वन्मण्डली ही करेगी।

इस टीका में मूल पाठ 'भूति' टीका वाले 'परिभाषेन्दुशेखर' से लिया गया है। व्याख्या करते समय मेरे समक्ष 'भूति' और 'विजया' ये दो टीकाएँ रही हैं। इनसे भी मुझे पर्याप्त सहायता मिली है। अतः मैं इन टीका-कर्त्ताओं का आभारी हूँ।

मेरे मित्र श्री श्यामाचरण त्रिपाठी, व्याख्याता (व्याकरण), राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, बीकानेर, ने इसकी विस्तृत भूमिका लिख कर अपना जो अमूल्य सहयोग दिया है, उसके लिये आभार-प्रदर्शन मात्र शिष्टाचार ही होगा। इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को व्यवस्थित करने में मेरे शिष्य अशोक-कुमार ने पर्याप्त सहयोग किया है। एतदर्थ इनके लिए मेरी हार्दिक शुभ-कामनाएँ हैं।

इस व्याख्या से छात्र-जगत् का कुछ भी लाभ हो सका तो मैं अपने प्रयास को सफल मानूंगा।

यह निश्चित है कि चलने वाले का ही स्खलन भी होता है। सम्भव है इसमें त्रुटियाँ रह गई हों। मैं उपकृत होऊँगा जब गुणैकपक्षपाती सहृदय विद्वज्जन उनकी ओर मेरा ध्यान दिलाने की कृपा करेंगे।

वशंवद

विश्वनाथ मिश्र

अवधायिका

'काणादं पाणिनीयञ्च सर्वशास्त्रोपकारकम्' इस उक्ति के अनुसार संस्कृत वाङ्मय में व्याकरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्याकरण वह निकषोपल है जिसके द्वारा भाषा का विशुद्ध एवं परिमार्जित रूप सामने आता है। शब्द की व्याक्रिया करना ही व्याकरणशास्त्र का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। क्योंकि व्याकरण शब्द की व्युत्पत्ति ही ऐसी है—

'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा येन तद्व्याकरणम्' व्याकरण वह अजिह्म राजपद्धति है जिस पर अबाध रूप से चलते हुए भाषा की समस्त विधाओं का आलोडन भलीभाँति किया जा सकता है। यद्यपि संस्कृत वाङ्मय में ऐन्द्र, चान्द्र, कासकृत्स्न, शाकटायन, आपिशलि इत्यादि अनेक व्याकरण सुने जाते हैं तथापि इन समस्त व्याकरणों में आज उपलब्ध जितने व्याकरण हैं उनमें पाणिनि व्याकरण सर्वातिशायी एवं सर्वाङ्गपूर्ण है। इससे पूर्व इस प्रकार सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण कोई था, यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। इसीलिए अभियुक्तों की यह उक्ति सर्वथा संगत प्रतीत होती है—

पाणिनीयं महाशास्त्रं पदसाधुत्वलक्षणम्।
सर्वोपकारकं ग्राह्यं कृत्स्नं त्याज्यं न किञ्चन॥ इति।

महर्षि पाणिनि ने सूत्रशैली में अपनी विख्यात 'अष्टाध्यायी' का निर्माण किया। इसका आधार अइउण् इत्यादि चतुर्दश माहेश्वरसूत्र हैं। नन्दिकेश्वरकृत काशिका में इन चौदह सूत्रों की विशिष्ट व्याख्या सुनी जाती है। पाणिनीय-अष्टाध्यायी का तात्त्विक विवेचन 'कात्यायन' के वार्तिकों एवम् 'महर्षि पतञ्जलि' के महाभाष्य में उपलब्ध होता है। इसके बाद पाणिनि अष्टाध्यायी के ऊपर उपयोगितावाद को दृष्टि में रख कर 'भट्टोजिदीक्षित' ने 'वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी' 'शब्दकौस्तुभ' आदि ग्रन्थों की रचना की। इसमें सन्देह नहीं कि दीक्षित जी ने पाणिनिसूत्रों का क्रम-भङ्ग करके सिद्धान्त-कौमुदी का निर्माण किया, किन्तु प्रकरणोपयोगी सूत्रों का एकत्र संकलन इस वैज्ञानिक पद्धति से किया गया कि वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी ग्रन्थ आज संस्कृत-जगत् में सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रंथ के रूप में समादृत है।

पाणिनि व्याकरण के विकास की इस परम्परा में वैयाकरणधुरीण 'श्री नागेशभट्ट' का अमूल्य योगदान है। नागेश भट्ट का जन्म वाराणसी के एक ब्राह्मण-कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम 'शिवभट्ट' एवं माता का नाम 'सती देवी' था। ये महानुभाव शृंगवेरपुराधीश राम नामक नृपति के यहाँ रहते थे। इन्होंने अनेक व्याकरण ग्रन्थों की रचना की है। पाणिनि व्याकरण यथार्थ रूप में नागेशभट्ट के ग्रन्थों में ही प्रतिबिम्बित है। यह विद्वानों की

मान्यता है। नागेशभट्ट के ग्रन्थों में 'परिभाषेन्दुशेखर' एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। व्याकरणशास्त्र की परिभाषाओं का यह सुप्रसिद्ध व्याख्या ग्रन्थ है।

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय

इस ग्रन्थ में परिभाषाओं का व्याख्यान किया गया है। व्याकरण शास्त्र में परिभाषाएँ दो प्रकार की मिलती हैं। एक तो पाणिनि द्वारा उच्चारित सूत्रात्मक परिभाषा, जैसे—'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इत्यादि, एवं दूसरी तरह की परिभाषाएँ वे हैं जो पाणिनि सूत्रों से ज्ञापित (बोधित) अथवा वाचनिकी या लोकन्यायसिद्ध हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में सूत्रात्मक परिभाषाओं का व्याख्यान नहीं है।

व्याख्येय परिभाषा के रूप में यहाँ दूसरे प्रकार की परिभाषाएँ गृहीत हैं। व्याख्येय परिभाषाओं का स्वरूप करते हुए भूतिकार ने लिखा है—

'संकेतग्राहकभिन्नत्वे सति शब्दधर्मिकसाधुत्वप्रकारकशास्त्रजन्याप्रामाण्य-ज्ञानानास्कन्दितबोधकसहकारित्वेन मुन्यभिप्रेतत्वे सति पाणिन्युच्चरित-भिन्नत्वम्।'

इसका तात्पर्य है—"जो संकेतग्राहक संज्ञासूत्रों से भिन्न हों। यहाँ यह बात ज्ञातव्य है कि संज्ञासूत्र संकेत (शक्ति) के ग्राहक होते हैं। जैसे 'वृद्धिरादैच्' यह शास्त्र वृद्धि पद का संकेत आदैच् अर्थ में करता है। यहाँ व्याख्यान की जाने वाली परिभाषाएँ इस प्रकार के संज्ञासूत्रों से भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त 'निर्जरसौ' आदि प्रयोग जिनके लिए 'अयं प्रयोगः साधुः' इस प्रकार का साधुत्व-प्रकारकाप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितबोध 'जराया जरसन्य-तरस्याम्' का किया जाता है। उस बोध में सहकारित्वेन रूपेण मुनित्रय से जो अभिप्रेत हों तथा पाणिनि द्वारा उच्चारित न हों। ऐसी परिभाषाएँ ही व्याख्येय परिभाषा के रूप में स्वीकृत हैं।" 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इस परिभाषा में उक्त लक्षण का समन्वय भलीभाँति किया जा सकता है। क्योंकि यह परिभाषा संकेतग्राहक संज्ञासूत्रों से भिन्न है तथा लक्ष्यधार्मिक साधुत्व-प्रकारक बोध में सहकारितया मुनियों से अभिप्रेत है। साथ ही पाणिनि के द्वारा इसका उच्चारण भी नहीं किया गया है। इसीलिए यहाँ यह व्याख्येय परि-भाषा के रूप में ग्राह्य है। इसी प्रकार व्याख्येय परिभाषाओं का उपर्युक्त स्वरूप यहाँ समस्त परिभाषाओं से समन्वित होता है।

इस उपर्युक्त लक्ष्यलक्षित परिभाषाओं का यहाँ व्याख्यान होने के कारण 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इत्यादि परिभाषाएँ यहाँ व्याख्यात नहीं हुई हैं क्योंकि वे पाणिनि द्वारा साक्षात् उच्चारित हैं, और यहाँ की परिभाषाएँ पाणिनि-उच्चारितभिन्न हैं। परिभाषाओं का विवेचन करने वाला यह ग्रन्थ शब्दों की व्युत्पत्ति में अत्यन्त उपयोगी एवं व्याकरणशास्त्रविषयक विविधन्यायों का संग्रह है। इस ग्रन्थ में वर्णित परिभाषाएँ मुख्य रूप से

कात्यायन और पतञ्जलि इत्यादि प्रमुख व्याकरणशास्त्रीय आचार्यों के ग्रन्थों से ज्ञापित करके संकलित की गई हैं। महेश्वरसूत्र से भी कुछ परिभाषाएँ ज्ञापित हैं जैसे—'लण् एव अइउण्' के णकारद्वय से 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलणम्' इस पातञ्जलमहाभाष्य में ग्रन्थोक्त सभी परिभाषाओं का सोदाहरण उल्लेख है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि धातुपाठ के संकलन के समय ही इन परिभाषाओं का भी संकलन हुआ होगा।

परिभाषेन्दुशेखर से पहले परिभाषाओं के सम्बन्ध में परम प्राचीन ग्रन्थ व्याडिकृत परिभाषापाठ तथा सीरदेवविरचित परिभाषावृत्ति नामक ग्रन्थों का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि उक्त दोनों ग्रन्थ परिभाषा विवेचन के लिए उतने उपयोगी नहीं रहे होंगे जितना कि वर्तमान परिभाषेन्दुशेखर है।

नागेशभट्ट ने नव्यन्याय की शैली का अवलम्बन कर परिभाषाओं का जो मौलिक विवेचन किया है, वह अपने में अपूर्व है। भूति और विजया टीकाओं में जो परिष्कार देखने को मिलते हैं उनका बीज नागेशकृत परिभाषाओं की व्याख्या में ही निहित है। 'अनेकान्ता अनुबन्धाः, निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति, स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न, एकदेशविकृतमनन्यवत्' इत्यादि परिभाषाओं की भूति व्याख्या में परिष्कारों का वैशिष्टय भलीभाँति देखा जा जा सकता है।

इस ग्रंथ में तीन प्रकरण हैं। 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्' यहाँ से लेकर 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' तक जिसमें ३७ (सैंतीस) परिभाषाएँ हैं, यह प्रथम प्रकरण है। इसे 'शास्त्रत्वसम्पादनोद्देश' प्रकरण कहा जाता है। दूसरा प्रकरण जिसमें 'पूर्वापरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः' यहाँ से लेकर 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' तक है, जिसमें ३४ परिभाषाएँ आती हैं। इस प्रकरण का नाम 'बाधबीज' प्रकरण है। तीसरा प्रकरण 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' से प्रारम्भ होकर 'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' तक है, जिसमें बासठ परिभाषाएँ हैं। इस प्रकरण का नाम 'शास्त्रशेष' प्रकरण है।

इन उपर्युक्त तीनों प्रकरणों में प्रथमप्रकरण का नाम 'शास्त्रसम्पादनोद्देश' इसलिये रखा गया है कि इस प्रकरण की परिभाषाओं द्वारा 'इको यणचि' आदि सूत्रों में शास्त्रत्व का सम्पादन किया जाता है। शास्त्र उसे कहते हैं जो अप्रामाण्य ज्ञान से अनास्कन्दित लक्ष्य का साधुत्व ज्ञापित करे। यदि 'इकोयणचि' शास्त्र इक् के स्थान पर अविशेषेण यण् का विधान करे तो 'सुध्युपास्यः' इस प्रयोग में सकारोत्तरवर्ति उकार को भी कदाचित् यण् प्रसक्त हो सकता है। जो कि सर्वथा अप्रामाणिक होगा एवं उसके शास्त्रत्व का विघातक होगा। अतः 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' के सहयोग से 'इको यणचि' का अर्थ ऐसा किया जाता है अजव्यवहित पूर्वत्वविशिष्ट इक् के स्थान पर यण् हो। फल-

स्वरूप 'सुध्युपास्यः' प्रयोग में सकारोत्तरवर्ति उकार को यण् न होकर धकारोत्तरवर्ति इकार को यण् होता है। इसी प्रकार 'निर्जरसौ' इस प्रयोग में 'एकदेशविकृतन्याय' की सहायता से जर शब्द के स्थान पर तथा 'येन विधिस्तदन्तस्य' के द्वारा सम्पूर्ण निर्जर के स्थान जरसादेश प्राप्त होता है। यदि सम्पूर्ण निर्जर के स्थान पर जरसादेश हो जाय तो निर्जरसौ यह प्रयोग नहीं बन सकेगा। फलस्वरूप 'जराया जरसन्यतरस्याम्' शास्त्र में अप्रामाणिकता आ जायेगी। इसलिये 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इस परिभाषा की सहायता से निर्जरघटक जर के स्थान पर ही जरसादेश किया जाता है। इस प्रकार निर्जरसौ प्रयोग की सिद्धि होती है। साथ ही लक्ष्यधर्मिकसाधुत्वप्रकारक अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित बोध का जनक होने के कारण 'जराया जरसन्यतरस्याम्' का शास्त्रत्व भी सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार प्रथमतन्त्र की परिभाषाएँ शास्त्रत्वसम्पादन का कार्य करती हैं।

इस तन्त्र की परिभाषाओं के द्वारा शास्त्रत्वसम्पादन करने के बाद ही द्वितीय तन्त्र (प्रकरण) की बाधबीज वाली परिभाषाएँ सार्थक होती हैं। क्योंकि वहाँ यह कहा गया है कि अमुक शास्त्र के प्रति अमुक शास्त्र असिद्ध हो। किन्तु बिना शास्त्र की सिद्धि के एक शास्त्र के प्रति दूसरे शास्त्र को असिद्ध कैसे किया जा सकता था। प्रथमतन्त्र की परिभाषाओं के द्वारा शास्त्रत्व की सिद्धि करने से इस समस्या का समाधान हो जाता है। इस प्रकार प्रथम प्रकरण की परिभाषाएँ द्वितीय प्रकरण की परिभाषाओं की उपजीव्य कही जा सकती हैं। द्वितीय प्रकरण में परिभाषाओं के परस्पर बाध्यबाधक भाव का विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त शास्त्रोपयोगिनी परिभाषाएँ तृतीय प्रकरण में गृहीत हैं। इसका नाम शास्त्रशेषप्रकरण है।

परिभाषाओं का वर्गीकरण

परिभाषेन्दुशेखर में कुल १३३ परिभाषाएँ हैं। इनमें कुछ परिभाषाएँ ऐसी हैं जो प्राचीन वैयाकरण तन्त्र (शास्त्र) में वचनरूप से पठित हैं। एवं कुछ परिभाषाएँ पाणिनीय तन्त्र के अनुसार ज्ञापकसिद्ध और न्यायसिद्ध हैं। ज्ञापकसिद्ध से तात्पर्य उन परिभाषाओं से है जो किसी सूत्र या सूत्र के अंश से ज्ञापित की जाती हैं। जैसे—'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' यह परिभाषा 'वाह ऊठ्' इसके ऊठ् अंश से ज्ञापित है। एवं 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते' यह परिभाषा 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इस सम्पूर्ण सूत्र से ज्ञापित है। न्यायसिद्ध परिभाषाओं से तात्पर्य उन परिभाषाओं से है जो लौकिक या शास्त्रीय न्याय से सिद्ध होती हैं। जैसे—'यदागम' परिभाषा इस लौकिकन्याय से सिद्ध है कि देवदत्त का अङ्गाधिक्य होने पर भी तद्विशिष्ट (अङ्गाधिक्यविशिष्ट) व्यक्ति का देवदत्त शब्द से ग्रहण होता है। इस प्रकार न्यायसिद्ध परिभाषाओं में 'एकदेशविकृतमनन्यवत्, व्यपदेशिवदेकस्मिन्, असिद्धं

बहिरङ्गमन्तरङ्गे, येनाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति' इत्यादि अनेक परिभाषाएँ आती हैं।

वाचनिक परिभाषाएँ दो प्रकार की उपलब्ध हैं। प्रथम सूत्रसिद्धवाचनिकी। दूसरी स्वतन्त्रवाचनिकी। सूत्रसिद्धवाचनिकी परिभाषाओं में 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' परिभाषा आती है। 'निदिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' यह परिभाषा 'षष्ठी स्थानेयोगा' सूत्र की आवृत्ति करके सिद्ध की जाती है। अतः यह स्वतन्त्रवाचनिकी न होने पर भी वचनरूपेण पठित सूत्र से सिद्ध होने के कारण सूत्रसिद्धवाचनिकी कही जाती है। स्वतन्त्रवाचनिकी परिभाषा 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' है क्योंकि 'येन विधिस्तदन्तस्य' सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा इसी रूप में पढ़ी गयी है। इसी प्रकार अनेक परिभाषाएँ हैं जो स्वतन्त्रवाचनिकी हैं जिनका उल्लेख ग्रन्थकार ने स्वयं परिभाषाओं के व्याख्यान के अवसर पर कर दिया है। नागेशभट्ट ने अपने शब्दों में इस बात को प्रगट किया है 'प्राचीनवैयाकरणतन्त्रे वाचनिकान्यत्र पाणिनीयतन्त्रे ज्ञापकन्यायसिद्धानि भाष्यवार्तिकयोरुपनिबद्धानि यानि परिभाषारूपाणि तानि व्याख्यायन्ते' इस प्रकार इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय वाचनिक तथा ज्ञापक और न्यायसिद्ध परिभाषाओं का विवेचन करना है। इस प्रकार का विवेचन लक्ष्यधार्मिकसाधुत्वप्रकारक व्याकरणशास्त्रीयप्रयोजन का पूरक होगा।

परिभाषेन्दुशेखर में आये हुए पारिभाषिक शब्द

प्रत्येक ग्रन्थों की परिभाषिक शब्दावलियाँ पृथक्-पृथक् होती हैं। उन परिभाषिक शब्दों के वास्तविक अर्थ को जाने बिना उस शास्त्र के रहस्य को समझना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है। इसी उद्देश्य से परिभाषेन्दुशेखर में आये हुए कुछ परिभाषिक शब्दों के अर्थों का निरूपण यहाँ कर दिया जाता है।

यथोद्देश—यह शब्द 'यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्' इस दूसरी परिभाषा में आया है। यहाँ उद्देश शब्द का अर्थ सूत्रों का उपदेश-देश है। और उस उपदेश-देश का अतिक्रमण न करना यथोद्देश कहा जाता है।

कार्यकाल—यह शब्द 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' इस तीसरी परिभाषा में आया है। कार्यकाल शब्द का अर्थ है कार्य के द्वारा संज्ञा एवं परिभाषा सूत्रों का विधिदेश में ले आना। इसीलिए कहा जाता है कि कार्यकाल पक्ष में संज्ञा एवं परिभाषा सूत्रों का वाक्यार्थबोध विधिदेश में होता है।

अनेकान्त—यह शब्द 'अनेकान्ता अनुबन्धाः' इस परिभाषा में आया है। एकान्त शब्द का अर्थ अवयव होता है। अतः अनेकान्त का अर्थ अनवयव है।

अनुबन्ध—व्याकरणशास्त्र में अनुबन्ध के दो अर्थ होते हैं। जिनकी 'इत्' संज्ञा होती है वे अनुबन्ध कहे जाते हैं, अथवा जो इत् संज्ञा के योग्य होते हैं वे भी अनुबन्ध कहे जाते हैं। जैसे सन्, घञ्, अण् इत्यादि प्रत्ययों

में क्रमशः 'ञ्, ञ् ण्' आदि वर्णों की 'इत्' संज्ञा 'हलन्त्यम्' सूत्र से होती है इसलिए ये अनुबन्ध कहे जाते हैं।

अल्—यह शब्द प्रत्याहार होने से वर्णवाची है। क्योंकि इसके अन्तर्गत स्वर एवं व्यञ्जन उभयविध वर्णों का ग्रहण होता है।

कार्यी—जिसके स्थान पर कोई कार्य किया जाय उसे कार्यी कहते हैं। जैसे इकार के स्थान पर यण् होता है। अतः इकार यण् का कार्यी है।

निमित्त—जिसको पर में मानकर या जिससे पर में किसी के स्थान पर कोई कार्य किया जाय उसे निमित्त कहा जाता है। व्याकरणशास्त्र में निमित्त पद से सप्तम्यन्त तथा पञ्चम्यन्त दोनों प्रकार के पद लिये जाते हैं। जैसे—'इको यणचि' इस सूत्र में 'अचि' यह सप्तम्यन्त पद निमित्त है। एवम् 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' सूत्र में 'उदः' यह पञ्चम्यन्त पद निमित्त है।

आगम—आगम शब्द से यहाँ ऐसे वर्ण का ग्रहण होता है जो मित्र की भाँति किसी वर्ण के यहाँ आकर 'आद्यन्तौ टकितौ' आदि शास्त्रों की सहायता से उसका अवयव बन जाता है। जैसे—कुक्, टुक्, पुक् आदि।

आदेश—जहाँ किसी को हटाकर कोई दूसरा उसकी जगह हो जाय उसे आदेश कहते हैं। जैसे—'इकार' को 'यकार' आदेश 'हन्' को वधादेश आदि।

निर्दिश्यमान—यह शब्द 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इस परिभाषा में आया है। 'निर्दिश्यमान' शब्द का अर्थ है कि षष्ठी की प्रकृति से जिसकी प्राथमिक उपस्थिति हो। यहाँ ध्यातव्य है कि किसी शब्द को सुनकर 'स्वरूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' इस सूत्र से पहले उस शब्द स्वरूप की उपस्थिति होती है। उसके बाद 'येन विधिस्तदन्तस्य' इस शास्त्र की सहायता से तदन्त (वह शब्द है अन्तावयव जिसका ऐसे समुदाय) की उपस्थिति होती है। इन दोनों में प्राथमिक उपस्थिति का विषय जो होता है वही निर्दिश्यमान कहा जाता है। जैसे—'जराया जरसन्यतरस्याम्' में जरा शब्द से पहले 'जरा' इस आनुपूर्वी की उपस्थिति होती है। बाद में तदन्त विधि के द्वारा जरा शब्दान्त 'निर्जर' की उपस्थिति होती है। किन्तु निर्दिश्यमान होने के कारण 'जर' शब्द के स्थान पर ही 'जरस्' आदेश होता है।

आन्तर्य—आन्तर्य का अर्थ सादृश्य होता है। जो स्थानकृत, गुण-कृत, अर्थकृत, प्रमाणकृत भेद से चार प्रकार का माना गया है।

ग्रहण—यह शब्द इस ग्रंथ में बार-बार आया है। इस शब्द के 'गृह्यते बोध्यते येन तद् ग्रहणम्' इस करण व्युत्पत्ति से ग्रहण शब्द का अर्थ बोधक (ग्राहक) होता है। यदि बाहुलकात् भाव अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय किया जाय तो 'ग्रहणं बोधनम्' अर्थात् ग्रहण शब्द का अर्थ बोध होगा। जैसे—'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इस परिभाषा में दो बार ग्रहण शब्द आया है। इसमें प्रथम ग्रहण शब्द करणसाधन है तथा दूसरा ग्रहण शब्द

भावसाधन है। इसलिये परिभाषा का अर्थ इस प्रकार किया जाता है। प्रातिपदिकमात्रबोधकपदघटिते शास्त्रे लिङ्गबोधकप्रत्ययविशिष्टस्य ग्रहणम् (बोधः) भवति।

भाव्यमान—इस शब्द का अर्थ विधीयमान होता है। विधीयमान का तात्पर्य है जो किसी के स्थान पर हो। जैसे 'त्यदादीनामः' सूत्र से त्यदादि शब्दों के अन्तिम वर्णों के स्थान पर जो अकार आदेश होता है उसे विधीयमान कहते हैं।

वर्णाश्रय—जो कार्य किसी वर्ण को निमित्त मान कर होता है उसे वर्णाश्रय कार्य कहते हैं। जैसे—'एचोऽयवायावः' इस सूत्र के विधेय अयादि वर्णाश्रय कार्य हैं। क्योंकि वे अच् वर्ण को परे मान कर होते हैं।

तदादि—इस शब्द से प्रकृतिप्रत्ययविशिष्ट समुदाय का ग्रहण होता है। जैसे—राम शब्द से भ्याम् विभक्ति लाने पर 'राम+भ्याम्' इतना विशिष्ट भाग तदादि कहा जायेगा। किन्तु भ्याम् को परे मान कर जब 'राम' इतने अंश की अंगसंज्ञा करनी होगी तो केवल 'राम' इतना अंश व्यपदेशिवद् भाव से तदादि कहा जायेगा। तदादि शब्द का अर्थ ही प्रत्ययान्त तदादि है।

उपसर्जन—विशेषण या प्रकार को उपसर्जन कहते हैं। जहाँ कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ में विशेषण हो जाता है उसे उपसर्जन कहते हैं। जैसे—'प्रियास्त्रयो येषाम्' इस विग्रह में जो 'प्रियत्रि' शब्द बनता है, यहाँ अन्य के प्रति प्रिय और त्रि दोनों विशेषण हैं। अतः उक्त दोनों पद उपसर्जन हैं।

व्यपदेशिवद्भाव—विशिष्ट अपदेश को व्यपदेश कहते हैं अपदेश का अर्थ व्यवहार होता है। अतः व्यपदेश का अर्थ मुख्य व्यवहार हुआ। जहाँ अमुख्य में मुख्य व्यवहार किया जाय उसे व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं। जहाँ 'अत इञ्' सूत्र से अदन्त प्रातिपदिक से इञ् प्रत्यय होता है वहाँ 'दक्ष' आदि प्रातिपदिक तो मुख्य अदन्त हैं किन्तु जहाँ केवल अकार से 'इञ्' प्रत्यय किया जाता है वहाँ पर अकार में अदन्तत्व व्यपदेशिवद्भाव से लाया जाता है। यही अमुख्य में मुख्यवत् व्यवहार है।

घटित एवं घटक—परिभाषाओं के व्याख्यान के प्रसंग में जो परिष्कार किये गये हैं उसमें ये दोनों घटित एवं घटक शब्द बार-बार प्रयुक्त हुए हैं। इनमें घटक का तात्पर्य किसी समुदाय के अवयव से हैं। जैसे 'राम' शब्द के चार घटक या अवयव हैं और राम शब्द इन चारों अवयवों से घटित है। क्योकि जो जिसका घटक होता है वह उससे घटित होता है। घटकता एवं घटितता में परस्पर निरूप्य-निरूपकभावसम्बन्ध होता है। जो जिसका निरूपक होता है वह उससे निरूपित होता है। जैसे—रामनिष्ठ घटितता का निरूपक रकार, आकार, मकार एवं अकार ये चारों वर्ण हैं। इसलिए रामनिष्ठ घटितता इन चारों वर्णों में रहने वाली घटकता से निरूपित होती है।

परिभाषेन्दुशेखर की टीकाएँ

यद्यपि परिभाषेन्दुशेखर की अनेक टीकाएँ सुनी जाती हैं तथापि 'भूति' एवं 'विजया' ये दो टीकाएँ विद्वत् समाज में प्रसिद्ध तथा पठन-पाठन में विशेष रूप से प्रचलित हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये दोनों टीकाएँ उच्चकोटि की हैं और अपनी परिष्कृत शैली के लिये प्रसिद्ध हैं। इन टीकाओं के आधार पर यह बात दृढ़तापूर्वक कही जा सकती है कि इन टीकाओं के रचयिता संस्कृत जगत् के अपूर्व विद्वान् थे। उनकी सूक्ष्मेक्षिका ने परिभाषेन्दुशेखर की व्याख्या में जो विशेषता प्रस्तुत की है वह अपने में अनुपम है।

एक समय था जबकि काशी में इन परिष्कारों की बड़ी धूम थी। सफल वैयाकरण वही माना जाता था जो इन परिष्कारों को पण्डित सभा में प्रस्तुत करने में सक्षम होता था। किन्तु समय ने करवट बदली और सारी स्थिति परिवर्तित हो गयी। आज इन परिष्कारों पर शास्त्रार्थ करना तो दूर रहा इन्हें समझने वाले भी विरले ही मिलते हैं, ऐसी स्थिति में मूल परिभाषेन्दु-शेखर की सही-सही व्याख्या आधुनिक छात्रों के लिए कठिन प्रतीत होने लगी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए आचार्य श्री विश्वनाथ मिश्र, प्राचार्य श्री शार्दूल संस्कृत विद्यापीठ, बीकानेर ने जो स्तुत्य प्रयास किया है वह अत्यन्त सराहनीय है। श्री मिश्र जी ने संस्कृत जगत् के मूर्धन्य, यशस्वी, महावैया-करण श्री महाशय जी (श्री रामयशस्त्रिपाठी) के सान्निध्य में रह कर व्याकरणशास्त्र का सांगोपांग अध्ययन किया है। इसलिए इनके द्वारा की की गयी यह सुबोधिनी हिन्दी व्याख्या परिभाषेन्दुशेखर के मूल को लगाने में सर्वथा सक्षम है यह बात सन्देहातीत है।

श्री मिश्र महोदय ने इस ग्रन्थ की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कठिन स्थलों का जो विशकलन किया है उसका कुछ उदाहरण 'यदागम०', 'निर्दिश्यमान०', 'कृद्ग्रहणे०', 'स्त्रीप्रत्यये०' आदि परिभाषाओं की व्याख्या में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए—'यदागम' परिभाषा 'स्थानिवत्' सूत्र से गतार्थ है कि नहीं, यहाँ का परिभाषेन्दुशेखर निश्चय ही अपने में बहुत जटिल है। 'स्थानिवत्' सूत्र में अर्थापत्तिमूलक स्थान्यादेशभाव का ग्रहण नहीं होता है। ऐसा लिख-कर नागेशभट्ट ने 'एरुः' सूत्र में आनुमानिक स्थान्यादेश का ग्रहण किया है। देखने में यह बात विप्रतिषिद्ध लगती है किन्तु प्रस्तुत हिन्दी व्याख्या में इस बात को भलीभाँति स्पष्ट कर दिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह हिन्दी व्याख्या न केवल छात्रों के लिए ही अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी अपितु विद्वानों के लिए भी उपादेय होगी, ऐसा मेरा दृढ़तर विश्वास है।

गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज
बीकानेर (राज०)

श्यामाचरण त्रिपाठी

विषयानुक्रमणिका

शास्त्रत्वसम्पादनोद्देशं नाम प्रथमं प्रकरणम्

	पृष्ठ
मंगलाचरण	१
१ व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्	३
२ यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्	६
३ कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्	६
४ अनेकान्ता अनुबन्धाः	१९
५ एकान्ताः	२५
६ नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्	२६
७ नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्	२९
८ नानुबन्धकृतमसारूप्यम्	३१
९ उभयगतिरिह भवति	३२
१० कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते	३५
११ यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते	४१
१२ निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति	५१
१३ यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः	६३
१४ अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य	६६
१५ गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः	७०
१६ अनिनस्मन् ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति	८०
१७ एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः	८३
१८ क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते	८६
१९ भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न	८७
२० भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति	९१
२१ वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्	९२
२२ उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि	९५
२३ प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्	९६
२४ प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः	१०१
२५ उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे न तदन्तग्रहणम्	१०६
२६ स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न	१०८

२७ संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति ११५
२८ कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् ११७
२९ पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च १२२
३० व्यपदेशिवदेकस्मिन् १२५
३१ ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति १३३
३२ व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन १३६
३३ यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे १३९
३४ सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति १४१
३५ सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते १४४
३६ प्रकृति वदनुकरणं भवति १४५
३७ एकदेशविकृतमनन्यवत् १४७

बाधबीजं नाम द्वितीयं प्रकरणम्

३८ पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः १५२
३९ पुनःप्रसंगविज्ञानात् सिद्धम् १५५
४० सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव १५६
४१ विकरणेभ्यो नियमो बलीयान् १६६
४२ परान्नित्यं बलवत् १७०
४३ शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति १७२
४४ शब्दान्तरात् प्राप्नुवतः शब्दान्तरे प्राप्नुवतश्चानित्यत्वम् १७३
४५ लक्षणान्तरेण प्राप्नुवन् विधिरनित्यः १७४
४६ क्वचित् कृताकृतप्रसङ्गमात्रेणापि नित्यता १७५
४७ यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम् १७६
४८ यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते तदप्यनित्यम् १७७
४९ स्वरभिन्नस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति १७८
५० असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे १८०
५१ नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रत्ल्लप्तिः २१५
५२ अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते २२५
५३ पूर्वोत्तरपदनिमित्तकार्यात् पूर्वमन्तरङ्गोऽप्येकादेशो न २४०
५४ अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यप् बाधते २४१
५५ वार्णादाङ्गं बलीयो भवति २४२
५६ अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः २५३
५७ अन्तरङ्गादप्यपवादो बलीयान् २६८

५८ येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति २६८
५९ क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशत इति २८१
६० पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् २८८
६१ मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् २८९
६२ अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा २९०
६३ पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः २९४
६४ प्रकल्प चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते २९६
६५ उपसञ्जनिष्यमाणनिमित्तोऽप्यपवाद उपसञ्जातनिमित्तमप्युत्सर्गं बाधते २९७
६६ अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थस्तर्ह्यन्तरङ्गेण बाध्यते ३०१
६७ अभ्यासविकारेषु बाध्यबाधकभावो नास्ति ३०४
६८ ताच्छीलिकेषु वासरूपविधिर्नास्ति ३०७
६९ क्त्वल्युट्तुमुन्खलर्थेषु वासरूपविधिर्नास्ति ३१०
७० लादेशेषु वासरूपविधिर्नास्ति ३१२
७१ उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् ३१४

शास्त्रशेषं नाम तृतीयं प्रकरणम्

७२ प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ३१६
७३ विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम् ३२०
७४ सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम् ३२१
७५ नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः ३२३
७६ गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः ३२६
७७ साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः ३३२
७८ बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि ३३३
७९ चानुकृष्टं नोत्तरत्र ३३५
८० स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् ३३८
८१ हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् ३४२
८२ निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ३४४
८३ तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ३४४
८४ क्वचित् स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्ते ३४७
८५ समासान्तविधिरनित्यः ३४८
८६ सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य ३५०
८७ सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाय उभयोरप्यपायः ३६५

८८ ताच्छीलिके णेऽण्कृतान्ति भवन्ति ३६९
८९ धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति ३७१
९० तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ३७४
९१ लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य ३७५
९२ प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणम् ३७८
९३ अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः ३७९
९४ संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वम् ३८२
९५ आगमशास्त्रमनित्यम् ३८३
९६ गणकार्यमनित्यम् ३८३
९७ अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम् ३८४
९८ नञ्घटितमनित्यम् ३८५
९९ आतिदेशिकमनित्यम् ३८८
१०० सर्वविधिभ्यो लोपविधिरिड्विधिश्च बलवान् ३८९
१०१ प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम् ३९१
१०२ विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे ३९५
१०३ उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी ४०२
१०४ अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य ४०७
१०५ नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ४१३
१०६ प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः ४१५
१०७ अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी ४१७
१०८ व्यवस्थितविभाषयापि कार्याणि क्रियन्ते ४१९
१०९ विधिनियमसम्भवे विधिरेव ज्यायान् ४२०
११० सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः ४२२
१११ प्रत्ययाप्रत्ययोः प्रत्ययस्य ग्रहणम् ४२४
११२ सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् ४२६
११३ श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलवान् ४२९
११४ लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् ४३१
११५ गामादाग्रहणेष्वविशेषः ४३४
११६ प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः ४३५
११७ क्वचित् समुदायेऽपि ४३६
११८ अभेदका गुणाः ४३८
११९ बाधकान्येव निपातनानि ४४४
१२० पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः ४४५

१२१ निषेधाश्च बलीयांसः ४४७
१२२ अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे ४४९
१२३ योगविभागादिष्टसिद्धिः ४५०
१२४ पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते ४५१
१२५ ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र ४५१
१२६ पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे ४५३
१२७ एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्याः तृतीयस्याश्च न भविष्यति ४५६
१२८ सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत् ४५७
१२९ क्वचिद् विकृतिः प्रकृतिं गृह्णाति ४५९
१३० औपदेशिक प्रायोगिकयोरौपदेशिकस्यैव ग्रहणम् ४५९
१३१ श्तिपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च ।
यत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि ।। ४६४
१३२ पदगौरवाद्योगविभागो गरीयान् ४७६
१३३ अर्द्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः ४७८

जगदानन्द झा

व्याख्याकर्त्तुः परिचयः

खण्डनखण्डनाहारे विहारे हारसंयुते ।
सर्वविद्याविचारैश्च भारते सारतां गते ॥ १ ॥
सिवाने शिवसम्पन्ने शान्ते दान्ते च सर्वदा ।
विद्यापाने च सम्माने रतेऽस्मिन् मण्डले शुभे ॥ २ ॥
अगेयां नामके ग्रामे श्रीरामे यो रतः सदा ।
तत्र मिश्रकुले ख्याते सुतो जातः सुलक्षणः ॥ ३ ॥
रामकेशवमिश्रो हि जनको यस्य विश्रुतः ।
माता च सरला देवी शम्भुपादावलम्बिनी ॥ ४ ॥
पितरावपि सद्वृत्तौ व्याख्याकारस्य यस्य वै ।
खवह्निनिधिचन्द्राब्दे प्रादुर्भूतमनीषिणः ॥ ५ ॥
काश्यां त्रिपाठिपादानां कृपातो वै दृढ़ीकृताः ।
व्याकरणादिविद्यानां सर्वे ग्रन्थाः सुविस्तृताः ॥ ६ ॥
अधीता विधिवद्विद्याः बहुकालात् परिष्कृताः ।
अध्याप्यन्ते च ता वीकानेरेऽनेन मनीषिणा ॥ ७ ॥
चम्पानामिका पत्नी विद्यते हि मनोरमा ।
अनयोः सन्ततिर्नास्ति, व्याख्यैव सन्ततिर्मता ॥ ८ ॥
अन्ते च नवमे श्लोके कामना क्रियते मया ।
सा वै गुरुगता विद्या मदिष्टायोपकल्पताम् ॥ ९ ॥

व्याख्यातुरन्तेवासी
अशोककुमारस्त्रिपाठी
नव्यव्याकरणाचार्यः

जगदानन्द भारद्वाज

परिभाषेन्दुशेखरः

Jagadanand Jha

॥ श्रीः ॥

परिभाषेन्दुशेखरः

हिन्दीटीकोपेतः

नत्वा साम्बं शिवं ब्रह्म नागेशः कुरुते सुधीः ।
बालानां सुखबोधाय परिभाषेन्दुशेखरम् ॥

टीकाकर्तृमङ्गलाचरणम्

जयन्ति दामोदरकृष्णपादा जयन्ति तच्चालितसर्वगावः ।
कदम्बवृक्षस्थसुवस्त्रलीला लोकोत्तरोऽसौ व्रजभूमिभागः ॥ १ ॥
शारदां वरदां नत्वा गुरूंश्चापि महाशयान् ।
मूलस्योद्भेदिका व्याख्या क्रियते वै सुबोधिनी ॥ २ ॥

अम्बा (पार्वती) सहित ब्रह्मस्वरूप शिव को नमस्कार करके सुधी नागेश बालकों के सुखपूर्वक बोध के लिये परिभाषेन्दुशेखर नामक ग्रन्थ को बनाते हैं ।

विमर्श—ग्रन्थ की निर्विघ्नतापूर्वक समाप्ति के लिये उसके प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करने के शिष्टाचार के अनुसार ग्रन्थकार ने 'नत्वा·····'यह मङ्गलाचरण किया है । यहाँ अम्बा से पार्वती और शिव शब्द से विश्वेश्वर शिव का ग्रहण किया गया है । अथवा 'अम्बयती—जीवयतीति अम्बा' इस व्युत्पत्ति के आधार पर अम्बा शब्द से उत्पादन शक्ति, तथा शेते जगत् यस्मिन् असौ शिवः इस व्युत्पत्ति से शिव शब्द से संहारशक्ति का ग्रहण किया जाता है । इन दोनों शक्तियों से युक्त ब्रह्म-शब्द से पालन शक्ति विशिष्ट का बोध होने के कारण तीनों शक्तियों से विशिष्ट ब्रह्म को नमस्कार करके इस गन्थ की रचना की जा रही है । अथवा—अम्बा शब्द से माता सती देवी (नागेश की माता) तथा शिव शब्द से पिता शिवभट्ट का ग्रहण किया जाता है । इस प्रकार माता के साथ ब्रह्म स्वरूप अपने पिता को नमस्कार करके नागेशभट्ट परिभाषेन्दुशेखर बना रहे हैं ।

बालानाम्—यहाँ बाल शब्द से स्तनन्धय बालक न समझकर, उनका ग्रहण करना चाहिये जिन्होंने व्याकरणशास्त्र सम्बन्धी अच्छी प्रौढि प्राप्त करने के उपरान्त भाष्य कैय्यटादि ग्रन्थों के द्वारा सारे परिभाषार्थों को समझने की क्षमता नहीं प्राप्त की है । ऐसे बालक ही इस ग्रन्थ को पढ़ने के अधिकारी हैं ।

'सुखबोधाय' इस पद के द्वारा अनायासेन परिभाषार्थबोध ही इस ग्रन्थ का प्रयोजन द्योतित किया गया है। 'परिभाषेन्दुशेखरम्' इस पद के द्वारा परिभाषार्थ-निरूपण इस ग्रन्थ का विषय बतलाया गया है। परिभाषाओं के साथ इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध भी यहाँ स्पष्ट ही व्यक्त होता है। इस प्रकार मङ्गलाचरण के द्वारा 'अनुबन्धचतुष्टय' की ओर भी ग्रन्थकार का संकेत है।

प्राचीनवैयाकरणतन्त्रे वाचनिकान्यत्र पाणिनीयतन्त्रे ज्ञापकन्यायसिद्धानि भाष्यवार्त्तिकयोरुपनिबद्धानि यानि परिभाषारूपाणि तानि व्याख्यायन्ते।

व्याकरणशास्त्र में दो प्रकार की परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं। पहले प्रकार में 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इस प्रकार की सूत्रात्मक परिभाषाएँ आती हैं जिन्हें स्वयं पाणिनि ने बनाया है। दूसरे प्रकार की वे परिभाषाएँ हैं जिनका उच्चारण पाणिनि ने स्वयं नहीं किया है किन्तु पाणिनि के सूत्र या सूत्र घटक पदों के द्वारा उनका ज्ञापन किया जाता है। इस प्रकार की परिभाषाओं में 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इत्यादि परिभाषाएँ आती हैं।

इन दोनों प्रकार की परिभाषाओं में सूत्रात्मकपरिभाषाओं का व्याख्यान इस ग्रन्थ में नहीं किया गया है। ऐसी स्थिति में इस ग्रन्थ का 'परिभाषेन्दु-शेखर' यह नाम किस प्रकार संगत होगा, इस प्रकार की आशंका में ग्रन्थकार लिख रहे हैं 'प्राचीनवैयाकरणतन्त्रे' इत्यादि।

प्राचीन वैयाकरण[1] इन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशलि आदि द्वारा रचित व्याकरणशास्त्र में जो परिभाषाएँ वचनरूप से पढ़ी गयी हैं तथा इस पाणिनीय शास्त्र में जो ज्ञापक और न्याय (लौकिक न्याय) से सिद्ध, तथा भाष्यकार एवं वार्तिककार को अभिप्रेत हैं ऐसी परिभाषाओं का व्याख्यान यहाँ किया जा रहा है।

इस पर आशंका होती है कि 'यस्मिन् विधिस्तदादावल् ग्रहणे' 'उपपद-विभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' 'अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य' जैसी वाचनिक परिभाषाओं का भी व्याख्यान यहाँ किया गया है। ऐसी स्थिति में पाणिनीयतन्त्र के ज्ञापकन्यायसिद्ध परिभाषाओं का ही यहाँ व्याख्यान किया जा रहा है यह कहना असंगत हो रहा है। इस शंका के समाधान में कुछ लोगों का कहना है कि 'पाणिनीयतन्त्रे' के आगे 'प्रायेण' इस पद का सन्निवेश करके 'पाणिनीयतन्त्रे प्रायेण ज्ञापकन्यायसिद्धानि' ऐसा पाठ स्वीकार कर लेने से यदि यहाँ कुछ वाचनिक परिभाषाएँ भी व्याख्यात होती हैं तो कोई असंगति नहीं है। अथवा 'प्राचीन-वैयाकरणतन्त्रे' 'पाणिनीयतन्त्रे' इन दोनों सप्तम्यन्तों का 'वाचनिकाभिज्ञापकन्याय-सिद्धानि' इन दोनों पदों के साथ अन्वय करने से पाणिनीयतन्त्र के ज्ञापक-न्यायसिद्ध और वाचनिक, सभी प्रकार की परिभाषाओं का संग्रह हो जाता है।

---

१. इन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक, स्फोटायन—ये प्राचीन वैयाकरण है।

शास्त्रत्वसम्पादक-प्रकरणम्

अब शास्त्रत्वसम्पादनोद्देश नामक प्रथम प्रकरण का आरम्भ करते हैं।

विमर्श—इस ग्रन्थ में तीन प्रकरण हैं। 'शास्त्रत्वसम्पादनोद्देश' 'बाधबीज' और 'शास्त्रशेष'। इनमें 'व्याख्यानतः' परिभाषा से लेकर 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' तक प्रथम प्रकरण है। 'पूर्वपरनित्यान्तरङ्ग' परिभाषा से लेकर 'उभयनिर्देशे पञ्चमी-निर्देशो बलीयान्' तक द्वितीय प्रकरण तथा इसके बाद शास्त्रशेष नामक प्रकरण है।

इस प्रथम प्रकरण का 'शास्त्रत्वसम्पादनोद्देश' नाम रखने का तात्पर्य यह है कि 'लक्ष्यधर्मिकसाधुत्वप्रकारकाप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितबोधजनक' को शास्त्र कहते हैं। अर्थात् 'इदं लक्ष्यं साधु' इस प्रकार के लक्ष्यविशेष्यक साधुत्व-प्रकारक प्रामाणिक बोध को उत्पन्न करने वाले को 'शास्त्र' शब्द से अभिहित किया जाता है। 'इको यणचि' यह शास्त्र है। किन्तु इसका शास्त्रत्व स्वयमेव नहीं है अपितु 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' की सहायता से ही इसमें शास्त्रत्व आता है। अन्यथा व्यवहिताव्यवहित-साधारण 'इक्' के स्थान पर यदि यण् विधान किया जाय तो 'इको यणचि' का अप्रामाण्य हो जायेगा। इसी प्रकार 'नेर्गदनदपत्पद्' इत्यादि सूत्र भी शास्त्र है। किन्तु इसका शास्त्रत्व भी तभी संभव है जब 'प्रणिदाप-यति' प्रयोग में इससे णत्व हो। किन्तु प्रणिदापयति प्रयोग में णत्व यदागम-परिभाषा की सहायता के विना सम्भव नहीं है। इसलिये उक्त परिभाषा के द्वारा उपर्युक्त लक्ष्य में णत्व करने के कारण 'नेर्गदनद' इत्यादि सूत्र में शास्त्रत्व आता है।

इस प्रकार प्रथम प्रकरण की सारी परिभाषाएँ शास्त्रत्वसम्पादन में सहायक होती हैं। जब इस प्रकरण की परिभाषाओं के द्वारा शास्त्रत्व सम्पादित होता है, तभी परस्पर विरोधी शास्त्रों का बाध्य-बाधकभाव विचारणीय होता है। इस प्रथम तन्त्र की परिभाषाएँ द्वितीय तन्त्र की आधारशिला हैं।

ननु 'लण्'-'अइउण्'-सूत्रयोर्णकारद्वयस्यैवोपादानेनाणिण्ग्रहणेषु सन्देहाद-निर्णयोऽत आह—

व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् ॥ १ ॥

अइउण् से लेकर हल् तक चौदह प्रत्याहारसूत्र हैं। इन सूत्रों के अन्तिम वर्ण, जिन्हें अनुबन्ध या इत् कहते हैं, से प्रत्याहार बनाये जाते हैं। अब इस बात का

सन्देह होता है कि अण् और इण् प्रत्याहार किस णकार तक बनाये जाँय ? क्योंकि 'अइउण्' तथा 'लण्' इन दो सूत्रों में इत्संज्ञक णकार है। इसलिये अण् और इण् प्रत्याहार के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न होने से अनिर्णय की स्थिति प्रस्तुत है। इस स्थिति के निराकरण के लिये ग्रन्थकार 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः' नामक परिभाषा का प्रस्तुतीकरण करते हैं।

अनेक में से किस एक का अथवा दो में से किसी एक का ग्रहण किया जाय ऐसी विशेष की प्रतिपत्ति अर्थात् निश्चय शिष्टों के व्याख्यान से करना चाहिये। सन्देह उपस्थित हो जाने से शास्त्र को अलक्षण (अननुष्ठापक) नहीं मानना चाहिये।

विशेषस्यान्यतराद्यर्थरूपस्य व्याख्यानाच्छिष्टकृतात् प्रतिपत्तिर्निश्चयो, यतः सन्देहाच्छास्त्रमलक्षणमननुष्ठापकं लक्षणमलक्षणं तथा न, शास्त्रस्य निर्णयजनकत्वौचित्यादित्यर्थः। असन्दिग्धानुष्ठानसिद्धचर्थेऽत्र शास्त्रे सन्दिग्धोच्चारणरूपाचार्यव्यवहारेण। सन्देहनिवृत्तेर्व्याख्यानातिरिक्त-निमित्तानपेक्षत्वं बोध्यत इति यावत्। तेन 'अणुदित्सवर्णस्य' (१–१–६९) इत्येतत्परिहाय पूर्वेणाण्ग्रहणं, परेणेण्ग्रहणमिति 'लण्'सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्॥ १॥

विशेष का अर्थ है 'अन्यतर या अन्यतम—दो या अनेक में से एक'। ऐसे विशेष के विषय में निश्चयसम्बन्धी सन्देह उत्पन्न हो जाने पर शिष्टों के द्वारा किये गये व्याख्यान के द्वारा निश्चय करना चाहिये। सारे शब्दों के विषय में जिसका 'अयं शब्दः साधुः' ऐसा साधुत्व प्रकारक ज्ञान हो वही व्यक्ति यहाँ शिष्ट शब्द से समझना चाहिये। सन्देह हो जाने पर शास्त्र को अलक्षण (अननुष्ठापक) नहीं मानना चाहिये। अर्थात् यह शास्त्र शब्द साधुत्व का साधन नहीं है ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि शास्त्र की निर्णयजनकता ही उचित है। असन्दिग्ध प्रवृत्ति के प्रयोजक इस व्याकरणशास्त्र में आचार्य (महेश्वर या पाणिनि) के द्वारा किया गया सन्देहजनक उच्चारण इस बात को सूचित करता है कि सन्देह की निवृत्ति व्याख्यानातिरिक्त निमित्त से नहीं की जानी चाहिये। आचार्य ने 'अइउण्' तथा 'लण्' इन दो सूत्रों में णकार अनुबन्ध करके अण् और इण् प्रत्याहारों के विषय में सन्देह पैदा कर दिया है। इसलिये सन्देहजनक णकारद्वय के उच्चारण से 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः····' यह परिभाषा ज्ञापित की जाती है।

यहाँ एक बात यह विचारणीय है कि 'सन्देह की निवृत्ति व्याख्यानातिरिक्त निमित्त की अपेक्षा नहीं रखती' ऐसा ग्रन्थकार ने लिखा है। इसका तात्पर्य होता है कि सन्देह की निवृत्ति व्याख्यान की अपेक्षा रखती है। ऐसी स्थिति में

सीधे इस बात को न कह कर 'व्याख्यानातिरिक्त निमित्त की अनपेक्षा' इस प्रकार वक्रोक्ति के प्रयोग का क्या रहस्य है ? इस आशंका के उत्तर में विवेचकों का कहना है कि जहाँ व्याख्यान तथा उससे भिन्न उपायान्तर (प्रमाण) इन दोनों से सन्देह की निवृत्ति संभव हो, वहाँ पर व्याख्यान के द्वारा की गई सन्देह-निवृत्ति ही व्याकरणशास्त्रोपयोगिनी है, अन्य प्रमाणों से की गई सन्देह की निवृत्ति नहीं । इस प्रकार ज्ञापन का फल यह हुआ कि 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' इस सूत्र में लेख शब्द के विषय में जब यह सन्देह होता है कि यह शब्द घञ् प्रत्ययान्त है कि अण् प्रत्ययान्त, क्योंकि लिख धातु से घञ् और अण् दोनों प्रत्ययों के करने के बाद लघूपध गुण करके लेख शब्द बन सकता है । ऐसा सन्देह होने पर यद्यपि लेख शब्द को घञ् प्रत्ययान्त ही मानना उचित है क्योंकि अण् प्रत्ययान्त मानने पर अण् ग्रहण से ही कार्य चल जाता, लेख ग्रहण का औचित्य ही नहीं रह जाता । तथापि भाष्यकार के व्याख्यान से लेख शब्द को अण् प्रत्ययान्त ही माना गया है । भाष्यकार ने लेख शब्द को अण् प्रत्ययान्त माना और अण् ग्रहण से ही लेख शब्द की गतार्थता की संभावना में लेख ग्रहण को व्यर्थ कर उससे '....उत्तर पदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे न तदन्तग्रहणम्' इस परिभाषा का ज्ञापन किया । उत्तर-पद का जहाँ अधिकार जाता है वहाँ प्रत्यय से प्रत्ययान्त नहीं लिया जाता । इसलिये अण् से अण् प्रत्ययान्त लेख शब्द का ग्रहण नहीं होता । अतः लेख ग्रहण का सार्थक्य होता है ।

इस प्रकार देखा गया कि उक्त सूत्र में लेख शब्द की सार्थकता के लिये उसे घञ् प्रत्ययान्त मानना तथा भाष्य व्याख्यानानुसार अण् प्रत्ययान्त मानकर 'उत्तर पदाधिकारे' यह परिभाषाज्ञापन के लिये उसको आवश्यक मानना, इन दोनों प्रकारों में व्याख्यान के द्वारा की गई सन्देहनिवृत्ति ही व्याकरणशास्त्र में मान्य हुई ।

इस उपर्युक्त कथन से 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' इस कथन की भी सम्पुष्टि होती है । इसका तात्पर्य यह है कि उत्तरोत्तर मुनि के कथन में पूर्व मुनियों का तात्पर्य निहित होता है, न कि उत्तरमुनि की अपेक्षा पूर्वमुनि का अप्रामाण्य होता है । इसलिये 'धिन्विकृण्व्योर च' इस सूत्र में भाष्यकार को जो अभिमत है उसी में पाणिनि का तात्पर्य समझा जाता है । पाणिनि ने धिव् धातु के वकार को अकार किया है जिसका 'अतो लोपः' से लोप होता है । इसका फल यह होता है कि 'धिनोति' प्रयोग में लघूपधगुण नहीं होता है । क्योंकि धात्वंश का जहाँ लोप होता है वहाँ 'न धातुलोप आर्धधातुके' इस सूत्र के द्वारा गुण और वृद्धि का निषेध कर दिया जाता है । अब प्रश्न होता है कि पाणिनि

ने वकार को अकार करके जो लोप किया है उससे तो अच्छा यह होता कि वे वकार का ही लोप कर दिये होते। वकार का लोप भी धात्वंश का ही लोप है, जो गुण वृद्धि के निषेध के लिये उपयुक्त ही है। किन्तु पाणिनि वकार का लोप न करके अकार विधान करने के उपरान्त उसका लोप करके यह बात व्यक्त करते हैं कि उत्तरमुनि में पूर्वमुनि का तात्पर्य होता है। पाणिनि जानते हैं कि पतञ्जलि के द्वारा 'न धातुलोप आर्धधातुके' इस सूत्र का प्रत्याख्यान होगा। इसलिये उस सूत्र के अभाव में धात्वंशलोपनिमित्तक गुण-वृद्धि का निषेध संभव नहीं होगा। इसलिये उन्होंने वकार को अकार बनाकर उसका लोप किया। लुप्त अकार स्थानिवद्भाव के द्वारा चला आयेगा जिससे लघूपधगुण नहीं होगा। सीधे वकार का लोप करने से यह बात सम्भव नहीं थी क्योंकि वलोप का स्थानिवद्भाव सम्भव नहीं था।

'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः' इस परिभाषा को स्वीकार करने का परिणाम यह हुआ कि लण् सूत्रस्थ भाष्य व्याख्यान के आधार पर इण् प्रत्याहार पर णकार (लण् सूत्र के णकार) तक और 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' सूत्र को छोड़कर सभी जगह के लिये अण् प्रत्याहार पूर्वणकार (अइउण् के णकार) तक ही माना गया। 'अणुदित्' सूत्र में अण् प्रत्याहार परणकार (लण् सूत्र का णकार) तक माना जाता है ॥ १ ॥

तत्र संज्ञापरिभाषाविषये पक्षद्वयमित्याह—

इस शास्त्र में संज्ञा और परिभाषा के विषय में दो पक्ष होते हैं इस बात को कहते हैं—

यथोद्देशं सज्ञापरिभाषम् ॥ २ ॥
कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् ॥ ३ ॥

संज्ञा और परिभाषासूत्र यथोद्देश होते हैं। संज्ञा और परिभाषासूत्र कार्यकाल होते हैं। अर्थात् संज्ञा और परिभाषासूत्रों के विषय में यथोद्देश और कार्यकाल ये दो पक्ष होते हैं।

विमर्श—संज्ञासूत्र 'वृद्धिरादैच्' और परिभाषासूत्र 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इत्यादि के सम्बन्ध में यथोद्देश और कार्यकालपक्ष स्वीकृत हैं। यथोद्देश्यपक्ष का तात्पर्य यह है कि अष्टाध्यायी के जिस अध्याय, पाद और क्रम में संज्ञासूत्र पढ़ा गया है वही उसका देश होता है। उसी जगह उसका सफल वाक्यार्थ बोध होता है जिसके द्वारा सम्पूर्ण शास्त्र में कार्य किया जाता है। कार्यकाल पक्ष का तात्पर्य यह है कि जब-जब कार्य उपस्थित हो तब-तब वाञ्छित संज्ञा

पुनः की जाय। इन दोनों पक्षों का कारण अपेक्षा और उपेक्षा बुद्धियाँ होती हैं। आचार्य के द्वारा 'वृद्धिरादैच्' सूत्र का व्याख्यान करने पर श्रद्धालु छात्र विश्वास-पूर्वक आचार्य वाक्य को हृदयंगम करता है। उसे इस बात का ध्यान रहता है कि आगे चलकर विधिसूत्रों में अनेकों जगह वृद्धिपद आयेगा। अतः वह वृद्धि पदार्थ का दृढ़तर संस्कार एक ही जगह कर लेता है। परिणामस्वरूप उसे बार-बार वृद्धि पदार्थ का ज्ञान कराने की आवश्यकता नहीं रह जाती। यह यथोद्देशपक्ष कहा जाता है। इसका कारण अपेक्षा बुद्धि होती है।

जो छात्र उपेक्षा बुद्धि वाले होते हैं वे सोचते हैं कि जब वृद्धि पदार्थ की आवश्यकता 'मृजेर्वृद्धि' इत्यादि सूत्रों में आगे आने वाली है तो अभी से उसके ऊपर ध्यान देना अनावश्यक है। इस उपेक्षाबुद्धि के कारण 'वृद्धिरादैच्' के देश में आचार्य के द्वारा कराये गये शक्यार्थग्रह की वे उपेक्षा कर देते हैं। परिणाम यह होता है कि जब 'मृजेर्वृद्धिः' सूत्र आता है तब वृद्धि पदार्थ के ज्ञान के बिना छात्र की कठिनाई को देख कर 'वृद्धिरादैच्' का वाक्यार्थ बोध पुनः वहाँ करना पड़ता है, जिससे वृद्धि पदार्थ पुनः बुद्ध्यारूढ होता है। यह स्थिति सारे विधिसूत्रों में होती है। यह कार्यकाल पक्ष कहा जाता है। इसी बात को ग्रन्थकार स्पष्ट करते हैं—

उद्देशमनतिक्रम्य यथोद्देशम्। उद्देश उपदेशदेशः। अधिकरणसाधनश्चायम्। यत्र देश उपदिश्यते तद्देश एव वाक्यार्थबोधेन गृहीतशक्त्या गृहीतपरिभाषार्थेन च सर्वत्र शास्त्रे व्यवहारः। देशश्चोच्चारणकाल एवात्र शास्त्रे व्यवह्रियते। तत्तद्वाक्यार्थबोधे जाते 'भविष्यति किञ्चिदनेन प्रयोजनमि'ति ज्ञानमात्रेण सन्तुष्यद्यथाश्रुतग्रहिप्रतिपत्रपेक्षोऽयं पक्ष इति 'ईदूत्' (१–१–११) सूत्रे कैयटः।

उद्देश का अतिक्रमण न करना यथोद्देश कहा जाता है। उद्देश का अर्थ उपदेशदेश है। यहाँ उपदेश शब्द अधिकरणसाधन है। अर्थात् 'उपदिश्यते यत्राऽसौ उपदेशः' इस व्युत्पत्ति में उप पूर्वक दिश् धातु से बाहुलकात् अधिकरण अर्थ में घञ् प्रत्यय करके लघूपधगुण करके उपदेश शब्द बना है। जिस देश (अध्याय, पाद, क्रम) में सूत्रों का उपदेश किया गया हो, वहीं पर संज्ञा और परिभाषा-सूत्रों का वाक्यार्थबोध हो जाता है। इससे संज्ञाशब्द का शक्तिग्रह किस अर्थ में है तथा परिभाषासूत्र का क्या अर्थ है यह बात उपदेशदेश में ही विदित हो जाती है और उसी के द्वारा शास्त्र (व्याकरण) में सर्वत्र व्यवहार किया जाता है। इस शास्त्र में देश का अर्थ उच्चारणकाल है। तत्तद् सूत्रों का वाक्यार्थ-बोध हो जाने पर यथाश्रुत का ग्रहण करने वाला प्रतिपत्ता (बोद्धा) यह समझता

है कि इस वाक्यार्थ बोध का कुछ प्रयोजन होगा इसलिये वह उस ज्ञानमात्र से सन्तुष्ट हो जाता है अर्थात् उसका दृढतर संस्कार वहीं कर लेता है। इस प्रकार के प्रतिपत्ता की अपेक्षा यह पक्ष है। यह बात 'ईद्वेद् द्विवचनम्' सूत्र के कैयटभाष्य में स्पष्ट है।

केचित्तु–परिभाषाविषये 'तस्मिन्' (१–१–६६) इत्यादिवाक्यार्थबोधे 'सप्तमीनिर्देशादिः क्व' इति पर्यालोचनायां सकलतत्तद्विध्युपस्थितौ सकलतत्तत्संस्काराय गुणभेदं परिकल्प्यैकवाक्यतयैव नियमः। कार्यकालपक्षे तु त्रिपाद्यामप्युपस्थितिरिति विशेषः। एतदेवाभिप्रेत्याधिकारो नाम त्रिप्रकारः कश्चिदेकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति, यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्माभिज्वलयतीति 'षष्ठी स्थाने' (१–१–४९) इति सूत्रे भाष्ये उक्तम्। अधिकारशब्देन पारार्थ्यात्परिभाषाप्युच्यते। कश्चित् परिभाषारूप इति कैयटः। दीपो यथा प्रभाद्वारा सर्वगृहप्रकाशक एवमेतत् स्वबुद्धिजननद्वारा सर्वशास्त्रोपकारकमिति तत्तात्पर्यम्। एतच्च पक्षद्वयसाधारणं भाष्यम्, पक्षद्वयेऽपि प्रदेशैकवाक्यताया इतः प्रतीतेः।

अब केचित्तु शब्द से नागेशभट्ट अपना मत कह रहे हैं—इस मत के अनुसार 'तस्मिन्निति' इत्यादि परिभाषासूत्रों के वाक्यार्थबोध हो जाने पर सप्तमीनिर्देश कहाँ कहाँ पर है ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इस पर्यालोचन में सप्तम्यन्तपदघटित जिन विधिसूत्रों का संस्कार उद्बुद्ध होता है वे सारे विधिसूत्र परिभाषा देश में उपस्थित होते हैं। अथवा सप्तम्यन्तपदघटित सारे सपादसप्ताध्यायी-सूत्र परिभाषादेश में उपस्थित होते हैं। उन उपस्थित विधिसूत्रों का अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितबोधरूपी संस्कार के लिये परिभाषा सूत्र के विधेय की आवृत्ति करके परिभाषासूत्र का विधिसूत्रों के साथ पदैकवाक्यता की जाती है। यहाँ गुणभेदं का अर्थ परिभाषासूत्र के विधेय का भेद है। विधिसूत्र का उपकारक होने के कारण परिभाषासूत्र को गुण कहा गया है। सम्पूर्ण परिभाषा सूत्र का विधिशास्त्र के साथ अन्वय न होने के कारण केवल उसके विधेय 'निर्दिष्टे पूर्वस्य' इत्यादि की आवृत्ति की जाती है। इसके बाद वहाँ पदैकवाक्यता होती है। पदैकवाक्यता—निरूप्यनिरूपकभावापन्नविषयताप्रयोजकपदघटित रूप होती है। 'तस्मिन्निति' इस सूत्रघटक पूर्वपदार्थ का तथा निर्दिष्ट पद के अर्थ का 'इको यणचि' इस सूत्रघटक 'इक्' और 'अच्' पद के अर्थ साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है। इस अन्वय में पूर्व और निर्दिष्ट पदार्थ में प्रकारता और तन्निरूपित विशेष्यता 'इक्' और 'अच्' पदार्थ में रहती है। इसलिये

उपर्युक्त लक्षण लक्षित-पदैकवाक्यता यहाँ होती है। परिभाषासूत्रों के लिये यही यथोद्देशपक्ष है।

सप्तमीनिर्देशादि कहाँ-कहाँ हैं ऐसी जिज्ञासा होने पर दृढतर संस्कार के अभाव के कारण जिन विधिसूत्रों की उपस्थिति नहीं हुई अथवा परिभाषासूत्र की दृष्टि से त्रैपादिक विधि सूत्रों के असिद्ध होने के कारण जो विधिसूत्र परिभाषादेश में उपस्थित नहीं हो सके उनके लिए परिभाषासूत्रों का कार्यकाल पक्ष होता है। इस कार्यकालपक्ष में तो परिभाषा सूत्रों की त्रिपादी में भी उपस्थिति होती है। यहाँ तु शब्द से यथोद्देशपक्ष की व्यावृत्ति की गई है। अर्थात् कार्यकालपक्ष में ही त्रिपादी में उपस्थिति होती है, अन्य पक्ष में नहीं। यहाँ अपि शब्द से सपादसप्ताध्यायी का बोध होता है। अर्थात् जिन सपादसप्ताध्यायी सूत्रों की उपस्थिति संस्काराभाव के कारण परिभाषादेश में नहीं हो पाती उनमें भी परिभाषा की उपस्थिति होती है। परिभाषा की उपस्थिति का तात्पर्य परिभाषा विधेय की उपस्थिति से है। विधिदेश में परिभाषाविधेय की स्मरणात्मक उपस्थिति होने के बाद पदैकवाक्यता द्वारा विधिसूत्रों का वाक्यार्थबोधहोता है।

परिभाषासूत्रों की यथोद्देशपक्ष में स्वदेश में आये हुए विधिसूत्रों के साथ स्वविधेय का समर्पण पुरःसर पदैकवाक्यता तथा कार्यकालपक्ष में विधिदेश में अपने विधेय का स्मरण कराकर पदैकवाक्यता होती है। ऐसा समझकर ही 'षष्ठीस्थाने योगा' इस सूत्र के भाष्य में लिखा गया है कि अधिकार तीन प्रकार के होते हैं। उनमें कोई ऐसा है जो एकदेशस्थ होकर सारे शास्त्र को अभिज्वलित करता है, जिस प्रकार प्रज्वलित दीप सारे घर को प्रकाशित करता है। यहाँ अधिकार शब्द से परिभाषा का भी ग्रहण किया जाता है। जिस प्रकार अधिकार पदार्थ (विध्यर्थ) होता है उसी प्रकार परिभाषा-सूत्र भी परार्थ होता है। इसलिये यहाँ अधिकारसादृश्यात् परिभाषा को अधिकार कहा गया है। 'कश्चिदेकस्थः' इसमें कश्चित् शब्द का अर्थ कैयट ने 'परिभाषा' किया है। जिस प्रकार दीपक प्रभा के द्वारा सारे गृह का प्रकाशक होता है उसी प्रकार परिभाषाशास्त्र भी अपने विधेय की बुद्धि के द्वारा सम्पूर्ण शास्त्र के उपकारक होते हैं। यही उसका तात्पर्य है। यह 'अधिकारो नाम' इत्यादि भाष्य यथोद्देश और कार्यकाल दोनों पक्षों के लिये है। इस भाष्य से दोनों पक्षों में प्रदेशैकवाक्यता (विधिसूत्र के साथ एकवाक्यता) की प्रतीति होती है। यह विध्येकवाक्यता स्वदेश और विधिदेश दोनों जगह होती है। जो विधिसूत्र परिभाषा के देश में आ जाते हैं उनके साथ स्वदेश (परिभाषादेश) में और जिन विधि सूत्रों की उपस्थिति परिभाषा देश में नहीं होती, उनके देश में ही परिभाषा विधेय का स्मरण करके पदैकवाक्यता होती है।

अब शंका होती है कि दोनों पक्षों (यथोद्देश और कार्यकाल) की पदैक वाक्यता में क्या विशेषता है। उस आशंका के उत्तर में ग्रन्थकार लिखते हैं—

तत्रैतावान् विशेषः—यथोद्देशे परिभाषादेशे सर्वविधिसूत्रबुद्धावात्मभेदं परिकल्प्य तैरेकवाक्यता परिभाषाणाम्। तदुक्तं 'ङिति च' (१–१–५) इति सूत्रे कैयटे—'यथोद्देशे प्रधानान्यत्मसंस्काराय सन्निधीयमानानि गुणभेदं प्रयुञ्जत' इति। कार्यकाले तु तत्तद्विधिप्रदेशे परिभाषाबुद्धचैकवाक्यतेति। अत्रैकदेशस्थ इत्यनेन तत्र तत्र तद्बुद्धावपि तत्तद्देशस्थत्वं वारयति, यथा व्यवहर्तृणां कार्यार्थमनेकदेशगमनेऽपि न तत्तद्देशीयत्वव्यवहारः किन्त्वभिजनदेशीयत्वव्यवहार एव, तन्निषेधवाक्यानामपि निषेध्यविशेषाकाङ्क्षत्वाद्विध्येकवाक्यतयैवान्वय इति परिभाषासादृश्यात् परिभाषात्वेन व्यवहारः 'ङिति च' (१–१–५) इत्यत्र भाष्ये। तत्रैकवाक्यता पर्युदासन्यायेन। प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि तेन सह वाक्यार्थबोधमात्रेणैकवाक्यताव्यवहारः।

वहाँ इतनी विशेषता है कि यथोद्देशपक्ष में परिभाषा के देश में सारे विधिसूत्रों की उपस्थिति होने पर परिभाषासूत्र आत्मभेद (अपने विधेयभेद) की परिकल्पना करता है जिससे उन विधिसूत्रों के साथ परिभाषाओं की एकवाक्यता (पदैकवाक्यता) की जाती है। कैयट ने 'ङिति च' सूत्र में कहा है कि यथोद्देशपक्ष में प्रधान विधिसूत्र अपने वाक्यार्थबोधरूपी संस्कार के लिये परिभाषा में सन्निहित होकर गुणभेद (परिभाषा-विधेयभेद) कराते हैं।

कार्यकालपक्ष में तत्तद्विधिप्रदेश में परिभाषाविधेय का स्मरण करके पदैकवाक्यता होती है। सारांश यह हुआ कि यथोद्देशपक्ष में परिभाषादेश में और कार्यकालपक्ष में विधिदेश में लक्ष्यसंस्कारकबोध होता है। यही यथोद्देश्य और कार्यकालपक्ष की पदैकवाक्यता में अन्तर है।

उपर्युक्त भाष्य में जो एक देशस्थ शब्द आया है उसका तात्पर्य यह है कि कार्यकालपक्ष में विधिदेश में जब परिभाषा की उपस्थिति होती है तो उसे एक देशस्थ कैसे कहा जाय ऐसा नहीं सोचना चाहिये, क्योंकि जिस प्रकार व्यावहारिक कार्य के लिये अनेक देशों में जाने पर भी उस देश के नहीं कहे जाते किन्तु अभिजन देश के ही कहे जाते हैं, उसी प्रकार परिभाषाएँ यद्यपि विधि देश में जाती हैं तथापि वहाँ जाने से वे तद्देशीय नहीं हो जाती। उनका देश तो वही होता है जहाँ उनका आद्योच्चारण है।

यहाँ यह शंका होती है कि यथोद्देश और कार्यकाल ये दोनों पक्ष यदि केवल संज्ञा और परिभाषा यहाँ सूत्रों के लिये ही हैं तो 'ङिति च' सूत्र के

लिये कार्यकालपक्ष का प्रयोग भाष्यकार ने कैसे किया है ? इस प्रकार की शंका के उत्तर में 'निषेधवाक्यानामपि' इत्यादि कहा गया है—तात्पर्य यह है कि निषेध शास्त्र को निषेध्यविशेष की आकांक्षा होती है। इसलिये निषेध शास्त्र की विधि-शास्त्र के साथ एकवाक्यता होती है। इस प्रकार विधिसूत्र के साथ एकवाक्यता होने के कारण निषेधसूत्र और परिभाषासूत्र की समानता हो जाती है। इसलिये परिभाषासादृश्यात् निषेधसूत्र के लिये भी कार्यकालपक्ष का प्रयोग किया गया है। विधिसूत्र का उपकारक होने के कारण निषेधसूत्र में भी आरोपित परिभाषात्व समझना चाहिये।

निषेधसूत्र की विधिसूत्र के साथ जो एकवाक्यता होती है उसके दो प्रकार हैं। पहला प्रकार पर्युदासन्याय से होता है। 'ङिति च' इस सूत्र में जिस नञ् की अनुवृत्ति होती है उसे जब पर्युदास अर्थ में माना जाता है तब वह 'तद्भिन्न-तत्सदृश' का बोधक होकर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र में उपस्थित होता है। तब 'कित् ङित् से भिन्न सार्वधातुक प्रत्यय पर में रहने पर गुण हो' ऐसा उस सूत्र का अर्थ होता है। इस प्रकार निरूप्य-निरूपकभावापन्न-विषयताक-बोध होने से इस पक्ष में पदैकवाक्यता होती है।

जब नञ् का अर्थ प्रसज्य माना जाता है तब 'कित् ङित् प्रत्यय पर में रहने पर इक् को गुण न हो' यह 'ङिति च' सूत्र का अर्थ पृथक् होगा। यह वाक्यार्थ बोध गुणविधायक शास्त्र के वाक्यार्थ बोध का उपजीव्य होता है। इसलिए उपजी-व्योपजीवकभाव विषयता होने के कारण इस पक्ष में वाक्यैक्य-वाक्यता होती है। इस प्रकार विधिदेश में उसके साथ वाक्यार्थ बोध होने के कारण एकवाक्यता का व्यवहार किया जाता है।

संज्ञाशास्त्रस्य तु कार्यकालपक्षे न पृथग्वाक्यार्थबोधः, किन्तु प्रदेश-वाक्यार्थेन सहैव। अतएव 'अणोऽप्रगृह्यस्य' (८–४–५७) इत्येतदेक-वाक्यतापन्नम् 'अदसो मात्' (१–१–१२) इत्येतत् प्रति न मुत्वाद्यसिद्धम्, असिद्धत्वस्य कार्यार्थतया कार्यज्ञानोत्तरमेव तत्प्रवृत्तिः, कार्यज्ञानं च प्रदेश-देश एवेति तद्देशस्थस्यासिद्धत्वात् पूर्वग्रहणेनाग्रहणात्, एवं तद्बोधोत्तरमेव विरोधप्रतिसन्धानं चेति तत्रत्यपरत्वमेव 'विप्रतिषेध'सूत्रप्रवृत्तौ बीजम्। अतएव कार्यकालपक्षे 'अयादिभ्यः परैव प्रगृह्यसंज्ञा' इति 'अदसो मात्' (१–१–१२) इति सूत्रे भाष्य उक्तम्।

संज्ञासूत्रों का भी कार्यकालपक्ष में लक्ष्य संस्कारक और साधुत्वप्रकारक-बोध पृथक् नहीं होता है। पृथक् से तात्पर्य स्वदेश से है। किन्तु इस पक्ष में उनका वाक्यार्थबोध प्रदेशवाक्य के साथ अर्थात् विधिसूत्र के साथ ही होता है। संज्ञा-

सूत्रों का यह वाक्यार्थबोध वाक्यैकवाक्यतया उपजीव्योपजीवकभावसम्बन्ध से होता है। संज्ञासूत्र विधिसूत्र का उपकारक होने से उपजीव्य होता है और विधिसूत्र उससे उपकृत होने के कारण उपजीवक होता है।

इस पक्ष में जबकि संज्ञासूत्र का सफलवाक्यार्थबोध विधिदेश में होता है, तब संज्ञासूत्र का देश भी विधिदेश ही हो जाता है और उसी देश के आधार पर सिद्धत्व और असिद्धत्व सम्बन्धी सूत्रों का पारस्परिक विचार किया जाता है। इसका फल यह होता है कि 'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' ८।४।५७ के साथ जब 'आदसो मात्' १।१।१२ की एकवाक्यता होती है तब 'अदसो मात्' का देश 'अणोऽप्रगृह्यस्य' का हो जाता है। इसलिये उसके प्रति 'अदसोऽसेर्दादुदो मः' ८।२।८० यह सूत्र असिद्ध नहीं होता है। इसलिये 'अमी' इस प्रयोग में 'अणोऽप्रगृह्यस्य' सूत्र से अनुनासिक नहीं हो पाता। क्योंकि जब अनुनासिक करने चलते है तब अनुनासिक विधायक सूत्र में पठित 'अप्रगृह्य' शब्द में प्रतियोगि मुद्रया आये हुए 'प्रगृह्य' शब्द के ज्ञान की अपेक्षा होती है। इसके लिये 'अदसो मात्' जो प्रगृह्य संज्ञा विधायक सूत्र है को 'अणोऽप्रगृह्यस्य' के देश में जाना पड़ता है। वहाँ जाने से यह सूत्र स्वयं ईत्व विधायक 'एत ईद् बहुवचने' ८।२।८१ से पर त्रिपादी हो जाता है। इसलिये ईत्व मत्व असिद्ध नहीं होते हैं और उसकी प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है। फलस्वरूप अप्रगृह्य अण् न मिलने के कारण अनुनासिक नहीं होता। कार्यकालपक्ष में संज्ञासूत्रों का यदि विधिदेश नहीं होता तो 'अदसो मात्' की दृष्टि से इत्व विधायक सूत्र असिद्ध होता है। इसलिये प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती। इस प्रकार अप्रगृह्य अण् मिलने पर अनुनासिकत्व दुर्वार हो जाता है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

सूत्रों की असिद्धता किसी कार्य के लिये होती है। इसलिये कार्य का ज्ञान होने के बाद ही सूत्रों की प्रवृत्ति होती है। कार्य का ज्ञान प्रदेश देश (विधिदेश) में ही होता है। इसलिये 'अणोऽप्रगृह्यस्य' के देश में गया हुआ 'अदसो मात्' सूत्र स्वयं पर त्रिपादी होने के कारण इत्वमत्वविधायक के प्रति असिद्ध है। इसलिये 'पूर्वत्रासिद्धम्' के पूर्वशब्द से उसका ग्रहण नहीं होता है। विधिदेश में संज्ञासूत्र का वाक्यार्थबोध होने के बाद ही सूत्रों के पारस्परिक विरोध का विचार होता है। इसलिये विधिदेशीय परत्व ही 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इस सूत्र प्रवृत्ति का कारण होता है। इसलिये 'अदसो मात्' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा कि कार्यकालपक्ष में 'प्रगृह्य संज्ञा' अयादि से पर में ही है।

इसका तात्पर्य यह है कि 'अदसो मात्' १।१।१२ सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने यह विचार किया कि 'अमी अत्र' 'अमी आसते' 'अमू अत्र' 'अमू आसते'

इत्यादि प्रयोगों में जहाँ मकार से पर में रहने वाले ईकार और ऊकार को प्रगृह्य संज्ञा की जाती है, वहाँ 'अदसो मात्' की दृष्टि से इत्यादि विधायक सूत्रों के असिद्ध हो जाने के कारण 'अमी' की जगह 'अदे' और 'अमू' की जगह 'अदौ' दिखायी पड़ेगा। ऐसी स्थिति में यहाँ अयादि की प्राप्ति होती है जिनका निषेध करना चाहिये। इस निषेध के प्रसंग में भाष्यकार ने एक यह भी उपाय प्रदर्शित किया कि 'परा प्रगृह्यसंज्ञा' अर्थात् कार्यकालपक्ष में 'अदसो मात्' 'प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्' के देश में चला जायेगा और वहाँ जाने से अयादि की अपेक्षा 'अदसो मात्' ही पर हो गया। इसलिये प्रगृह्य संज्ञा द्वारा अयादि का बाध हो जाता है। इस भाष्य से यह सिद्ध होता है कि कार्यकाल पक्ष में संज्ञासूत्र विधिदेशीय हो जाते हैं।

आकडाराधिकारस्थभपदसंज्ञादिविषये तु यथोद्देशपक्ष एवेति तत्रत्य-परत्वेनैव बाध्यबाधकभावः। पदादिसंज्ञानां तत्र जातशक्तिग्रहेणैव त्रिपाद्यामपि व्यवहारः। अतएव 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८-२-१) इति सूत्रे परिभाषाणामेव त्रिपाद्यामप्रवृत्तिमाशङ्क्य कार्यकालपक्षाश्रयेण समाहितमित्याहुः। यथोद्देशपक्षः प्रगृह्यसंज्ञाप्रकरणे भाष्ये ॥ २ ॥

'आकडारादेका संज्ञा' इस सूत्र के अधिकार में आने वाली 'भ' 'पद' आदि संज्ञाओं के विषय में यथोद्देशपक्ष ही होता है। इसलिये इन संज्ञाओं में परत्व के आधार पर किया जाने वाला बाध्यबाधकभाव उपदेशदेश के आधार पर ही होता है। इस बात में 'अपादानमुत्तराणि कारकाणि बाधन्ते' अर्थात् अपादान कारक को उत्तर कारक बाध लेते हैं। यह भाष्य प्रमाण है। यदि आकाडारीय संज्ञाओं का कार्यकालपक्ष होता तो 'अपादान संज्ञा' 'अपादाने पञ्चमी' के देश वाली होती जो 'कर्मणि द्वितीया' के देश वाली कर्म संज्ञा से स्वयमेव पर हो जाती। ऐसी स्थिति में कर्मादि संज्ञाओं के द्वारा अपादान सज्ञा का बाध होता है ऐसी भाष्योक्ति असंगत हो जाती।

पदादि संज्ञाओं का तत्र=स्वदेश में ही हुए शक्तिग्रह के द्वारा त्रिपादी में भी व्यवहार होता है। यहाँ अपि शब्द से सपादसप्ताध्यायी का ग्रहण होता है। अर्थात् सपादसप्ताध्यायी में तो पदादि संज्ञाओं का स्वदेशीय शक्ति ग्रह से व्यवहार होता ही है, त्रिपादी में भी स्वदेशीय शक्तिग्रह से ही व्यवहार किया जाता है। अतएव संज्ञाशास्त्र का स्वदेश में हुए शक्तिग्रह से त्रिपादी में भी व्यवहार किया जाता है। ऐसा मानने से ही 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र में केवल परिभाषाओं की ही त्रिपादी में अप्रवृत्ति की आशंका की गई। क्योंकि त्रिपादीसूत्र परिभाषाओं की दृष्टि से असिद्ध हो जाते तो वहाँ परिभाषाओं के द्वारा किया जाने वाला वाञ्छित कार्य संभव नहीं होता। ऐसी शंका करके कार्यकाल पक्ष के द्वारा इसका समाधान किया

गया। अर्थात् कार्यकाल पक्ष में परिभाषा विधेय का त्रिपादीस्थ विधिसूत्रों में स्मरण करके कार्य कर लिया जाता है।

प्रगृह्य संज्ञाप्रकरण के भाष्य में यथोद्देश पक्ष का संकेत किया गया है। इस पक्ष में संज्ञासूत्रों का स्वदेश में ही सफल वाक्यार्थबोध होता है। इसलिये 'आगच्छतम् अग्नी इति' इस प्रयोग में प्लुत और प्रगृह्य दोनों संज्ञाओं की साथ ही प्राप्ति होने पर 'ईदूदेद्' सूत्र की दृष्टि से 'दूराद्धूते च' यह प्लुतविधायक सूत्र असिद्ध हो जाता है। इसलिये प्रगृह्य संज्ञा होने से अनुनासिक नहीं होता है। यदि कार्यकाल पक्ष माना जाता तो प्रगृह्य संज्ञा 'अणोऽप्रगृह्यस्य' के देश वाली हो जाती। तब उसकी दृष्टि में प्लुत असिद्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती और अप्रगृह्य अण् मिलने के कारण उपर्युक्त प्रयोग में अनुनासिकत्व की आपत्ति हो जाती। इससे यथोद्देश पक्ष की पुष्टि होती है॥ २॥

कार्यकालमित्यस्य च कार्य्येण काल्यते स्वसन्निधिं प्राप्यत इत्यर्थः। कार्येण स्वसंस्काराय स्ववृत्तिलिङ्गचिह्नितपरिभाषाणामाक्षेप इति यावत्। अतएव 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८-२-१) इति सूत्रे भाष्ये त्रिपाद्या असिद्धत्वात्तत्र सपादसप्ताध्यायीस्थपरिभाषाणामप्रवृत्तिमाशङ्क्य यद्यपीदं तत्रासिद्धं तत्त्विह सिद्धमित्युक्त्वा तावताप्यसिद्धिरित्यभिप्रायके कथमिति प्रश्ने—कार्यकालं संज्ञापरिभाषं यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यमित्युक्तम्।

अब कार्यकाल 'संज्ञा परिभाषम्' इस दूसरी परिभाषा का व्याख्यान करते हैं—कार्येण = कार्यविधायकसूत्र के द्वारा, काल्यते = अपनी सन्निधि में जहाँ परिभाषासूत्रों को लाया जाय, वहाँ कार्यकालपक्ष होता है। कार्यविधायकसूत्र के द्वारा अपने संस्कार के लिये अपने में रहने वाले लिङ्ग (चिह्न) से चिह्नित परिभाषाओं का आक्षेप किया जाता है। यहाँ संस्कार का अर्थ वाक्यार्थबोधरूपी संस्कार तथा आक्षेप का अर्थ स्मरण है। अर्थात्—विधिसूत्र अपने वाक्यार्थबोध रूपी संस्कार के लिये परिभाषाविधेय का अपने देश में स्मरण करते हैं।

कार्यकालपक्ष में परिभाषाओं का ही आक्षेप होता है ग्रन्थकार के द्वारा ऐसा कहने से यह संकेत मिलता है कि यह पक्ष परिभाषाओं के लिये ही सीमित है।

अतएव विधिदेश में परिभाषाविधेय का स्मरण किया जाता है ऐसा स्वीकार करने से ही 'पूर्वत्रासिद्धम्' इस सूत्रस्थ भाष्य की संगति होती है। भाष्यकार ने वहाँ कहा कि सपादसप्ताध्यायी परिभाषा की दृष्टि से त्रिपादी विधिसूत्र असिद्ध हैं, तब वहाँ परिभाषा की प्रवृत्ति कैसे होगी? इस आशङ्का का समाधान देते हुए भाष्यकार ने कहा कि—'यद्यपि इदम् = विधिसूत्र, तत्रासिद्धम् = परिभाषा की दृष्टि से असिद्ध हैं किन्तु तत्तु = परिभाषासूत्र, इह सिद्धम् = त्रिपादी

विधिसूत्रों के प्रति सिद्ध ही हैं'। तात्पर्य यह है कि त्रिपादी विधिसूत्र सापादिक-परिभाषा की दृष्टि से असिद्ध होने के कारण परिभाषा देश में नहीं जा सकते, किन्तु त्रिपादी शास्त्र से सापादिकपरिभाषा का अपने देश में आकर्षण तो हो ही सकता है। इसलिये परिभाषाशास्त्र की प्रवृत्ति त्रिपादी सूत्रों में हो सकती है। फिर भाष्यकार ने कहा कि 'कथम्'? इस कथम् का तात्पर्य है कि विधिसूत्रों के द्वारा सापादिक परिभाषा का अपने देश में आकर्षण करने पर भी असिद्धि ही है। क्योंकि 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र के द्वारा परिभाषा की दृष्टि में त्रिपादी विधिसूत्र जब असिद्ध हैं तो विधिदेश में जाने पर भी परिभाषा विधिसूत्र का संस्कार कैसे कर सकती है?

इस पर भाष्यकार ने कहा 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' अर्थात् संज्ञा और परिभाषा के लिये कार्यकाल पक्ष होता है। इस पक्ष में जहाँ कार्य हो, वहीं परिभाषा की उपस्थिति होती है। उपस्थित होने के पश्चात् उस देश के माहात्म्य से परिभाषा-सूत्र विधिसूत्र को उसी प्रकार देखने लगते हैं जिस प्रकार कोई व्यक्ति स्वर्ग में जाकर उस देश के माहात्म्य से वहाँ देवताओं को देखने लग जाता है। इस प्रकार कार्यकालपक्ष में परिभाषासूत्रों के द्वारा विधिसूत्रों का संस्कार किया जाता है।

न च कार्यकालपक्षे 'ङमो ह्रस्वात्' (८-३-३२) इत्यादौ 'तस्मादित्युत्तरस्य' (१-१-६७), 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१-१-६६) इति परिभाषाद्वयोपस्थितौ परत्वाद् 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' इति 'तस्मिन्' इति सूत्रस्थभाष्यासङ्गतिः, उभयोरेकदेशस्थत्वेन परत्वादित्यस्यासङ्गत्यापत्तेः, स्पष्टं चेदम् 'इको गुण' (१-१-३) इत्यत्र कैयट इति वाच्यम्, 'विप्रतिषेध'सूत्रेऽष्टाध्यायीपाठकृतपरत्वस्याश्रयणेनादोषात्। न हि कार्य्यकालपक्ष इत्येतावता तदपैति, पक्षद्वयेऽपि प्रदेशेषु स्वबुद्धिजननेनाविशेषात्। नहि तत्पक्षेऽप्यचेतनस्य शास्त्रस्य स्वदेशं विहाय तद्देशगमनं सम्भवति। नाप्यस्मदादिबुद्धिजननेन स्वदेशत्यागो भवति।

कार्यकालपक्ष में परिभाषासूत्रों का विधिदेश में आकर्षण होता है ऐसा स्वीकार करने पर एक यह दोष उपस्थित होता है कि 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' इस सूत्र में 'ङमः' इस पञ्चम्यन्त पद के आधार पर 'तस्मादित्युत्तरस्य' इस परिभाषा की तथा 'अचि' इस सप्तम्यन्त पद से 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे' इस परिभाषा की जब साथ ही उपस्थिति होती है, तो किसके आधार पर कार्य किया जाय, ऐसा संशय होने पर 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' इस परिभाषा के द्वारा पञ्चमी निर्देश को बलवान् बनाया जाता है जिससे ङम् से पर में रहने वाले अच् को

ङमुट् किया जाता है। यह बात अब संगत नहीं हो रही है। क्योंकि दोनों जब 'ङमो ह्रस्वादचि' के देश के हो गये तो एक देशस्थ होने के कारण पूर्वत्व और परत्व का व्यवहार वहाँ नहीं हो सकता। यह बात 'इको गुण' सूत्र में कैयट ने कही है। इसके उत्तर में कहा गया है कि 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इस सूत्र में उल्लिखित पर शब्द से अष्टाध्यायी के पाठ के आधार पर ही पर का ग्रहण किया जाता है। फलस्वरूप उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं के एकदेशस्थ होने पर भी अष्टाध्यायी में 'तस्मादित्युत्तरस्य' के पर होने के कारण उसी के द्वारा 'ङमो ह्रस्वात्' सूत्र का वाक्यार्थ बोध किया जाता है।

दूसरी बात यह है कि कार्यकालपक्ष होने मात्र से परिभाषा सूत्र अपने देश को छोड़ नहीं देते। वस्तुस्थिति तो यह है कि यथोद्देश और कार्यकाल दोनों पक्षों में परिभाषासूत्र अपने विधेय की बुद्धि करा कर विधि सूत्रों से एक वाक्यता करते हैं। यहाँ प्रदेश में स्वबुद्धि जनन का अर्थ यह है कि यथोद्देश पक्ष में परिभाषा-देश में पदैकवाक्यता होती है तथा कार्यकालपक्ष में विधिदेश में पदैकवाक्यता होती है।

इस प्रकार प्रदेश का अर्थ यहाँ परिभाषादेश और विधिदेश दोनों होता है। निष्कर्ष यह हुआ कि परिभाषासूत्र वास्तव में कहीं जाता नहीं है। केवल उसके विधेयबुद्धि द्वारा कार्य किया जाता है। इसलिये 'तस्मादित्युत्तरस्य' और 'तस्मिन्निति' इन दोनों के एकदेशस्थ होने की तथा तत्प्रयुक्त पूर्वत्वपरत्वादि की शंका का अवसर ही नहीं आता। कार्यकालपक्ष में अचेतन शास्त्र (सूत्र) का स्वदेश त्याग कर विधिदेश में गमन कथमपि संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त हम लोगों के द्वारा विधिदेश में परिभाषाविधेयबुद्धि करने से भी परिभाषाओं का स्वदेशत्याग नहीं होता है। ऊपर मूल में आये हुए 'अविशेषात्' पद से यही बात बताई गयी है कि दोनों पक्षों में परिभाषाओं का पाठदेश ही मुख्य होता है। इसलिये उसी के आधार पर विप्रतिषेधसूत्रीय व्यवस्था होगी।

अतएव भाष्ये एकदेशस्थस्यैव सर्वशास्त्राभिज्वालकत्वमुक्तम्। अतएव 'तस्मिन्' इति सूत्रे कैयटः—सूत्रपाठापेक्षया परत्वस्य व्यवस्थापकत्वमिति। 'इको गुण' इति सूत्रस्थकैयटस्तु चिन्त्य एव। अन्यथा सर्वशास्त्राणां प्रयोगार्थत्वेन प्रयोगरूपैकदेशस्थत्वेन क्वापि परत्वं न स्यात्। किञ्च 'ङिति च' इति सूत्रस्थकैयटरीत्या विधिसूत्राणां यथोद्देशपक्षे परिभाषादेशेसन्निधानेन तेषां परत्वं व्याहन्येत। एवं च वृक्षेभ्य इत्यत्र 'सुपि च' (७–३–१०२) इत्यतः परत्वाद् 'बहुवचने झल्येत्' (७–३–१०३) इत्येत्त्वमित्याद्युच्छिद्येतेत्यलम्॥ ३॥

अतएव यथोद्देश और कार्यकाल दोनों पक्षों में परिभाषासूत्रों का पाठ-देश ही मुख्य होता है। यह स्वीकार करने से ही यह भाष्य संगत होता है कि कोई सूत्र एक ही देश में रहता हुआ सारे शास्त्र को अभिज्वलित करता है। इसलिये 'तस्मिन्निति' इस सूत्र में कैयट ने कहा कि परत्व का व्यवस्थापक सूत्रपाठ ही होता है। अर्थात् अष्टाध्यायी में किये गये पाठ के आधार पर ही पूर्वत्व और परत्व की व्यवस्था करनी चाहिये। 'इको गुण' सूत्र में कैयट ने जो यह कहा था कि कार्यकालपक्ष में 'तस्मादिति' और 'तस्मिन्निति' ये दोनों परिभाषाएँ एक-देशस्थ हो गयीं इसलिये उनमें परत्व की व्यवस्था नहीं हो रही है। यह उनका कथन चिन्तनीय है क्योंकि एक जगह परत्व अने[illegible] व्यवस्था के सम्बन्ध में संशय को व्यक्त करने वाले कैयट दूसरी जगह सूत्र विधिदे[illegible] की अपेक्षा परत्व की व्यवस्था कर रहे हैं। इस प्रकार पूर्वापर विरोध के क[illegible] 'अदसो [illegible] 'इको गुण' का कैयट चिन्त्य ही है। अन्यथा यदि यह मान लिया जाय कि जो जहाँ गया वही उसका देश हो गया तो कहीं भी परत्वादि की व्यवस्था नहीं हो सकती। क्योंकि सारे सूत्र प्रयोगों के लिये हैं, इसलिये सभी प्रयोगरूपी एक देश के हो गये तो फिर एकदेशस्थों का परत्व और पूर्वत्व किस प्रकार होगा ?

इसके अतिरिक्त 'ङिति च' सूत्र के कैयट की रीति से यथोद्देश पक्ष में विधि सूत्रों को परिभाषा देश में जाने तथा तद्देशीय हो जाने से उनका परत्व समाप्त हो जायेगा। ऐसी स्थिति में 'वृक्षेभ्यः' इस प्रयोग में 'सुपि च' को बाधकर परत्वात् 'बहुवचने झल्येत्' से एत्व होता है यह कथन भी उच्छिन्न हो जायेगा। क्योंकि 'वृक्षेभ्यः' यह प्रयोग ही दोनों का देश हो गया तो फिर वहाँ परत्व किस बात का होगा ॥ ३ ॥

परिभाषा-सांराश

प्राचीन मतानुसार संज्ञा और परिभाषासूत्रों का वाक्यार्थबोध यथोद्देश-पक्ष में स्वदेश में होता है। इस पक्ष का कारण अपेक्षाबुद्धि होती है। इस पक्ष में 'वृद्धिरादैच्' 'तस्मिन्निति' इत्यादि सूत्रों के वाक्यार्थबोध होने पर अपेक्षा बुद्धि के कारण इसका कुछ भावी फल है इस भावना से छात्र द्वारा वहीं पर संज्ञा और परिभाषा के अर्थों का दृढ़तर अभ्यास कर लिया जाता है। इसलिये 'मृजेर्वृद्धिः' 'इको यणचि' इत्यादि सूत्रों के लिये संज्ञा और परिभाषा के वाक्यार्थबोध की पुनः आवश्यकता नहीं होती है। इस पक्ष में सज्ञा और परिभाषासूत्रों का विधि-सूत्र के साथ वाक्यैकवाक्यता होती है। इसका तात्पर्य उपजीव्योपजीकभावापन्न-विषयता से है।

कार्यकालपक्ष में संज्ञा और परिभाषासूत्रों का वाक्यार्थबोध होने के

बाद इसकी आवश्यकता जब आगे विधिसूत्रों में आने वाली है तब अभी से इसके ऊपर ध्यान देना अनावश्यक है। इस प्रकार की उपेक्षा बुद्धि होती है। परिणाम यह होता है कि जब 'मृजेर्वृद्धिः' 'इको यणचि' इत्यादि विधिसूत्र आते हैं तो वृद्धि इत्यादि पदों के अर्थ का ज्ञान न रहने के कारण वहाँ पर पुनः 'वृद्धिरादैच्' का वाक्यार्थबोध कराया जाता है। परिभाषा का भी इसी प्रकार अर्थ तथा उसके विधेय का ज्ञान विधिदेश में कराया जाता है। इस पक्ष में विधिदेश में ही संज्ञा और परिभाषाशास्त्र का सफल वाक्यार्थबोध होने के कारण इनका देश भी विधिदेश ही हो जाता है। इसलिये 'अयादिभ्यः परैव प्रगृह्य संज्ञा' इस भाष्य की सगति होती है। इस पक्ष में विधिसूत्रों के साथ संज्ञा और परिभाषासूत्रों की पदैकवाक्यता होती है। तस्मिन्निति तो यक्के पूर्व और निर्दिष्ट पद का अन्वय अभेद सम्बन्ध से क्रमशः इक् और अच् पदों बुद्धिस्था है। इसी प्रकार 'वृद्धिरादैच्' सूत्र के आदैच् पद का अभेद सम्बन्ध से 'वृद्धिरेचि' के वृद्धि पद के साथ अन्वय होता है। इसलिये यहाँ अभेद सम्बन्ध की प्रकारता और विशेष्यता निरूप्य निरूपक भावापन्न होती है। इस प्रकार इस पक्ष में पदैकवाक्यता सम्पन्न होती है।

नवीनमत के अनुसार 'तस्मिन्निति' इत्यादि परिभाषासूत्रों का वाक्यार्थ-बोध होने पर 'सप्तमीनिर्देश कहाँ है' ऐसी जिज्ञासा होती है। उस समय सप्तम्यन्त पद घटित जो विधिसूत्र वहाँ उपस्थित होते हैं उन सभी के वाक्यार्थबोध के लिये परिभाषासूत्र के विधेय की आवृत्ति करके विधिसूत्रों के साथ पदैकवाक्यता होती है। इस प्रकार जो विधिसूत्र परिभाषादेश में आते हैं उनके लिये परिभाषा-शास्त्र का यथोद्देशपक्ष होता है। दृढतर संस्कारभाव के कारण अथवा त्रिपादी होने के कारण जो विधिसूत्र परिभाषादेश में नहीं आते, उनके लिये परिभाषा-शास्त्र का कार्यकालपक्ष होता है। इस पक्ष में विधिदेश में परिभाषा विधेय का स्मरण करके पदैकवाक्यता की जाती है।

इस प्रकार नवीन मत के अनुसार अपेक्षा और उपेक्षा बुद्धि इन दोनों पक्षों का कारण नहीं है। इस प्रकार इस मत के अनुसार परिभाषाशास्त्र का दोनों पक्षों में स्वदेश का पाठ ही मुख्य होता है और उसी आधार पर पूर्वत्व और परत्व की व्यवस्था होती है। इसीलिये भाष्यकार का यह कहना भी संगत होता है कि कोई एक देशस्थ होकर सारे शास्त्र को अभिज्वलित करता है। प्राचीनों के मतानुसार यथोद्देश पक्ष में पाठदेश तथा कार्यकालपक्ष में विधिदेश मुख्य होता है।

संज्ञासूत्रों के सम्बन्ध में नवीन मतानुसार यथोद्देशपक्ष वैसा ही प्रतीत होता है जैसा कि प्राचीनों को अभिमत है, क्योंकि इन्होंने कहा है कि 'संज्ञाशास्त्रस्य

तु कार्यकालपक्षे न पृथग् वाक्यार्थबोधः'। अर्थात् संज्ञाशास्त्र का कार्यकाल-पक्ष में पृथक् वाक्यार्थ बोध नहीं होता किन्तु यथोद्देश में तो होता ही है। पृथक् का तात्पर्य यहाँ स्वदेश से है। इससे सिद्ध हुआ कि संज्ञासूत्रों का यथोद्देशपक्ष में वाक्यार्थबोध होता है और कार्यकालपक्ष में विधिदेश में। परिभाषासूत्रों के सम्बन्ध में यथोद्देश और कार्यकाल पक्ष की व्याख्या दोनों मतों की अपने-अपने ढंग की पृथक्-पृथक् है यह बात कही जा चुकी है।

यहाँ एक बात आपाततः विरुद्ध-सी प्रतीत होती है कि नागेशभट्ट ने एक जगह लिखा है कि जैसे व्यावहारिक व्यक्ति अनेक देशों में जाने पर भी तद्देशीय नहीं होता, उसी प्रकार कार्यकालपक्ष में विधिदेश में जाने पर कोई सूत्र तद्देशीय नहीं हो सकता है। किन्तु आगे जाकर 'अदसोमात्' को कार्यकालपक्ष में 'अणोऽ-प्रगृह्यस्य' इस सूत्र का देशवाला मान लिया है। यह विरोध स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। किन्तु बात वैसी नहीं है। विधिदेश में जाने पर भी सूत्र तद्देशीय नहीं होते। यह नागेशोक्ति केवल परिभाषा सूत्रों के लिए है न कि संज्ञा सूत्रों के लिये भी। संज्ञासूत्रों का तो कार्यकाल पक्ष में विधिदेश होता ही है। वस्तुतः परिभाषा सूत्र कार्यकाल पक्ष में भी कहीं नहीं जाते हैं, किन्तु इस पक्ष में विधिदेश में केवल इनके विधेय का स्मरण कर लिया जाता है। इसीलिये भाष्यकार की यह उक्ति संगत होती है कि 'कश्चित् एकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति।' यहाँ कश्चित् का अर्थ—परिभाषारूपः ही किया गया है।

'यथोद्देशम्' परिभाषा में संज्ञा और परिभाषा सूत्रों के सम्बन्ध में विचार किया गया है। संज्ञाओं में इत् संज्ञा सर्वप्रथम और व्याकरणशास्त्रीय प्रवृत्ति का प्रयोजक है, क्योंकि भाष्यकार ने कहा है कि 'इत् संज्ञोत्तरं प्रत्याहारः' इत् संज्ञा के बाद प्रत्याहार बनते हैं और प्रत्याहार, व्याकरणशास्त्र की आधारशिला हैं। इसलिये 'इत् संज्ञा' का व्याकरणशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण उसके सम्बन्ध में परिभाषा का उपक्रम करते हुए ग्रन्थकार लिख रहे हैं—

इत्संज्ञका अनुबन्धास्तेष्ववयवानवयवत्वसन्देह आह—

जिसकी संज्ञा इत् होती है अथवा जो इत् संज्ञा के योग्य हो उसे अनुबन्ध कहते हैं। वे अवयव होते हैं या अनवयव, ऐसा सन्देह होने पर यह परिभाषा बनायी गयी—

अनेकान्ता अनुबन्धा इति ॥ ४ ॥

अनुबन्ध अनेकान्त होते हैं। अनेकान्त का अर्थ अनवयव है। अर्थात् अनुबन्ध अवयव नहीं होते।

विमर्श—यहाँ अनुबन्धों में अनवयवत्व सिद्ध करने के लिये अनुमान की प्रक्रिया अपनायी गई है। प्रश्न होता है कि सन् का नकार सन् का अवयव है या नहीं ? अथवा स का अवयव है या नहीं ? इन प्रश्नों का उत्तर तो सुनने मात्र से ही हो जाता है। क्योंकि सन् शब्द में 'स्-अ-न्' ये तीन वर्ण हैं और स शब्द में स् और अ ये दो ही वर्ण हैं। इसलिये सन् और स के अवयवों की स्पष्ट प्रतिपत्ति होने पर तद्विषयक सन्देह ही क्यों होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि सन्देह केवल नकार के अवयवानवयवत्व का नहीं है, किन्तु प्रश्न यह है कि सन् में बोधकता है या स शब्द में ? देखा जाता है कि 'जुगुप्सते' इत्यादि प्रयोगों में 'स' शब्द का प्रयोग हुआ है और 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' इस सूत्र में सन् का प्रयोग हुआ है। ऐसी स्थिति में यदि सन् में बोधकता है तो नकार में बोधकावयवत्व होगा और यदि स में बोधकता है तो नकार में बोधकानवयवत्व होगा। इस प्रकार बोधकत्वप्रयुक्त-अवयवत्वानवयवत्व का सन्देह सुनने मात्र से निवृत्त नहीं हो सकता। अतः अनुमान की प्रक्रिया यहाँ उचित ही है। उसका यहाँ क्या प्रकार है। इस सम्बन्ध में कहते हैं—

अनेकान्ता अनवयवा इत्यर्थः। यो ह्यवयवः स कदाचित् तत्रोपलभ्यत एव। अयं तु न तथा, तदर्थभूते विधेये कदाप्यदर्शनात्।

अनेकान्त का अर्थ अनवयव है। अर्थात् अनुबन्ध अनवयव होते हैं। क्योंकि जो जिसका अवयव होता है वह कभी न कभी उसके विधेय में अवश्य देखा जाता है। अनुबन्ध ऐसा नहीं होता क्योंकि वह तदर्थभूतविधेय अर्थात् स्वविधेय के साथ कभी नहीं देखा जाता।

यहाँ तत्र का अर्थ विधेय है। और तदर्थभूत में तद् शब्द का अर्थ बोधक है। उदाहरण के लिये 'जुगुप्सते' के सकार का बोधक 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' का सन् है। इसलिये सूत्रघटक सन् का विधेय लक्ष्यस्थ सकार होता है। अतः यह तदर्थभूत विधेय कहा जाता है। सन् का नकार उसके विधेय सकार के साथ कभी नहीं देखा जाता, अतः वह सन् का अवयव नहीं है।

अब यहाँ शंका होती है कि जब सन् का नकार उसके विधेय सकार के साथ नहीं रहने के कारण सन् का अवयव नहीं है तो उसी प्रकार शप् का शकार शप् के द्वारा लक्ष्य में विधेय अकार के साथ नहीं देखा जाता है, इसलिये वह भी शप् का अवयव नहीं होगा। ऐसी स्थिति में शप् को शित् कैसे कहा जाय ? क्योंकि शित् का अर्थ है 'शकारः अवयवः इत् यस्यासौ शित्' अर्थात् शकाररूपी अवयव की जिसमें से इत् संज्ञा हुई हो वह, शित् कहा जाता है। यहाँ शकार तो अवयव है नहीं, इसलिये शप् को शित् कहना संभव नहीं है। इसी प्रकार 'त्रसिगृधि धृषि-

क्षिपेः क्नुः' सूत्र से विधेय क्नु प्रत्यय भी कित् नहीं कहा जायेगा क्योंकि 'क्षिप्नुः' इत्यादि लक्ष्यों में विधेय नु के साथ ककार दिखायी नहीं पड़ता है। इसलिये तदर्थभूत विधेय के साथ कभी न देखे जाने के कारण ककार क्नु का अनवयव है। फलस्वरूप ककार रूपी अवयव जिसका इत् संज्ञक हो वह कित् कहा जाता है, यह नियम यहाँ लागू न होने के कारण क्नु प्रत्यय कित् नहीं कहा जायेगा। परिणाम यह होगा कि 'क्षिप्नुः' में कित्वात् जो गुण का निषेध होता था वह नहीं होगा। इस प्रकार की आशंकाओं के निराकरण के लिये मूल में कहा गया है कि—

शित्किदित्यादौ समीपेऽवयवत्वरोपेण समासो बोध्यः। 'वुञ्छण्कठ' (४–२–८०) इत्यादौ णित्त्वप्रयुक्तं कार्यं पूर्वस्यैवेत्यादि तु व्याख्यानतो निर्णेयम्। 'हलन्त्यम्' (१–३–३) इत्यत्रान्त्यशब्दः परसमीपबोधकः ॥४॥

शित् कित् इत्यादि शब्दों में 'शकारः, ककारः, अवयवः इत् यस्य' इस प्रकार का जो समास होता है, वह आरोपित अवयवत्व के आधार पर होता है। इसका तात्पर्य यह है कि शप् का शकार और क्नु का ककार जिनकी इत् संज्ञा होने वाली है वे समीप में उच्चरित अनुबन्ध हैं; इसलिये 'स्वसमीपोच्चारिते अनुबन्धे स्वनिरूपितमवयवत्वमारोप्यते' इस नियम से उनमें शप् और क्नु निरूपित अवयवत्व का आरोप कर दिया जाता है। इस प्रकार शित् और कित् इत्यादि शब्दों का उक्त व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यहाँ संगत हो जाता है। किन्तु शित् कित् के लिये इस प्रक्रिया को अपनाने पर एक नयी समस्या यह पैदा हो जाती है कि—'वुञ्छण्कठ' इत्यादि सूत्र में छण् प्रत्यय का णकार क प्रत्यय के समीप में पठित है इसलिये उसमें कप्रत्यय निरूपित अवयवत्व का आरोप कर दिया जायेगा। इससे क प्रत्यय णित् कहा जायेगा और उससे णित् प्रयुक्त कार्य होने लग जायेगा। परिणाम यह होगा कि 'ऋश्यक' इस प्रयोग में आदिवृद्धि होने लगेगी। इस शंका के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि णित्व प्रयुक्त कार्य यहाँ पूर्व को ही होगा पर को नहीं। अर्थात् 'ण' में छण् निरूपित अवयवत्व का ही आरोप होगा क निरूपित अवयवत्व का आरोप नहीं। इससे छण् प्रत्यय णित् भले ही हो क प्रत्यय णित् नहीं होगा। यदि कहा जाय कि 'स्वसमीपोच्चारितेऽनुबन्धे स्वनिरूपितावयवत्वमारोप्यते' इस नियम के आधार पर क के समीप होने के कारण ण को क का अवयव क्यों नहीं कहा जाय ? तो इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि इसका निर्णय व्याख्यान से कर लेना चाहिये। व्याख्यान के द्वारा यही सिद्ध होता है कि ण छण् का ही अवयव है न कि क प्रत्यय का। यहाँ पर व्याख्यान के लिये 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' इस सूत्र को लिया गया है। इस सूत्र में द्वयसच् और दघ्नच् दोनों

प्रत्ययों में चकार अनुबन्ध किया गया है। प्रश्न होता है कि जब 'स्वसमीपोच्चारित अनुबन्ध में स्वनिरूपित अवयवत्व का आरोप किया जाता है तो द्वयसच् का चकार ही दघ्नच् का भी अवयव हो जाता। ऐसी स्थिति में दघ्नच् में चकार अनुबन्ध की क्या आवश्यकता है? इससे सिद्ध होता है कि अनुबन्ध में उससे पूर्व स्थित प्रत्यय का ही अवयवत्व आरोपित किया जाता है। इसलिये दघ्नच् का चकार उसी का अवयव कहा जायेगा न कि मात्रच् का भी। इसलिये मात्रच् में चकार अनुबन्ध सार्थक होता है।

अब यह शंका होती है कि 'हलन्त्यम्' सूत्र में जो अन्त्य शब्द है, उसका अर्थ है अन्त्यावयव। इसलिये यह सूत्र उपदेश में अन्त्यावयव की इत्संज्ञा करता है। उपर्युक्त व्याख्यान से यह सिद्ध हुआ है कि सन् का नकार उसका अवयव नहीं है। ऐसी स्थिति में उसकी इत्संज्ञा कैसे होगी? यदि कहा जाय कि उसमें सन् निरूपित अवयवत्व का आरोप कर दिया जायेगा तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'शित्, कित्, णित्' आदि इत्घटितधर्म के अतिदेश के लिये ही अवयवत्व का आरोप किया गया है। हलन्त्यम् सूत्र में ऐसी कोई बात नहीं है, किन्तु यहाँ तो इत् संज्ञा ही करनी है। इसलिये यहाँ अवयवत्व का आरोप संभव नहीं है। इस शंका के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि 'हलन्त्यम्' में अन्त्य शब्द परसमीप का बोधक है। इसलिये उपदेश में परसमीप की इत् संज्ञा होती है, ऐसा अर्थ करने से उपर्युक्त दोष का निराकरण हो गया।

विमर्श—अब इस परिभाषा में प्रयुक्त अनुमान की प्रक्रिया पर भी थोड़ा विचार करना आवश्यक है।

अनुबन्ध में अनेकान्तत्व (अनवयवत्व) सिद्ध करने के लिये यहाँ परार्थानुमान का आश्रयण किया गया है। इस अनुमान में पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग किया जाता है। यहाँ पर 'अनुबन्धा अनेकान्ता' यह प्रतिज्ञावाक्य है। यो 'ह्यवयवः स कदाचित् तत्रोपलभ्यत एव'। यह उदाहरणवाक्य है। इसके द्वारा व्यतिरेकव्याप्ति का भी प्रदर्शन किया गया है। अन्वय व्याप्ति में साधन (हेतु) व्याप्य होता है और साध्य, व्यापक होता है, जैसे—यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि। व्यतिरेक व्याप्ति में साध्याभाव व्याप्य होता है और साधनाभाव व्यापक। जैसे—यत्र यत्र वह्न्यभावस्तत्र तत्र धूमाभावः। अर्थात् जहाँ जहाँ अग्नि का अभाव रहेगा वहाँ वहाँ धूम का भी अभाव रहेगा। इसी प्रकार यहाँ अनवयवत्व साध्य है और 'तदर्थभूते विधेये कदाप्यदर्शनात्' हेतु है। इसलिये यहाँ अनवयवत्वाभाव (अवयवत्व) यह व्याप्य होगा और 'तदर्थभूते विधेये कदाप्यदर्शनात्' का अभाव 'तदर्थभूते विधेये कदाप्यदर्शनाभाव' (अर्थात् दर्शन) यह व्यापक होगा। इसलिये यहाँ व्यतिरेकव्याप्ति का प्रयोग इस प्रकार का होगा—यत्र यत्र अवयवत्वं तत्र तत्र विधेये दर्शनत्वम्।

ग्रन्थकार ने 'यो ह्यवयवः स कदाचित् तत्रोपलभ्यत एव' इस पङ्क्ति के द्वारा इसी व्यतिरेक व्याप्ति को यहाँ सूचित किया है। इसके बाद 'अयन्तु न तथा' इस उपनय वाक्य का प्रयोग किया गया है। इसके द्वारा यह बताया गया है कि अनुबन्ध अवयव की भाँति विधेय में देखे नहीं जाते, इसलिये अनुबन्ध अनेकान्त हैं। यह निगमन होता है। इस प्रकार अनुमान के द्वारा अनुबन्धों में अनवयवत्व की सिद्धि की गई है।

यहाँ एक यह जिज्ञासा होती है कि अनुमिति में साध्यसशय रूपी पक्षता कारण होती है। संशय का अर्थ है—एक धर्मी में परस्पर विरुद्ध दो धर्मों का भान होना। 'अनेकान्ता अनुबन्धाः' इस अनुमिति में अनेकान्तत्व साध्य है। अनेकान्तत्व का अर्थ है अनवयवत्व। एतद् विषयक संशय—अनुबन्ध विशेष्यक और अनवयवत्व-प्रकारक तथा अनवयवत्वाभाव प्रकारक होगा, जिसे इस प्रकार कहा जा सकता है। 'अनुबन्धाः अनवयवाः अनवयवत्वाभाव वन्तो वा'। अनवयवत्व का अर्थ है अवयवत्वाभाव तथा अनवयवत्वाभाव का अर्थ है अवयवत्वाभावाभाव अर्थात् अवयवत्व। आगे दूसरी परिभाषा आती है 'एकान्ता अनुबन्धाः'। एकान्त का अर्थ है अवयव। इसके लिये जो संशय होगा, उसका यह स्वरूप होगा—अनुबन्धा अवयवाः, अवयवत्वाभाववन्तो वा ?। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि जो अवयवत्व प्रकारक तथा अवयवत्वाभाव प्रकारक संशय अनेकान्ता अनुबन्धाः के लिये होता है वही एकान्ता अनुबन्धा के लिये भी हो रहा है। ऐसी स्थिति में ग्रन्थकार ने अनेकान्ता अनुबन्धा के अवतरण में अवयवानवयवत्वसन्देहे जो लिखा है वह ठीक नहीं है; क्योंकि अवयवविषयक अथवा अनवयवविषयक दोनों प्रकार के संशय का स्वरूप जब एक ही हो रहा है तो दोनों में से किसी एक का उपादान करने मात्र से ही दोनों परिभाषाओं के लिये पक्षता बन जाती फिर दोनों के सन्देह का उल्लेख क्यों किया गया ?

इसके उत्तर में कहा जाता है कि 'अनेकान्ता अनुबन्धा' के लिये अवयवत्वाभाव तथा अवयवत्वाभावाभाव-(अवयवत्व)-प्रकारक संशय तथा 'एकान्ता अनुबन्धा' के लिये अवयवत्वप्रकारक तथा अवयवत्वाभावप्रकारक संशय इन संशयों में अवयवत्वाभावप्रकारक संशय तो दोनों में यद्यपि समान ही है तथापि अवयवत्व (एकान्ता अनुबन्धा का) और अवयवत्वाभावाभावत्व (अनेकान्ता अनुबन्धा का) ये दोनों एक नहीं हैं। जिस प्रकार घट और द्रव्य दोनों के एक होने पर भी घटत्व और द्रव्यत्व भिन्न-भिन्न होते हैं उसी प्रकार अवयवत्वाभावाभाव का तात्पर्य अवयवत्व में होने पर भी अवयवत्व और अवयवत्वाभावाभाव दोनों भिन्न-भिन्न हैं। अवयवत्व जहाँ भावपदार्थ है वहाँ अवयवत्वाभावाभाव अभाव-

पदार्थ है। इसलिये ग्रन्थकार ने दोनों परिभाषाओं के लिये अवतरण में जो 'अवयवानवयवत्वसन्देहे' लिखा है वह ठीक ही है।

यह परिभाषा 'यो ह्यवयवः स कदाचित् तत्रोपलभ्यत एव' इस लोकन्याय से सिद्ध है। शास्त्रीय प्रमाण के रूप में यहाँ 'नानुबन्धकृतमनेकालत्वम्' इत्यादि तीन परिभाषाओं के ज्ञापकों को प्रस्तुत किया जा सकता है। उदाहरण के लिये 'अनेकालशित् सर्वस्य' इस सूत्र में जो शित् ग्रहण किया गया है वह अनुबन्धों के एकान्त पक्ष में व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि इस पक्ष में औश् स्वयं अनेकाल् हो जाता और अनेकालत्वात् ही औश् सर्वादेश हो जाता। इसलिये अनुबन्ध अनेकान्त हैं इस बात की सम्पुष्टि होती है। इसीलिये उक्त सूत्र में शिद् ग्रहण किया गया कि अनेकाल् के अभाव में शिद् ग्रहण के द्वारा वहाँ सर्वादेश होवे। इस प्रकार जिन-जिन ज्ञापनों के आधार पर 'नानुबन्धकृतमनेकालत्वम्' इत्यादि तीन परिभाषाएँ ज्ञापित की जाती है उन ज्ञापकों के आधार पर अनेकान्ता अनुबन्धा इस परिभाषा को स्वीकार कर लेने पर उन तीनों परिभाषाओं की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। यह एक प्रकार का लाघव ही है तथापि 'अनेकान्ता अनुबन्धाः' इस परिभाषा को स्वीकार करने में कुछ गौरव भी है, जिसका विवरण इस प्रकार है—

(१) शित्, कित्, णित्, इत्यादि शब्दों में समास उपपन्न करने के लिये 'स्वसमीपोच्चारितेऽनुबन्धे स्वनिरूपितावयवत्वमारोप्यते' इस आरोपक वाक्य को स्वीकार करना पड़ता है।

(२) सन् इत्यादि शब्दों में नकारादि जब अवयव ही नहीं हैं तो तद्घटित सनादि शब्दों से विभक्ति नहीं होनी चाहिये; अतः वहाँ सौत्रत्वात् विभक्ति की परिकल्पना करनी पड़ती है।

(३) आदि शब्द की पूर्व समीप में तथा 'हलन्त्यम्' इत्यादि में अन्त्य शब्द की परसमीप में लक्षणा करनी पड़ती है।

(४) 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' सूत्र से विधेय 'आन्' का नकार विधेय के साथ लक्ष्य में कभी नहीं देखा जाता। जैसे 'मातापितरौ' में केवल आकार ही दिखायी पड़ता है। इस प्रकार 'आनङ्' के नकार में 'विधेये कदाप्यदर्शनात्' यह हेतु तो गया, परन्तु बोधकानवयवाः यह साध्य उसमें नहीं गया। इस प्रकार साध्याभावाधिकरण में हेतु की सत्ता रह जाने के कारण व्यभिचारदोष भी उपस्थित हो जाता है।

इन सब उपर्युक्त कारणों से अनेकान्ता अनुबन्धा इस परिभाषा की उपेक्षा करके ग्रन्थकार लिख रहे हैं—

वस्तुतस्तु—

एकान्ताः ॥ ५ ॥

इत्येव न्याय्यम्,

वास्तव में तो ;

अनुबन्ध एकान्त अर्थात् अवयव होते हैं यही पक्ष ठीक है।

इस पक्ष का औचित्य सिद्ध करते हुए ग्रन्थकार लिख रहे हैं—

शास्त्रे तत्रोपलम्भादन्यत्रानुपलम्भाच्च। अनवयवो हि काकादिरेक-जातीयसम्बन्धेन गृहवृक्षादिषूपलभ्यते, नैवमयम्। एवं हि बहुव्रीहिरपि न्यायत एवोपपन्नः। अन्त्यादिशब्दे लक्षणा च न। किञ्चानवयवत्वे ण-श-क-प्रत्ययादौ णादेरित्त्वानापत्तिः, प्रत्ययादित्वाभावात्। दध्नचश्र-कारस्य वैयर्थ्यापत्तिश्च। इदं च 'तस्य लोपः' (१–३–९) इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम्। तत्र हृयुक्तम् 'एकान्ता अनुबन्धाः' इत्येव न्याय्यमिति दिक् ॥५॥

'सन् इत्यादि प्रत्ययों के विधायक शास्त्रों में तत्र अर्थात् बोधक के साथ अनुबन्ध की उपलब्धि होती है, अन्यत्र उसकी उपलब्धि नहीं होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि अनुबन्ध बोधक के अवयव होते हैं। यह बताया जा चुका है कि 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' इस सूत्र का सन् बोधक है और जुगुप्सते इस लक्ष्य का सकार बोध्य है। सन् के साथ नकार बराबर देखा जाता है। लक्ष्य में नकार नहीं देखा जाता। इसलिए नकार सन् रूपी बोधक का अवयव है, बोध्य का अवयव नहीं है। यहाँ इस प्रकार अनुमानवाक्य का प्रयोग होगा 'अनुबन्धाः बोधकावयवाः बोधके उपलम्भात्, अन्यत्रानुपलम्भाच्च'।

व्यतिरेकव्याप्ति के द्वारा इस बात की पुष्टि की जा रही है कि काक इत्यादि पक्षी एक जातीय सम्बन्ध से अर्थात् किसी एक सम्बन्धविशेष से गृह और वृक्ष आदि पर देखे जाते हैं। अनुबन्ध एकजातीय सम्बन्ध से बोधक के साथ तथा बोधक से भिन्न के साथ कभी नहीं देखा जाता है। तात्पर्य यह है काक कभी घर पर कभी वृक्ष पर कभी और जगह संयोग सम्बन्ध से बैठा हुआ देखा जाता है। उसका संयोग उस स्थान से तात्कालिक होता है। इसलिए काकगृहवृक्षादि का अवयव नहीं है। सन् के नकार की स्थिति इससे भिन्न है। वह सन् के साथ ही समवाय-सम्बन्ध से रहता है; किसी और के साथ नहीं। इसलिये जो जिसके साथ एक-जातीय सम्बन्ध से उपलब्ध हो तथा अन्यत्र उपलब्ध न हो वह उसका अवयव होता है। इस नियम के आधार पर अनुबन्धबोधक के अवयव सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार अनुबन्ध को बोधकावयव मान लेने का फल यह हुआ कि

'शित् कित्' इत्यादि शब्दों में 'शकारः अवयवः इत् यस्यासौ शित्' इस प्रकार का बहुव्रीहि समास न्यायतः अर्थात् आरोप के बिना ही हो जाता है। जब अनुबन्ध को अनेकान्त माना जाता था तब उक्त बहुव्रीहि के लिये अनुबन्ध में अवयवत्व का आरोप करना पड़ता था। साथ ही अनेकान्ता अनुबन्धाः इस पक्ष में 'हलन्त्यम्' के अन्त्य शब्द की परसमीप में 'चुटू' के आदि शब्द की पूर्वसमीप में जो लक्षणा करनी पड़ती थी; वह भी इस एकान्ता अनुबन्धा पक्ष में नहीं करनी पड़ती है। क्योंकि अनुबन्ध जब अवयव हो गये तब उपदेश में अन्त्यावयव की इत्संज्ञा होती है। इस प्रकार के अर्थ में कोई बाधा नहीं होती। दूसरी बात यह है कि यदि अनुबन्धों को अनवयव माना जाय तो 'ण, श, और क' प्रत्ययों के णकार, शकार और ककार की इत्संज्ञा नहीं होती। क्योंकि इत् संज्ञा करने वाले सूत्र 'चुटू' और 'लशक्वतद्धिते' के द्वारा प्रत्यय के आदि अवयव णकारादिकों की इत् संज्ञा की जाती है। इसलिये अनवयववाले पक्ष में यह इत्संज्ञा संभव नहीं है क्योंकि णकारादि प्रत्यय के आदि अवयव नहीं है। इसी प्रकार अनवयव पक्ष में जब अनुबन्धों में सामीप्य के आधार पर अवयवत्व का आरोप किया जाता है तो द्वयसच् का चकार ही दघ्नच् का भी अवयव हो जाता। ऐसी स्थिति में दघ्नच् का चकार व्यर्थ हो जाता।

यह परिभाषा 'तस्य लोपः' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। वहाँ कहा गया है कि 'एकान्ता अनुबन्धाः' अर्थात् अनुबन्ध अवयव होते हैं यही पक्ष न्याय्य है॥ ५॥

नन्वेकान्तत्वेऽनेकाल्त्वादेव औशादीनं सर्वादेशत्वसिद्धया 'अनेकाल्' (१-१-५५) सूत्रे शिद्ग्रहणं व्यर्थमत आह—

नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् ॥ ६ ॥

अनुबन्धों को जब बोधक का अवयव मान लिया गया तो 'अष्टाभ्य औश्' सूत्र से विधेय औश् का शकार उसका अवयव हो गया। इस प्रकार औश् अनेकाल् हो गया। औश् की भाँति और भी शकार घटित विधेय इसी प्रकार अनेकाल् हो गये। ऐसी स्थिति में जब कि शकारघटित सारे विधेय अनेकाल् हो गये तो सब जगह अनेकाल् मानकर ही सर्वादेश संभव है, फिर 'अनेकाल्-शित्सर्वस्य' इस सूत्र में सम्पूर्ण के स्थान पर आदेश कराने के लिये किया गया शित् ग्रहण व्यर्थ है! इस प्रकार की आशङ्का में नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' परिभाषा लिखी गई। इसका तात्पर्य है कि अनुबन्ध के कारण होने वाला अनेकाल्त्व नहीं माना जाता। अर्थात् अनुबन्ध के आधार पर किसी को अनेकाल् नहीं कहा जा सकता। इसलिये औश् को अनेकाल् न होने के कारण इसकी

सर्वादेशता सम्भव नहीं थी, अतएव 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' का शिद् ग्रहण ऐसे स्थलों पर सर्वादेश करने के लिये सार्थक होता है।

शिद्ग्रहणमेवैतज्ज्ञापकम्। तेन 'अर्वणस्तृ' (६–४–१२७) इत्यादेर्न सर्वादेशत्वम्। डादिविषये तु सर्वादेशत्वं विनानुबन्धत्वस्यैवाभावेनानुपूर्व्यात्सिद्धम्॥ ६॥

इस परिभाषा में 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' इस सूत्र का शिद् ग्रहण ही ज्ञापक है। क्योंकि यदि अनुबन्धकृत अनेकाल्त्व स्वीकार किया जाता तो 'औश्' इत्यादि प्रत्यय अनेकाल् होते और इसी आधार पर उनकी सर्वादेशता भी सम्भव थी। ऐसी स्थिति में शिद् ग्रहण की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। परिभाषा ज्ञापन के बाद औशादि आदेश शकार रूपी अनुबन्ध के आधार पर अनेकाल् नहीं कहे जा सकते। इसलिये इन्हें सर्वादेश करने के लिये शिद् ग्रहण सार्थक होता है। 'शिद् ग्रहणमेवैतज्ज्ञापकम्' यहाँ पर जो एव शब्द है वह अवधारणार्थक न होकर यहाँ पर अपि अर्थ का बोधक है। इससे यह सिद्ध होता है कि शिद् ग्रहण भी इस परिभाषा का ज्ञापक है। क्योंकि यह परिभाषा न केवल शिद् ग्रहण से ही ज्ञापित होती है अपितु 'न ल्यपि' इस सूत्र से भी ज्ञापित होती है। यह सूत्र 'प्रदाय' इत्यादि प्रयोगों में 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' सूत्र से कित् आर्धधातुक को पर में मानकर प्राप्त ईकार को वारण करता है। यहाँ प्रश्न होता है क्त्वा प्रत्यय का कित्व धर्म अल्मात्रवृत्तिधर्मघटित धर्म है, इसलिये 'अनल्विधौ' से निषेध होने के कारण ल्यप् में वह धर्म जब आयेगा ही नहीं तो कित्व के अभाव के कारण ईत्व की प्राप्ति नहीं थी तो पुनः निषेध की क्या आवश्यकता पड़ गयी। इसीलिये 'न ल्यपि' सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि अनुबन्ध अल् कहे ही नहीं जाते। इसलिये अनल्विधौ निषेध वहाँ नहीं लगेगा। साथ ही यह बात भी सिद्ध होती है कि जब अनुबन्ध अल् ही नहीं कहे जाते तो तत्प्रयुक्त अनेकाल्त्व होने का प्रश्न ही नहीं है। इस प्रकार 'न ल्यपि' सूत्र भी परिभाषा में प्रमाण होता है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि 'अर्वणस्तृ' सूत्र से विधेय 'तृ' सम्पूर्ण 'अर्वन्' शब्द के स्थान पर नहीं होता है, क्योंकि ऋकार अनुबन्ध के कारण उसे अनेकाल् नहीं माना गया।

अब यह जिज्ञासा होती है कि अनुबन्ध कृत अनेकाल्त्व जब नहीं लिया जाता है तो लुट् लकार में तिप् के स्थान पर जो डा आदेश होता है, लिट् लकार में तिप् के स्थान पर जो णल् आदेश होता है ये आदेश सम्पूर्ण के स्थान पर कैसे होंगे? क्योंकि डकार और णकार जो अनुबन्ध हैं उनके द्वारा ये आदेश अनेकाल् नहीं हो सकते। इस प्रश्न के उत्तर में लिखा गया है 'डादिविषये तु–'। तात्पर्य यह

है कि जब तक पूरे तिप् के स्थान पर डा और णल् आदेश नहीं होंगे तब तक तिप् वृत्ति प्रत्ययत्व उनमें नहीं आयेगा, और बिना प्रत्यय बने डा और णल् के डकार और णकार की इत् संज्ञा ही नहीं होगी। अनुबन्ध वही कहा जाता है जिसकी इत् संज्ञा हुई हो। इस प्रकार यहाँ पहले ही सर्वादेश हो जाता है, पीछे वे अनुबन्ध कहे जाते हैं। इस प्रकार उक्त स्थल में इस परिभाषा को प्रवृत्त होने का अवसर ही नहीं मिलता।

यदि कहा जाय कि इत् संज्ञा योग्य को भी अनुबन्ध कहा जाता है। ऐसी स्थिति में डकार और णकार अनुबन्ध हो गये, इसलिये तत्कृत अनेकाल्त्व के अभाव में यहाँ सर्वादेशता कैसे सम्भव है? इस आशंका के उत्तर में कहा गया है कि 'आनुपूर्व्यात् सिद्धम्'। इसका तात्पर्य यह है कि डा की जो आनुपूर्वी है उसमें—'डा + आ' ऐसा आकार का प्रश्लेष है। इस प्रकार डकार के बिना भी यहाँ अनेकालता हो जाती है। इसलिये सर्वादेश होने में कोई बाधा नहीं होती ॥ ६ ॥

'एकान्ता अनुबन्धा' इस परिभाषा को मानने पर दूसरा दोष देते हुए लिख रहे हैं—

न चैवमप्यवदातं मुखमित्यत्र पलोपोत्तरमात्वे कृते 'अदाप्' (१-१-२०) इति घुसंज्ञाप्रतिषेधो न स्यात्। दैपः पकारसत्त्वेऽनेजन्तत्वादात्वाप्राप्त्या प-लोपोत्तरं पकाराभावेनास्य दाप्त्वाभावादत आह—

इस प्रकार एकान्ता अनुबन्धाः इस परिभाषा को मानने पर यह दोष पड़ रहा है कि 'अवदातम्' इस प्रयोग में जो दैप् धातु से बनता है यहाँ पकार का लोप करने के बाद क्त प्रत्यय करने पर 'आदेच उपदेशे' इस सूत्र से ऐ के स्थान पर 'आ' आदेश किया जाता है, जिससे दान ऐसा रूप बनता है। यहाँ 'दाधाध्वदाप्' सूत्रघटक 'अदाप्' इस निषेध के कारण घु संज्ञा नहीं होती। इसका फल यह होता है कि 'अच उपसर्गात्तः' इस सूत्र से यहाँ नकार आदेश नहीं होता है। किन्तु यहाँ शंका यह होती है कि 'अदाप्' यह निषेध यहाँ कैसे लगता है? क्योंकि बोध्य दै शब्द में आत्व करने पर दा शब्द रहने पर भी पकार के न रहने के कारण "दाप्" रूप नहीं मिल रहा है। दैप् जो बोधक है इसमें पकार तो है किन्तु पकार के रहते धातु एजन्त नहीं है, इसलिये आत्व न होने के कारण 'दाप्' यह रूप नहीं मिल रहा है। इस प्रकार कभी पकार के न रहने से दाप् का अभाव होता है और कभी दा रूप न होने के कारण दाप् का अभाव हो रहा है। ऐसी स्थिति में यहाँ अदाप् यह निषेध कैसे प्रवृत्त होगा? इस प्रकार की शंका होने पर ग्रन्थकार कह रहे हैं—

नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् ॥ ७ ॥

अनुबन्ध के कारण किसी को अनेजन्त (एजन्तभिन्न) नहीं कहा जाता। इसका फल यह हुआ कि पकार के रहने पर भी 'दैप्' धातु एजन्त मान लिया गया। पकार की सत्ता उसके एजन्तत्व का विघातक नहीं हुई। इस प्रकार पकार के रहते हुए धातु को एजन्त मान कर आत्व कर दिया गया जिससे दाप् रूप मिल गया और 'अदाप्' इस निषेध के कारण घु संज्ञा नहीं हुई।

'उदीचां माङः' (३–४–१९) इति निर्देशोऽस्या ज्ञापकः। 'आदेच उपदेशे' (६–१–४५) इति सूत्रेणोपदिश्यमानस्यैजन्तस्यात्त्वं क्रियते, ङकारसत्त्वे त्वेजन्तत्वाभावादात्वाप्राप्तेस्तस्यासङ्ज्ञतिः। न चास्याम-वस्थायां तस्य धातुत्वाभावात्कथमात्वम् [इति वाच्यम्], तत्र 'धातोः' (६–१–८) इत्यस्य निवृत्तेरित्यन्यत्र विस्तरः। स्पष्टं चेदं 'दाधा घ्वदाप्' (१–१–२०) इति सूत्रे भाष्ये ॥ ७ ॥

'उदीचां माङो व्यतीहारे' इस सूत्र का 'माङः' यह पाणिनि का निर्देश ही इस परिभाषा का ज्ञापक है। मेङ् धातु से क्विप् प्रत्यय करके 'आदेच उपदेशे' सूत्र से आत्व करके माङ् शब्द का पञ्चमी के एक वचन में 'माङः' यह रूप बनाया गया है। आदेश उपदेशे यह सूत्र उपदेश में एजन्त धातु के अवयव एच् को आत्व करता है। किन्तु मेङ् धातु में ङकार के रहते हुए एजन्तत्व संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में आत्व की प्राप्ति ही नहीं है। इसलिये पाणिनि का 'माङः' यह निर्देश असंगत हो रहा है। इस असंगति को दूर करने के लिये यह परिभाषा स्वीकृत की गई। परिभाषा स्वीकार करने का फल यह हुआ कि ङकार के कारण 'मेङ्' धातु की एजन्तता में कोई बाधा नहीं हुई। ङकार के रहते हुए भी मेङ् धातु एजन्त कहा गया और यहाँ आत्व हो गया।

यदि कहा जाय कि 'आदेच उपदेशे' सूत्र से जो आत्व होता है वह धातु को होता है और धातुसंज्ञा उपदेश अवस्था में ही अनुबन्धलोप करके अनुबन्ध-विनिर्मुक्त की होती है। प्रस्तुत स्थल में ङकार के रहते मेङ् की धातु संज्ञा ही नहीं होगी तो यहाँ आत्व किस प्रकार होगा ? तो इस शंका के उत्तर में कहा गया है कि 'आदेच उपदेशे' इस सूत्र में 'धातोः' इस पद की अनुवृत्ति नहीं होती है। यदि कहा जाय कि धातु की अनुवृत्ति न करने पर 'गोभ्याम्' इस प्रयोग में भी आत्व क्यों नहीं होगा तो इसका उत्तर यह कि औणादिक शब्द अव्युत्पन्न प्राति-पदिक होते हैं। इसलिये उनका उपदेश ही नहीं होता। आत्व जो होता है वह औपदेशिक एजन्त को होता है। गो शब्द में यह बात नहीं है, अतः उपर्युक्त दोष भी नहीं है।

'उदीचां माङो व्यतीहारे' में 'माङः' यह निर्देश 'माङ् माने' धातु का नहीं है क्योंकि 'दाधाध्वदाप्' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने 'माङः' निर्देश से ही इस परिभाषा को ज्ञापित किया है। माङ् धातु का निर्देश मानने पर भाष्यकार का ज्ञापन असंगत हो जायेगा ॥ ७ ॥

अनुबन्ध को एकान्त (अवयव) मानने पर एक और दोष प्रस्तुत करते हुए लिख रहे हैं--

नन्वेवमपि 'वाऽसरूपः' (३-१-९४) इति सूत्रेण क-विषयेऽणोप्यापत्तिरित्यत आह—

अनुबन्ध एकान्त होते हैं अर्थात् बोधकावयव होते हैं ऐसा स्वीकार करने पर 'अनेकाल्' सूत्र में शित् ग्रहण की व्यर्थता को दूर करने के लिये 'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' और 'अवदातम्' प्रयोग को सिद्ध करने के लिये 'नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्' इन परिभाषाओं को स्वीकार कर लेने पर भी इस पक्ष में एक दूसरा दोष यह उपस्थित होता है कि—'कर्मण्यण्' से विहित अण् प्रत्यय और 'आतोऽनुपसर्गे कः' से विहित क प्रत्यय इन दोनों प्रत्ययों में परस्पर बाध्यबाधकभाव होता है। यहाँ अण् प्रत्यय बाध्य है और क प्रत्यय बाधक। इनका यह बाध्यबाधकभाव नित्य होता है जिससे 'गोदः' इत्यादि प्रयोगों में अण् को बाधकर क प्रत्यय होता है। अनुबन्ध को बोधकावयव मानने पर अण् और क प्रत्यय, दोनों असरूप प्रत्यय होंगे और असरूप प्रत्ययों का पारस्परिक बाध्यबाधकभाव 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' सूत्र से वैकल्पिक होता है। इसलिये क प्रत्यय अण् का पाक्षिक बाधक होगा, जिससे क के विषय में अण् प्रत्यय की भी आपत्ति हो सकती है। यदि कहा जाय कि प्रत्ययों की यह असरूपता प्रयोगों में ली जायेगी। अर्थात् प्रयोग में जो असरूप प्रत्यय होंगे उनका बाध्यबाधकभाव विकल्प से होगा और सरूप प्रत्ययों का नित्य होगा। अण् और क ये दोनों प्रत्यय प्रयोग में सरूप ही रहते हैं इसलिये यहाँ नित्य बाध्यबाधकभाव होगा, तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति में 'हनश्च वधः' इस सूत्र से विहित वधसमानाधिकरण अप् प्रत्यय का 'मूर्तौ घनः' सूत्र से विहित घनसमानाधिकरण अप् प्रत्यय से वैकल्पिक बाध होने लगेगा। क्योंकि प्रयोग में दोनों का रूप भिन्न-भिन्न है। इसलिये प्रयोग में जिनका समान रूप है उनका बाध्यबाधकभाव नित्य होता है यह कथन उचित नहीं है किन्तु सरूपता और विरूपता का आधार प्रत्ययों का उपदेशकालिक रूप ही होगा। ऐसी स्थिति में अण् और क ये दोनों प्रत्यय विरूप कहे जायेंगे; इसलिये क के द्वारा अण् का वैकल्पिक बाध होने के कारण क के विषय में अण् की आपत्ति हो सकती है। इसलिये परिभाषा लिखी गई—

नानुबन्धकृतमसारूप्यम् ॥ ८ ॥

अनुबन्ध के कारण असरूपता नहीं होती।

जो प्रत्यय अनुबन्ध को हटाने पर बोध्य अवस्था में समान रूप वाले हो जाते हैं वे अनुबन्धसहित बोधक स्थिति में यदि विरूप भी हैं तो उनकी यह अनुबन्धकृत विरूपता नहीं मानी जाती किन्तु वे सरूप ही कहे जाते हैं। इसका फल यह हुआ कि क और अण् प्रत्यय अपने इस रूप में विरूप होने पर भी अनुबन्ध विनिर्मुक्त होकर लक्ष्य में 'अ' रूप में ही उपस्थित होते हैं। इसलिये ये सरूप प्रत्यय हैं। इसलिये अपवादभूत क प्रत्यय से अण् प्रत्यय का नित्य बाध होता है, जिससे क प्रत्यय के विषय में अण् प्रत्यय नहीं होता है। इस परिभाषा में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए लिखा जा रहा है—

'ददातिदधात्योर्विभाषा' (३–१–१३९) इति ण-बाधकशस्य विकल्प-विधायकमस्यां ज्ञापकम्। तेन गोद इत्यादौ नाणिति वाऽसरूपसूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ॥ ८ ॥

'ददातिदधात्योर्विभाषा' यह सूत्र दाञ् और धाञ् धातुओं से श प्रत्यय करता है जिससे 'ददः' और 'दधः' ये प्रयोग बनते हैं। इन प्रयोगों में 'श्याद् व्यध' इत्यादि सूत्र से नित्य ही ण प्रत्यय भी प्राप्त रहता है। इस ण प्रत्यय को 'ददातिदधात्योर्विभाषा' यह सूत्र विकल्प से बाधता है, जिससे पक्ष में ण प्रत्यय और युक् करके दायः, धायः ये प्रयोग बनाये जाते हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि श और ण ये दोनों विरूप प्रत्यय हैं। इनमें श प्रत्यय ण प्रत्यय का अपवाद है। ऐसी स्थिति में 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' इस सूत्र से श प्रत्यय के द्वारा ण प्रत्यय का वैकल्पिक बाध सिद्ध है। इसलिये एक पक्ष में ण प्रत्यय स्वयं सिद्ध है तो उसे बाधकर श प्रत्यय का विकल्प से विधान क्यों किया गया ? यही श प्रत्यय का वैकल्पिक विधान व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है। परिभाषा ज्ञापित होने पर शकार और णकार जो यहाँ दो अनुबन्ध हैं इनके कारण यहाँ वैरूप्य नहीं होगा। तस्मात् दोनों प्रत्ययों में अकार अवशिष्ट रहने के कारण ये दोनों सरूप प्रत्यय हो गये। अतः यहाँ नित्य ही बाध्यबाधक होगा, जिससे यहाँ ण प्रत्यय नहीं हो सकता था। अतः श प्रत्यय का वैकल्पिक विधान सार्थक हुआ। इसका फल यह हुआ कि क प्रत्यय के द्वारा अण प्रत्यय का नित्यबाध होने से 'गोदः' इत्यादि प्रयोगों में अण् प्रत्यय नहीं होता ॥ ८ ॥

अब अग्रिम परिभाषा 'उभयगतिरिहभवति' के अवतरण क्रम में लिखा जा रहा है—

ननु संख्याग्रहणे बह्वादीनामेव ग्रहणं स्यात्, प्रकरणस्याभिधानियामकत्वसिद्धात् 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्यय' इति न्यायात्। अस्ति च प्रकृते बह्वादीनां संख्यासंज्ञा कृतेति ज्ञानरूपं प्रकरणम्। न तु लोकप्रसिद्धैकद्व्यादीनामित्यत आह—

उभयगतिरिह भवति ॥ ९ ॥

व्याकरणशास्त्र में संख्या शब्द दो अर्थों में देखा जाता है। एक तो एक, दो, तीन' इत्यादि संख्याओं का वाचक संख्या शब्द, और दूसरा 'बहु, गुण, वतु इति' इत्यादि शब्दों का वाचक संख्या शब्द। इनमें पहला संख्या शब्द अकृत्रिम अर्थ का वाचक है और दूसरा कृत्रिम अर्थ का, क्योंकि बहु आदि शब्दों की संख्या संज्ञा पाणिनि सूत्र से की जाती है। अब यहाँ प्रश्न होता है कि 'संख्याग्रहणे—' संख्यापदघटित शास्त्र में सब जगह बहु इत्यादि शब्दों का ही ग्रहण होगा क्योंकि जो शब्द अनेक अर्थ वाले होते हैं उनका कहाँ पर क्या अर्थ लिया जाय इस बात के निर्णय के लिये 'संयोगादिकों[1] की उपस्थिति अनिवार्य होती है। संयोगादिकों के द्वारा जिस अर्थ में अभिधा नियन्त्रित कर दी जाती है, उसी अर्थ का वहाँ बोध होता है। प्रस्तुत स्थल में बहु इत्यादि शब्दों की संख्या संज्ञा की गयी है। अतः ज्ञानरूपी प्रकरण के द्वारा अभिधा का नियन्त्रण यहाँ बहु इत्यादि शब्दों को लिये ही होगा। इसलिये व्याकरण शास्त्र में संख्या शब्द से सब जगह 'बहु' इत्यादि कृत्रिम संख्या का ही ग्रहण होगा, क्योंकि कृत्रिम और अकृत्रिम के मध्य कृत्रिम का ही ग्रहण होता है। इस प्रकार यहाँ लोकप्रसिद्ध 'एक, दो' आदि संख्याओं का ग्रहण नहीं होगा। इस प्रकार की आशंका होने पर यह परिभाषा बनी कि 'उभयगतिरिह भवति'।

यहाँ इह का अर्थ व्याकरण शास्त्र है। इसलिये व्याकरणशास्त्र में उभय की अर्थात् कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों की गति ज्ञान होता है। यह उभयावगति व्याख्यान के आधार पर होती है। इसलिये कहीं पर कृत्रिम, कहीं पर अकृत्रिम और कहीं पर दोनों का ग्रहण किया जाता है।

'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' इस सूत्र में 'अतिशदन्तायाः' यह जो निषेध अंश है वही इस परिभाषा का ज्ञापक है। यह सूत्र संख्या वाचक से कन् प्रत्यय करता है, किन्तु 'ति' और 'शत्' ये दोनों जिसके अन्त में हैं ऐसे संख्यावाचक से कन् प्रत्यय नहीं होता। यदि यहाँ केवल कृत्रिम संख्या का ही ग्रहण किया जाता

---

१. संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचिती, देश, काल, व्यक्ति और [illegible] ये अभिधा के नियामक हैं।

तो उपर्युक्त निषेध की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। क्योंकि कृत्रिम संख्या में ऐसा कोई शब्द नहीं है, जिसके अन्त में सार्थक ति या शत् शब्द हो। ऐसी स्थिति में त्यन्त और शदन्त के निषेध के लिये किया गया 'अतिशदन्तायाः' यह निषेध व्यर्थ होकर इस परिभाषा को ज्ञापित करता है। इसका फल यह हुआ कि कन्-विधायक उक्त सूत्र में भी उभयावगति के द्वारा 'विंशति' इत्यादि त्यन्त शब्द तथा 'त्रिंशत् चत्वारिंशत्' इत्यादि शदन्त शब्द से भी कन् प्रत्यय प्राप्त रहेगा। उसके निवारण के लिये 'अतिशदन्तायाः' यह निषेध सार्थक होता है। इसी बात को कह रहे हैं—

इह शास्त्रे। 'संख्याया अतिशदन्तायाः' (५-१-२२) इति निषेधोऽस्या ज्ञापकः। न हि कृत्रिमा संख्या त्यन्ता शदन्ता वास्ति। तेन 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे-' (१-३-१४), 'कण्वमेघेभ्यः करणे' (३-१-१७), 'विप्रतिषिद्धं चानधिकरण-' (२-४-१३) इत्यादौ लौकिककृत्रिमाद्रव्याद्यवगतिः। तत्र क्वोभयगतिः क्वाकृत्रिमस्यैव क्व कृत्रिमस्यैवेत्यत्र लक्ष्यानुसारि व्याख्यानमेव शरणम्। अतएवाम्रेडितशब्देन कृत्रिमस्यैव ग्रहणं न तु द्विस्त्रिर्घुष्टमात्रस्य। स्पष्टं चेदं संख्यासंज्ञासूत्रे भाष्ये।

इस व्याकरण शास्त्र में उभयगति होती है। 'संख्याया अतिशदन्तायाः' इस सूत्र का निषेध अंश इस बात का ज्ञापक है। क्योंकि, कृत्रिम संख्या संज्ञा बहुगण आदि शब्दों की होती है। इनमें कोई शब्द ऐसा नहीं है, जिसके अन्त में सार्थक ति या शत् शब्द हो। ऐसी स्थिति में त्यन्त और शदन्त से कन् प्रत्यय के निवारण के लिये किया गया 'अतिशदन्तायाः' यह निषेध व्यर्थ होकर प्रस्तुत परिभाषा का ज्ञापक होता है। इस प्रकार इस शास्त्र में कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों की अवगति का फल यह हुआ कि 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' इस सूत्र में कर्म शब्द से तथा 'कण्वमेघेभ्यः करणे'[1] सूत्र के करण शब्द से कारक-प्रकरण की कृत्रिम कर्म और करण संज्ञाएँ नहीं ली गईं, किन्तु यहाँ कर्म और करण के द्वारा अकृत्रिम लौकिक क्रिया की प्रतीति होती है। इसी प्रकार 'विप्रतिषिद्धं चानधिकरणे' इस सूत्र में कृत्रिम अधिकरण संज्ञा नहीं ली गई, किन्तु अधिकरण शब्द से अकृत्रिम लौकिक द्रव्य की प्रतीति होती है।

उसमें कहाँ कृत्रिम का बोध, कहाँ अकृत्रिम का बोध और कहाँ दोनों का बोध किया जाय, इसका निर्णय लक्ष्यानुसारी भाष्यादि व्याख्यान के आधार पर ही किया जाता है। इसलिये 'आम्रेडित' शब्द से 'तस्य परमाम्रेडितम्' सूत्र से की गई कृत्रिम 'आम्रेडित' संज्ञा का ही ग्रहण होता है, न कि लौकिक, दो-तीन बार किये हुए घुष्ट (उच्चारित) का ग्रहण होता है।

---

१. पूरा सूत्र इस प्रकार है—'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे'

इस उपर्युक्त विवेचन से यह भी सिद्ध हो चुका है कि प्रकरण आदि अभिधा के नियामकों द्वारा कृत्रिम अर्थ में अभिधा का नियन्त्रण करना ही 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः' इस न्याय का बीज है। इस सम्बन्ध में अन्य मत का उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं—

यत्तु संज्ञाशास्त्राणां मच्छास्त्रेऽनेन शब्देनैत एवेति नियमार्थत्वं कृत्रिमाकृत्रिमन्यायबीजमिति तन्न; तेषामगृहीतशक्तिग्राहकत्वेन विधित्वे सम्भवति नियमत्वायोगात्। 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' इत्यभ्युपगमोऽपि योगिदृष्टया, न त्वस्मदादिदृष्टया, विशिष्य सर्वशब्दार्थज्ञानस्याशक्यत्वात्। सामान्यज्ञानं तु न बोधोपयोगीत्यन्यत्र निरूपितम् ॥ ९ ॥

जो यह कहते हैं कि संज्ञा सूत्र संकेत के ग्राहक होते हैं। किन्तु शब्द और अर्थ का शक्तिरूपी सम्बन्ध तो 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इस नियम से ही सिद्ध है। ऐसी स्थिति में सिद्ध का अनुवादक होने के कारण संज्ञा सूत्र व्यर्थ होकर नियम करते हैं कि इस शास्त्र में इस शब्द से ये ही लिये जायेंगे। उदाहरण के लिये 'वृद्धिरादैच्' सूत्र नियम करेगा कि इस शास्त्र में वृद्धि शब्द से 'आ, ऐ, औ' ये तीन वर्ण ही लिये जायेंगे। संज्ञासूत्रों का इस प्रकार का नियम ही कृत्रिमाकृत्रिम न्याय का बीज है। क्योंकि 'वृद्धिरेचि' सूत्र में कृत्रिम वृद्धिपदबोध्य 'आदैच्' लिये गये, न कि वृद्धि का अकृत्रिम अर्थ लिया गया। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पहले से अगृहीत शक्ति का ग्राहक होने के कारण संज्ञासूत्रों की अपूर्व विधायकता यदि संभव है तो उन्हें नियमार्थक मानना उचित नहीं है। आदैच् निरूपित शक्ति वृद्धि शब्द में है, यह बात 'वृद्धिरादैच्' के पहले किसी अन्य प्रकार से ज्ञात नहीं है। इसलिए 'वृद्धिरादैच्' सूत्र अपूर्व बात का विधायक होने के कारण 'विधिनियमसम्भवे विधिरेव ज्यायान्' इस नियम से विधिशास्त्र ही कहा जायेगा, नियमशास्त्र नहीं।

यदि कहा जाय कि 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' इस नियम से 'वृद्धि' 'संख्या' इत्यादि संज्ञा शब्दों में आदैच् निरूपित तथा बहुगणादिनिरूपित शक्ति सिद्ध है। इसलिये संज्ञासूत्रों की व्यर्थता तथा उनके द्वारा इस शास्त्र में इस शब्द से यही अर्थ लिया जाय, यह ज्ञापन उचित ही है, तथा यही ज्ञापन 'कृत्रिमाकृत्रिम' न्याय का बीज है, यह कथन भी ठीक ही है तो यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' यह नियम योगियों के लिये संभव है। उन्हीं को योगदृष्टि से 'शब्द और अर्थ' उभयविध परा का प्रत्यक्ष होता है। हम लोगों की दृष्टि से यह बात संभव नहीं है, क्योंकि हम लोगों को न तो सारे शब्दों का ज्ञान है और न सारे अर्थों का। यदि कहा जाय कि हम लोगों को विशेषरूप से शब्द और अर्थ

का ज्ञान यद्यपि नहीं है, किन्तु सामान्य रूप से तो यह विदित ही है कि सारे शब्द सारे अर्थों के वाचक होते हैं तो यह कथन भी अकिञ्चित्कर ही है, क्योंकि सामान्य ज्ञान विशेषरूप से बोध का उपयोगी नहीं हो सकता। यह बात अन्यत्र निरूपित है ॥ ९ ॥

व्याकरण शास्त्र में इत्संज्ञा पूर्वोपस्थित होती है, इसलिये उससे सम्बन्धित परिभाषा का उपक्रम करते हुए लिखा जाता है—

नन्वध्येता शायितेत्यादाविङ्शीङोऽित्वाद् गुणनिषेधः स्यादत आह—

अधि-पूर्वक इङ् धातु से तृच् प्रत्यय करके 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र से गुण करके 'अध्येता' प्रयोग तथा 'शीङ्' धातु से तृच् प्रत्यय और आर्धधातुक इट्, गुण, अयादेश करके 'शयिता' प्रयोग बनता है। यहाँ शंका होती है कि इङ् और शीङ् ये दोनों धातु ङित् है, इसलिये 'क्ङिति च' सूत्र से गुण का निषेध हो जायेगा। इसलिये उक्त प्रयोगों की सिद्धि नहीं होगी। अतः यह परिभाषा बनायी गयी—

कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते ॥ १० ॥

जिसके स्थान पर कार्य किया जाता है, वह कार्य का अनुभवन् करने वाला कार्यी, उस कार्य का निमित्त नहीं होता। इङ् और शीङ् धातु गुणरूपी कार्य का अनुभव करने वाले कार्यी हैं, इसलिये गुण के निमित्त के रूप में इनका आश्रयण नहीं होगा, इसलिये 'क्ङिति च' सूत्र से गुण का निषेध नहीं होगा। अतः उपर्युक्त प्रयोगों की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है।

विमर्श—अब इस परिभाषा के अवतरण पर कुछ आवश्यक विचार किया जा रहा है। 'असति बाधके सर्वासां सप्तमी नामौपश्लेषिकाधिकरणबोधकत्वम्' ऐसा एक नियम है। इसका अर्थ यह है कि यदि कोई बाधक न हो तो सभी सप्तम्यन्तपद औपश्लेषिक-अधिकरण के बोधक होते हैं। ऐसी स्थिति में 'क्ङिति च' सूत्र की सप्तमी भी औपश्लेषिकाधिकरण की बोधिका होगी। इसलिये 'तस्मिन्निति' सूत्र की सहायता से इसका अर्थ इस प्रकार होगा कि 'कित् ङित् प्रत्यय से अव्यवहित पूर्वत्वविशिष्ट इक् के स्थान पर गुण-वृद्धि न हो'। इसका परिणाम यह होगा कि 'अध्येता' 'शयिता' प्रयोगों में कित् ङित् प्रत्ययाव्यवहित पूर्वत्वविशिष्ट इक् को गुण न होने के कारण निषेध सूत्र की प्राप्ति ही नहीं है। इसलिये उक्त दोनों प्रयोगों में गुण स्वयंसिद्ध है। इसलिये उपर्युक्त अवतरण असंगत है और परिभाषा अनावश्यक है।

परिभाषा के सम्बन्ध में ऐसी आशंका होने पर परिभाषा के पक्षधरों की ओर से

कहा जाता है कि 'ङिति च' सूत्र का ऐसा अर्थ करेंगे तो 'रोरवीति' 'कवयति' ये प्रयोग नहीं बनेंगे। 'अतिशयेन पुनः पुनः वा रौति' इस विग्रह में रू धातु से यङ् प्रत्यय और उसका लुक् करके 'रोरवीति' प्रयोग बनता है। इसी प्रकार 'कविरिवाचरति' इस विग्रह में कविशब्द से क्विप् प्रत्यय करके 'कवयति' प्रयोग बनता है। यहाँ प्रत्ययलक्षण के द्वारा यङ् और क्विप् बुद्धि होगी, जिससे तदव्यवहित पूर्वत्वविशिष्ट इक् को गुण का निषेध हो जायेगा, जिससे उक्त प्रयोगों की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये 'ङिति च' सूत्र पर वार्तिककार ने कहा 'तन्निमित्तग्रहणं कर्त्तव्यम्'। अर्थात् 'गित्, कित् और ङित् निमित्तक' इग् लक्षण गुण-वृद्धि का निषेध किया जाता है। इसका फल यह होगा कि 'रोरवीति' 'कवयति' प्रयोगों में गुण का निमित्त तिप् प्रत्यय है न कि 'यङ् और क्विप्'। इसलिये यहाँ निषेध नहीं होगा और गुण होकर उक्त दोनों प्रयोग सिद्ध हो जायेंगे।

यहाँ निमित्त शब्द से 'समवायी, असमवायी और निमित्त' तीनों प्रकार के कारण लिये जाते हैं। अध्येता, शयिता में इङ् और शीङ् को गुण होता है, इसलिये ये गुण के समवायीकारण हुए। इस प्रकार ङित्निमित्तक गुण का निषेध होने के कारण उक्त प्रयोगों की सिद्धि नहीं होगी। इसलिये परिभाषा का अवतरण ठीक ही है। यदि कहा जाय कि इङ् धातु में इकार को गुण होता है; इसलिये 'अध्येता' का गुण तो ङित्निमित्तक नहीं कहा जाय, किन्तु 'शयिता' का गुण ङित्-निमित्तक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यहाँ शी के स्थान पर तो गुण होता नहीं है। वह तो ईकार के स्थान पर ही होता है। इस प्रकार शयिता में गुण जब ङित्-निमित्तक नहीं हुआ तो यहाँ तन्निमित्तक निषेध की प्राप्ति कैसे है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि जिस प्रकार हस्त आदि अवयवों का कार्य शरीर का कार्य समझा जाता है, उसी प्रकार शीङ् के अवयव ईकार के स्थान पर किया गया गुण शीङ् के स्थान पर हुआ माना जायेगा। इस प्रकार शयिता का गुण भी ङित्-निमित्तक हो जाता है, इसलिये यहाँ भी गुण का निषेध प्राप्त होता है। इसलिये उपर्युक्त अवतरण ठीक ही है।

वास्तव में यह अवतरण 'अध्येता' 'शयिता' प्रयोगों के बदले 'अतिरिषति' प्रयोग के आधार पर दिया जाना चाहिये। क्योंकि 'ङिति च' इस सूत्र में यदि परसप्तमी मान ली जाती है तो 'गित् कित् ङित् प्रत्ययाव्यवहित पूर्वत्वविशिष्ट इक् को गुण न हो' ऐसा अर्थ करने से अध्येता, शयिता का दोष स्वयं हट जाता है, क्योंकि तृच् प्रत्यय न कित् है और न ङित्।

ऐसा अर्थ करने पर 'रोरवीति' और 'कवयति' में जो दोष दिया जाता है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इन दोनों प्रयोगों में प्रत्ययलक्षण के द्वारा यङ् और

क्विप् को लाकर जो गुण का निषेध प्राप्त होता है, वह अन्तरंग है और गुण करना बहिरंग है। इसलिये अन्तरंग निषेध की दृष्टि में बहिरङ्ग गुण के असिद्ध होने के कारण निषेधशास्त्र के द्वारा उसका बाध नहीं होगा। परसप्तमी मानने पर एक दोष यह उपस्थित होता है कि इस पक्ष में 'भिन्नम्' इस प्रयोग में गुण का निषेध नहीं होगा, क्योंकि 'भिद्+त' इस स्थिति में दकार का व्यवधान पड़ने से 'कित्' प्रत्ययाव्यवहित पूर्वत्वविशिष्ट इक् नहीं मिलता है। किन्तु यह दोष भी अकिञ्चित्कर ही है, क्योंकि ऐसी स्थिति में 'क्षिप्+नु' (क्षिप्नुः) प्रयोग में भी गुण का निषेध नहीं हो सकेगा तो गुण-निषेध के लिये किया गया क्नु प्रत्यय का कित्त्व व्यर्थ हो जायेगा। इसलिये तत्सामर्थ्यात् यह नियम मान्य होगा कि कित्-ङित् प्रत्यय और इक् के बीच गुण-वृद्धि के निमित्त से भिन्न यदि कोई हल् वर्ण आ जाता है तो उसके व्यवधान में भी निषेधशास्त्र की प्रवृत्ति होगी। इसलिये 'भिन्नम्' 'क्षिप्नुः' इत्यादि सभी जगह गुण का निषेध सिद्ध है।

इस प्रकार परसप्तमी पक्ष में कोई भी दोष न रहने के कारण 'अध्येता' लक्ष्य को पुरस्कृत कर अवतरण देना ठीक नहीं है। किन्तु उसकी जगह 'अरिरिषति' प्रयोग ही अवतरणोपयोगी हो सकता है। यहाँ ऋ धातु से सन् प्रत्यय, इट् का आगम, धातुसंज्ञा, लट् तथा तिप् प्रत्यय करने पर 'ऋ–इ–स–ति' इस अवस्था में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण प्राप्त है और 'सन्यङोः' से द्वित्व प्राप्त है। इन दोनों में पहले गुण होकर द्वितीय एकाच् रिस् को द्वित्व होकर 'अरिरिषति' प्रयोग बनता है। यदि 'कार्यमनुभवन्' परिभाषा न होती तो 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र से यहाँ गुण का निषेध हो जाता, क्योंकि द्वित्वनिमित्तघटक अच् इकार हुआ, अतः तन्निमित्तक अजादेश ऋकार के स्थान पर गुणादेश निषिद्ध हो जाता। जब 'कार्यमनुभवन्' यह परिभाषा मान ली गई तो यद्यपि 'सन्यङोः' यह षष्ठ्यन्त पद होने के कारण पूरे सन्नन्त मात्र में कार्यिता होती है, किन्तु उसमें द्वित्वरूपी कार्य का अनुभव करने वाला कार्यी 'इस्' है, अतः यह द्वित्व का निमित्त नहीं होता है। इसलिये यहाँ 'द्विर्वचनेऽचि' यह निषेध नहीं लगता और ऋकार को गुण करके रिस् को द्वित्व किया जाता है, जिससे अरिरिषति' इस प्रयोग की सिद्धि होती है। इसलिये यह परिभाषा आवश्यक है।

इस परिभाषा में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार लिख रहे हैं—

'स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते' (४–२–१५) इति निर्देशोऽस्यां ज्ञापकः। उर्णुनविषतीत्यादिसिद्धये कार्यमनुभवन्निति। अत्र हि—'द्विर्वचनेऽचि (१–१–५९) इति नुशब्दस्य द्वित्वम्। अन्यथा 'सन्यङोः' (६–१–९

इत्यस्य षष्ठ्यन्तत्वात्सन्नन्तस्य कार्यित्वेन इसो द्वित्वनिमित्तत्वाभावात् तत्प्रवृत्तिर्न स्यात् ।

वस्तुतः समवायिकारणनिमित्तकारणयोर्भेदस्य सकल-लोकतन्त्र-प्रसिद्धतया तस्य तत्त्वेनाश्रयणाभावेन नैषा ज्ञापकसाध्या । अतएव हिः प्रयुक्तः । स हि तत्त्वेनानाश्रयणे हेतोः प्रसिद्धत्वं द्योतयतीति तत्त्वम् । 'द्विर्वचनेऽचि' (१–१–५९) इत्यत्र भाष्ये ध्वनितैषा ॥ १० ॥

'स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते' यह पाणिनि सूत्र है। इसमें 'शयितरि' यह निर्देश इस परिभाषा में ज्ञापक है। क्योंकि 'शयितरि' यह रूप 'शीङ्' धातु से तृच् प्रत्यय, उसको इडागम तथा शी धातु के ईकार को गुण और अयादेश करके 'शयितृ' शब्द के सप्तमी के एकवचन में बना है। यहाँ प्रश्न होता है कि जब ङित्निमित्तक गुण का निषेध 'क्ङिति च' से हो जाता है, तब पाणिनि ने शी धातु के ईकार को गुण कैसे किया ? इसलिये पाणिनि का यह निर्देश अनुपपन्न होकर परिभाषा का ज्ञापक होता है। परिभाषा स्वीकार कर लेने पर गुणरूपी कार्य का अनुभव करने वाला कार्यी 'शीङ्' धातु गुण का निमित्त नहीं माना गया। इसलिये यह गुण ङित्निमित्तक नहीं कहा गया। इसका फल यह हुआ कि 'क्ङिति च' यह निषेध यहाँ नहीं लगा और पाणिनि का निर्देश संगत हो गया।

यहाँ एक यह शंका होती है कि 'कार्यी निमित्ततयानाश्रीयते' यही यदि परिभाषा का स्वरूप रखा जाय तो भी पाणिनि का उक्त निर्देश संगत हो सकता है, क्योंकि शीङ् के निमित्त न होने के कारण गुण का निषेध नहीं होगा। ऐसी स्थिति में परिभाषा में 'कार्यमनुभवन्' इस अंश की क्या आवश्यकता है ? इस शंका के उत्तर में कहा गया कि 'ऊर्णुनविषति' इस प्रयोग की सिद्धि के लिये 'कार्यमनुभवन्' यह अंश परिभाषा में आवश्यक है। यहाँ उर्णु धातु से सन् प्रत्यय करके उसको इट् का आगम और लट् के स्थान पर तिप् प्रत्यय करके 'उर्णु-इ-स-ति' इस स्थिति में द्वितीय एकाच् 'नु' को द्वित्व, तथा 'शब्दघटक-उकार' को 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण प्राप्त है। यहाँ 'द्विर्वचनेऽचि' इस सूत्र से गुण का निषेध कर दिया जाता है, जिससे नु शब्द को द्वित्व होता है और अभ्यासोत्तर-खण्ड के नु शब्द के उकार को 'सार्वधातुक' सूत्र से गुण और अवादेश करके 'उर्णु-नविषति' यह प्रयोग बनता है। यहाँ द्वित्व-विधायक सूत्र 'सन्यङोः' यह षष्ठ्यन्त पद है। इसलिये षष्ठ्यन्त को द्वित्व होवे, ऐसा इस सूत्र का अर्थ होता है। इससे पूरे सन्नन्त में द्वित्व की कार्यिता सिद्ध होती है। परिभाषा में 'कार्यमनुभवन्' इतना अंश नहीं रखने पर कार्यी निमित्त नहीं होता यही परिभाषा का अर्थ होगा। इसलिए सन्नन्त का एक घटक 'इस्' भी द्वित्व का निमित्त नहीं कहा जायेगा। इसका

परिणाम यह होगा कि 'उर्णुनविषति' में जब द्वित्व और गुण एक साथ प्राप्त होते हैं, तब 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी और गुण का निषेध नहीं होगा। 'द्विर्वचनेऽचि' यह निषेधसूत्र वहीं लगता है, जहाँ द्वित्वनिमित्तघटक 'अच्' पर में रहने पर द्वित्वनिमित्तघटक (अवयव) को निमित्त मानकर कोई आदेश प्राप्त हो। प्रस्तुत उदाहरण में 'इस्' इतने अंश को निमित्त मानकर गुण प्राप्त होता है। किन्तु जब सन्नन्त में निमित्तता ही नहीं हैं, तब तद्घटक इसमें निमित्तता कहाँ से आ जायेगी। इसलिये 'द्विर्वचनेऽचि' इस निषेध की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होगी। फल यह होगा कि गुण अवादेश होकर नव् शब्द को यहाँ द्वित्व होगा और अभ्यास के अकार को 'सन्यतः' से इकार आदेश होकर 'ऊर्णिनविषति' ऐसा रूप बनने लगेगा। इसलिये परिभाषा में 'कार्यमनुभवन्' इतना अंश अवश्य रखना चाहिये। इससे यह होगा कि द्वित्वरूपी कार्य का अनुभव करने वाला कार्यी केवल नु शब्द है, इसलिये वह द्वित्व का निमित्त भले ही न कहा जाय, किन्तु उसके अतिरिक्त जो सन्नन्त है, वह द्वित्व का निमित्त कहा जायेगा। इसलिये द्वित्वनिमित्तघटक अच् इकार के पर में रहने पर तन्निमित्तघटक इसको निमित्त मानकर प्राप्त अजादेश = नु शब्द के उकार को गुणादेश निषिद्ध कर दिया गया। इससे 'ऊर्णुनविषति' प्रयोग की सिद्धि हो जाती है।

यहाँ यह बात भी ध्यातव्य है कि 'सन्यङोः' जो द्वित्वविधायकसूत्र है, वह षष्ठ्यन्त पद है; इसलिये सन्नन्त में द्वित्व की कार्यिता तथा समवायिकारणता ये दोनों हैं। इसमें 'नु' तो द्वित्व का कार्यी होता है और शेष भाग द्वित्व का निमित्त।

वास्तव में तो सकल और कुछ शास्त्रों में यह बात प्रसिद्ध है कि समवायिकारण और निमित्तकारण आपस में भिन्न होते हैं। जो समवायिकारण होता है, वह निमित्तकारण नहीं हो सकता। इसलिये 'शयितरि' इत्यादि प्रयोगों में तस्य = समवायिकारण का, तत्त्वेन = निमित्तकारण के रूप में आश्रयण नहीं किया जायेगा। ऐसी स्थिति में यह परिभाषा जब लोकसिद्ध है तो इसे 'शयितरि' इस निर्देश के ज्ञापन द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। इसीलिये परिभाषा में हि शब्द का प्रयोग किया गया है। वह हि शब्द इस बात को द्योतित करता है कि हेतु = समवायिकारण का निमित्तकारण के रूप में आश्रयण नहीं किया जाता।

यदि कहा जाय कि जो समवायिकारण होता है, वह निमित्तकारण नहीं हो सकता। यह बात लोकसिद्ध होने से 'कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते' इतना परिभाषा का अंश यद्यपि लोकसिद्ध है तथापि 'कार्यमनुभवन्' परिभाषा के इस अंश में क्या प्रमाण है, तो इसके उत्तर में कहा गया है कि 'कार्यमनुभवन्' इस

अंश से युक्त यह परिभाषा 'द्विर्वचनेऽचि' इस सूत्र के भाष्य में ध्वनित है। परिभाषा का वह ध्वनन प्रकार ऐसा है—

'द्विर्वचनेऽचि' इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया कि इस सूत्र में 'अचि' इस पद का क्या फल है ? इस प्रकार की शंका करके 'जेघ्रीयते' इन दो प्रयोगों को अच्ग्रहण के फल के रूप में प्रस्तुत किया। यहाँ घ्रा धातु और ध्या धातु से यङ् प्रत्यय करने पर 'घ्रा-य' 'ध्या-य' इस स्थिति में 'सन्यङोः' से द्वित्व तथा 'ई घ्राध्योः' सूत्र से धातु के आकार को ईकार ये दोनों साथ ही प्राप्त होते हैं। इनमें जो ईत्व है, वह यङ् को पर में मानकर प्राप्त है। इसलिये वह द्वित्वनिमित्तघटक अच् निमित्तक नहीं है। इसलिये 'द्विर्वचनेऽचि' यह निषेध यहाँ नहीं लगा। इसका फल यह हुआ कि पहले ईत्व कर दिया गया। उसके बाद द्वित्व और अभ्यास को गुण करके जेघ्रीयते और 'देध्यीयते' प्रयोग बनते हैं। यदि 'द्विर्वचने' सूत्र में 'अचि' पद का ग्रहण नहीं किया जाय तो, द्वित्व का निमित्त जिस किसी को भी लेकर तन्निमित्तक अजादेश का निषेध कर दिया जायेगा। परिणाम यह होगा कि उक्त प्रयोगों में यङ्निमित्तक ईत्व का निषेध हो जायेगा, जिससे जेघ्रीयते की सिद्धि नहीं हो सकती थी। इसलिये 'अच्' पद की आवश्यकता है। किन्तु परिभाषा में 'कार्यमनुभवन्' इतना अंश यदि न रहे तो यङन्तपर्यन्त द्वित्व का कार्यी होने के कारण उसका निमित्त नहीं कहा जायेगा। इससे यह होगा कि उक्त स्थल में प्राप्त ईत्व द्वित्वनिमित्तघटकनिमित्तक नहीं हुआ, क्योंकि जब यङन्त मात्र द्वित्व का निमित्त नहीं हो रहा है, तब उसका घटक (अवयव) यङ् किस प्रकार निमित्त होगा।। इसलिये यहाँ 'द्विर्वचनेऽचि' इस निषेधशास्त्र की प्राप्ति ही नहीं है। इस प्रकार जब यहाँ ईत्व स्वयंसिद्ध है तो पुनः उसके लिये किया गया अच् सर्वथा व्यर्थ है। इससे समझा जाता है कि इस परिभाषा में 'कार्यमनुभवन्' यह अंश भी सम्मिलित है। जब परिभाषा में इस अंश को स्वीकार कर लिया गया तो यङ् प्रत्यय यद्यपि कार्यी है, किन्तु द्वित्वरूपी कार्य का अनुभव करने वाला कार्यी नहीं है, क्योंकि द्वित्व तो घ्रा धातु मात्र को ही होता है। इसलिये यङ् द्वित्व का निमित्त कहा जायेगा। अतः तन्निमित्तक अजादेश ईकारादेश निषिद्ध न हो जाय, इसके लिये अच् ग्रहण की सार्थकता होती है। इस प्रकार 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र के भाष्य से 'कार्यमनुभवन्' इस अंश से विशिष्ट परिभाषा का ध्वनन होता है ॥ १० ॥

ननु प्रणिदापयतीत्यादौ दारूपस्य विधीयमाना घुसंज्ञा दापेर्न स्यादत आह—

प्र और नि उपसर्गपूर्वक दा धातु से णिच् प्रत्यय और पुक् का आगम करके

'प्रनिदापयति' बनने पर 'नेर्गदनद०' इत्यादि सूत्र से नि-उपसर्ग के नकार को णकार करके 'प्रणिदापयति' यह प्रयोग बनता है। यहाँ शंका होती है कि 'आगमसमभिव्याहारे आगमविशिष्टस्यैवार्थवत्त्वम्' अर्थात् 'जहाँ किसी को आगम होता है, वहाँ उसकी अर्थवत्ता आगमविशिष्ट में हो जाती है'। इस नियम के आधार पर प्रस्तुत उदाहरण में दा धातु की अर्थवत्ता 'दाप्' में चली जायेगी। इसका फल यह होगा कि 'दाधाघ्वदाप्' सूत्र से दा धातु को होने वाली घु संज्ञा 'दाप्' धातु को नहीं होगी। क्योंकि 'दाधाघ्वदाप्' सूत्र में 'दा धा' यह आनुपूर्वी पढ़ी गई है और आनुपूर्वी का पाठ विशिष्टरूपोपादान कहा जाता है। जहाँ विशिष्ट रूपोपादान होता है, वहाँ 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्' यह परिभाषा लगती है और वहाँ अर्थवान् का ही ग्रहण किया जाता है। ऐसी स्थिति में अर्थवान् दा रूप आनुपूर्वी की जो घु संज्ञा विधीयमान है, वह दाप् धातु को नहीं होगी, क्योंकि दाप् धातु दा रूप नहीं है। यदि कहा जाय कि 'दाप्' का घटक 'दा' शब्द तो दा रूप है ही, इसलिये उसी की घु संज्ञा की जा सकती है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दाप् घटक दा अर्थवान् नहीं है और घु संज्ञा अर्थवान् दा को की जाती है। इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में दाप् को अर्थवान् होने पर भी दा रूप न होने के कारण तथा दाप् घटक दा शब्द को दा रूप होने पर भी अर्थवान् न होने के कारण घु संज्ञा नहीं होगी; और घु संज्ञा के अभाव में 'प्रणिदापयति' इस प्रयोग में नकार को णकार किस प्रकार होगा ?

इस प्रकार की आशंका होने पर यह परिभाषा बनी—

यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ।। ११ ।।

जिसको उद्देश्य करके जो आगम किया जाता है, वह आगम उस उद्देश्य (आगमी) का अवयव हो जाता है, इसलिये आगमीबोधक शब्द से आगमविशिष्ट का ग्रहण होता है। इसी बात को इस प्रकार कह रहे हैं—

यमुद्दिश्यागमो विहितः स तद्गुणीभूतः शास्त्रेण तदवयवत्वेन बोधितोऽतस्तद्ग्रहणेन तद्ग्राहकेण तद्बोधकेन शब्देन गृह्यते बोध्यत इत्यर्थः। तत्र तद्गुणीभूता इत्यंशो बीजकथनम्। लोकेऽपि देवदत्तस्याङ्गाधिक्ये तद्विशिष्टस्यैव देवदत्तग्रहणेन ग्रहणं दृश्यते।

'यदागमाः' इस पद में 'यस्य आगमाः' इस प्रकार षष्ठी समास किया गया है। यहाँ षष्ठी विभक्ति का अर्थ उद्देश्यत्व है, इसीलिये लिखा गया है कि जिसको उद्देश्य करके आगम का विधान किया जाता है, वह आगम शास्त्र[1] (सूत्र) के

---

१. शास्त्र का तात्पर्य 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्यादि सूत्रों से है।

द्वारा तद्गुणीभूत अर्थात् तदवयव (आगमी का अवयव) रूप में बोधित किया जाता है और आगम जब आगमी के अवयव के रूप में बोधित कर दिया गया तो तद्ग्रहणेन आगमीबोधक शब्द से उसका ग्रहण किया जाता है। तात्पर्य यह है कि आगम जब आगमी का अवयव हो जाता है तो आगमीबोधक शब्द के द्वारा आगमविशिष्ट का ग्रहण किया जाता है। जैसे—'अर्तिह्लीब्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुण्णौ' इस सूत्र से आदन्त धातु से पुक् किया जाता है। 'प्रणिदापयति' में आदन्त धातु 'दा' को पुक् किया गया है। वह पुक् दा का अवयव हो गया, इसलिये आदन्त से जहाँ दा धातु का ग्रहण होता था, वहाँ अब दाप् का ग्रहण होगा। इसलिये दाप् को घु संज्ञा और तत्प्रयुक्त नि के नकार को णकार करके 'प्रणिदापयति' प्रयोग सिद्ध किया जाता है।

यहाँ आगमी-ग्रहण से आगमविशिष्ट के ग्रहण में परिभाषा का 'तद्गुणीभूताः' यह अंश बीज अर्थात् कारण है। आगम जब आगमी का अवयव हो जाता है, तब आगमी के बोधक शब्द से आगमविशिष्ट का बोध होने में कोई बाधा नहीं रह जाती। लोक में जिस प्रकार देवदत्त का कोई अङ्ग (अङ्गुलि) अधिक होने पर भी उस अधिक अङ्ग से युक्त का देवदत्त शब्द से बोध होता है, उसी प्रकार यहाँ भी आगमविशिष्ट का आगमीग्रहण से ग्रहण होगा। यहाँ आगमी शब्द से जिसको आगम होता है, उसे समझना चाहिये।

यहाँ 'यदागमाः' यह अंश 'तद्गुणीभूताः' इस अंश में हेतु है और 'तद्गुणीभूताः' यह अंश 'तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' इस अंश में हेतु है। ग्रहण शब्द में ल्युट् प्रत्यय बाहुलकात् कर्ता अर्थ में हुआ है। इसलिये ग्रहणेन का अर्थ ग्राहकेण किया गया है।

यमुद्दिश्य विहित इत्युक्तेः प्रनिदारयतीत्यादौ न दारित्यस्य घुत्वम्। 'आने मुक्' (७–२–८२) इति मुग्विधानसामर्थ्यादेषाऽनित्या। अन्यथा पचमानः इत्यादावकारस्य मुकि अनया परिभाषया विशिष्टस्य सवर्णदीर्घे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। तेन दिदीय इत्यादौ यणादि न, जहार इत्यादौ 'आत औ णलः' (७–१–३४) इति च न। न चाकारादेर्वर्णस्य वर्णान्तरमवयवः कथमिति वाच्यम्, वचनेनावयवत्वबोधनात्। तस्य चावयवत्वसादृश्ये पर्यवसानं बोध्यम्।

परिभाषा का अर्थ करते समय कहा गया कि 'यमुद्दिश्यागमो विहितः' अर्थात् जिसको उद्देश्य करके आगम विहित हो, वह आगम उसका अवयव होता है, इसलिये उसके (आगमी के) ग्रहण से तद्विशिष्ट का ग्रहण होता है। इस प्रकार

कहने का फल यह हुआ कि 'प्रणिदापयति' मे जिस प्रकार दा शब्द से दाप् का ग्रहण होता है, उस प्रकार 'प्रणिदारयति' में दा शब्द से दार् का ग्रहण नहीं होता। क्योंकि प्रणिदापयति में आदन्त धातु को उद्देश्य कर पुक् का विधान किया जाता है; इसलिये यहाँ आदन्त धातु से पुक्विशिष्ट का ग्रहण हो जाता है। किन्तु प्रणिदारयति की स्थिति इससे भिन्न है। यहाँ दृ धातु से णिच् प्रत्यय करने पर 'अचो ञ्णिति' सूत्र से ऋ को वृद्धि आर् करके दारयति प्रयोग बनाया जाता है। यहाँ 'उरण् रपरः' सूत्र के द्वारा आकार को रपर करने के कारण आकार निरूपित अवयवत्व यद्यपि रकार में है, किन्तु दा निरूपित अवयवत्व रकार में नहीं है, क्योंकि दा शब्द को उद्देश्य करके यहाँ रकार का विधान नहीं किया गया है। इसलिये यहाँ दा शब्द से दार का ग्रहण नहीं हुआ और उसकी घु संज्ञा नहीं हुई।

यदि कहा जाय कि दकार के आगे आकार का रहना ही दात्व कहा जाता है और यह दात्व तो दार् शब्द में भी है, क्योंकि प्रणिदारयति में जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि आकार को उद्देश्य करके रकार का विधान किया जाता है। इसलिये यदागमपरिभाषा के द्वारा 'आर्' में आत्व चला आयेगा और वह दकार के आगे है ही। ऐसी स्थिति में दार् को दा मानकर यहाँ घु संज्ञा क्यों नहीं होती? इस शंका के उत्तर में लिखा गया कि 'आने मुक्' सूत्र से 'मुक्' विधान के कारण यह परिभाषा अनित्य है। इसलिये उक्त उदाहरण में दा शब्द से दार् का ग्रहण नहीं किया जा सकता।

'आने मुक्' सूत्र के मुक्विधान से इस परिभाषा की अनित्यता इस प्रकार ज्ञापित होती है—पच् धातु से शानच् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, धातु से शप् करके 'पच्-अ-आन' इस स्थिति में आन को पर में मान कर मुक् किया जाता है, तब पच्-अ-म्-आन' बना कर संयोगादि करके 'पचमान्' प्रयोग बनता है। यदि यदागम परिभाषा अनित्य नहीं होती तो अकार का अत्व इस परिभाषा से अम् में चला आता और यह अम् 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र के अक् पद से गृहीत होता। ऐसी स्थिति में अक् से सवर्ण अच् आन के आकार को पर में मान कर सवर्ण दीर्घ हो जाता, जिससे पचमान् की जगह 'पचान्' यह रूप बनने लगता। और यदि यही रूप बनाना इष्ट होता तो पच-आन् इस स्थिति में दीर्घ करके ही यह रूप बन सकता था; तो फिर मुक्विधान करने की यहाँ क्या आवश्यकता रह जाती। इसलिये मुक्-विधान व्यर्थ होकर इस परिभाषा की अनित्यता ज्ञापित करता है। यही बात मूल में कही गयी है कि यदि यह परिभाषा अनित्य नहीं होती तो अकार को मुक् होने पर मुक्विशिष्ट को परिभाषा द्वारा अकार मान कर सवर्णदीर्घ हो जाता, जिससे मुक्विधान की व्यर्थता हो जाती।

परिभाषा को अनित्य मानने का फल यह हुआ कि दीङ् धातु से लिट्लकार, उसके स्थान पर त और एश् करके द्वित्वादि कार्य करने पर 'दि-दी-ए' इस स्थिति में 'दीङो युडचि क्ङिति' सूत्र से ए प्रत्यय को युट् का आगम करके 'दिदीये' प्रयोग की सिद्धि होती है। अन्यथा इस परिभाषा से युट्विशिष्ट 'ये' शब्द को 'ए' माना जाता और उसे पर में मान कर धातु के ईकार को यण् हो जाता, 'दिदीये' प्रयोग की सिद्धि नहीं होती। यहाँ युट्विशिष्ट को 'ए' न मानने का फल यह हुआ कि उक्त प्रयोग में यण् नहीं हुआ।

परिभाषा को अनित्य मानने का दूसरा फल 'जहार' प्रयोग में 'आत औ णलः' सूत्र से णल् को 'औ' न होना है। अन्यथा हृ के ऋकार को जो आर् वृद्धि होती है उस आर् में इस परिभाषा के द्वारा आ वृद्धि होती और आकार से पर में रहने वाले णल् प्रत्यय को 'औ' आदेश होने लगता।

यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिये कि 'आर्' में 'आकार और रकार' तथा 'दिदीये' में 'एकार और यकार' भिन्न-भिन्न वर्ण हैं। इसलिये एक वर्ण का अवयव दूसरा वर्ण कैसे हो सकता है? क्योंकि 'उरण् रपरः' और 'आद्यन्तौ टकितौ' इन वचनों ने उक्त स्थलों पर अवयवत्व का बोधन किया है। 'उरण् रपरः' सूत्र कहता है कि अण् रपर हो अर्थात् रकार है पर = अन्त्यावयव जिसका, ऐसा हो। इसी प्रकार 'आद्यन्तौ टकितौ' कहता है कि टित् आद्यावयव तथा कित् अन्त्यावयव होता है। इस प्रकार सूत्र रूपी वचन के द्वारा तस्य = आगम का अवयवत्व बोधित किया गया है। वस्तुतः यह आरोपित अवयवत्व है, जिसका पर्यवसान अवयवसदृश में है। आर् और युट् इत्यादि स्थलों में आगम इसलिये अवयवसदृश में है कि जिस प्रकार मुख्य अवयवस्थल में अवयवी से अवयवयुक्त का ग्रहण होता है, उसी प्रकार यहाँ भी आगमी के ग्रहण से आगमविशिष्ट का ग्रहण होता है।

न चोक्तज्ञापकाद्वर्णग्रहणेऽस्या अप्रवृत्तिरिति वाच्यम्, 'आने मुक्' (७–२–८२) इति सूत्रे भाष्येऽकारस्याङ्गावयवस्य मुगित्यर्थे पचमान इत्यत्र 'तास्यनुदात्तेत्' (६–१–१८६) इति स्वरो न स्यादित्याशङ्क्या-दुपदेशभक्तस्तद्ग्रहणेन ग्रहीष्यत इत्युक्तेरसङ्गत्यापत्तेः।

किञ्च ङमन्तपदावयवस्य ह्रस्वात्परस्य ङमो ङमुडित्यर्थे कुर्वन्नास्त इत्यादौ ङमो ङमुडागमे णत्वप्राप्तिमाशङ्क्य 'यदागमा' इति न्यायेनाद्यन-स्यापि पदान्तग्रहणेन ग्रहणात् 'पदान्तस्य' (८–४–३७) इति निषेध इत्यनया परिभाषयाऽऽगमानामागमिधर्मवैशिष्ट्यमपि बोध्यत इत्याशयक-'ङमुट्' (८–३–३२) सूत्रस्थभाष्यासङ्गतेः।

किञ्च गुणादे रपरत्वे रेफविशिष्टे गुणत्वाद्येष्टव्यम्। अन्यथा ऋकार-

स्य गुणवृद्धी अरारावेवेति नियमो न स्यात्। तच्च वर्णग्रहणे एतदप्रवृत्तौ न सङ्गच्छते। अतएव 'रदाभ्याम्' (८-२-४२) इति सूत्रे भाष्ये 'गुणो भवति वृद्धिर्भवतीति रेफशिरा गुणवृद्धिसंज्ञकोऽभिनिर्वर्त्तते' इति।

'आने मुक्' सूत्र के द्वारा विधीयमान मुक् से इस परिभाषा की अनित्यता ज्ञापित की गई है। इसके ऊपर सन्देह करते हुए कह रहे हैं कि उक्त ज्ञापक से परिभाषा को अनित्य मानने की अपेक्षा यह ज्ञापन क्यों नहीं कर लिया जाता कि यह परिभाषा वर्णग्रहण में नहीं लगती। वर्णग्रहण का तात्पर्य वर्णमात्रवृत्तिधर्म का अतिदेश और वर्णमात्रवृत्तिधर्मघटितधर्म का अतिदेश इन दोनों से है। अर्थात् इन दोनों जगहों पर परिभाषा नहीं लगती है, यही ज्ञापन करना चाहिये। अनुबन्धविनिर्मुक्त मुक् मकार रूप में उपलब्ध होता है, जो कि एक वर्ण का रूप है। इसलिये वर्ण के द्वारा सजातीयापेक्ष ज्ञापन ऐसा ही होना चाहिये। किन्तु वर्णग्रहण में परिभाषा की अप्रवृत्ति का ज्ञापन करना ठीक नहीं है। क्योंकि 'आने मुक्' के भाष्य में यह बात स्पष्ट की गई है कि यह परिभाषा वर्णग्रहण में लगती है। 'आने मुक्' इस सूत्र के अर्थ के विचार के अवसर पर एक यह पक्ष उपस्थित हुआ कि अङ्गावयव अकार को मुक् होता है, ऐसा सूत्रार्थ करना चाहिये। ऐसा अर्थ करके भाष्यकार ने कहा कि इस पक्ष में 'पचमानः' इस प्रयोग में 'तास्यनुदात्तेत्' सूत्र से वाञ्छित अनुदात्त स्वर नहीं हो सकेगा, क्योंकि यह सूत्र अदन्तोपदिश्यमान से पर में रहने वाले 'ल' सार्वधातुक को अनुदात्त करता है। यहाँ अकार को मुक् करने पर अदन्तत्व नष्ट हो जाता है, इसलिये स्वर नहीं होगा। ऐसी आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि 'अदुपदेशभक्तस्तद्ग्रहणेन ग्रहिष्यते' अर्थात् औपदेशिक अकार, जो शप् का अकार है, उसका भक्त (अवयव) मकार, अकार ग्रहण से गृहीत हो जायेगा। तात्पर्य यह कि यदागम परिभाषा से आगमविशिष्ट अम् को अकार मान लिया जायेगा, जिससे वाञ्छित स्वर की सिद्धि हो जायेगी। इस भाष्य से यह बात स्पष्ट हो गई कि यह परिभाषा वर्णग्रहण में लगती है। यदि मुक्विधान से यह ज्ञापन किया जाय कि वर्णग्रहण में यह परिभाषा नहीं लगती है, तो उपर्युक्त भाष्योक्ति असंगत हो जायेगी।

यदि कहा जाय कि इस भाष्य से यह ज्ञापन करना चाहिये कि यह परिभाषा वर्णमात्रवृत्तिधर्मघटित धर्म का अतिदेश करने में तो लगती है, किन्तु वर्णग्रहण (वर्णमात्रवृत्तिधर्म के अतिदेश) में नहीं लगती है। अदन्तोपदिश्यमानत्व, वर्णमात्रवृत्तिधर्म अत्व से घटित है, इसलिये यहाँ परिभाषा लग जायेगी। इससे उपर्युक्त भाष्य की असंगति नहीं होगी। साथ ही वर्णग्रहण में इस परिभाषा की प्रवृत्ति भी नहीं होगी ? ऐसी आशंका का उत्तर देते हुए लिखा गया—किञ्च इत्यादि।

तात्पर्य यह है कि 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' इस सूत्र का अर्थ करने के अवसर पर एक यह भी पक्ष प्रस्तुत किया गया कि 'ङमन्त' पद का अवयव तथा ह्रस्व से पर में रहने वाले ङम् को ङमुट् का आगम होता है। इस अर्थ के अनुसार 'कुर्वन् + आस्ते' इस स्थिति में ङम् नकार को नुट् होगा और वह टित् होने के कारण नकार के आदि में होगा। इस प्रकार 'कुर्वन् न् + आस्ते' इस स्थिति में अन्तिम नकार को पदान्त होने के कारण णकार भले न हो, किन्तु उसके पूर्ववर्त्ती आगम के नकार को णकार क्यों नहीं होता ? इस प्रकार की शंका होने पर भाष्यकार ने कहा कि यदागम परिभाषा से पहला नकार भी पदान्त समझा जायेगा, इसलिये 'पदान्तस्य' सूत्र से णकार निषेध हो जायेगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि आगमों में भी आगमी का धर्म आता है। इस कारण पदान्त नत्व, जो वर्णमात्र वृत्तिधर्म है, वह आगम नकार में आया और इसीलिये 'पदान्तस्य' यह निषेध यहाँ प्रवृत्त हुआ। वर्णग्रहण में यदि यह परिभाषा नहीं लगती तो आगम नकार में पदान्त नत्व लाकर णत्व का निषेध कैसे होता ? इससे स्पष्ट है कि यह परिभाषा वर्णग्रहण में लगती है।

यहाँ यह बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि पहले कहा गया है कि आगमविशिष्ट का आगमीग्रहण से ग्रहण होता है, किन्तु 'कुर्वन्नास्ते' के प्रकरण से यह बात सिद्ध होती है कि आगमी के ग्रहण से केवल आगम भी गृहीत होता है। इस प्रकार आगम और आगमविशिष्ट इन दोनों का ग्रहण आगमी के बोधक शब्द से होता है। वर्णग्रहण में इस परिभाषा की अप्रवृत्ति मानने पर यह भाष्य असंगत हो जाता।

दूसरी बात यह है कि जहाँ गुण और वृद्धि को रपर किया जाता है, वहाँ रकार विशिष्ट अर् और आर् में गुण और वृद्धि वाञ्छित है। अन्यथा रकार युक्त में यदि गुण और वृद्धि की सिद्धि नहीं हो सकी तो 'ऋकार' को गुण-वृद्धि, अर् और आर् होता है, यह नियम नहीं हो सकता। और यह बात तब संभव होती है, जब वर्णग्रहण में इस परिभाषा की प्रवृत्ति मानी जाय। वर्णग्रहण में परिभाषा की प्रवृत्ति मानने पर अकार में रहने वाला गुणत्व तथा आ में रहने वाला वृद्धित्व धर्म यदागम परिभाषा से रकारविशिष्ट में चला आता है। इसीलिये 'रदाभ्याम्' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा कि ऋकार को जहाँ गुण होता है और वृद्धि होती है, वहाँ रेफ शिरा अर्थात् रेफ है परावयव जिसका, ऐसा अर् और आर् ये गुण और वृद्धि संज्ञक होते हैं।

अतएव 'नेटि' (७–२–४), 'णेरनिटि' (६–४–५१) इत्यादि चरितार्थम्। अनागमकानां सागमका आदेशा इत्यस्य त्वयमर्थः—आर्द्धधातुकस्येडागम इत्यर्थे ज्ञाते नित्येषु शब्देष्वागमविधानानुपपत्त्याऽर्थापत्तिमूलक-

वाक्यान्तरकल्पनेनेड्हितबुद्धिप्रसङ्गे सेड्बुद्धिः कर्त्तव्येति। एवञ्चादेशेष्विवात्रापि बुद्धिविपरिणाम इति न नित्यत्वहानिः।

यदागम परिभाषा यद्यपि लोकसिद्ध है, तथापि इसमें शास्त्रीय प्रमाण भी उपलब्ध हैं। 'नेटि' सूत्र जो इडादि आर्धधातुक के पर में रहने पर हलन्त लक्षण वृद्धि का निषेध करता है वह, तथा 'णेरनिटि' जो अनिडादि आर्धधातुक के यहाँ णिच् प्रत्यय का लोप करता है—ये दोनों सूत्र इस परिभाषा के ज्ञापक हैं। यदि परिभाषा न रहे तो कारयिता प्रयोग का इट् सहित तृच् आर्धधातुक ही नहीं कहा जायेगा; इसलिये वहाँ णिच् का लोप प्राप्त ही नहीं रहेगा तो फिर ऐसे स्थल पर णिलोप व्यावृत्ति के लिये 'णेरनिटि' में 'अनिटि' ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इसलिये 'अनिटि' विशिष्ट 'णेरनिटि' सूत्र इस परिभाषा का ज्ञापक होता है। परिभाषा स्वीकार करने पर तृच् रूपी आगमी के ग्रहण से इट्विशिष्ट तृच् का ग्रहण होता है। इसलिये वहाँ णिलोप की व्यावृत्ति के लिये 'अनिटि' पद सार्थक होता है। ऐसे 'नेटि' के विषय में भी समझना चाहिये।

यदि कहा जाय कि 'अनागमकानां सागमका आदेशाः' आगम रहित के स्थान पर 'आगमसहित' आदेश किया जाता है, इस नियम से इट्रहित सिच् के स्थान पर इट् सहित सिच् आदेश होता है। इसलिये स्थानिवद्भाव से इट् सहित सिच् में आर्धधातुकत्व सुलभ होने से वृद्धि प्राप्त रहेगी। उसके वारण के लिए 'नेटि' सूत्र चरितार्थ है, इसलिये यह सूत्र परिभाषा का ज्ञापक कैसे होगा? इस प्रकार की शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'अनागमकानां सागमका आदेशाः' का तात्पर्य यह है कि जहाँ दो बातों का परस्पर विरोध उपस्थित होता है, वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण के आधार पर 'अनागमकानाम्' जैसे वाक्यान्तर की कल्पना करके विरोध का परिहार किया जाता है। उपपाद्य के द्वारा उपपादक की कल्पना का नाम अर्थापत्ति है। भाष्यादि ग्रन्थों में शब्द को नित्य माना गया है। किन्तु 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' सूत्र के द्वारा आर्धधातुक को इट् का आगम करने से शब्द की नित्यता समाप्त हो रही है। इस प्रकार शब्द की नित्यतावाद का आगम-आदेशादिविधायक शास्त्रों के साथ विरोध उपस्थित होता है। इस विरोध के परिहार के लिये 'अनागमकानाम्' इस वाक्य की कल्पना की गई है। इसका तात्पर्य इतने अर्थ में है कि इट् रहित सिच् के स्थान पर इट् सहित सिच् बुद्धि कर लेनी चाहिये, न कि इट् रहित के स्थान पर इट् सहित करना चाहिये। शब्दनित्यत्व की रक्षा के लिये आदेश-स्थल में जिस प्रकार बुद्धि का विपरिणाम होता है, उसी प्रकार आगमस्थल में भी बुद्धि का ही विपरिणाम होता है। इससे शब्द-नित्यतावाद की रक्षा हो गई, साथ ही यह भी फल हुआ कि ऐसे स्थल पर स्थान्यादेशभाव न होने के कारण इट्

विशिष्ट में सिच्त्वधर्म स्थानिवद्भाव से नहीं आया। इसलिये 'नेटि' सूत्र की सार्थकता नहीं हो सकी। तस्मात् यह सूत्र व्यर्थ होकर परिभाषा का ज्ञापक होता है।

यदि कहा जाय कि शब्द की अनित्यता का वारण करने के लिये बौद्धिक विपरिणाम करने पर भी अमुक के स्थान पर अमुक की बुद्धि कर लेनी चाहिये, ऐसा कहने से स्थान्यदेशभाव यहाँ स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसीलिये 'एरुः' सूत्र में इकारान्त के स्थान पर उकारान्त बुद्धि करनी चाहिये, ऐसा कल्पितस्थान्यादेशभाव को लेकर स्थानिवत् सूत्र की प्रवृत्ति होती है, जिससे 'भवतु' की तिङन्तता सिद्ध होती है। इसी प्रकार 'नेटि' सूत्र के उदाहरण में भी इट्विशिष्ट सिच् में आर्धधातुकत्व स्थानिवद्भाव से सिद्ध है; इसीलिये वहाँ वृद्धि निषेध के लिये नेटि सूत्र सार्थक है, इसलिये वह परिभाषा का ज्ञापक किस प्रकार होगा? ऐसी शंका उपस्थित होने पर लिख रहे हैं—

स्थानिवत्सूत्रे च नेदृशादेशग्रहणम्, साक्षादष्टाध्यायीबोधितस्थान्यादेशभावे चरितार्थ्यात्। किञ्चैवं सति स्थानिबुद्धयैव कार्यप्रवृत्त्या 'निर्दिश्यमानस्य' इति परिभाषया अप्राप्त्याडागमसहितस्य पिबाद्यादेशापत्त्या लावस्थायामडिति भाष्योक्तसिद्धान्तासङ्गतिः। स्थानिवद्भावविषये निर्दिश्यमानस्य' इति परिभाषायाः प्रवृत्तौ तिसृणामित्यत्र परत्वात्तिस्रादेशे स्थानिवद्भावेन त्रयोदेशमाशङ्क्य 'सकृद्गति'न्यायेन समाधानपरभाष्यासङ्गतिः।

'एरुः' (३–४–८६) इत्यादौ स्थानषष्ठीनिर्देशात्तदन्तपरतया पठितवाक्यस्यैव समुदायादेशपरत्वेनादेशग्रहणसामर्थ्यात्तस्य स्थानिवत्सूत्रग्रहणेन न दोषः। आनुमानिकस्थान्यादेशभावकल्पनेऽपि श्रौतस्थान्यादेशभावस्य न त्याग इति 'अचः परस्मिन्-' (१–१–५७) इत्यादेर्नासङ्गतिः।

एतेन 'यदागमा' इति परिभाषा स्थानिवत्सूत्रेण गतार्थेत्यपास्तम्। एतत्सर्वं 'दाधा घ्वदाप्' (१–१–२०) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्॥ ११॥

स्थानिवत् सूत्र में अर्थापत्तिमूलक वाक्य से बोधित इस प्रकार के स्थान्यादेशभाव का ग्रहण नहीं होता। इसलिये इट् सहित सिच् में आर्धधातुकत्व नहीं आयेगा। तस्मात् 'नेटि' सूत्र व्यर्थ होकर परिभाषा का ज्ञापक हो सकता है। इस उपर्युक्त प्रकार के स्थान्यादेश को स्थानिवत् सूत्र में ग्रहण न करने पर स्थानिवत् सूत्र व्यर्थ हो जायेगा, ऐसा नहीं सोचना चाहिये। क्योंकि अष्टाध्यायी से बोधित साक्षात् श्रौत (सूत्र द्वारा बोधित) स्थान्यादेश में 'रामाय' में सूत्र चरितार्थ है। यदि यहाँ कहा जाय कि घट के लिये व्यापारित चक्षु क्या पट को नहीं देखता? उसी प्रकार श्रौत स्थान्यादेशभाव में चरितार्थ स्थानिवत् सूत्र कल्पित स्थान्यादेश

भाव में भी लगेगा। इसलिये नेटि सूत्र से परिभाषा की ज्ञापकता संभव नहीं है। दूसरी बात यह है कि शब्द की अनित्यता का वारण करने के लिये 'अनागमकानां सागमका आदेशाः' इस नियम को मानकर ऐसे स्थलों पर 'स्थानिवद्भाव' से कार्य चलाकर 'यदागम परिभाषा नहीं माननी चाहिये' यही इस स्थल का रहस्य है। किन्तु यह कहना संगत नहीं है। क्योंकि 'यदागम' परिभाषा से तथा 'येन विधिस्तदन्तस्य' इस सूत्र से जिसकी उपस्थिति होती है उसमें निर्दिश्यमानत्व नहीं रहता यह सिद्धान्तपक्ष है। भाष्यकार ने 'अपिबत्' इत्यादि प्रयोगों में लावस्था में ही अट् होता है, ऐसी स्थापना की है। पा धातु से लङ्लकार लाने पर लावस्था में अट् करके यदागम परिभाषा के द्वारा पा ग्रहण से अपा का ग्रहण करने पर भी यदागम परिभाषा से उपस्थाप्य में निर्दिश्यमानता न रहने के कारण पा मात्र के स्थान पर पिबादेश होता है जिससे अपिबत् प्रयोग की सिद्धि होती है। यहाँ पा के ग्रहण से अपा का ग्रहण नहीं होता।

स्थानिवत् सूत्र से जिसकी उपस्थिति होती है उदमें निर्दिश्यमानता स्वीकृत है। निर्दिश्यमानपरिभाषा यदागमपरिभाषा से उपस्थाप्य स्थल में जिस प्रकार व्यावर्तक रूप में प्रवृत्त होती है उस प्रकार स्थानिवद्भाव स्थल में प्रवृत्त नहीं होती। यदि अर्थापत्ति वाक्यमूलक कल्पित स्थान्यादेशभाव में स्थानिवत् सूत्र लगता तो इस सूत्र से उपस्थित होने के कारण 'अपा' निर्दिश्यमान कहा जाता और उसमें स्थानिबुद्धि से पिबादेशरूपी कार्य प्रवृत्त होता, जिससे अपिबत् प्रयोग की सिद्धि नहीं होती। निर्दिश्यमान परिभाषा यहाँ अकार के व्यावर्तन के लिए प्रवृत्त नहीं होगी, क्योंकि स्थानिवत् सूत्र से जिसकी उपस्थिति होती है उसमें निर्दिश्यमानता मानी गयी है।

इस प्रकार अडागम सहित को पिबादेश की आपत्ति होने के कारण लावस्था में अट् होता है यह भाष्योक्त सिद्धान्त असंगत हो जायेगा। इसलिये यही पक्ष ठीक है कि स्थानिवत् सूत्र में अर्थापत्तिमूलक वाक्य कल्पित स्थान्यादेशभाव का ग्रहण नहीं होता।

यहाँ यदि यह कहा जाय कि 'स्थानिवत्' सूत्र से उपास्थाप्य में भी निर्दिश्यमानत्व नहीं है। अर्थात् निर्दिश्यमान परिभाषा स्थानिवद्भाव के विषय में भी व्यावर्तकरूप में प्रवृत्त होती है। फल यह होगा कि पा से 'अपा' की उपस्थिति स्थानिवद्भाव के द्वारा होने के कारण अपा निर्दिश्यमान नहीं कहा जायेगा क्योंकि यह द्वितीयोपस्थिति का विषय हुआ; इसलिये अपा को पिबादेश होने की स्थिति न होने के कारण लावस्था में अड्विषयकभाष्योक्ति असंगत नहीं है। तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'तिसृणाम्' में जब तिसृ आदेश और त्रय आदेश

साथ ही प्राप्त थे तब परत्वात् तिसृ आदेश करने के बाद उस तिसृ को स्थानिवद् भाव से त्रिशब्द मानकर फिर जो त्रयादेश प्राप्त होता है उसका वारण भाष्यकार ने 'सकृद्गतिन्याय' से किया है। अर्थात् तिसृ आदेश से त्रयादेश जो बाधित हुआ है वह सदा बाधित ही रहेगा। स्थानिवत् सूत्र से उपस्थापित को निर्दिश्यमान न मानने पर तिसृ को स्थानिवत्वेन त्रि बुद्धि करके त्रयादेश प्राप्त ही नहीं होगा। ऐसी स्थिति में पुनः त्रयादेश की शंका और सकृद्गति के द्वारा उसका वारण, ये सारे भाष्यकथन असंगत हो जायेंगे। इसलिए स्थानिवत् सूत्र से जिसकी उपस्थिति होती है उसे तो निर्दिश्यमान मानना ही चाहिये। इसलिये यहाँ पुनः प्राप्त त्रयादेश का वारण किया जाता है।

अब यहाँ एक दूसरी शंका यह होती है कि 'भवतु' इस प्रयोग के साधक 'एरुः' सूत्र में स्थानषष्ठी का निर्देश होने के कारण स्थान्यादेशभाव की प्रतीति यद्यपि हो रही है, तथापि इकार में तिङ्त्व का अभाव होने के कारण उकार, तिङ् नहीं कहा जायेगा और इसीलिये भवतु तिङन्त नहीं कहा जायेगा। आनुमानिक स्थान्यादेशभाव से ति के स्थान पर तु आदेश मानने पर तिङ्त्व सुलभ हो सकता था किन्तु आनुमानिक स्थान्यादेशभाव का ग्रहण स्थानिवत् सूत्र में किया नहीं जाता। इस प्रकार भवतु में पदत्व की सिद्धि किस प्रकार होगी? ऐसी शंका के उत्तर में ग्रन्थकार ने कहा कि 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' सूत्र से 'एरुः' सूत्र की स्थिति भिन्न है। 'आर्धधातुकस्य' में षष्ठी अवयव अर्थवाली है और 'एरुः' की षष्ठी स्थान अर्थ में है। इसलिये 'आर्धधातुकस्य' के स्थल में स्थानिवद्भाव हेतु स्थान षष्ठी बनाने के लिये अर्थापत्तिमूलक वाक्यकल्पित स्थान्यादेशभाव होता है और 'एरुः' सूत्र में सूत्रघटकषष्ठी ही स्थान अर्थ की बोधिका होती है। यहाँ इकार और उकार की तदन्त में लक्षणा है। इस प्रकार इकारान्त के स्थान पर उकारान्त आदेश करने से यहाँ स्थान्यादेशभाव स्पष्ट है। ऐसा स्थान्यादेशभाव 'स्थानिवत्' सूत्र में गृहीत है, इसलिये भवतु में पदत्व की सिद्धि होती है।

यदि कहा जाय कि श्रौतस्थान्यादेशभाव में चरितार्थ स्थानिवत् सूत्र लक्षणा से लभ्य स्थान्यादेशभाव में प्रवृत्त नहीं होगा तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'स्थानिवदनल्विधौ' इतना कहने पर भी स्थानी शब्द के साकांक्ष होने के कारण आदेश अर्थ का लाभ हो जाता तो फिर आदेशग्रहण की क्या आवश्यकता है। यही आदेशग्रहण व्यर्थ होकर बतलाता है कि स्थानिवत् सूत्र में आदेशमात्र का ग्रहण होता है। इसलिये साक्षात् अष्टाध्यायी बोधित आनुमानिक स्थान्यादेश भाव का ग्रहण तो स्थानिवत् सूत्र में हो जायेगा, किन्तु अर्थापत्तिमूलक वाक्यकल्पित स्थान्यादेशभाव का ग्रहण नहीं होगा क्योंकि यह स्थान्यादेशभाव बहुत विलम्ब से प्रतीत होता है।

स्थानिवत् सूत्र में इस प्रकार के अनुमानिक स्थान्यादेशभाव का ग्रहण करने पर एक दूसरा दोष यह उपस्थित होता है कि पटु शब्द से णिच् प्रत्यय करने पर उकार का लोप हो जाने पर प्राप्त उपधा वृद्धि का निवारण पहले उकार के स्थानिवद्भाव के द्वारा होता था, किन्तु अनुमानिकस्थान्यादेशभाव मानने पर पटु के स्थान पर पट् आदेश हुआ है ऐसा स्वीकार किया जायेगा। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि यह अजादेश न होकर अच् हलादेश कहा जायेगा। इसलिये 'अचः परस्मिन्' सूत्र से स्थानिवद्भाव नहीं होगा। फलस्वरूप यहाँ उपधावृद्धि होने लग जायेगी। इसके उत्तर में कहते हैं कि आनुमानिकस्थान्यादेशभाव की कल्पना करने पर भी श्रौत स्थान्यादेशभाव का त्याग तो किया नहीं जाता। इसलिये यहाँ श्रौतस्थान्यादेश के आधार पर उकार का स्थानिवद्भाव हो जायेगा, जिससे पटयती का दोष दूर हो जायेगा।

इस विवेचन से सिद्ध हो गया कि स्थानिवत् सूत्र और यदागम परिभाषा इन दोनों का क्षेत्र अलग-अलग है। इसलिये जो व्यक्ति यदागम परिभाषा को स्थानिवत् सूत्र से गतार्थ मानते थे, वे परास्त हो गये। यह सब 'दाधाघ्वदाप्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है॥ ११॥

नन्वेवमुदस्थादित्यादौ 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' (८-४-६१) इति पूर्वसवर्णापत्तिरत आह—

इस प्रकार 'यदागम परिभाषा' को स्वीकार करने पर एक दोष यह उपस्थित होता है कि उद्पूर्वक स्था धातु से लुङ् लकार लाने पर 'उद् अस्थात्' इस स्थिति में यदागम परिभाषा से स्था ग्रहण से अड्विशिष्ट 'अस्था' का ग्रहण करके 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' सूत्र से पूर्वसवर्ण होना चाहिये। इस प्रकार पूर्वसवर्णापत्ति की आशंका में यह परिभाषा बनायी गयी—

निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति॥ १२॥

निर्दिश्यमान के स्थान पर आदेश होते हैं। निर्दिश्यमान की परिभाषा आगे करेंगे। इस परिभाषा को मानने से उद् से पर में रहने वाले निर्दिश्यमान स्था और स्तम्भ को पूर्वसवर्ण होता है ऐसा पूर्वसवर्णविधायक सूत्र का अर्थ होगा। उसका परिणाम यह होगा कि प्रकृत में उद् से पर में निर्दिश्यमान स्था नहीं है क्योंकि उद् और स्था के मध्य आकार का व्यवधान पड़ जाता है इसलिये यहाँ पूर्वसवर्ण दोष की आपत्ति नहीं रह जाती है।

अब इस परिभाषा में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए लिख रहे हैं—

'षष्ठी स्थानेयोगा' (१-१-४९) इति सूत्रमावर्त्तते। तत्र द्वितीय-

स्यायमर्थः—षष्ठचन्तं निर्दिश्यमानमुच्चार्यमाणमुच्चार्यमाणसजातीयमेव निर्दिश्यमानावयवरूपमेव वा स्थानेन स्थाननिरूपितसम्बन्धेन युज्यते, न तु प्रतीयमानमित्यर्थस्तेनेदं सिद्धम् ।

'षष्ठी स्थानेयोगा' इस सूत्र की आवृत्ति की जाती है। उनमें पहले सूत्र का तो यथाश्रुत अर्थ होगा। दूसरे सूत्र में 'यतः' और 'सा' इन दो पदों का अध्याहार किया जायेगा। इस प्रकार दूसरे सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा—यतः षष्ठी = जिससे षष्ठी विभक्ति विहित है, सा=वह षष्ठी की प्रकृति स्थानेयोगा होती है। स्थानेयोगा का अर्थ है कि स्थान पदार्थ के साथ उसका योग होता है अर्थात् षष्ठी का अर्थ जो सम्बन्ध है उसका प्रतियोगी तो षष्ठी की प्रकृति होगी किन्तु उसका अनुयोगी कौन हो ? इस जिज्ञासा में कहा गया है कि यहाँ स्थान पदार्थ सम्बन्ध का अनुयोगी होगा। तात्पर्य यह है कि यदि कोई कार्य करना हो तो वह कार्य षष्ठी की प्रकृति के स्थान पर होगा। जैसे—'जराया जरसन्यतरस्याम्' सूत्र से विधेय 'जरस्' 'जरायाः' इस पद में षष्ठी की प्रकृति जरा शब्द के स्थान पर होता है।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि 'दूसरे षष्ठी स्थानेयोगा में प्रत्ययग्रहण परिभाषा के द्वारा षष्ठी का अर्थ षष्ठचन्तं किया गया है। मूल में षष्ठचन्तम् का अर्थ निर्दिश्यमानम् किया गया है। इस कथन के अनुसार 'जरायाः' यह पद निर्दिश्यमान होना चाहिये और उसी का स्थान-पदार्थ के साथ योग होना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं है। होता तो यह है कि षष्ठी प्रकृति का स्थान पदार्थ के साथ योग करके उसी के स्थान पर कार्य किया जाता है। इसलिये षष्ठचन्त शब्द में 'षष्ठी अन्तः परसमीपो यस्य' इस प्रकार का विग्रह करके अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि के द्वारा षष्ठचन्त शब्द से षष्ठी की प्रकृति ली जाती है। इस प्रकार 'जराया जरस्' के उदाहरण द्वारा यह सिद्ध होता है कि सूत्र में उच्चारित जो षष्ठी की प्रकृति है वही निर्दिश्यमान है। इसीलिये मूल में निर्दिश्यमानम् का अर्थ उच्चार्यमाणम् किया गया है। किन्तु यह कथन असंगत इसलिये लगता है कि जरसादेश तो लक्ष्यस्थ जरा शब्द को होता है न कि सूत्रस्थ जरा को। ऐसी स्थिति में सूत्रस्थ जरा को निर्दिश्यमान बनाने का प्रयोजन क्या रह जाता है ? इस आशंका को ध्यान में रख कर मूल में लिखा गया है कि 'उच्चार्यमाणसजातीयमेव वा।' अर्थात् सूत्र में जो षष्ठी की प्रकृति जरा उच्चारित की गयी है उसका सजातीय जो लक्ष्यस्थ जरा है वही निर्दिश्यमान कहा जायेगा। सूत्रस्थ जरा और लक्ष्यस्थ जरा का साजात्य समान आनुपूर्वी के आधार पर अथवा सूत्रस्थ जरा से लक्ष्यस्थ जरा की प्राथमिक उपस्थिति के आधार पर लिया जाता है। यहाँ पर स्मरण रखना चाहिये कि

जरा शब्द के द्वारा पहली उपस्थिति 'जरा' इस आनुपूर्वी की होती है इसके बाद 'येन विधिस्तदन्तस्य' के द्वारा जराशब्दान्त की उपस्थिति होती है जो द्वितीयोपस्थिति कही जाती है। यहाँ 'उच्चार्यमाणसजातीयमेव' में जो एवकार किया गया है उससे सूत्र में उच्चार्यमाण की व्यावृत्ति की जाती है। अर्थात् वह निर्दिश्यमान नहीं है।

निर्दिश्यमान शब्द का इस प्रकार अर्थ करने पर भी एक दूसरा दोष यह उपस्थित होता है कि 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' सूत्र में 'त्यदादीनामः' सूत्र की अनुवृत्ति करके त्यदाद्यन्त अंग का अवयव निर्दिश्यमान तकार और दकार को सकार होता है ऐसा अर्थ करने पर अतितद् शब्द से सु विभक्ति लाने पर तद् शब्द के दकार की भाँति अति का तकार भी उपर्युक्त अर्थ की परिधि में आ जाता है इसलिये उसे भी सकार होने लगेगा। जिससे 'अतिसः' प्रयोग नहीं बनेगा। इस बात को दृष्टिगत कर मूल में लिखा गया कि 'निर्दिश्यमानावयवरूपमेव वा।' तात्पर्य यह है कि सारी षष्ठी प्रकृतियों का साक्षात् सम्बन्ध से या स्वावयवमात्र घटित इस परम्परा सम्बन्ध से स्थान पदार्थ में ही अन्वय होता है। प्रस्तुत स्थल में यद्यपि तकार और दकार का साक्षात् स्थान पदार्थ में अन्वय है तथापि तकार और दकार ये त्यदादि के अवयव हैं अतः इनके द्वारा त्यदादि का भी अन्वय स्थानपदार्थ में होगा। इसलिये 'त्यदाद्यन्त अंग का अवयव जो निर्दिश्यमान त्यदादि उस के अवयव तकार और दकार को सकार होगा' ऐसा अर्थ करने से 'अतिसः' में उपसर्ग के तकार को सकार नहीं होगा।

इस प्रकार आवृत्त 'षष्ठी स्थानेयोगा' का अर्थ 'उच्चार्यमाणसजातीय का स्थान के साथ योग होता है न कि प्रतीयमान का स्थान के साथ योग होता है' ऐसा करने से यह परिभाषा सिद्ध होती है। यहाँ प्रतीयमान का तात्पर्य यथाकथञ्चित् उपस्थित होने वाले से है। तात्पर्य यह है कि किसी शब्द को सुनकर जिसकी प्राथमिक उपस्थिति होती है। वही निर्दिश्यमान कहा जाता है और उसी के स्थान पर कार्य किया जाता है। यदागम परिभाषा और 'येन विधिस्तदन्तस्य' इन दोनों से जिसकी उपस्थिति होती है वह द्वितीयोपस्थिति या प्रतीयमान कही जाती है। ऐसे प्रतीयमान या द्वितीयोपस्थिति विषय का स्थानपदार्थ के साथ अन्वय नहीं होता, इसलिये वह निर्दिश्यमान नहीं कहा जाता है। इस प्रकार यह परिभाषा सिद्ध होती है।

न च 'अस्य च्वौ' (७–४–३२) इत्यादौ दीर्घाणामादेशानापत्तिः, तेषां निर्दिश्यमानत्वाभावादिति वाच्यम्, जातिपक्षे दोषाभावात्। किञ्च 'न भूसुधियोः' (६–४–८५) इति निषेधेन ग्रहणकशास्त्रगृहीतानां

निर्दिश्यमानकार्यबोधनान्न दोषः। इयङुवङोर्ङित्त्वं त्विवर्णोवर्णान्तिश्नुधातुभ्रुवामित्यर्थेन धात्वादीनामपि निर्दिष्टत्वादन्त्यादेशत्वाय। रीङ्रिङोर्ङित्त्वं तु स्पष्टार्थमेव। एतेनेदं ङित्त्वं वर्णग्रहणे निर्दिश्यमानपरिभाषाया अप्रवृत्तिज्ञापकमित्यपास्तम्। 'हयवरट्' सूत्रस्थेन 'अयोगवाहानामुपदेशेऽल्लोऽन्त्यविधिः प्रयोजनम्। वृक्षस्तत्र; नैतदस्ति प्रयोजनं 'निर्दिश्यमानस्येत्येव सिद्धम्' इति भाष्येण विरोधात्।

अब यहाँ शंका होती है कि परिभाषा की व्याख्या करते समय कहा जा चुका है कि उच्चार्यमाणसजातीय को आदेश होता है। और साजात्य का ग्रहण शास्त्रान्तरासहकृत किया गया है। अर्थात् किसी शब्द को सुनकर जिसकी प्राथमिक उपस्थिति होती है वही सूत्र में उच्चार्यमाण का सजातीय कहा जाता है। जिसकी उपस्थिति किसी शास्त्र (सूत्र) के द्वारा होगी वह उच्चार्यमाणसजातीय नहीं कहा जायेगा। ऐसा मानने पर 'अस्य च्वौ' इस सूत्र में अकार से अठारह अकार की उपस्थिति 'अणुदित्' सूत्र के आधार पर करके 'मालीभवति' 'शालीभवति' इत्यादि प्रयोगों में जो दीर्घ आकार को इकार आदेश होता है, वह अब नहीं होगा। क्योंकि दीर्घ आकार की उपस्थिति शास्त्रान्तर (अणुदित सूत्र) सहकृत हो रही है, इसलिये यह निर्दिश्यमान ही नहीं कहा जायेगा। इस प्रकार की शंका के उत्तर में लिख रहे हैं कि 'अस्य च्वौ' इस सूत्र में जातिपक्ष मान लेने से उक्त दोष की प्रसक्ति नहीं रहती, क्योंकि जातिपक्ष में अकार शब्द से अत्वावच्छिन्न अठारह अकार की उपस्थिति जो होगी वह प्राथमिक उपस्थिति कही जायेगी। इसलिये सारे अकार निर्दिश्यमान कहे जायेंगे जिससे 'मालीभवति' प्रयोग में दीर्घ अकार को इकार सुलभ हो जायेगा। यदि कहा जाय कि यदि हम इस स्थल पर जातिपक्ष नहीं मानें तो उक्त शंका का समाधान क्या होगा? तो इस प्रकार की बात सोचकर व्यक्ति पक्ष में उत्तर देते हुए लिख रहे हैं कि 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इस सूत्र में 'एः' पद जो इ शब्द का षष्ठी का एकवचन है इसमें इ शब्द से तथा 'ओः सुपि' में ओः पद जो शब्द का षष्ठी का एकवचन है उसमें उ शब्द से प्रथमोपस्थिति तो ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार की होती है और उसके बाद 'अणुदित्' सूत्र के द्वारा दीर्घ ईकार और ऊकार की होती है। यह द्वितीयोपस्थिति शास्त्रान्तर सहकृत होने से निर्दिश्यमान् नहीं कही जायेगी। ऐसी स्थिति में भू और सुधी शब्द में ईकार और ऊकार को यणादेश प्राप्त ही नहीं रहेगा तो फिर यहाँ यण् के निषेध के लिए 'न भूसुधियोः' सूत्र की क्या आवश्यकता रह जाती है? इसी से समझा जाता है कि 'अणुदित्' सूत्र से जिसकी उपस्थिति होती है, वह निर्दिश्यमान कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रान्तरासहकृत शब्द में शास्त्र शब्द से

अणुदित् शास्त्र से अतिरिक्त शास्त्र का ग्रहण किया जायेगा, जिससे अणुदित् शास्त्रातिरिक्त शास्त्रजन्य उपस्थिति का विषय निर्दिश्यमान नहीं कहा जायेगा किन्तु अणुदित् शास्त्र से जिसकी उपस्थिति होगी वह तो निर्दिश्यमान कहा ही जायेगा। इस प्रकार उपर्युक्त दोष नहीं रह जाता।

यहाँ अब यह सन्देह होता है कि 'अचि श्नुधातुभ्रुवाम्' इस सूत्र से विधेय इयङ् और उवङ् में ङित्करण इसलिये किया गया है कि 'नियौ नियः' 'भुवौ, भुवः' इत्यादि प्रयोगों में इयङ् और उवङ् अन्त्य के स्थान पर हो। किन्तु उक्त सूत्र में 'ण्वोः' यह षष्ठ्यन्तपद है। इससे इकार और उकार की प्राथमिक उपस्थिति होती है, इसलिये निर्दिश्यमान होने के कारण इकार और उकार के स्थान पर ही इयङ् और उवङ् आदेश होंगे, न कि इकारान्त और उकारान्त के स्थान पर। क्योंकि इकारान्त और उकारान्त की उपस्थिति 'येन विधिस्तदन्तस्य' इस सूत्र से होगी। यह द्वितीयोपस्थिति कही जायेगी। इसलिये इसके स्थान पर 'इयङ् उवङ्' स्वयं ही प्राप्त नहीं है तो सम्पूर्ण के स्थान पर वारण के लिए अन्त्य के स्थान पर होने के लिए किया गया इयङ् और उवङ् का ङित् कारण इस परिभाषा को मानने पर व्यर्थ हो जाता है।

इस प्रकार के सन्देह का उत्तर देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार 'ण्वोः' पद षष्ठ्यन्त होने के कारण इकार और उकार निर्दिश्यमान हैं उसी प्रकार धातु पद भी षष्ठ्यन्त होने के कारण निर्दिश्यमान् है। इसलिए सम्पूर्ण धातु के स्थान पर इयङ् उवङ् के वारण के लिए यहाँ का ङित् करण आवश्यक है। 'अचिश्नुधातु' सूत्र का 'इवर्णान्त उवर्णान्त' धातु, श्नु प्रत्ययान्त शब्द तथा भ्रू शब्द को इयङ्, उवङ् होता है, ऐसा अर्थ करने से धातु की निर्दिश्यमानता स्पष्ट है।

'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' 'रिङ्-ऋतः' इन दो सूत्रों से विधेय रिङ् और रीङ् का ङित् करण तो स्पष्टार्थ है, क्योंकि यहाँ ऋकार ही निर्दिश्यमान है इसलिये उसी के स्थान पर रिङ् आदेश होगा। यद्यपि 'येन विधिः' सूत्र के द्वारा ऋकारान्त धातु की भी उपस्थिति होती है किन्तु वह द्वितीयोपस्थिति है। इसलिये उसके विषय धातु को रिङादेश स्वयं ही नहीं प्राप्त है। इसलिये अन्त्यादेश के लिये किया गया यहाँ का ङित्करण स्पष्टार्थ है। रिङ् विधायक सूत्र धातु के अधिकार में है इसलिये यहाँ धातु विशेष्य है। अतः तदन्तविधि के द्वारा ऋकारान्त धातु की उपस्थिति संभव है। वस्तुतः स्थिति तो यह है कि जिस प्रकार रिङ् का ङित् करण स्पष्टार्थ है उसी प्रकार इयङ् उवङ् का ङित् करण भी स्पष्टार्थ ही है क्योंकि निर्दिश्यमानावयव के स्थान पर आदेश होता है ऐसा परिभाषार्थ पहले किया जा चुका है। इस प्रकार के अर्थ के अनुसार 'चिक्षिपतुः' इत्यादि प्रयोगों में निर्दिश्य-

मानावयव धातु का इकार ही होगा, न कि धातु। इसलिये वाञ्छित इयङ् इकार के स्थान पर ही होने के कारण इयङ् का ङित्करण स्पष्टार्थ ही है।

इस प्रकार ङित् करण को स्पष्टार्थ मानने का परिणाम यह हुआ कि जो लोग ऐसा मानते थे कि ङित्करण व्यर्थ होकर वर्णग्रहण में निर्दिश्यमान परिभाषा की अप्रवृत्ति का ज्ञापन करता है' वे परास्त हो गये। क्योंकि 'हयवरट्' सूत्र के भाष्य से यह बात सिद्ध होती है कि वर्णग्रहण में यह परिभाषा लगती है। भाष्यकार ने वहाँ विचार किया कि 'अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और यम' ये जो अयोगवाह हैं इनका पाठ वर्णसमाम्नाय में करना चाहिए, जिससे ये भी अल् कहे जाय। इनको अल् कहने का प्रयोजन यह होगा कि वृक्षः + तत्र इस स्थिति में विसर्गान्तपद को जो सकार प्राप्त रहेगा वह अलोऽन्त्यस्य सूत्र से अन्त्य अल् विसर्ग के स्थान पर होगा, जिससे वृक्षस्तत्र प्रयोग बनेगा। ऐसा कहकर फिर भाष्यकार ने कहा कि अयोगवाहों को अल् मानने का यह प्रयोजन ठीक नहीं है क्योंकि यह कार्य तो निर्दिश्यमान परिभाषा से भी हो सकता है। क्योंकि 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र में विसर्जनीयपद से पहली उपस्थिति विसर्ग की होती है और 'येन विधिः' सूत्र के द्वारा दूसरी उपस्थिति विसर्गान्तपद की होती है। इसलिये विसर्ग ही निर्दिश्यमान है, न कि विसर्गान्तपद। तस्मात् विसर्ग के स्थान पर सकार इस परिभाषा से ही सिद्ध है। यदि वर्णग्रहण में यह परिभाषा नहीं लगती तो प्रस्तुत स्थल में विसर्ग के वर्ण होने के कारण निर्दिश्यमान परिभाषा यहाँ प्रवृत्त ही नहीं होती तो फिर भाष्यकार की यह उक्ति कि 'यहाँ निर्दिश्यमान परिभाषा से कार्य चल जायेगा' सर्वथा विरुद्ध पड़ती। इसलिये वर्णग्रहण में परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती, यह ज्ञापन युक्त नहीं है। किन्तु इयङ् उवङ् और रिङ् का ङित्करण अन्त्यादेश के लिए या स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए मानना ही ठीक है।

अनया परिभाषया 'येन विधिः' (१–१–७२) इति सूत्रबोधिततदन्तस्य स्थानित्वाभावबोधनं 'यदागमाः' इति लब्धस्य च। तेन सुपदः, उदस्थादित्यादिसिद्धिः।

इस प्रकार के व्याख्यान से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि षष्ठी की प्रकृति से जिसकी प्राथमिक उपस्थिति होती है वही निर्दिश्यमान कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिसकी द्वितीयोपस्थिति होती है वह निर्दिश्यमान नहीं होता। निर्दिश्यमान होने का प्रयोजन यह होता है कि वह किसी कार्य का स्थानी होता है। 'येन विधिः' सूत्र से तथा यदागम परिभाषा से जिसकी उपस्थिति होती है वह उपस्थिति द्वितीयोपस्थिति होती है। इसलिये उस उपस्थिति का विषय निर्दिश्यमान नहीं होता। अर्थात् वह किसी कार्य का स्थानी नहीं होता। इसका फल यह हुआ कि

सुपाद् शब्द से शस् विभक्ति लाने पर 'पादः पत्' सूत्र से जो पदादेश होता है वह पाद् शब्द को ही होता है, सुपाद् शब्द को नहीं होता। क्योंकि 'पादः पत्' सूत्र में पाद् शब्द से प्राथमिक उपस्थिति पाद् शब्द की ही होती है। पाद् शब्द से 'येन विधिः' सूत्र के द्वारा जो सुपाद् की उपस्थिति होती है वह द्वितीयोपस्थिति है। इसलिये सुपाद् निर्दिश्यमान नहीं कहा गया और उस पूरे सुपाद् के स्थान पर पदादेश नहीं हुआ। इसी प्रकार उद्पूर्वक स्था धातु से लुङ् लकार लाकर लावस्था में ही अट् करके 'उद् अस्थात्' इस स्थिति में यदागम परिभाषा के द्वारा स्था शब्द से अस्था की उपस्थिति होने पर भी, क्योंकि यह 'अस्था' द्वितीयोपस्थिति का विषय है, इसलिये 'उदः स्थास्तम्भोः' सूत्र के स्था शब्द से 'अस्था' का ग्रहण नहीं हुआ, अतः यहाँ पूर्वसवर्ण नहीं हुआ। इसलिये 'उदस्थात्' प्रयोग की सिद्धि हुई।

अनया च स्वस्वनिमित्तसन्निधापितानाम् 'अलोऽन्त्यस्य' (१–१–५२) इत्यादीनां समावेश एव, न बाध्यबाधकभावः, विरोधाभावात्। नाप्येतयोरङ्गाङ्गिभावः, उभयोरपि परार्थत्वेन तदयोगात्। 'अनेकाल् शित्' (१–१–५५) इति सूत्रे सर्वश्चैतत्परिभाषाबोधित एव गृह्यते।

यत्तु 'आदेः परस्य' (१–१–५४), 'अलोऽन्त्यस्य' (१–१–५२) इत्येतावेव तद्बाधकाविति तन्न; 'उदः स्था'दिति सूत्रविषयेऽस्याः 'पादः पत्' (६–४–१३०) इति सूत्रे भाष्ये सञ्चारितत्वात्। नाप्येतयोरियं बाधिका, एतयोर्निर्विषयत्वप्रसङ्गादिति 'ति विंशतेः' (६–४–१४२) इति सूत्रे कैयटः।

अकञ्विषये तु नायं न्यायः, स्थानिवद्भावेनेव तन्मध्यपतितन्यायेन तद्बुद्धचैव कार्यजनन्नात्।

इस परिभाषा को स्वीकार करने पर एक यह शंका उपस्थित होती है कि यह परिभाषा जब निर्दिश्यमान को आदेश विधान करती है तो 'पादस्य लोपः' इस सूत्र से विधीयमान लोप अन्तिम अकार के स्थान पर न होकर निर्दिश्यमान पूरे पाद के स्थान पर होना चाहिये। इस शंका के उत्तर में लिखा गया है कि अपने-अपने कारणों (लिङ्गों) से उपस्थापित जो 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यादि परिभाषाएँ हैं उनके साथ इस परिभाषा का समावेश ही है, बाध्यबाधकभाव नहीं है, क्योंकि इनका आपस में कोई विरोध नहीं है। और बिना विरोध के बाध्यबाधकभाव नहीं होता। जैसे—'पादस्य लोपः' सूत्र में पादस्य इस षष्ठ्यन्त पद को देखकर 'अलोऽन्त्यस्य' की उपस्थिति हुई, तथा उसी षष्ठ्यन्तपद को निर्दिश्यमान मानकर 'निर्दिश्यमान' परिभाषा की भी उपस्थिति हुई। दोनों परिभाषाओं का समावेश करके इस प्रकार का सूत्रार्थ होगा कि 'निर्दिश्यमानपाद शब्द का अवयव जो अन्त्य अल् उसका लोप

होता है। ऐसा अर्थ करने से वाञ्छित अन्त्य अकार का लोप हुआ। इस प्रकार दोनों परिभाषाओं का विरोधाभाव स्पष्ट है।

यदि कहा जाय कि इस प्रकार के समावेश से तो यह प्रतीत हो रहा है कि उक्त दोनों परिभाषाओं का परस्पर अङ्गाङ्गीभाव सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में जहाँ निर्दिश्यमानावयव अन्त्य अल् को कोई आदेश कर्त्तव्य होगा, वहीं पर निर्दिश्यमान परिभाषा की प्रवृत्ति होगी। इसका परिणाम यह होगा कि अनेकाल् विषय में निर्दिश्यमान परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होगी। इस प्रकार की आशंका को दृष्टिगत करके लिख रहे हैं कि नाप्येतयोः=इन दोनों अर्थात् निर्दिश्यमान और 'अलोऽन्त्यस्य' इन दोनों परिभाषाओं का परस्पर अङ्गाङ्गीभाव सम्बन्ध भी नहीं है। क्योंकि दोनों परिभाषाएँ विधिसूत्र का उपकारक होने के कारण परार्थ हैं, और दो परार्थों का सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये यहाँ अङ्गाङ्गीभाव नहीं है। यहाँ 'तदयोगात्' इस पद का अर्थ 'अङ्गाङ्गीभावायोगात्' समझना चाहिए।

अन्य परिभाषाओं के साथ इस परिभाषा का विरोध नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिख रहे हैं कि 'अनेकाल्शित्' सूत्र से ग्राह्य जो सर्व अंश है वह भी निर्दिश्यमान परिभाषा से बोधित ही लिया जाता है। जैसे—'जशःशी' सूत्र से विधीयमान शी आदेश अनेकाल् होने के कारण 'अनेकाल्' परिभाषा से पूरे जश् के स्थान पर प्राप्त है और वही जश् निर्दिश्यमान परिभाषा के द्वारा निर्दिश्यमान घोषित किया गया है। इस प्रकार निर्दिश्यमान सम्पूर्ण जश् के स्थान पर शी हो ऐसा अर्थ करने से अनेकाल् और निर्दिश्यमान परिभाषाओं का पारस्परिक विरोधाभाव स्पष्ट होता है। साथ ही पूरे जश् के स्थान पर शी आदेश होता है।

जो लोग कहते हैं कि 'आदेः परस्य' और 'अलोऽन्त्यस्य' ये दो परिभाषाएँ निर्दिश्यमान परिभाषा की बाधिका हैं, यह उनका कथन ठीक नहीं है. क्योंकि 'उदस्थात्' इस प्रयोग में जो 'उदः स्थास्तम्भोः' सूत्र का विषय है भाष्यकार ने इस परिभाषा को लगाया है। यदि उपर्युक्त दोनों सूत्र इस परिभाषा के बाधक होते तो बाधक के विषय में बाध्यभूत परिभाषा का सञ्चार किस प्रकार किया जाता। इससे सिद्ध है कि उक्त दोनों सूत्र इस परिभाषा के बाधक नहीं हैं। यह बात 'पादः पत्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। इसी प्रकार यह परिभाषा भी इन दोनों सूत्रों ('आदेः परस्य', 'अलोऽन्त्यस्य') की बाधिका नहीं है, क्योंकि यदि यह परिभाषा उक्त दोनों सूत्रों की बाधिका हो तो ये दोनों सूत्र कहीं भी प्रवृत्त नहीं होने के कारण निर्विषय हो जायेंगे। क्योंकि दोनों सूत्रों के प्रवृत्तियोग्य स्थल में षष्ठ्यन्त पद का होना जरूरी है, और षष्ठ्यन्तपद की सत्ता निर्दिश्यमान परिभाषा की प्रवृत्ति का कारण है। इस प्रकार निर्दिश्यमान परिभाषा के द्वारा बाधे जाने पर उक्त दोनों

परिभाषाओं का निर्विषय होना स्वाभाविक है। यह बात 'ति विंशतेर्डिति' सूत्र में कैयट ने कहा है।

यह बात पहले कही जा चुकी है कि जिसकी उपस्थिति शास्त्रान्तर के द्वारा होती है वह द्वितीयोपस्थिति का विषय निर्दिश्यमान नहीं कहा जाता है। वहाँ यह परिभाषा प्रवृत्त होकर द्वितीयोपस्थिति विषय को निर्दिश्यमान कोटि से बहिर्भूत कर देती है। इसीलिये 'येन विधिः' तथा यदागम से उपस्थित निर्दिश्यमान नहीं कहे जाते। इसी प्रकार जहाँ अकच् होता है, वहाँ 'तन्मध्यपतित' न्याय से अकच् विशिष्ट की जो उपस्थिति होती है वह भी द्वितीयोपस्थिति कही जायेगी। इसलिये यह परिभाषा अकच् के विषय में भी व्यावर्त्तक रूप से प्रवृत्त होकर अकच् विशिष्ट की निर्दिश्यमानता का वारण क्यों नहीं करती है? इस प्रकार की शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि अकच् के विषय में यह न्याय (परिभाषा) नहीं लगता। अर्थात् अकच् विशिष्ट का निर्दिश्यमानपद से ग्रहण कर लिया जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार 'अणुदित्' सूत्र से उपस्थित में निर्दिश्यमानता मानी जाती है, उसी प्रकार तन्मध्यपतितन्याय से उपस्थिति में भी निर्दिश्यमानता मानी जाती है। अन्यथा इदम् शब्द से अकच् प्रत्यय करने पर इदकम् शब्द से टा विभक्ति लाकर 'इदकम्+टा' इस स्थिति में अकज्विशिष्ट इदकम् को निर्दिश्यमान न होने के कारण 'अनाप्यकः' सूत्र से अनादेश की प्राप्ति स्वयमेव नहीं है तो फिर यहाँ अनादेश के वारण के लिए 'अक' ग्रहण की क्या आवश्यकता रह जाती है? यही अकग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि अकच् के विषय में यह परिभाषा नहीं लगती है। इसलिये अकच् सहित निर्दिश्यमान कहा जायेगा। तस्मात् इदकम् को अनादेश न होने लगे इसलिये अकग्रहण की सार्थकता होती है।

इस उपर्युक्त व्याख्यान से यह सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार स्थानिवद् भाव से आदेश में स्थानिबुद्धि द्वारा कार्य किया जाता है उसी प्रकार तन्मध्यपतितन्याय से उपस्थित में भी तद्बुद्धि (आगमी बुद्धि) करके कार्य किया जाता है। यहाँ निर्दिश्यमान परिभाषा व्यावर्तक नहीं होती है।

इयं चावयवषष्ठीविषयेऽपि। अत एव 'तदोः सः सौ' (७-२-१०६) इति सत्वम् 'अतिस्य' इत्यत्र उपसर्गतकारस्य न। निर्दिश्यमानयुष्मदाद्यवयवमपर्यन्तस्यैव यूयादयो न त्वतियूयमित्यादौ सोपसर्गावयवमपर्यन्तस्येति बोध्यम्।

'पादः पत्' (६-४-१३०) इति सूत्रे 'षष्ठी स्थाने' (१-१-४९) इति सूत्रे च भाष्ये स्पष्टैषा॥ १२॥

यह परिभाषा न केवल स्थानषष्ठी में ही लगती है, किन्तु अवयव षष्ठी में भी

यह लगती है इसका फल यह हुआ कि अतित्यद्शब्द से सुविभक्ति लाने पर 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' सूत्र से विधेय सकार त्यद् के अवयव तकार के स्थान पर ही हुआ, किन्तु अति उपसर्ग के तकार के स्थान पर नहीं हुआ, क्योंकि त्यद् का तकार ही निर्दिश्यमानावयव तकार है, उपसर्ग का तकार नहीं है। यह बात पहले स्पष्ट कर दी गयी है। इसी प्रकार अतियुष्मद् शब्द से जस् विभक्ति लाने पर निर्दिश्यमानयुष्मद् के अवयव मपर्यन्त को ही यूय आदेश होता है। उपसर्ग सहित 'अतियुष्मद्' का मपर्यन्त 'अतियुष्म' को यूय आदेश नहीं होता, क्योंकि उपसर्ग विशिष्ट की उपस्थिति 'येन विधिः' सूत्र से होने के कारण निर्दिश्यमान नहीं है।

'पादः पत्' सूत्र के भाष्य तथा 'षष्ठी स्थानेयोगा' सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है॥ १२॥

विशेष—निर्दिश्यमान परिभाषा के व्याख्यान से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह परिभाषा वही प्रवृत्त होती है जहाँ षष्ठ्यन्त पद हो। उस षष्ठ्यन्तपद की षष्ठी, स्थानषष्ठी हो अथवा अवयवषष्ठी दोनों जगह यह परिभाषा लगती है।

यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि 'यदागम' परिभाषा से जिसकी उपस्थिति होती है, वह निर्दिश्यमान नहीं होता। इसलिये पा ग्रहण से अपा का ग्रहण यदागम परिभाषा से करने पर भी उसकी निर्दिश्यमानता न होने के कारण 'अपा' के स्थान पर 'पिब' आदेश नहीं होता है। इसी प्रकार 'येन विधिः' सूत्र से जिसकी उपस्थिति होती है वह भी निर्निश्यमान नहीं कहा जाता। इसलिये 'पादः पत्' सूत्र में 'पाद' शब्द से सुपाद् की उपस्थिति होने पर भी उसे निर्दिश्यमान न होने के कारण सुपाद् के स्थान पद् आदेश नहीं होता है।

स्थानिवत् सूत्र 'लिङ्गविशिष्टपरिभाषा' 'स्वं रूपम्' सूत्र और 'तिङस्त्रीणि त्रीणि' इस सूत्र से जिनकी उपस्थिति होती है वे निर्दिश्यमान कहे जाते हैं। इनमें स्थानिवत् सूत्रोपस्थाप्य की निर्दिश्यमानता में 'तिसृणाम्' प्रयोग में त्रयादेश को बाध कर तिसृ आदेश करने पर स्थानिवत्भाव से तिसृ को त्रिशब्द मानकर पुनः प्राप्त त्रयादेश का सकृद्गतिन्याय से वारण करना ही प्रमाण है। अन्यथा स्थानिवत् सूत्रोपस्थाप्य में निर्दिश्यमानता यदि नहीं रहती तो पुनः त्रयादेश की प्राप्ति भी नहीं होती। ऐसी स्थिति में सकृद्गतिन्याय से पुनः प्राप्त त्रयादेश का वारण करना असंगत हो जाता।

लिङ्गविशिष्ट परिभाषा से उपस्थाप्य की निर्दिश्यमानता में महत् शब्द को आत्व विधान में लिङ्गविशिष्ट परिभाषा की अप्रवृत्ति या अनित्यत्व ही प्रमाण है। क्योंकि 'महती प्रिया यस्य' इस विग्रह में समास करने पर 'आन्महतः' सूत्र के महत् ग्रहण से लिङ्गविशिष्ट परिभाषा में द्वारा महती का ग्रहण करके आत्व हो जाता

तो 'महाप्रियः' प्रयोग बनने लगता, जब कि यहाँ 'महतीप्रियः' प्रयोग इष्ट है। इसलिये भाष्यकार ने महत् शब्द को आत्व विधान स्थल में लिङ्गविशिष्ट परिभाषा की अप्रवृत्ति मान ली। इससे सिद्ध होता है कि लिङ्गविशिष्ट परिभाषा से उपस्थाप्य में द्वितीयोपस्थिति विषयता होने पर भी निर्दिश्यमानता रहती है। इसीलिये महतीप्रियः में आत्व प्राप्त रहता है जिसका वारण लिङ्गविशिष्ट परिभाषा की अप्रवृत्ति या अनित्यता के द्वारा किया गया है।

'स्वं रूपम्' सूत्र से जिसकी उपस्थिति होती है उसकी निर्दिश्यमानता में 'जराया जरस्' इत्यादि तत्तद् सूत्र ही प्रमाण हैं। क्योंकि सूत्रस्थ जरा शब्द से लक्ष्य में जिस 'जरा' इस स्वरूप की उपस्थिति होती है वह 'स्वं रूपम्' सूत्र से होती है। यदि यह आनुपूर्वी (जरा) निर्दिश्यमान न कही जाय तो जरसादेश किसे होगा ? ऐसी स्थिति में जरसादेश विधायक सूत्र व्यर्थ होकर 'स्वं रूपम्' इस सूत्र से उपस्थाप्य की निर्दिश्यमानता बोधित करता है।

'तिङस्त्रीणि त्रीणि' सूत्र से उपस्थापित प्रथमादि संज्ञाओं की निर्दिश्यमानता में 'लुटः प्रथमस्य' यह सूत्र प्रमाण है। अन्यथा तिबादि प्रत्ययों में 'तिङस्त्रीणि' सूत्र से बोधित प्रथमत्व निर्दिश्यमान नहीं कहा जाता तो उन्हें 'डा रौ रस्' आदेश किस प्रकार होते। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि 'तिप् तस् झि' में जो प्रथमत्व है उसकी उपस्थिति 'तिङ्स्त्रीणि' सूत्र से होने के कारण शास्त्रान्तरसहकृत है, इसलिये यह द्वितीयोपस्थिति है। तस्मात् इसकी निर्दिश्यमानता नहीं होनी चाहिये थी, किन्तु 'लुटः प्रथमस्य' सूत्र के सामर्थ्य से इसमें निर्दिश्यमानता मानी जाती है।

अब यहाँ जिज्ञासुओं की जानकारी के लिये निर्दिश्यमान का एक परिष्कार और उसका समन्वय संक्षिप्तरूप में प्रस्तुत किया जाता है—

षष्ठीप्रकृतिविशिष्टत्वं निर्दिश्यमानत्वम्। वैशिष्ट्यञ्च स्वप्रयोज्योपस्थितिविषयत्वं, स्वविशिष्टवर्णाघटितत्वमिति सम्बन्धद्वयेन। अत्र वैशिष्ट्यञ्च स्वप्रयोज्योपस्थितिविषया व्यवहितपूर्वत्वं, स्वप्रयोज्यशाब्दबोधीयविषयतापर्याय्यधिकरणान्तेतरत्वमित्युभयम्बन्धेन।

षष्ठी की प्रकृति से जो विशिष्ट होता है वह निर्दिश्यमान कहा जाता है। षष्ठी की प्रकृति से विशिष्ट होने के लिये दो सम्बन्ध दिये गये हैं। ये दोनों सम्बन्ध जहाँ जायेंगे वह षष्ठीप्रकृतिविशिष्ट होने के कारण निर्दिश्यमान कहा जायेगा। उनमें पहले सम्बन्ध का तात्पर्य यह है कि जो स्वप्रयोज्य (षष्ठी की प्रकृति से प्रयोज्य) उपस्थिति का विषय हो, तथा दूसरे सम्बन्ध का तात्पर्य यह है कि जो स्वविशिष्ट (षष्ठी की प्रकृति से विशिष्ट) वर्ण से अघटित हो, वह निर्दिश्यमान कहा जायेगा।

यहाँ षष्ठी की प्रकृति से विशिष्ट होने के लिये जो दूसरा सम्बन्ध दिया गया है उसमें स्वविशिष्ट वर्ण से अघटित होना वाञ्छित है। यहाँ वर्ण को स्वविशिष्ट बनाने के लिये दो सम्बन्ध दिये गये हैं। इनका तात्पर्य है कि जो वर्ण स्व (षष्ठी की प्रकृति) से प्रयोज्य उपस्थिति के विषय से अव्यवहित पूर्व हो, तथा स्व (षष्ठी की प्रकृति) से प्रयोज्य शाब्दबोधीयविषयता का पर्याप्ति सम्बन्ध से जो अधिकरण होता हो उस शाब्दबोधीय विषयता की पर्याप्ति के अधिकरण का जो अन्तिमवर्ण उससे भिन्न जो हो वह षष्ठी प्रकृति विशिष्टवर्ण कहा जायेगा। ऐसे वर्ण से अघटित होना द्वितीय सम्बन्ध में अभिप्रेत है।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि जिसके आगे विशिष्ट लिखा होता है, उसी का ग्रहण स्व शब्द से किया जाता है। घटित का अर्थ युक्त या अवयवी होता है और घटक का अर्थ अवयव होता है। एक उदाहरण के द्वारा इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार होगा। यथा—'जराया जरसन्यतरस्याम्' सूत्र से विहित जरस् निर्जर शब्द में जर के स्थान पर होता है न कि निर्जर के स्थान पर। यद्यपि यहाँ जरा शब्द से 'स्वं रूपम्' सूत्र के द्वारा जरा रूप की तथा 'येन विधिस्तदन्तस्य' सूत्र से तदन्तविधि के द्वारा जरा शब्दान्त निर्जर की उपस्थिति होती है। इसलिये दोनों के दोनों स्थान पर जरसादेश प्राप्त है किन्तु उपर्युक्त परिष्कार के अनुसार निर्दिश्यमानता जर में ही है इसलिये उसे ही जरसादेश होता है। यद्यपि निर्जर घटक जर तथा स्वयं निर्जर षष्ठी (जरायाः) की प्रकृति जरा से प्रयोज्य उपस्थिति के विषय है तथापि षष्ठी की प्रकृति से विशिष्ट वर्ण निर् शब्दावयव रेफ से घटित (युक्त) होने के कारण निर्जर शब्द निर्दिश्यमान् नहीं है। क्योंकि जो स्वविशिष्ट वर्णाघटित होगा वही निर्दिश्यमान होगा। इसलिये निर्शब्दावयव रेफ से अघटित होने के कारण 'जर' ही निर्दिश्यमान है न कि निर्जर शब्द।

निर् शब्दावयव रेफ इसलिये स्वविशिष्ट वर्ण है कि वह षष्ठी की प्रकृति से प्रयोज्य उपस्थिति का विषय जर शब्द से अव्यवहित पूर्व में है और 'जराया जरस्' सूत्र का 'अजादि प्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट जरा शब्द और जराशब्दान्त को जरसादेश होता है' ऐसा अर्थ करने से इस प्रकार की शाब्दबोधीय विषयता का पर्याप्ति सम्बन्ध से अधिकरण 'निर्जर और जर' दोनों हैं इनका अन्तिम वर्ण रकारोत्तरवर्त्ती 'अकार' है, उससे भिन्न है निर् का रकार। इसलिये निर् का रकार उभयसम्बन्ध से षष्ठी प्रकृति विशिष्ट है। इससे घटित होने के कारण निर्जर निर्दिश्यमान नहीं होता, किन्तु इससे अघटित होने के कारण 'जर' निर्दिश्यमान कहा गया है और उसे जरसादेश हुआ।

इसी प्रकार 'अपिबत्' प्रयोग में अपा का अकार षष्ठी प्रकृति विशिष्ट होता है

क्योंकि षष्ठी की प्रकृति 'पाघ्राध्मा' इत्यादि से प्रयोज्य उपस्थिति पा की है; उससे अव्यवहित पूर्व अकार है। तथा स्व (षष्ठी की प्रकृति) से प्रयोज्य शाब्दबोधीय-विषयता का पर्याप्तिसम्बन्ध से अधिकरण 'अपा' है, उसका अन्तिम वर्ण आकार है, उससे भिन्न 'अपा' का अकार है। इस प्रकार उभयसम्बन्ध से विशिष्ट होने के कारण पूरे अपा के स्थान पर पिबादेश नहीं हुआ, क्योंकि अपा निर्दिश्यमान नहीं हो सका है। किन्तु उस अकार से अघटित होने से पा निर्दिश्यमान होता है। इसलिये पा के स्थान पर पिबादेश होता है।

ननु चेतेत्यादौ ह्रस्वस्येकारस्य प्रमाणत आन्तर्यादकारोऽपि स्यादत आह—

चि धातु से तृच् प्रत्यय करने पर 'चि+तृ' इस स्थिति में चि के इकार को 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र से गुण करके चेता बनता है। यहाँ शंका होती है कि इकार के स्थान पर एकार ही गुण क्यों होता है? यदि कहा जाय कि स्थान-कृत आन्तर्य को लेकर तालु स्थान की समानता के आधार पर इकार को एकार गुण होता है तो यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि यदि प्रमाणकृत (कालकृत) आन्तर्य लिया जाय तो एकमात्राकालिक इकार के स्थान पर कभी एकमात्राकालिक गुण अकार भी हो सकता है। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनी—

यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः ॥ १३ ॥

आदेश के नियामक के रूप में जहाँ अनेक प्रकार का आन्तर्य (सादृश्य) उपस्थित हो वहाँ स्थानकृत आन्तर्य (सादृश्य) बलवान् होता है।

प्रस्तुत उदाहरण में स्थानकृत आन्तर्य को लेकर एकार, तथा प्रमाणकृत आन्तर्य को लेकर अकारगुण प्राप्त है। इस प्रकार यहाँ दो प्रकार का सादृश्य आदेश विधान के लिये प्रसक्त है। इस परिभाषा को मान लेने पर स्थानकृत आन्तर्य बलीय हो गया, इसलिये उसके द्वारा यहाँ एकार गुण होकर 'चेता' प्रयोग बना।

अनेकविधम्=स्थानार्थगुणप्रमाणकृतम्। अत्र मानम्–'षष्ठी स्थाने' (१–१–४९) इत्यत एकदेशानुवृत्त्या स्थाने-ग्रहणेऽनुवर्त्तमाने पुनः 'स्थानेऽन्तरतमः' (१–१–५०) इति सूत्रे स्थाने-ग्रहणमेव। तद्धि तृतीयया विपरिणम्य वाक्यभेदेन स्थानिनः प्रसङ्गे जायमानः सति सम्भवे स्थानत एवान्तरतम इत्यर्थकम्। तमबग्रहणमेवानेकविधान्तर्यसत्तागमकम्। स्थानतः=स्थानेनेत्यर्थः।

अनेक विधम् का तात्पर्य स्थानकृत, अर्थकृत, गुणकृत और प्रमाणकृत इन चार प्रकार में सादृश्यों से है।

इस परिभाषा में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए लिख रहे हैं—अत्र मानम्—इस परिभाषा में प्रमाण यह है कि—'स्थानेऽन्तरतमः' इस सूत्र में वाक्यमेव अर्थात् दो वाक्यों को पृथक्-पृथक् किया जायेगा। उनमें 'अन्तरतम' यह पहला वाक्य होगा और 'स्थाने' दूसरा वाक्य। इनमें अन्तरतम इस वाक्य में 'षष्ठी स्थानेयोगा' सूत्र से 'स्थाने' इस अंश की अनुवृत्ति की जायेगी। यदि कहा जाय कि 'स्थानेयोगा' इतना एक पद है तो उसमें से केवल स्थाने इतना अंश कैसे आयेगा? तो इसका उत्तर देते हुए लिखा गया है कि एकदेशानुवृत्त्या अर्थात् यहाँ एकदेश की अनुवृत्ति की जायेगी क्योंकि कहीं पर एकदेश की अनुवृत्ति भी की जाती है। इस प्रकार 'अन्तरतम' इस पहले वाक्य में स्थाने की अनुवृत्ति हुई। इस स्थाने का अर्थ प्रसङ्ग है। इसलिये 'प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः' प्रसङ्ग होने पर सदृशतम आदेश होता है यह पहले योग का अर्थ हुआ। दूसरे 'स्थाने' इस वाक्य में स्थाने और अन्तरतम ये दोनों पद लाये जायेंगे। इस 'स्थाने' सूत्र का स्थाने पद 'स्थानेन' इस अर्थ का बोधक है। इस प्रकार इसका अर्थ ऐसा होगा कि—'प्रसङ्गे सति स्थानेन अन्तरतमः=सदृशतमो भवति' अर्थात् प्रसङ्ग होने पर स्थानघटितधर्म के आधार पर सदृशतम आदेश होता है। किन्तु इस अर्थ की उपलब्धि तो 'अन्तरतमः' इस पूर्व से ही सम्भव है क्योंकि जब वह सूत्र प्रसङ्ग में सदृशतम आदेश करता है तो किसी विशेष सादृश्य का उल्लेख न करने के कारण स्थानकृत सादृश्य का भी वहाँ ग्रहण सम्भव है। ऐसी स्थिति में 'स्थाने' यह दूसरा योग व्यर्थ होकर नियम करता है कि स्थान के द्वारा ही अन्तरतम लिया जाता है किसी दूसरे प्रकार से नहीं लिया जाता है।

इसी का फलितार्थ है 'यत्रानेकविधमान्तर्यम्'—यह परिभाषा। यहाँ आन्तर्य पद का अर्थ सादृश्य है। यह सादृश्य (आन्तर्य) अनेक प्रकार का होता है जो आदेश का नियामक होता है। 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र का तमब्ग्रहण ही अनेक प्रकार के आन्तर्य की सत्ता में प्रमाण है। यदि अनेक प्रकार के आन्तर्य नहीं होते तो अन्तरतम (अत्यन्त सदृश) आदेश होता है, ऐसा कहकर किस आन्तर्य की व्यावृत्ति की जाती? इससे स्पष्ट है कि आन्तर्य अनेक प्रकार का होता है। परिभाषा में स्थानतः पद का अर्थ है स्थानेन। अर्थात् स्थानघटित धर्म के द्वारा सदृशतम आदेश होता है। जैसे चेता प्रयोग में तालुस्थानजन्यत्वधर्म के आधार पर इकार के स्थान पर एकार किया जाता है।

तत्र स्थानत आन्तर्यम् 'इको यणचि' (६–१–७७) इत्यादौ प्रसिद्धमेव। अर्थतः 'पद्दन्न' (६–१–६३) इत्यादौ स्थान्यर्थाभिधानसमर्थस्यैवादेशतेति सिद्धान्तात् यदर्थाभिधानसमर्थो यः स तस्यादेश इति तत्समानार्थतत्समान-

वर्णपादादीनां ते। 'तृज्वत्क्रोष्टुः' (७–१–९५) इति च। गुणतो वाग्घरिरित्यादौ। प्रमाणतः 'अदसोऽसेः' (८–२–८०) इत्यादौ। 'स्थानेऽन्तरतमः' (१–१–५०) सूत्रे भाष्ये स्पष्टैषा ॥ १३ ॥

उन चार प्रकार के आन्तर्यों में स्थानकृत आन्तर्य 'इको यणचि' इत्यादि में प्रसिद्ध ही है। 'सुधी + उपास्यः' इस स्थिति में जब यण् करना होता है तो सुधी का इकार दो मात्राकालिक है, इसलिये मात्राद्वयन्यूनकालिकत्वं रूप प्रमाणकृत आन्तर्य के द्वारा 'य् र् ल् व्' ये चारों यण् ईकार के स्थान पर प्राप्त होते हैं। जब ईकार का तालुस्थान जन्यत्वरूपी आन्तर्य लिया जाता है तब यह आन्तर्य केवल यकार में जाता है क्योंकि चारों यणों में यकार ही तालुस्थानजन्य है। इसलिये इस पक्ष में ईकार के स्थान पर केवल यकार प्राप्त होता है। इस प्रकार दो प्रकार के आन्तर्यों से द्वैविध्य की प्राप्ति रहने पर इस परिभाषा से स्थानकृत आन्तर्य के आधार पर ईकार के स्थान पर यकार आदेश किया जाता है।

अर्थकृत आन्तर्य 'पद्दन्नोमास्' इत्यादि सूत्र में लिया जाता। यह सूत्र पाद दन्त नासिका, मास, इत्यादि शब्दों के स्थान पर पद् दत् नस् मास् इत्यादि विधान करता है। वहाँ किसके स्थान पर कौन आदेश हो, ऐसी जिज्ञासा होने पर 'स्थानी के अर्थ को कहने में जो समर्थ होता है' वही आदेश होता है, इस सिद्धान्त से जिसके अर्थ को कहने में जो समर्थ हो, वह उसके स्थान पर आदेश हो, ऐसा निश्चय करके पाद आदि शब्दों के स्थान पर उनके अर्थ के समान अर्थवाले पद आदि आदेश होते हैं। यहाँ पाद आदि स्थानी और पद् आदि आदेशों की वर्ण की भी समानता है। इसलिये यहाँ इस प्रकार कहा जा सकता है कि पद् आदि आदेश अपने अर्थ के समान अर्थ और समान वर्ण वाले पाद आदि के स्थान पर होते हैं, क्योंकि पाद के अर्थ को कहने में पद् ही समर्थ है, दूसरा कोई नहीं।

इसी प्रकार 'तृज्वत् क्रोष्टुः' सूत्र से क्रोष्टु शब्द को जो तृज्वद्भाव होता है वहाँ विशेष निर्देश के अभाव में क्रोष्टु शब्द के स्थान पर कोई भी तृजन्त शब्द हो सकता था, किन्तु वहाँ अर्थकृत आन्तर्य लेकर क्रोष्टु के स्थान पर उसका समानार्थक क्रोष्टृ आदेश होता है। गुणतः आन्तर्य वाग्घरि प्रयोग में लिया गया है। यहाँ 'वाक् + हरिः' इस स्थिति में 'झयो होऽन्यतरस्याम्' सूत्र से हकार को पूर्वसवर्ण होता है। हकार से पूर्व ककार है और उसके सवर्णी पाँच वर्ण होते हैं क-ख-ग-घ-ङ। इनमें से हकार के स्थान पर कौन हो, ऐसी जिज्ञासा होने पर गुण अर्थात् बाह्यप्रयत्न के आधार पर सादृश्य लेकर हकार के स्थान पर घकार होता है। यहाँ स्थानी हकार का बाह्यप्रयत्न संवार नाद घोष और महाप्राण हैं। कवर्ग में ये चारों बाह्यप्रयत्न केवल घकार के हैं। इसलिये हकार के स्थान पर घकार होता है।

प्रमाणकृत (कालकृतं) आन्तर्य का उदाहरण 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' इस सूत्र में मिलता है। कालकृत आन्तर्य के आधार पर ही यह सूत्र अदस् के दकार से पर में रहने वाले ह्रस्व के स्थान पर ह्रस्व उकार और दीर्घ के स्थान पर दीर्घ ऊकार करता है। अमुमुयङ् और अमू इसके उदाहरण हैं। 'स्थानेऽन्तरतमः' इस सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है ॥ १४ ॥

ननु प्रोढवानित्यत्र 'प्रादूहोढ' (६-१-८९ वा) इति वृद्धिः स्यादत आह—

प्र पूर्वक वह् धातु से क्तवतु प्रत्यय करके 'वचिस्वपि' इत्यादि सूत्र से सम्प्रसारण पूर्वरूप 'होढः' से हकार को ढकार तथा 'झषस्तथोः' सूत्र से तवत् के तकार को धकार और ष्टुत्व के द्वारा उसे ढकार करके 'ढो ढे लोपः' सूत्र से पूर्वढकार का लोप तथा 'ढ्रलोपे' सूत्र से दीर्घ करने पर 'ऊढवान्' प्रयोग बनता है। इसी प्रक्रिया से 'क्तवतु' की जगह 'क्त' प्रत्यय करने पर 'ऊढ' प्रयोग बनता है। यहाँ शंका होती है कि 'प्र+ऊढ' इस स्थिति में जिस प्रकार 'प्रादूहोढ' इत्यादि वार्तिक से वृद्धि होकर 'प्रौढः' प्रयोग बनता है उसी प्रकार 'प्र+ऊढवान्' इस स्थिति में भी ऊढ़वान् घटक ऊढ को पर में मान कर वृद्धि होनी चाहिये। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनी।

अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ॥ १४ ॥

यहाँ ग्रहण शब्द में बाहुलकात् कर्त्ता में ल्युट् प्रत्यय यदि माना जाय तो ग्रहण का अर्थ बोधक होगा। उसके साथ अर्थवत् का षठीसमास करके अर्थवद्ग्रहणे की लक्षणा तद्घटित शास्त्र में करने पर परिभाषा का अर्थ इस प्रकार होगा—अर्थवद्बोधक पदघटितशास्त्र में अनर्थक का ग्रहण (बोधन) नहीं होता है। यह दूसरा ग्रहण शब्द भावल्युडन्त है। अतः इसका अर्थ बोधन किया गया है।

अथवा—ग्रहण शब्द को कर्तृल्युडन्त न मान कर भावल्युडन्त ही माना जाय और 'संभवति' पद का अध्याहार करके इस प्रकार परिभाषा का अर्थ किया जा सकता है कि—अर्थवत् का ग्रहण यदि संभव हो तो अनर्थक का ग्रहण नहीं किया जाता है। एतदर्थक इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि 'प्रौढः' प्रयोग में सार्थक ऊढ में 'प्रादूहोढः' यह वार्तिक लगता है वहाँ इस वार्तिक के ऊढ शब्द से प्रोढवान् का अनर्थक ऊठ शब्द गृहीत नहीं हुआ। यहाँ अर्थवत्ता ऊढवान् इस समुदाय में है न कि तद्घटक ऊढ में। इसलिये यहाँ वृद्धि नहीं होती, किन्तु गुण होकर 'प्रोढवान्' प्रयोग बनता है।

निष्कर्ष यह निकला कि अर्थवत् बोधकपद ऊढ है तद्घटित शास्त्र 'प्रादूहोढः' यह वार्तिक है, इस वार्तिक के ऊढ शब्द से अनर्थ ऊढ का 'प्रोढवान्' के ऊढ का ग्रहण नहीं होगा।

यद्यपि यह परिभाषा 'स्वं रूपम्' इस सूत्र के व्याख्यान से सिद्ध है, जिसका विवेचन आगे चलकर करेंगे, तथापि भाष्यकार ने 'स्वं रूपम्' सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है। ऐसी स्थिति में इस परिभाषा में क्या प्रमाण होगा, इस बात को ध्यान में रखकर परिभाषा को युक्ति से सिद्ध करते हुए ग्रन्थकार लिख रखे हैं—

विशिष्टरूपोपादाने उपस्थितार्थस्य शब्दं प्रति विशेषणतयाऽन्वयसम्भवे त्यागे मानाभावोऽस्या मूलम्। अत्रार्थः कल्पितान्वयव्यतिरेककल्पितः, शास्त्रीयोऽपि गृह्यते इति 'संख्यायाः' (५–१–२२) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

इयं वर्णग्रहणेषु नेति 'लस्य' (३–४–७७) इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम्। अत एवैषा विशिष्टरूपोपादानविषयेति वृद्धाः। एतन्मूलकमेव 'येन विधिः' (१–१–७२) इत्यत्र भाष्ये पठ्यते–'अलैवानार्थकेन तदन्तविधिः' इति।

जहाँ किसी विशिष्ट रूप का उपादान (उच्चारण) किया गया होता है— अर्थात् कोई आनुपूर्वी पढी गई होती है, जैसे प्रस्तुत वार्तिक में ऊढ यह आनुपूर्वी तथा 'व्रश्चभ्रस्ज' इस सूत्र में 'राज्' यह आनुपूर्वी पढी गयी है, ऐसे स्थलों पर शब्द के अपने स्वरूप के साथ जिस अर्थ की उपस्थिति होती है, उस अर्थ का त्याग करके निरर्थक शब्द का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये उपस्थित अर्थ को शब्द का विशेषण बना दिया जाता हैं। इसका फल यह होता है कि विशिष्टरूपोपादान स्थल में सार्थक शब्द ही लिया जायेगा, निरर्थक शब्द नहीं लिया जायेगा। यही युक्ति इस परिभाषा का मूल है। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए ऐसा समझना चाहिये कि घट आदि शब्दों की शक्ति अपने रूप तथा अपने अर्थ इन दोनों में है। 'घटमुच्चारयति' कहने से यह स्पष्ट है कि घट इस आनुपूर्वी (शब्द) का उच्चारण करता है। किन्तु जब यह कहा जाता है कि "घटमानय", तब घट शब्द का आनयन असम्भव होने के कारण यहाँ घट का अर्थ लिया जाता है जिसका आनयन सम्भव है। इस प्रकार शब्द की शक्ति, शब्द और अर्थ दोनों में निश्चित होती है। इनमें अर्थ की विशेष्यता स्वाभाविक है। किन्तु 'अग्नेर्ढक्' इत्यादि शास्त्र में जहाँ अर्थ से कार्य बाधित है, वहाँ शब्द को विशेष बनाया जाता है। यहाँ उपस्थित जो अग्निरूपी अर्थ है वह अग्नि शब्द का विशेषण बनता है। इसलिए सार्थक अग्नि शब्द से ढक् प्रत्यय होता है। यह 'अग्नेर्ढक्' सूत्र का अर्थ किया जाता है। इस प्रकार सार्थक शब्द का ग्रहण करने से यह स्पष्ट हो गया कि निरर्थक शब्द का ग्रहण नहीं होता। यही युक्ति इस परिभाषा का मूल है।

अब यहाँ एक यह शंका होती है कि यहाँ अर्थ किस प्रकार का लिया जाता है? यदि लौकिक अर्थ को लिया जाय तो 'लोक में' 'प्रौढः' यह सुबन्त पद अर्थ का बोधक होता है। ऐसी अर्थबोधकता ऊढ शब्द में नहीं है। ऐसी स्थिति में 'प्रादूहोढोढ्य'

यह वार्तिक यहाँ कैसे प्रवृत्त होगा ? इस शंका का समाधान देते हुए कह रहे हैं कि यहाँ कल्पित अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा कल्पित शास्त्रीय अर्थ भी लिया जाता है।

शास्त्रीय अर्थ अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा कल्पित है इस कथन का तात्पर्य यह है कि वैयाकरण सम्प्रदाय में अखण्ड वाक्य की मुख्यता है। किन्तु वाक्य की अखण्डता मानने पर शास्त्र की प्रक्रिया संगत नहीं हो सकेगी। इसलिये वाक्य में पद की कल्पना और पद में प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना की जाती है। उन प्रकृति-प्रत्ययों की सार्थकता के लिये अन्वय-व्यतिरेक की कल्पना करके, उनके द्वारा प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ की कल्पना की जाती है। जैसे 'घटमानय' इस वाक्य से घट-कर्मक आनयन अर्थ की प्रतीति होती है। यहाँ घट पद के रहने पर घट अर्थ की प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं होती है। इसी प्रकार अम् विभक्ति के रहने पर कर्मत्व अर्थ की प्रतीति होती है, अम् प्रत्यय के अभाव में कर्मत्व अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। 'तत्सत्वे तत्सत्वम्' अन्वय कहा जाता है, और 'तदभावे तदभावः' व्यतिरेक कहा जाता है। उपर्युक्त अन्वय-व्यतिरेक से यह स्पष्ट हो गया है कि 'घटम्' इस पद में घट इस प्रकृति का अर्थ घट है, और 'अम्' इस प्रत्यय का अर्थ कर्मत्व है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ की कल्पना की जाती है। अन्वय-व्यतिरेक द्वारा कल्पित इस प्रकार का शास्त्रीय अर्थ भी इस परिभाषा में ग्राह्य होता है। ऊढ शब्द में वह् धातु का अर्थ वहन तथा क्त प्रत्यय का अर्थ कर्म है। इस प्रकार ऊढ का अर्थ वहन कर्म होता है। इसलिये ऊढ को सार्थक मान कर 'प्रौढः' प्रयोग में 'प्रादूहोढ' इस वार्तिक की प्रवृत्ति होती है। किन्तु प्रोढवान् के ऊढ में उपर्युक्त वार्तिक नहीं लगता, क्योंकि यहाँ का ऊढ अर्थवान् नहीं है। यहाँ अर्थवत्ता तो पूरे 'ऊढवान्' इतने में है। यह बात 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

यह परिभाषा वर्णग्रहण (वर्णबोधकपद) में नहीं लगती है। वर्णग्रहण में इस इस परिभाषा के न लगने का तात्पर्य यह है कि वर्णबोधक पद से अनर्थक वर्ण की व्यावृत्त नहीं होती है, किन्तु उससे जिस प्रकार सार्थक वर्ण लिया जाता है उसी प्रकार अनर्थक वर्ण भी लिया जाता है। जैसे 'अत इञ्' सूत्र का 'अतः' यह पद अकार वर्ण का बोधक है। इस 'अतः' पद से वासुदेव अर्थ का वाचक अकार वर्ण को लेकर जिस प्रकार 'अस्य अपत्यम्' इस विग्रह में इञ् प्रत्यय होता है उसी प्रकार 'दक्ष' शब्द में जहाँ समुदाय के अर्थवान् होने के कारण प्रत्येक वर्ण अनर्थक है वहाँ क्षकारोत्तरवर्त्ती अकार का भी 'अत इञ्' के 'अतः' पद से ग्रहण किया गया और इञ् प्रत्यय करके 'दाक्षिः' प्रयोग बनाया जाता है। इसीलिये वृद्ध लोगों (प्राचीन विद्वानों) ने कहा है कि यह परिभाषा विशिष्ट रूपोपादानविषया है। अर्थात् जहाँ विशिष्ट रूप (आनुपूर्वी विशेष) का उपादान (उच्चारण) किया गया होता

है वहीं यह परिभाषा लगती है। ऐसे स्थल में परिभाषा के लगने का तात्पर्य है कि वहाँ उस आनुपूर्वी विशेष से सार्थक शब्द ही लिया जायेगा, निरर्थक शब्द नहीं। जैसे—'व्रश्चभ्रस्ज' इत्यादि सूत्र में 'राज्' यह विशिष्टरूपोपादान है। इस राज् शब्द से सार्थक राज् लिया जाता है। भ्राज् घटक राज् इस राज् शब्द से नहीं लिया जाता क्योंकि वह निरर्थक है।

वर्णग्रहण में इस परिभाषा की अप्रवृत्ति ही इस बात का सूचक है कि 'अलैवानर्थकेन तदन्त विधिरिति' अर्थात् अनर्थक अल् के द्वारा ही तदन्तविधि की जाती है। तात्पर्य यह है कि 'अत इञ्' सूत्र में 'अत' यह वर्णग्रहण है यहाँ अर्थवद्-ग्रहण परिभाषा नहीं लगती। इसलिये सार्थक और अनर्थक दोनों प्रकार का अकार यहाँ ग्राह्य है। अकार की अनर्थकता वहीं सम्भव है जहाँ समुदाय का ग्रहण किया जाय। इसलिये समुदाय का ग्रहण करने के लिये 'अत इञ्' सूत्र में प्रातिपदिक को विशेष्य तथा अत को विशेषण बना कर 'येन विधिः' सूत्र से तदन्त विधि की जाती है। इसलिये अदन्त प्रातिपदिक तथा अकार रूपी प्रातिपदिक इन दोनों से इञ् प्रत्यय किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि जहाँ दक्ष आदि शब्द अदन्त प्रातिपदिक के रूप में गृहीत होंगे, वहाँ अकार अनर्थक रहेगा। इस प्रकार प्रस्तुत परिभाषा की वर्णग्रहण में अप्रवृत्ति होने से वहाँ सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार के वर्ण लिये गये। यह बात 'लस्य' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। वहाँ एक यह सन्देह हुआ कि 'लुनाति' के लकार के स्थान पर तिबादि आदेश क्यों नहीं होते? ऐसा सन्देह करके भाष्यकार ने कहा कि यह लकार अनर्थक है, इसलिये 'अर्थवद्ग्रहण' परिभाषा के द्वारा यहाँ आदेश का वारण कर दिया जायेगा। ऐसा कह कर पुनः भाष्यकार ने कहा कि यहाँ अर्थवद् ग्रहण परिभाषा से कार्य नहीं चलेगा क्योंकि यहाँ 'लस्य' यह वर्णग्रहण है और वर्णग्रहण में यह परिभाषा नहीं लगती।

इस भाष्य से यह बात स्पष्ट है कि यह परिभाषा वर्णग्रहण में नहीं लगती है।

इस प्रकार युक्ति से इस परिभाषा को सिद्ध करके 'स्वं रूपम्' इस सूत्र से भी यह परिभाषा सिद्ध है, इस बात की सम्पुष्टि में ग्रन्थकार लिख रहे हैं—

किञ्च 'स्वं रूपम्' (१-१-६८) इति शास्त्रे स्वशब्देनात्मीयवाचिनार्थो गृह्यते रूपशब्देन स्वरूपम्। एवं च तदुभयं शब्दस्य संज्ञीति तदर्थः। तत्रार्थो न विशेष्यस्तत्र शास्त्रीयकार्यासम्भवात्, किन्तु शब्दविशेषणम्। एवं चार्थविशिष्टः शब्दः संज्ञीति फलितम्। तेनैषा परिभाषा सिद्धेति भाष्ये स्पष्टम् ॥ १४ ॥

'स्वं रूपम्' यह संज्ञा सूत्र है। इसके द्वारा यह बताया जाता है कि शब्द का स्वरूप ही उसका संज्ञी (बोध्य) है। जैसे—'राजश्वसुराद्यत्' इस सूत्र का राजन् शब्द संज्ञा है और 'राजन्यः' प्रयोग का राजन् शब्द संज्ञी है। यहाँ स्वरूप शब्द

में जो स्व शब्द है वह आत्मीयवाची है। शब्द का आत्मीय उसका अर्थ होता है। इसलिये आत्मीयवाची स्व शब्द से यहाँ अर्थ का ग्रहण होता है और रूप शब्द से शब्द का स्वरूप (आनुपूर्वी) गृहीत होता है। इस प्रकार शब्द का अपना स्वरूप और अर्थ ये दोनों उसके संज्ञी होते हैं। यही इस सूत्र का अर्थ है। इन दोनों में अर्थ विशेष्य नहीं है, क्योंकि उसके आगे प्रत्यय आदि का विधान जो शास्त्रीय कार्य है वह असम्भव है। किन्तु शब्द से उपस्थित अर्थ शब्द का विशेषण होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अर्थ विशिष्ट शब्द का संज्ञी है। अर्थात् किसी शब्द को सुन कर उससे सार्थक शब्द का ग्रहण होगा, न कि निरर्थक शब्द का। इस प्रकार यह परिभाषा सिद्ध होती है यह बात भाष्य में स्पष्ट है ।। १४ ।।

नन्वेवमपि महद्भूतश्चन्द्रमा इत्यत्र 'आन्महतः' (६-३-४६) इत्यात्वापत्तिरत आह—

इस प्रकार 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' यह परिभाषा स्वीकार करने पर भी 'महद्भूतः' इस प्रयोग में जहाँ अभूततद्भाव अर्थ में च्वि प्रत्यय किया गया है 'आन्महतः' सूत्र से तकार के स्थान पर आकार होना चाहिये। यहाँ महत् शब्द का 'आरोपित महत्वविशिष्ट' यह अर्थ है। इस प्रकार सार्थक महत् शब्द मिलने के कारण यहाँ आत्व की आपत्ति है। इसलिये परिभाषा बनाई गई—

गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः ।। १५ ।।

गौण और मुख्य अर्थ के बीच मुख्य अर्थ के बोधक शब्द में ही कार्य की प्रवृत्ति होती है।

'महद्भूतः' इस प्रयोग में महत् शब्द आरोपित महत्त्व को कहता है। महत् शब्द का मुख्य अर्थ अनारोपित महत्व है। आरोपित महत्व तो महत् शब्द का गौण अर्थ है। इसलिये गौण अर्थ के बोधक 'महद्भूतः' के महत् शब्द को आत्व नहीं हुआ।

गौण और मुख्य का स्वरूप प्रदर्शन करते हुए लिखा जा रहा है—

गुणादागतो गौणः। यथा गोशब्दस्य जाड्यादिगुणनिमित्तोऽर्थो वाहीकः। अप्रसिद्धश्च संज्ञादिरपि तद्गुणारोपादेव बुध्यते। मुखमिव प्रधानत्वान्मुख्यः=प्रथम इत्यर्थः। गौणे ह्यर्थे शब्दः प्रयुज्यमानो मुख्यार्थारोपेण प्रवर्त्तते। एवं चाप्रसिद्धत्वं गौणलाक्षणिकत्वं चात्र गौणत्वम्। तेन प्रियत्रयाणामित्यादौ त्रयादेशो भवत्येव। तत्र त्रिशब्दार्थस्येतरविशेषणत्वेऽप्युक्तरूपगौणत्वाभावात्।

शब्द का वह अर्थ जो किसी गुण के कारण उस शब्द से आगत=समझा गया है वह उस शब्द का गौण अर्थ है। जैसे गोरूपी पशुविशेष से प्रयुक्त गोशब्द अना-

रोपित गोत्व का वाचक होता है। इसलिये यहाँ गोरूपी अर्थ गोशब्द का मुख्य अर्थ कहा जाता है। किन्तु यही गोशब्द जब गोगत जडता, मन्दता के समान जडता, मन्दता को देखकर वाहीक अर्थ में प्रयुक्त होता है तो यह वाहीक गो शब्द का गौण अर्थ होता है। यहाँ वाहीक में जडता और मन्दता के आधार पर पहले गोत्व का आरोप करके पीछे उसमें गो शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसलिये वाहीक गो शब्द का गौण या लाक्षणिक अर्थ कहा जाता है।

इसी प्रकार किसी आधुनिक व्यक्ति की यदि 'हरिश्चन्द्र' यह संज्ञा कर दी जाती है तो इस अप्रसिद्ध व्यक्ति में हरिश्चन्द्र यह संज्ञा तब संगत होगी जब कि वास्तविक हरिश्चन्द्र के गुणों का इसमें आरोप किया जाय। इसलिये पहले इस आधुनिक व्यक्ति में सत्यवादित्वादि हरिश्चन्द्र के गुण आरोपित किये जाते हैं। इसके बाद इन गुणों के आधार पर उसमें हरिश्चन्द्रत्व का आरोप करके बोध किया जाता है। यह हरिश्चन्द्र अर्थ, हरिश्चन्द्र शब्द का गौण अर्थ है क्योंकि यह भी गुण के द्वारा ही आगत (समझा गया) है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि मुख्यार्थवृत्ति गुण की सत्ता गौण अर्थ में दो प्रकार से हो सकती है—एक तो वास्तविक रूप से, जैसे गो की जडता मन्दता, वास्तविक रूप से वाहीक में है। दूसरी आरोपित रूप से। जैसे अप्रसिद्ध संज्ञा-स्थल में सत्यवादित्वादिगुण आरोपित हैं, वास्तविक नहीं।

जिस प्रकार शरीर में मुख की प्रधानता होती है उसी प्रकार शब्द का जो प्रधान अर्थ होता है, वही मुख्य अर्थ कहा जाता है। प्रधान से तात्पर्य यहाँ प्रथम अर्थ से है। शब्द का प्रथम अर्थ वही होता है जिसमें कोश व्याकरणादिकों के द्वारा शब्द का संकेतग्रह कराया गया हो। वही अर्थ प्राथमिक अभिधा शक्ति से उपस्थित होने के कारण, प्रथम, प्रधान या मुख्य कहा जाता है।

गौण अर्थ में जब किसी शब्द का प्रयोग किया जाता है तो वह शब्द उस गौण अर्थ में मुख्यार्थ के आरोप के द्वारा प्रवृत्त होता है। जैसे—गौण=वाहीक अर्थ में जब गो शब्द का प्रयोग किया जाता है तो उस वाहीक में पहले मुख्य अर्थ गोत्व का आरोप कर लिया जाता है। इस प्रकार आरोपित गोत्वमूलक गो शब्द प्रयोग वहाँ किया जाता है।

इस प्रकार इस परिभाषा में अप्रसिद्ध लाक्षणिक संज्ञादि शब्द और गौण लाक्षणिक 'गौर्वाहीकः' इत्यादि, इन दो प्रकार के गौणों का ग्रहण किया जाता है। यदि कोई पदार्थ किसी पदार्थ में विशेषण होने के कारण इतरपदार्थनिष्ठ विशेष्यता निरूपित प्रकारताश्रय रूपी गौण होता हो तो ऐसा गौण इस परिभाषा में ग्राह्य नहीं है। ऐसे गौण की व्यावृत्ति इस परिभाषा से नहीं की जाती है। अर्थात् मुख्य की भाँति वहाँ भी कार्य कर लिया जाता है। जैसे—'प्रियाः त्रयो येषाम्' इस विग्रह

में प्रियत्रि शब्द बना कर उससे आम् विभक्ति लाने पर 'त्रेस्त्रयः' सूत्र से त्रय आदेश करके 'प्रियत्रयाणाम्' प्रयोग बनाया जाता है। यहाँ यद्यपि त्रिशब्द बहुव्रीहि समास के कारण अन्यपदार्थ में विशेषण है, इसलिये गौण (अप्रधान) है। तथापि परिभाषा में अभिप्रेत जो दो प्रकार का गौणत्व है, वह इसमें नहीं है, इसलिये गौणमुख्य परिभाषा की यहाँ प्रवृत्ति नहीं हुई। इसलिये प्रियत्रि शब्द के त्रिशब्द में 'त्रेस्त्रयः' सूत्र की प्रवृत्ति होकर 'प्रियत्रयाणाम्' प्रयोग बनाया गया। इस परिभाषा में यदि गौण सामान्य का ग्रहण किया जाता और सारे गौण परिभाषा से व्यावर्त्य होते तो 'प्रियत्रयाणाम्' में त्रयादेश नहीं होता।

अब इस परिभाषा का युक्तिसिद्ध अप्रवृत्ति स्थल का निरूपण करते हुए लिख रहे हैं—

किञ्चायं न्यायो न प्रातिपदिककार्ये, किन्तूपात्तं विशिष्यार्थोपस्थापकं विशिष्टरूपं यत्र तादृशपदकार्य एव। परिनिष्ठितस्य पदान्तरसम्बन्धे हि गौर्वाहीक इत्यादौ गौणत्वप्रतीतिर्न तु प्रातिपदिकसंस्कारवेलायामित्यन्तरङ्गत्वाज्जातसंस्कारबाधायोगः प्रातिपदिककार्ये प्रवृत्त्यभावे बीजम्।

यह परिभाषा प्रतिपादिक कार्य में नहीं लगती है किन्तु जहाँ पर "विशिष्य अर्थोपस्थापक=आनुपूर्वी के द्वारा बोध का जनक विशिष्ट रूप का उपात्त=उच्चारण किया गया हो, ऐसे पदकार्य में लगती है।

यहाँ पदकार्य और प्रातिपदिक कार्य का थोड़ा परिचय कर लेना आवश्यक है। 'सुबनिमित्तकत्वे सति' स्त्रीत्वानिमित्तकत्वं पदकार्यत्वम्। अर्थात् जिस कार्य में सुप् विभक्तियाँ निमित्त न हों तथा स्त्रीत्व भी जिसमें निमित्त न हो, वह पदकार्य कहा जाता है। जैसे 'आन्महतः' का आत्व पदकार्य है, क्योंकि इसमें सुप्विभक्ति तथा स्त्रीत्व दोनों में कोई भी कारण नहीं है। 'जानपदकुण्ड' सूत्र से विहित ङीष् स्त्रीत्वनिमित्तिक है। इसलिये यह पदकार्य नहीं है। इसलिये यहाँ परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती और गौण अर्थ में भी नागी इत्यादि प्रयोग में ङीष् होता है।

प्रातिपदिक कार्य का तात्पर्य उस कार्य से है जो प्रातिपादिक या उसके अवयव के स्थान पर होता है। जैसे—"ईदग्नेः सोमवरुणयोः" सूत्र से अग्नि शब्द के इकार को ईत् आदेश किया जाता है। यह ईकारादेश प्रातिपादिकावयव इकार के स्थान पर होने के कारण प्रातिपादिककार्य है। ऐसे ही अन्य प्रातिपादिक कार्य समझना चाहिये।

प्रातिपदिक कार्य में इस परिभाषा के न लगने का रहस्य यह है कि जब किसी शब्द का परिनिष्ठित रूप सारी प्रक्रियाओं को करके बना लिया जाता है तब उसका किसी दूसरे पद के साथ सम्बन्ध किया जाता है। उसके बाद गौणत्व की प्रतीति वहाँ होती है। इस गौणत्व की प्रतीति के पहले सारे प्रातिपदिक कार्य हो चुके

होते हैं। क्योंकि प्रातिपदिक के स्थान पर पदसम्बन्धी सारे कार्य किये बिना वह परिनिष्ठित पद ही नहीं कहा जायेगा। इस प्रकार प्रातिपदिक के संस्कार की वेला में गौणत्व की प्रतीति न होने के कारण प्रातिपदिक कार्य में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। जैसे 'गौर्वाहीकः' इस प्रयोग में 'गौः' पद की सिद्धि पृथक् की जाती है और 'वाहीक' पद की सिद्धि पृथक् की जाती है। पीछे दोनों का सम्बन्ध करने पर मुख्यार्थबाध के कारण गोपद की गोसदृश में लक्षणा करने पर गौणत्व की प्रतीति होती है। इसलिये गौणत्व प्रतीति के पहले जो णिद्वत् भाव और वृद्धि आदि प्रातिपदिक कार्य हो चुके हैं, उनकी निवृत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार 'अग्निशब्द और सोम शब्द का परस्पर द्वन्द्व समास करके अग्नि के इकार को ईकार और सोम के सकार को मूर्धन्य षकार करके 'अग्नीषोमौ' यह परिनिष्ठित रूप बना कर पीछे 'माणवकौ' पद के साथ सम्बन्ध करने पर लक्षणा के द्वारा अग्नीषोम पद तत्सदृशपरक हो जाता है, जिससे गौणत्व की प्रतीति होती है। किन्तु इस गौणत्व की प्रतीति से पहले अन्तरङ्ग के कारण जो ईत्व-षत्वादिक रूप प्रातिपदिक का संस्कार हो चुका है वह पीछे से गौणत्व प्रतीति होने पर निवृत्त नहीं होता है। यही कारण है कि प्रातिपदिक कार्य में यह परिभाषा नहीं लगती है। क्योंकि गौणत्व की प्रतीति के पहले ही प्रातिपदिक कार्य हो चुका होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त निरूपण से यह सिद्ध होता है कि जब गौणत्व की प्रतीति होगी उसी समय इस परिभाषा की प्रवृत्ति होगी और गौणार्थक शब्द की व्यावृत्ति कर दी जायेगी। जैसे द्वन्द्व समास करने से पूर्व ही अग्नि और सोम शब्द को यदि सदृशपरक रख लिया जाय और उसके बाद द्वन्द्व समास किया जाय तो उसी समय गौणत्व की प्रतीति होने के कारण ईत्व और षत्व विधायक सूत्र यहाँ प्रवृत्त नहीं होंगे। इसलिये ऐसी स्थिति में 'अग्निसोमौ माणवकौ' यही प्रयोग बनेगा। इससे स्पष्ट है कि यह परिभाषा प्रातिपदिक कार्य में नहीं लगती है किन्तु पद कार्य में ही लगती है।

श्वसुरसदृशस्यापत्यमित्यर्थके श्वाशुरिरित्यादावत इञः सिद्धये उपात्तमित्यादि। न च प्रातिपदिकपदं तादृशमिति वाच्यम्, तेन हि प्रातिपदिकपदवत्त्वेनोपस्थितिरिति तस्य विशिष्यार्थोपस्थापकत्वाभावात्। निपातपदं तु चादित्वेनैव चादीनामुपस्थापकमिति तदुद्देश्यककार्यविधायके 'ओत्' (१–१–१५) इत्यादावेतत्प्रवृत्त्या गोऽभवदित्यादौ दोषो न।

परिभाषा व्याख्यान करते हुए यदि केवल इतना ही कहा गया होता कि यह परिभाषा पदकार्य में लगती है तो श्वसुर शब्द जहाँ श्वसुर सदृश अर्थ का बोधक होने के कारण गौण हो जाता वहाँ 'अत इञ्' सूत्र से इञ् प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि इञ् प्रत्यय में न तो स्त्रीत्वनिमित्त है और न विभक्ति ही निमित्त है।

इसलिये पदकार्य होने के कारण यहाँ यह परिभाषा लग जाती और गौण श्वसुरशब्द की व्यावृत्ति हो जाती। इसका परिणाम यह होता कि 'श्वासुरिः' प्रयोग नहीं बनता। इसलिये पदकार्य में यह विशेषण जोड़ दिया गया कि जहाँ आनुपूर्वी के द्वारा अर्थबोधक विशिष्टरूप का उपादान (उच्चारण) किया गया हो, ऐसे पद कार्य में यह परिभाषा लगती है। 'अत इञ्' सूत्र में किसी विशिष्टरूप का उपादान नहीं किया गया है, इसलिये यहाँ परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिये गौणार्थक शब्द से भी इञ् प्रत्यय करके 'श्वासुरिः' यह प्रयोग बनता है। यदि कहा जाय कि यहाँ 'अतः' यही विशिष्टरूपोपादान है तो यह कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि अतः पद से अदन्तत्वावच्छिन्न दक्ष आदि अनेक शब्दों की उपस्थिति होती है, न कि किसी एक निश्चितरूप की उपस्थिति होती है। जैसे—'आन्महतः' सूत्र में 'महत्' इस आनुपूर्वी के पाठ से निश्चित रूप से 'महत्' आनुपूर्वी की उपस्थिति होती है। इसलिये यहाँ विशिष्टरूपोपादान है। अत इञ् का अत विशिष्टरूपोपादान नहीं है। यदि कहा जाय कि यहाँ प्रातिपदिक का अधिकार आता है, इसलिये प्रातिपदिक पद ही यहाँ विशिष्टरूपोपादान है, तो यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि जिस प्रकार 'आन्महतः' सूत्र में 'महत' आनुपूर्वी को आत्व किया जाता है उसी प्रकार प्रातिपदिक इस आनुपूर्वी से प्रत्यय का विधान तो किया नहीं जाता किन्तु यहाँ प्रतिपदिक पद से संकेत सम्बन्ध से प्रातिपदिक पदवान् की उपस्थिति होती है। प्रातिपदिक पदवान् घट पट मठादि नाना शब्द हैं जिनकी उपस्थिति यहाँ प्रातिपदिकशब्द से होती है। इसलिये निश्चित किसी विशिष्टरूप का उपस्थापक न होने के कारण प्रातिपदिक पद भी यहाँ विशिष्टरूपोपादान नहीं कहा जायेगा। यहाँ—'विशिष्यार्थोपस्थापकत्वाभावात्' इस पद का अर्थ है 'आनुपूर्वीप्रकारेण बोधजनकत्वाभावात्'। अर्थात् निश्चित किसी आनुपूर्वी का उपस्थापक न होना।

अब यहाँ यह शंका होती है कि जिस प्रकार 'अत इञ्' में विशिष्टरूपोपादान नहीं है उसी प्रकार 'ओत्' सूत्र से ओदन्तत्वावच्छिन्न की उपस्थिति होने के कारण निश्चित किसी रूप की उपस्थिति के अभाव में विशिष्टरूपोपादान यहाँ भी नहीं माना जायेगा। इसलिये गौणमुख्य परिभाषा 'अत इञ्' की भाँति यहाँ भी नहीं लगेगी। परिणाम यह होगा कि 'अगौः गौः समपद्यत' इस अर्थ वाले 'गोऽभवत्' इस प्रयोग में भी प्रगृह्य संज्ञा हो जायेगी और वाञ्छित पूर्वरूप नहीं होगा। यदि कहा जाय कि यहाँ निपात का अधिकार आता है, इसलिये वह निपात पद ही यहाँ विशिष्टरूपोपादान है तो यह कहना भी असंगत है, क्योंकि निपात पद से निपातत्वेन रूपेण सारे निपातों की उपस्थिति होती है जो कि विशिष्टरूपोपादान नहीं है। ऐसी आशंका होने पर मूल में लिखा गया है कि 'निपात पदं तु' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि 'अत इञ्' सूत्र से 'ओत्' सूत्र की स्थिति भिन्न है। अर्थात्

'अत इञ्' में जो प्रातिपदिक पद है उससे प्रातिपदिक पदवान् सारे प्रातिपदिकों की उपस्थिति होती है। वहाँ कोई निश्चित आनुपूर्वी उपस्थित नहीं होती। किन्तु निपात पद से निपातपदवत्त्वोपलक्षित 'च, वा, अह, एव' इत्यादि निश्चित रूपों की उपस्थिति होती है। इससे सिद्ध है कि च आदि निपातों की ही प्रगृह्य संज्ञा होती है। इसलिये च आदि निपातों में ओदन्तनिपातोद्देश्यक प्रगृह्य संज्ञाविधायक 'ओत्' सूत्र में विशिष्टरूपोपादान होने के कारण 'गौणमुख्य परिभाषा की प्रवृत्ति हो गई। इसलिये 'गोऽभवत्' का गौण ओदन्त गो शब्द 'ओत्' सूत्र से ग्राह्य नहीं हुआ। इसलिये यहाँ प्रगृह्य संज्ञा नहीं हुई। किन्तु पूर्वरूप होकर 'गोऽभवत्' प्रयोग की सिद्धि हुई। यहाँ गो शब्द 'उर्यादिच्वि डाचश्च' सूत्र से निपात है—

अग्नीषोमौ माणवकावित्यत्र प्रसिद्धदेवताद्वन्द्ववाच्यग्नीषोमपदस्य तत्सदृशपरत्वेऽप्यन्तरङ्गत्वादीत्वषत्वे भवत एव। सदृशलाक्षणिकाग्निसोमपदयोर्द्वन्द्वे तन्नामकावित्यर्थके च नेत्वषत्वे। आद्ये गौणलाक्षणिकत्वादन्त्येऽप्रसिद्धत्वात्। अतएवाग्निसोमौ माणवकावित्यत्र गौणमुख्यन्यायेन षत्ववारणपरम् 'अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः' (८-३-८२) इति सूत्रस्थं भाष्यं सङ्गच्छते।

अग्नि और सोमशब्द जो प्रसिद्ध देवतावाची हैं, का द्वन्द्वसमास करके 'ईदग्नेः सोमवरुणयोः' सूत्र से अग्नि के इकार को ईकार तथा सोम के सकार को षकार करके 'अग्नीषोमौ' इस पद का 'माणवकौ' इस पद के साथ सम्बन्ध करने पर प्रसिद्ध देवताद्वन्द्व का वाचक अग्नीषोम पद अग्नीषोमसदृशपरक हो जाता है। इसलिये अग्नीषोम के समान ये दो माणवक यह बोध होता हैं। यहाँ पर अग्नीषोम शब्द सदृशपरक होने के कारण गौण हो गया है तथापि यहाँ जो गौणत्व की स्थिति है वह अग्नीषोम बनाने के बाद माणवक पद के समभिव्याहार में होती है। इसलिये गौढत्व प्रतीति की अपेक्षा अन्तरङ्ग ईत्व और षत्व पहले ही हो जाते हैं जो गौणत्व प्रतीति के बाद भी बने ही रहते हैं। इस परिभाषा से उनकी निवृत्ति नहीं होती। यदि द्वन्द्व समास करने के पहले ही अग्नि शब्द को अग्नि सदृश परक तथा सोम शब्द को सोम सदृश परक मान लिया जाय। अथवा अग्नि और सोम ये किसी के नाम मान लिये जाँय और तब इनका द्वन्द्व समास किया जाय तो यहाँ ईत्व और षत्व नहीं होंगे। क्योंकि ईत्व और षत्व के करने के समय इनकी गौणता स्पष्ट हो चुकी रहती है। इसलिये ऐसे गौण शब्द में ईत्व और षत्व विधायक सूत्र नहीं लगते हैं पहले स्थल अर्थात् जहाँ अग्नि तथा सोम को तत्सदृश परक माना गया है वहाँ ये शब्द गौण लाक्षणिक हैं तथा दूसरे स्थल में जहाँ इनको किसी की संज्ञा माना गया है वहाँ ये अप्रसिद्ध लाक्षणिक हैं। और ये दोनों प्रकार के लाक्षणिक इस परिभाषा में ग्राह्य हैं। इसलिये गौण मुख्य परिभाषा उक्त दोनों स्थलों पर लग जाती है जिससे

ईत्व षत्व विधायक सूत्र में इन दोनों स्थलों के अग्नि और सोम शब्द नहीं लिये गये।

जहाँ अग्नि और सोम का पहले समास करके पीछे सदृश में लक्षणा करते हैं वहाँ तो अन्तरङ्गत्वात् पहले ही ईत्व षत्व हो जाते हैं। यही इन दोनों स्थलों का मौलिक भेद है।

इसीलिये 'अग्निसोमौ माणवकौ' इस प्रयोग में गौणमुख्यन्याय से ईत्व और षत्व का वारण करने वाला 'अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः' इस सूत्र का भाष्य संगत होता है।

पदकार्य में इस परिभाषा की प्रवृत्ति को प्रदर्शित करते हुए लिख रहे हैं—

गां पाठयेत्यादौ मुख्यगोपदार्थस्य पाठनकर्मत्वासम्भवेन विभक्त्युत्पत्ति-वेलायां प्रयोक्तृभिर्गौणार्थत्वस्य प्रतीतावप्यपदस्याप्रयोगेण बोद्धृभिः सर्वत्र पदस्यैव गौणार्थकत्वस्य ग्रहेण 'अत्वं त्वं सम्पद्यते, अमहान् महान्भूतस्त्वद्भवती'त्यादिभाष्यप्रयोगे त्वाद्यादेशदीर्घादीनां करणेन चास्य न्यायस्य पद-कार्यविषयत्वमेवोचितम्। अन्यथा वाक्यसंस्कारपक्षे तेषु तदनापत्तिः।

पहले यह बात कही जा चुकी है कि 'गौर्वाहीकः' इत्यादि प्रयोगों में 'गौः' यह परिनिष्ठितरूप बनाने के बाद बाहीक से सम्बन्ध करने पर गौण अर्थ की प्रतीति होती है, इसलिये गौणार्थप्रतीति के पहले औकारादि का विधान कर लिया जाता है। किन्तु 'वाक्य संस्कारपक्ष' में जहाँ वाक्य का उच्चारण करके पीछे तद्घटक पदों की सिद्धि की जाती है वहाँ तो पद साधुत्व के समय ही गौण अर्थ का बोध हो जायेगा। जैसे—'गां पाठय' यह वाक्य बोल कर जब 'गाम्' इस पद का साधुत्व करने चलते हैं तो उसी समय यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मुख्य गोपदार्थ (गौ पशु) पाठन का कर्म नहीं हो सकता। अर्थात् पशुस्वरूप गौ को पढ़ाया नहीं जा सकता। इसलिये यहाँ गो शब्द गो सदृश वाहीक का बोधक है, जो पाठन का कर्म हो सकता है। इस प्रकार 'गाम्' इस पद को बनाने के लिये गो शब्द से अम् विभक्ति लाने के समय ही प्रयोक्ता को शब्द की गौणार्थता मालूम है। इसलिये 'इस गौणार्थक गो शब्द में' 'औतोऽम्शसोः' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये, किन्तु 'अपदं न प्रयुञ्जीत' इस नियम के आधार पर विना पद बने शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता, इसलिये 'गाम्' यह पद बनाना आवश्यक है। साथ ही यह बात भी है कि यद्यपि प्रयोक्ता को पद के साधुत्व के समय उसके गौणत्व का ज्ञान रहता है तथापि बोद्धाओं को तो पद बनने के बाद ही उसके गौणार्थकत्व का ज्ञान होता है। इसलिये उक्त पद को बनाना आवश्यक है, किन्तु गौणमुख्यपरिभाषा पद कार्य में ही लगती है। यह बात स्वीकार किये बिना 'गाम्' यह पद बन नहीं सकता। जब यह बात मान ली जाती है तब 'औतोऽम्शसोः' का कार्य अम् विभक्ति-निमित्तक होने के कारण पदकार्य नहीं कहा गया। इसलिये परिभाषा यहाँ प्रवृत्त

नहीं हुई, जिससे गौण गो शब्द में 'औतोऽम्शसोः' सूत्र की प्रवृति हुई और 'गाम्' यह प्रयोग बना। इससे सिद्ध हुआ कि यह परिभाषा पदकार्य में लगती है। दूसरी बात यह है कि भाष्यकार ने 'अत्वं त्वं सम्पद्यते' इस अर्थ में 'त्वद् भवति' प्रयोग तथा 'अमहान् महान् भूतः' यह प्रयोग बनाया है। यहाँ अत्वम्=युष्मदर्थ भिन्न में युष्मदर्थत्व (सम्बोध्यत्व) आरोपित है। इसलिये यहाँ युष्मद् शब्द गौण अर्थ का वाचक है। इसलिये यहाँ 'त्वाहौ सौ' सूत्र से त्व आदेश नहीं होना चाहिये। इसी प्रकार 'त्वद् भवति' प्रयोग में जहाँ युष्मद् शब्द गौण है--'प्रत्ययोत्तर-पदयोश्च' सूत्र से युष्मद् के स्थान पर 'त्वत्' आदेश नहीं होना चाहिये। ऐसे ही जो महत्वरहित है उसमें महत्व का आरोप करने पर 'महान् भूतः' का महत् शब्द जो आरोपित महत्व का वाचक होने के कारण गौण हो गया है वहाँ उपधा को दीर्घ नहीं होना चाहिये। किन्तु उपर्युक्त उदाहरणों में ये तीनों कार्य किये गये हैं। इसलिये यही मानना उचित है कि यह परिभाषा पदकार्य में ही लगती है। त्व आदेश तथा उपधा को दीर्घ ये दोनों कार्य विभक्तिनिमित्तक होने के कारण पद-कार्य नहीं हैं। इसलिये यहाँ परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है, जिससे गौणार्थक शब्द में भी त्व आदि आदेश और दीर्घ आदि का विधान करके उपर्युक्त तीनों प्रयोग बनाये गये हैं। अन्यथा यदि पदकार्य में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं मानी जाती तो वाक्य संस्कार पक्ष में विभक्ति की उत्पत्ति के समय ही जहाँ गौणता की प्रतीति हो जाती है ऐसे (तेषु) गौर्वाहीकः इत्यादि प्रयोगों में तदनापत्तिः=वृद्धि इत्यादि कार्यों की अनापत्ति हो जाती। इसलिये पदकार्य में ही यह परिभाषा लगती है यह सिद्धान्त मानना चाहिये। इस बात को स्वीकार करने से उपर्युक्त प्रयोग किस प्रकार सिद्ध होते हैं यह बात स्पष्ट की जा चुकी है।

यदि कहा जाय कि त्व आदि आदेश करके पीछे अभूत तद्भाव की विवक्षा करने पर जातसंस्कार का बाध न होने के कारण त्व आदि आदेश की अनापत्तिरूपी दोष नहीं है। इस पर यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार पद संस्कार पक्ष में दोष भले न हो, किन्तु वाक्य संस्कार में तो दोष है ही, तो इसका उत्तर यह है कि यदि एक पक्ष से दोष हट रहा हो तो दूसरे पक्ष से दोष देना ठीक नहीं है। इस प्रकार पद संस्कार पक्ष में 'गां पाठय, त्वद् भवति' इत्यादि में कोई दोष नहीं रह जाता तो पदकार्य में ही यह परिभाषा लगती है, इसमें क्या प्रमाण है? इस बात को ध्यान में रखकर लिख रहे हैं—

किञ्च शुक्लामित्युक्ते कर्म निर्दिष्टं कर्ता क्रिया चानिर्दिष्टे इत्याद्युक्त्वा इहेदानीं गामभ्याज कृष्णां देवदत्तेत्यादौ सर्वं निर्दिष्टं गामेव कर्म देवदत्त एव कर्त्ता अभ्याजैव क्रियेत्यर्थकेन 'अर्थवत्' (१-२-४५) सूत्रस्थभाष्येण कारकादिमात्रप्रयोगे योग्यसर्वक्रियाध्याहारे प्रसक्ते नियमार्थः क्रियावाच-

कादिप्रयोग इत्येतत्तात्पर्यकेण सामान्यतः क्रियाजन्यफलाश्रयत्वमात्रविवक्षायां द्वितीयादीनां साधुत्वान्वाख्यानमित्यर्थलाभेन पाठनक्रियान्वयकाले पदस्यैव गौणार्थत्वप्रतीतिः प्रयोक्तुरपि। एवमेतन्मूलकः 'अभिव्यक्तपदार्था ये' इति श्लोकोऽपि पदकार्यविषयकः।

'शुक्लाम्' ऐसा कहने पर यह स्पष्ट है कि यहाँ कर्म का उच्चारण किया गया है। कर्त्ता और क्रिया यहाँ अनिर्दिष्ट (अनुच्चारित) हैं। ऐसा कह कर 'गाम् अभ्याज कृष्णं देवदत्तः।' इस वाक्य में सब निर्दिष्ट हैं : यहाँ गाम् 'कर्मबोधक पद है, देवदत्त कर्त्ता है और अभ्याज यह क्रियापद है।' इस अर्थवाले अर्थवत् सूत्र के भाष्य से यह बात विदित होती है कि यदि कारक मात्र का प्रयोग किया जाय तो उससे अन्वय के योग्य क्रिया पद का अध्याहार सम्भव है तो क्रियावाचक पद का प्रयोग क्यों किया गया? ऐसी स्थिति में क्रियावाचक पद नियमार्थक होता है अर्थात् प्रस्तुत वाक्य में 'अभ्याज' यह क्रियावाचक पद व्यर्थ होकर नियम करता है कि यहाँ अभ्याज ही क्रिया है दूसरी क्रिया यहाँ नहीं है। इस प्रकार यहाँ यह बात स्पष्ट होती है कि सामान्य रूप से क्रिया और कर्मभाव की विवक्षा में, क्योंकि कर्म क्रियाजन्य फल का आश्रय होता है इसलिये उसमें द्वितीय विभक्ति साधु है। इसलिये गौणस्थल 'गौर्वाहीकः' 'त्वद्भवति' इत्यादि प्रयोगों में भी शब्द के मुख्य अर्थ में ही क्रिया-कर्मभाव की विवक्षा करके पद की सिद्धि कर ली जाती है इसके बाद ही पदान्तर के साथ सम्बन्ध करने पर प्रयोक्ता को गौणार्थ की प्रतीति या विवक्षा होती है।

इससे स्पष्ट है कि यह परिभाषा पदकार्य में ही लगती है, प्रातिपदिककार्य में नहीं लगती है क्योंकि 'गां पाठय' इस वाक्य में जब गोपदार्थ का अन्वय पाठन क्रिया में करते हैं तभी यह प्रतीति होती है कि मुख्य गोपदार्थ का पाठन तो संभव नहीं है इसलिये यहाँ गोशब्द गोसदृश का बोधक है और इसीलिये यह गौणार्थक है। इसलिये प्रयोक्ता को भी क्रियान्वय काल में ही गौणार्थकत्व की प्रतीति हो जाती है।

गौणमुख्य परिभाषा मूलक ही यह श्लोक प्रसिद्ध है—

अभिव्यक्तपदार्था ये स्वतन्त्रा लोकविश्रुताः।
शास्त्रार्थस्तेषु कर्त्तव्यः शब्देषु न तदुक्तिषु॥

जो पदार्थ अभिव्यक्त, स्वतन्त्र तथा लोकविश्रुत है उन्हीं में शास्त्र की प्रवृत्ति होती है। जो पदार्थ अनभिव्यक्त हैं तद्वाचक शब्दों में शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती।

यहाँ अभिव्यक्त इस विशेषण से गौणलाक्षणिक की व्यावृत्ति होती है स्वतन्त्र इस विशेषण से अप्रधान की व्यावृत्ति तथा लोकविश्रुता इस विशेषण से अप्रसिद्ध लाक्षणिक की व्यावृत्ति होती है। शब्देषु न तदुक्तिषु का अर्थ 'अनभिव्यक्तपदार्थेषु शब्देषु' है।

इस श्लोक से यही बात सिद्ध होती है कि गौण अर्थ के वाचक शब्द में शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार गौणमुख्य परिभाषा पदकार्य में लगती है उसी प्रकार यह श्लोक भी पदकार्य विषयक ही है।

ध्वनितं चेदं 'सर्वादीनि' (१-१-२७) इति सूत्रे संज्ञाभूतानां प्रतिषेधमारभता वार्तिककृता 'पूर्वपर' (१-१-३४) इति सूत्रेऽसंज्ञायामिति वदता सूत्रकृताऽन्वर्थसंज्ञया तत्प्रत्याख्यानं कुर्वता भाष्यकृता च।

अर्थाश्रय एतदेवं भवति शब्दाश्रये च वृद्ध्यात्त्वे इति 'ओत्' (१-१-१५) सूत्रस्थभाष्यस्य लौकिकार्थवत्त्वयोग्यपदाश्रय एष न्यायस्तद्रहितशब्दाश्रये च ते इत्यर्थः। 'गोतः' (७-१-९०) इति यथाश्रुतसूत्रे विशिष्टरूपोपादानसत्त्वेनोक्तरीत्यैवैतस्य भाष्यस्य व्याख्येयत्वादित्यलम् ॥ १५ ॥

इस न्याय की पदकार्य विषयता सूत्रकार, वार्तिककार और भाष्यकार इन तीनों ने ध्वनित की है। जो किसी का संज्ञा हो जाय वह सर्वादि नहीं कहा जाता। इस बात के लिये वार्तिककार ने 'सर्वादीनि' सूत्र में वार्तिक बनाया—'संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः'।

यदि यह परिभाषा पदकार्य में न लग कर सब जगह लगती तो संज्ञाभूत शब्दों की सर्वनामता इस परिभाषा से ही निषिद्ध हो जाती। ऐसी स्थिति में वार्तिककार का प्रयास व्यर्थ हो जाता। जब यह मान लिया जाता है कि यह परिभाषा पदकार्य में ही लगती है तो विभक्तिनिमित्तक कार्य होने से सर्वनाम संज्ञा पदकार्य नहीं होती है। इसलिये गौणमुख्यन्याय से यहाँ कार्य न चलने की स्थिति में वार्तिककार का प्रयास सफल होता है। संज्ञाशास्त्र विधिनिमित्तनिमित्तक होते हैं। अर्थात् विधिसूत्रों का जो निमित्त होता है वही संज्ञा सूत्र का भी होता है। इसलिये सर्वनाम संज्ञा विभक्तिनिमित्तक होती है। इसी प्रकार संज्ञा शब्दों की सर्वनामता का वारण करने के लिये 'पूर्वपर' सूत्र में सूत्रकार द्वारा किया गया 'असंज्ञायाम्' यह पद भी उपर्युक्त रीति से गौणमुख्यन्याय की पदकार्यविषयता में ही सार्थक होता है। भाष्यकार ने सर्वनाम संज्ञा को अन्वर्थक माना क्योंकि यह महती संज्ञा है। इसलिये संज्ञाभूत शब्द सर्वनाम नहीं कहे जायेंगे। ऐसी स्थिति में सूत्रकार और वार्तिककार का प्रयास अनावश्यक है यह भाष्यकार का कथन भी इस परिभाषा का पदकार्य विषयकत्व अभिव्यञ्जित करता है। सर्वनाम संज्ञा उपर्युक्त रीति से पदकार्य नहीं है। इसलिये इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होगी। तस्मात् अन्वर्थ संज्ञा के द्वारा सर्वनाम संज्ञा का वारण करना सार्थक होता है।

अब यहाँ एक यह शंका होती है कि 'गौर्वाहीकः' 'गां पाठय' इन दोनों प्रयोगों (वाक्यों) में जहाँ गोशब्द गौणार्थक है वहाँ गौणमुख्य न्याय से वृद्धि और आत्व

नहीं होना चाहिये। ऐसी शंका करके भाष्यकार ने कहा 'अर्थाश्रये एतदेवं भवति शब्दाश्रये च वृद्धयात्वे' अर्थात् गौणमुख्य परिभाषा अर्थाश्रय में लगती है वृद्धि और आत्व तो शब्दाश्रय हैं। इसलिये गौणमुख्य परिभाषा यहाँ नहीं लगी और वृद्धि तथा आत्व हो गया। यदि यह परिभाषा पदकार्य में लगती तो भाष्यकार को कहना चाहिये था कि वृद्धि और आत्व विभक्तिनिमित्तक होने के कारण पद कार्य नहीं है, इसलिये गौणमुख्य परिभाषा यहाँ नहीं लगेगी। किन्तु भाष्यकार ने ऐसा नहीं कहा। इसलिये विदित होता है कि यह पदकार्य में नहीं लगती।

इस प्रकार की शंका के उत्तर में लिखा गया है 'शब्दाश्रये एतदेवं भवति' इत्यादि। इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ अर्थाश्रये का अर्थ है 'लौकिक अर्थवत्व योग्य पदाश्रय'। लोक में अर्थ का बोध पद से ही होता है। इसलिये 'अर्थाश्रये' इस पद का अर्थ 'पदाश्रये' है। पदाश्रये का तात्पर्य पदकार्य से है। अर्थात् यह परिभाषा पदकार्य में लगती है। शब्दाश्रय का तात्पर्य प्रातिपदिकाश्रये अर्थात् प्रातिपदिककार्य से है। अर्थात् प्रातिपदिक कार्य में यह परिभाषा नहीं लगती। वृद्धि और आत्व ये दोनों प्रातिपदिक कार्य हैं इसलिये यहाँ परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं हुई और गौणस्थल में भी वृद्धि और आत्व हो गया। इस प्रकार कोई असंगति नहीं रह जाती। 'गोतो णित्' इस प्रकार का सूत्र का न्यास होने के कारण यह विशिष्ट रूपोपादान (आनुपूर्वी विशेष का उच्चारण) कहा गया। और विशिष्ट रूपोपादान रूप पदकार्य जहाँ होता है वही इस परिभाषा की प्रवृत्ति स्वीकृत है। इसलिये उक्त भाष्य का व्याख्यान उपर्युक्त रीति से ही करना उचित है। अर्थात् अर्थाश्रये का अर्थ पदकार्य करना ठीक है ॥ १५ ॥

अर्थवद्ग्रहणे (प० १४) इत्यस्यापवादमाह—

अब 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इस परिभाषा की अपवादभूत परिभाषा लिख रहे हैं—

अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति ॥१६॥

यहाँ ग्रहणानि का अर्थ बोधकानि है। 'अर्थवता और अनर्थकेन' इन दोनों पदों में जो तृतीया है वह 'प्रकृत्यादित्वात्' अभेद में है। इसलिये परिभाषा का अर्थ इस प्रकार होगा—लक्ष्यस्थ अन्, इन्, अस् और मन् के बोधक जो सूत्रस्थ अन् इन् अस् और मन् हैं वे अर्थवत् अन् आदिस्थल में तथा अनर्थक अन् आदि स्थल में दोनों जगह तदन्त विधि के प्रयोजक होते हैं। अर्थात् किसी सूत्र में अन् पद से जिस प्रकार सार्थक अनन्त का ग्रहण होता है उसी प्रकार उस अन् शब्द से निरर्थक अनन्त का भी ग्रहण होता है। इसी प्रकार इन् शब्द से सार्थक और निरर्थक इन् जिसके अन्त में रहेगा उसका ग्रहण होगा। इसी प्रकार अस् और मन् के विषय में भी समझना चाहिये।

यदि यह परिभाषा नहीं होती तो 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' इस परिभाषा से इन् शब्द के द्वारा सार्थक इन् जिसके अन्त में है, उसी का ग्रहण होता; निरर्थक इनन्त का ग्रहण नहीं होता। अर्थवद्ग्रहण परिभाषा के अपवादस्वरूप इस परिभाषा को मान लेने पर सार्थक और निरर्थक दोनों जगह इन् से इनन्त का ग्रहण होता है। इसी प्रकार अस्, मन्, अन् आदि स्थलों में भी सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार के अन् आदि लिये जाते हैं।

इस परिभाषा में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए लिख रहे हैं—

'येन विधिः' (१-१-७२) इत्यत्र भाष्ये वचनरूपेण पठितैषा। तेन 'राज्ञा साम्ने'त्यादावल्लोपो, 'दण्डी वाग्मी' इत्यादौ 'इन्हन्' (६-४-१२) इति नियमः, 'सुपयाः सुस्रोता' इत्यादौ 'अत्वसन्तस्य' (६-४-१४) इति दीर्घः, सुशर्म्मा सुप्रथिमेत्यादौ 'मनः' (४-१-११) इति ङीब्निषेधश्च सिद्धः।

अन्ये तु परिवेविषीध्वमित्यत्र ढत्वव्यावृत्तये क्रियमाणात् 'इणः षीध्वम्' (८-८-७८) इत्यत्राङ्ग्रहणादर्थवत्परिभाषाऽनित्या तन्मूलकमिदमित्याहुः।

'विभाषेटः' (८-३-७९) इत्यत्रानर्थकस्यैव षीध्वमः सम्भवादत्रापि तस्यैव ग्रहणमिति भ्रमवारणायाङ्गादिति परे ॥ १६ ॥

'येन विधिस्तदन्तस्य' इस सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा वचन रूप से पढ़ी गई है। इस परिभाषा को मानने का फल यह हुआ कि जिस प्रकार राजन् शब्द से टाविभक्ति लाने पर 'अल्लोपोऽनः' सूत्र से अन् के अकार का लोप होता है, उसी प्रकार 'सामन्' शब्द से टा विभक्ति लाने पर भी अन् के अकार का लोप होता है। इसलिये 'राज्ञा' प्रयोग के भाँति 'साम्ना' प्रयोग बनता है। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि राज् धातु से कनिन् प्रत्यय किया जाता है, जिसमें अन् बचता है, जिससे 'राजन्' शब्द बना है। यहाँ मूल प्रत्यय में से जो अन् बचा है वह सार्थक है। सामन् शब्द में सो धातु से मनिन् प्रत्यय किया जाता है, जिसमें से मन् बचता है। इसलिये यहाँ मन्, सार्थक है। मन् का घटक (अवयव) अन् यहाँ निरर्थक है। ये सार्थक और निरर्थक दोनों अन् 'अल्लोपोऽनः' के अन् से लिये गये। इसलिये 'राजन् और सामन्' इन दोनों शब्दों को अनन्त मानकर अन् के अकार का लोप किया जाता है। इसी प्रकार दण्ड शब्द से इन् प्रत्यय करके 'दण्डिन्' शब्द तथा वाच् शब्द से ग्मिनि प्रत्यय करके 'वाग्मिन्' शब्द बनता है। दण्डिन् शब्द का इन् तो सार्थक है किन्तु वाग्मिन् शब्द में ग्मिन् प्रत्यय के सार्थक होने के कारण वहाँ का इन् अनर्थक है। इस परिभाषा को स्वीकार करने के कारण दोनों प्रकार के इन् 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' सूत्र के इन् शब्द से गृहीत होते हैं। इसलिये इनादि की उपधा को 'शि' पर में रहने पर ही दीर्घ हो ऐसा उक्त सूत्र का नियम दोनों जगह लागू होता है।

ऐसे ही सुपयस्[1] शब्द जहाँ का अस् सार्थक है तथा सुश्रोतस् शब्द जहाँ श्रुधातु से अस् प्रत्यय और उसे तुट् का आगम करने के कारण यदागमपरिभाषा से 'तस्' भाग सार्थक तथा अस् भाग निरर्थक है ये सार्थक तथा निरर्थक दोनों प्रकार के अस् 'अत्वसन्तस्य' के अस् पद से गृहीत किये गये। इसलिये असन्त शब्द से जिस प्रकार सुपयस् शब्द लिया जाता है उसी प्रकार सुश्रोतस् शब्द भी लिया गया और दोनों जगह उपधा को दीर्घ करके 'सुपयाः' और 'सुश्रोताः' यह रूप बनाया गया।

इसी प्रकार सुपूर्वक शृधातु से मनिन् प्रत्यय करके बनाये हुए 'सुशर्म्मन्' शब्द में मन् सार्थक है तथा सुपूर्वक पृथु शब्द से इमनिच् प्रत्यय करके बनाये गये 'सुप्रथिमन्' शब्द में मन् अनर्थक है। क्योंकि यहाँ अर्थवत्ता 'इमन्' इतने अंश में है। ये दोनों मन् 'मनः' सूत्र के मन् शब्द से गृहीत होते हैं, जिससे 'सुशर्म्मा' की भाँति 'सुप्रथिमा' प्रयोग में भी 'मनः' सूत्र से ङीप् प्रत्यय का निषेध कर दिया जाता है कुछ अन्य लोगों का कहना है कि 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य' यह परिभाषा अनित्य है। इसकी अनित्यता ही 'अनिनस्मन्' परिभाषा का मूल है। अर्थात् 'अनिनस्मन्' परिभाषा अर्थवद्ग्रहण परिभाषा की अनित्यता का ही फलितार्थ है। क्योंकि अर्थवद्ग्रहणपरिभाषा जब अनित्य हो गई तो अन् आदि स्थलों में अनर्थक का भी ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं रह जाती है। 'परिवेविषीध्वम्' इस प्रयोग में 'इणः षीध्वम्' सूत्र से ढत्व न होने लगे। इस उद्देश्य से वहाँ किया गया 'अङ्गग्रहण' अर्थवद्ग्रहण-परिभाषा की अनित्यता में प्रमाण है। यहाँ 'परिपूर्वक जौहोत्यादिक विष्लृ व्याप्तौ' धातु से विधिलिङ्, शप् और श्लु करके सीयुट् का आगम, सकार का लोप धातु को द्वित्व तथा 'निजां त्रयाणाम्' सूत्र से अभ्यास को गुण और यकार का लोप करके 'परिवेविषीध्वम्' यह प्रयोग बनता है। ढ़त्वविधायक सूत्र में अङ्ग ग्रहण करने से इणन्त अङ्ग से पर में रहने वाले 'षीध्वम्' के धकार को मूर्धन्य आदेश किया जाता है। यहाँ पर 'परिवेविष + ईध्वम्' इस स्थिति में इणन्त अंग से पर में षीध्वम् नहीं मिलता है। इसलिये यहाँ ढत्व नहीं होता। 'परिवेविष्' यह अंश यहाँ अंग है जो इणन्त नहीं है।

यदि अर्थवद्ग्रहणपरिभाषा नित्य होती तो धातु का षकार और प्रत्यय का ईकार मिलाकर बनाया हुआ 'षीध्व' यह अंश निरर्थक होने के कारण ढ़त्वविधायक सूत्र के षीध्व पद से गृहीत ही नहीं होता, तो फिर यहाँ अंग ग्रहण की क्या आवश्यकता रह जाती है। वही अङ्गग्रहण व्यर्थ होकर अर्थवद्ग्रहणपरिभाषा की अनित्यता ज्ञापित करता है। इसी अनित्यता का फलितार्थ है 'अनिनस्मन्' यह परिभाषा। ऐसा कुछ लोगों का मत है।

---

१. यहाँ सुपूर्वक पय् धातु से असुन् प्रत्यय किया गया है।

दूसरे कुछ व्यक्तियों का कहना है कि 'विभाषेटः' सूत्र से षीध्वम् के धकार को जो मूर्धन्य आदेश किया जाता है, वहाँ इण् से पर में इट् और उससे पर में 'षीध्वम्' का रहना वाञ्छित है। ऐसा 'षीध्वम्' अनर्थक ही मिलेगा, क्योंकि षीध्वम् को इट् का आगम होने कारण 'यदागम' परिभाषा से इट् सहित षीध्वम् में अर्थवत्ता आ जायेगी। इट् से पर में रहने वाला केवल षीध्वम् तो अनर्थक ही रहेगा। इस प्रकार 'विभाषेटः' सूत्र में षीध्वम् सर्वथा अनर्थक ही सम्भव है उसी प्रकार 'इणः षीध्वम्' सूत्र में भी अनर्थक षीध्वम् का ग्रहण होवे 'इस प्रकार के भ्रम का वारण करने के लिये यहाँ 'अङ्गात्' इस पद की आवश्यकता है। अङ्ग से पर में जो 'षीध्वम्' मिलेगा वह 'अयिषीढ्वम्' इत्यादि प्रयोगों में सार्थक भी मिल सकता है। क्योंकि अय यह इणन्त अंग है उससे पर में 'इषीध्वम्' इतना यदागम परिभाषा से सार्थक है। इस प्रकार 'विभाषेटः' सूत्र के उदाहरण में सार्थक 'षीध्वम्' न मिलने के कारण वहाँ भले ही अर्थवद्ग्रहणपरिभाषा का बाध करके निरर्थक षीध्वम् ले लिया जाय, किन्तु 'इणः षीध्वम्' के उदाहरण में जहाँ सार्थक 'षीध्वम्' मिल रहा है, परिभाषा का बाध नहीं किया जा सकता, इस बात को बताने के लिये अङ्ग ग्रहण सार्थक है, इसलिये उसके द्वारा अनित्यता का ज्ञापन करना सम्भव नहीं है। तस्मात् यह परिभाषा वाचनिक ही है ॥ १६ ॥

ननु 'उश्च' (१-२-१२) इत्यत्र 'लिङ्सिचौ' (१-२-११) इत्यत आत्मनेपदेष्वित्येव सम्बध्येतानन्तरत्वादत आह—

'उश्च' (१।२।१२) सूत्र में 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' (१।२।११) यह सम्पूर्ण सूत्र अनुवृत्त होता है। इसलिये इस सूत्र का ऐसा अर्थ किया जाता है कि ऋवर्ण से पर में रहने वाला झलादि लिङ् और तङ् परक सिच् ये दोनों कित् होते हैं। अब यहाँ शंका होती है कि उश्च के अनन्तर में 'लिङ्सिचौ' सूत्र का 'आत्मनेपदेषु' यही पद है। इसलिये अनन्तर (समीप) होने के कारण 'उश्च' सूत्र में केवल 'आत्मनेपदेषु' इतने ही अंश का सम्बन्ध होगा, न कि सम्पूर्ण सूत्र का। इस प्रकार की शंका को दृष्टिगत करके यह परिभाषा बनी—

एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः ॥१७॥

यहाँ एकस्मिन् योगः एकयोगः, तेन निर्दिष्टानाम् इति 'एकयोगनिर्दिष्टानाम्' ऐसा समास किया गया है। परिभाषा में वा शब्द का अर्थ एव है। इसलिये परिभाषा का अर्थ इस प्रकार होगा—एक पदार्थ में सम्बन्ध विशेष से अन्वित पदों की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति साथ ही होती है। जैसे—'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इस सूत्र में कित् पदार्थ में अन्वित 'लिङ्सिचौ' 'आत्मनेपदेषु' इन दोनों पदों की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति साथ ही होगी। इसी बात को ग्रन्थकार इस प्रकार कह रहे हैं—

वा-शब्द एवार्थे। परस्परान्वितार्थकपदानां सहैवानुवृत्तिनिवृत्ती इत्यर्थः। एककार्यनियुक्तानां बहूनां लोके तथैव दर्शनादिति भावः।

यत्त्वत्र ज्ञापकं 'नेड्वशि' (७-२-८) इत्यत इडित्यनुवर्त्तमाने 'आर्धधातुकस्येट्' (७-२-३५) इत्यत्र पुनरिड्ग्रहणं तद्धि नेत्यस्यासम्बन्धार्थमिति। तन्न। 'दीधीवेवीटाम्' (१-१-६) इति सूत्रे भाष्ये तत्रत्येड्ग्रहणप्रत्याख्यानायेड्ग्रहणेऽनुवर्त्तमाने पुनरिड्ग्रहणस्येटो गुणरूपविकाराभावार्थकत्वस्योक्तत्वेन तद्विरोधात्। नञो निवृत्तिस्तु 'क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्त्तत' इति न्यायेन सिद्धा।

यहाँ 'वा' शब्द का अर्थ 'एव' है। परस्पर अन्वित (सम्बद्ध) हैं अर्थ जिनके, ऐसे पदों की प्रवृत्ति और निवृत्ति साथ ही होती है। लोक में देखा जाता है कि एक कार्य के लिये जहाँ अनेक व्यक्तियों की नियुक्ति की गई होती है, उन सबों की प्रवृत्ति और निवृत्ति साथ ही होती है।

किसी का कहना है कि 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' सूत्र में किया गया इट् का ग्रहण इस परिभाषा में प्रमाण है। क्योंकि 'नेड्वशि कृति' सूत्र से इट् की अनुवृत्ति 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' सूत्र में करके सारा कार्य हो सकता था, ऐसी स्थिति में 'आर्धधातुकस्य' सूत्र का इट् ग्रहण व्यर्थ होकर प्रस्तुत परिभाषा का ज्ञापन करता है। परिभाषा का ज्ञापन करने पर नकार के सहित इट् की अनुवृत्ति न होने लगे, इसलिये 'आर्धधातुकस्य' सूत्र का इट् ग्रहण सार्थक होता है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'दीधीवेवीटाम्' सूत्र जो 'दीधीङ्' धातु 'वेवीङ्' धातु और इट् (आगमरूप) को गुण वृद्धि का निषेध करता है इस सूत्र में इट् ग्रहण का भाष्यकार ने प्रत्याख्यान किया है उनका तात्पर्य यह है कि 'भविता इत्यादि प्रयोगों में इट् को गुण न हो' इसलिये 'दीधीवेवीटाम्' सूत्र में इट् ग्रहण किया गया है। किन्तु यह इट् ग्रहण इसलिये अनावश्यक है कि 'आर्धधातुकस्य' सूत्र में नेड्वशिकृति' सूत्र से इट् की अनुवृत्ति से काम चल सकता था तो फिर इस सूत्र में इट् ग्रहण की क्या आवश्यकता है? वही आर्धधातुकस्य सूत्र का इट् पद यह ज्ञापन करेगा कि इट् के स्थान पर गुणरूपी विकार नहीं होता है। इस प्रकार जब इट् के स्थान पर गुण की प्राप्ति ही नहीं है तो उस गुण की निवृत्ति के लिये 'दीधीवेवीटाम्' सूत्र में इट् ग्रहण अनावश्यक है।

इस विवेचन से सिद्ध हुआ कि 'आर्धधातुकस्य' सूत्र का इट् पद जब इट् के स्थान पर गुणरूपी विकार के अभाव बोधन के लिये है तो उस इट् पद से प्रस्तुत परिभाषा का ज्ञापन करना संगत नहीं है। क्योंकि ऐसा करने से 'दीधीवेवीटाम्' सूत्र के भाष्य से विरोध स्पष्ट हो जाता है। यदि कहा जाय कि इट् ग्रहण से इस

परिभाषा का ज्ञापन न करने पर 'नेड्वशि कृति' सूत्र से नकार की भी अनुवृत्ति 'आर्धधातुकस्य' सूत्र में क्यों न हो जाय तो इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि 'कहीं पर एक देश का भी अनुवर्तन किया जाता है' इस अर्थवाली 'क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते' इस परिभाषा से नञ् की निवृत्ति हो जायेगी।

अब सिद्धान्तपक्ष को प्रस्तुत करते हुए लिख रहे हैं—

वस्तुतस्तु 'दीधीवेवीटाम्' (१-१-६) इति सूत्रस्थभाष्यमेकदेश्युक्तिः। 'आर्द्धधातुकस्य' (७-२-३५) इति सूत्रस्थेड्ग्रहणस्य 'नेड्वशि' (७-२-८) इति सूत्रे भाष्ये प्रत्याख्यानात् तत्करणेन गुरुतरयत्नमाश्रित्यैतत्प्रत्याख्यानस्यायुक्तत्वात् ॥ १७ ॥

वस्तुतस्तु 'दीधीवेवीटाम्' सूत्र का भाष्य, जिसमें 'आर्धधातुकस्य' सूत्र के इट्-ग्रहण से उसे गुणरूपी विकाराभाव का ज्ञापन कर 'दीधीवेवीटाम्' के इट् ग्रहण का प्रत्याख्यान किया है, वह भाष्य एकदेशी है क्योंकि 'दीधीवेवीटाम्' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने 'आर्धधातुकस्य' सूत्र के इट् ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया है। इसलिये प्रत्याख्येय (खण्डनीय) इट् ग्रहण को रखकर 'दीधीवेवीटाम्' के इट्-ग्रहण का प्रत्याख्यान करना उचित नहीं है। आर्धधातुकस्य सूत्र के इट् ग्रहण से उसे गुणरूपी विकार नहीं होता, ऐसा ज्ञापन करके 'दीधीवेवीटाम्' के इट् का प्रत्याख्यान करना गुरुतर यत्न है। इसकी अपेक्षा लाघव इसी में है कि 'क्वचिदेकोऽप्यनुवर्तते' इस परिभाषा के आधार पर 'नेड्वशि कृति' सूत्र से केवल इट् की अनुवृत्ति 'आर्धधातुकस्य' सूत्र में हो सकती है, इसलिये यहीं के इट् ग्रहण का प्रत्याख्यान करना चाहिये। और इस परिभाषा को लोकसिद्ध मानना चाहिये। शास्त्रीय प्रमाण के रूप में इस परिभाषा में 'अदसो मात्' सूत्र का 'मात्' ग्रहण प्रमाण हो सकता है। क्योंकि यदि यह परिभाषा नहीं होती तो 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' सूत्र से 'ईदूत्' मात्र की अनुवृत्ति 'अदसो मात्' सूत्र में सम्भव थी, ऐसी स्थिति में 'अदसो मात्' के मात् ग्रहण की क्या आवश्यकता है ? वही मात् ग्रहण व्यर्थ होकर प्रस्तुत परिभाषा का ज्ञापन करता है। परिभाषा का ज्ञापन करने पर इदूत् के साथ निर्दिष्ट 'एत्' की भी अनुवृत्ति न होने लगे इसलिये मात् ग्रहण की सार्थकता होती है। मात् ग्रहण करने पर 'अदस्' शब्द के मकार के आगे एकार न मिलने के कारण असम्भवात् 'एत्' पद की अनुवृत्ति 'अदसो मात्' में नहीं होती है ॥ १७ ॥

नन्वलुगधिकारः प्रागनङः, उत्तरपदाधिकारः प्राग्ङ्ङाधिकारादित्यनुपपन्नमेकयोगनिर्दिष्टत्वात्। तथा 'दामहायनान्ताच्च' (४-१-२७) इत्यादौ 'संख्याव्ययादेः' (४-१-२६) इत्यतः सङ्ख्यादेरित्यनुवर्त्ततेऽव्ययादेरिति निवृत्तमिति चानुपपन्नमत आह—

'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' इस परिभाषा को मानने पर कुछ दोष उपस्थित होते हैं। पहला दोष तो यह है कि 'अलुगुत्तरपदे' सूत्र में अलुक् और 'उत्तरपदे' ये दो पद हैं। इनमें 'अलुक्' का अधिकार 'आनङृतो द्वन्द्वे' इस सूत्र से पहले होता है। पहले से तात्पर्य यह है कि उक्त आनङ् विधायक सूत्र में अलुक् का अधिकार अङ्गाधिकार के पहले नहीं आता। और 'उत्तरपदे' का अधिकार अङ्गाधिकार के पहले तक जाता है। यह बात अब असंगत हो रही है क्योंकि 'अलुक्' और 'उत्तरपदे' ये दोनों एक योग निर्दिष्ट हैं। इसलिए इनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति साथ ही होगी। अतः दोनों का पृथक् पृथक् अधिकार जाना असंगत हो रहा है।

दूसरा दोष यह है कि 'दामहायनान्ताच्च' सूत्र में 'संख्याव्ययादेर्ङीप्' सूत्र से केवल संख्यादि की अनुवृत्ति होती है और अव्ययादि की निवृत्ति होती है। यह बात भी अनुपपन्न हो रही है क्योंकि जब 'संख्याव्ययादेः' दोनों साथ पढ़े गये हैं तो दोनों साथ ही आयेंगे। ऐसा नहीं हो सकता कि उनमें से एक तो आवे और दूसरा न आवे। ऐसी आशंका होने पर यह परिभाषा बनी—

क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्त्तते ॥ १८ ॥

एकयोगनिर्दिष्टों में से कहीं एकदेश (एक अवयव) की भी अनुवृति होती है।

इस परिभाषा को मानने से उपर्युक्त दोनों दोष हट जाते हैं। क्योंकि 'अलुगुत्तरपदे' यह एक योग निर्दिष्ट होने पर भी कहीं अलुक् का अधिकार गया और कहीं उत्तरपदे का अधिकार गया। इसी प्रकार 'दामहायनान्ताच्च' सूत्र में उसके पूर्व सूत्र से केवल 'संख्यादेः' इतने अंश की अनुवृत्ति संभव हो गयी।

एकत्रार्थे योगः=सम्बन्धस्तेन निर्दिष्टयोः समुदायाभिधायिद्वन्द्वनिर्दिष्टयोरित्यर्थ इति 'पक्षात्तिः' (४–२–२५) इति सूत्रे कैयटः।

तावन्मात्रांशे स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलाल्लभ्यमिदम्। स्पष्टा चेयं 'दामहायनान्ताच्च' (४–१–२७) इति सूत्रे 'औतोऽम्शसोः' (६–१–९३) इति सूत्रे च भाष्ये पूर्वा च ॥ १८ ॥

पूर्व परिभाषा से इस परिभाषा में 'एकयोगनिर्दिष्टानाम्' इस पद की अनुवृत्ति होती है। उसमें 'निर्दिष्टानाम्' पद के वचन का विपरिणाम करके 'पक्षात्तिः' सूत्र के कैयट में इस परिभाषा का व्याख्यान इस प्रकार किया गया है—एकत्रार्थे अर्थात् एक पदार्थ में जो योग=सम्बन्ध, उस सम्बन्ध से सम्बद्ध दो पदों में से कहीं एकदेश की भी अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार के दो पद द्वन्द्वसमास द्वारा निर्दिष्ट रहते हैं। द्वन्द्वसमास समुदाय (समाहार) का अभिधायक होता है। इसलिये मूल में लिखा गया है कि 'समुदायाभिधायिद्वन्द्वनिर्दिष्टयोः'। अर्थात् समुदाय का अभिधायक द्वन्द्वसमास में निर्दिष्ट दो पदों में से एक की अनुवृत्ति की जाती है। उदाहरण के

लिये 'संख्याव्ययादेर्ङीप्' सूत्र को लिया जा सकता है। यहाँ 'संख्या च अव्ययञ्चेत्यनयोः समाहारः—संख्याव्ययम्' यह समाहारद्वन्द्व किया गया है। इस द्वन्द्वसमास में निर्दिष्ट दो शब्दों 'संख्या' और 'अव्यय' इन दोनों में से 'दामहायनान्ताच्च' सूत्र में केवल 'संख्यादेः' की अनुवृत्ति होती है किन्तु कैयट के इस कथन का औचित्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि 'अलुगुत्तरपदे' सूत्र में जहाँ दोनों पद पृथक् पृथक् अनुवृत्त हुए हैं, वहाँ द्वन्द्वसमास द्वारा निर्देश नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त 'औतोऽम्शसोः' सूत्र में 'वा सुप्यापिशलेः' सूत्र से केवल सुप् की अनुवृत्ति होती है और 'वा' की निवृत्ति। यहाँ पर भी वा और सुपि ये दोनों पद द्वन्द्वसमास द्वारा निर्दिष्ट नहीं हैं। ऐसी स्थिति में द्वन्द्वसमास में निर्दिष्ट दो पदों में से एक की भी अनुवृत्ति होती है, यह कैयट का व्याख्यान उचित नहीं है।

एकदेशमात्र की अनुवृत्ति स्वरितत्व की प्रतिज्ञा से लभ्य है। तात्पर्य यह है कि 'स्वरितेनाधिकारः' सूत्र के आधार पर उसी की अनुवृत्ति होती है, जितने अंश में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा की गई होती है। इसलिये यदि एक देश की अनुवृत्ति वाञ्छित होती है तो उतने ही अंश में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा मानी जायेगी, जिससे उतने अंशमात्र की अनुवृत्ति हो।

यह परिभाषा 'दामहायनान्ताच्च' सूत्र और 'औतोऽम्शसोः' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। 'एकयोगनिर्दिष्टानाम्' यह पूर्व परिभाषा भी उक्त दोनों सूत्रों के भाष्य में स्पष्ट है॥ १८॥

ननु 'त्यदादीनामः' (७–२–१०२) इत्यादिना 'इमम्' इत्यादावनुनासिकः स्यादत आह—

इदम् शब्द से अम् विभक्ति लाने पर मकार के स्थान पर 'त्यदादीनामः' सूत्र से अकार होता है। इसके बाद पूर्वरूप आदि प्रक्रिया करके 'इमम्' यह प्रयोग बनाया जाता है। यहाँ यह शंका उपस्थित होती है कि 'त्यादादीनामः' सूत्र से इदम् के मकार के स्थान पर जो अकार आदेश होता है, वह अनुनासिक होना चाहिये। क्योंकि उसका स्थानी मकार अनुनासिक है। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न॥ १९॥

भाव्यमान से सवर्ण का ग्रहण नहीं होता है। भाव्यमान का अर्थ विधीयमान है। जो किसी के स्थान पर किया जाय, वह विधेय या विधीयमान कहा जाता है। ऐसा विधीयमान अपने सवर्णी का ग्राहक (बोधक) नहीं होता है। 'इमम्' प्रयोग में मकार के स्थान पर अकार किया जाता है। इसलिये यह विधीयमान अकार अपने सवर्णी अनुनासिक अकार का बोधक नहीं हुआ। तस्मात् मकाररूपी

स्थानी के अनुनासिक होने पर भी उसके स्थान पर अनुनासिक अकार नहीं होता है, किन्तु वहाँ शुद्ध निरनुनासिक अकार होता है।

वस्तुतस्तु भाव्यमान शब्द का अर्थ विधेयता का प्रयोजक करना उचित है। क्योंकि भाव्यमानता तो लक्ष्यस्थ में होती है, किन्तु वहाँ अणुदित् सूत्र से सवर्ण ग्रहण प्राप्त ही नहीं रहता है क्योंकि अणुदित् सूत्र की प्रवृत्ति सूत्रों में ही होती है। इस प्रकार जहाँ अणुदित् सूत्र की प्राप्ति होती है वहाँ भाव्यमानता नहीं है और जहाँ लक्ष्यस्थ में भाव्यमानता है वहाँ अणुदित् सूत्र की प्राप्ति नहीं है। इस प्रकार की विसंगति को दूर करने के लिये भाव्यमान का अर्थ विधेयता का प्रयोजक करना चाहिये। 'इमम्' इस प्रयोग में जो अकार किया जाता है वह विधेय है। इसलिये उसमें विधेयता है। उस विधेयता का प्रयोजक 'त्यदादीनामः' सूत्र का अकार है। यह अकार अपने सवर्णी का ग्राहक नहीं होता, यही परिभाषा का अर्थ है।

यह परिभाषा कोई अपूर्व वस्तु नहीं है, किन्तु अणुदित् सूत्र के अर्थ से ही इसकी सिद्धि होती है, इसी बात को अब ग्रन्थकार कह रहे हैं—

अणुदित्' (१–१–६९) सूत्रेऽप्रत्ययः इत्यनेन सामर्थ्यात्सूत्रप्राप्तं, जातिपक्षेण प्राप्तं, गुणाभेदकत्वेन च प्राप्तं नेत्यर्थः। अत एवाणुदित्सूत्रे प्रत्ययादेशाऽऽगमेषु सवर्णग्रहणाभावं प्रकारान्तरेणोक्त्वैवं तर्हि सिद्धे यदप्रत्यय इति प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयति भवत्येषा परिभाषा 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं ने'ति।

किञ्च 'ज्याद ईयस' इत्येवान्तर्यतो दीर्घे सिद्धे 'ज्यादादीयसः' (६–४–१६०) इति दीर्घोच्चारणमस्या ज्ञापकम्। 'अणुदित्, सूत्रे' 'ज्यादात्' इति सूत्रे च भाष्ये स्पष्टैषा ;

'चोः कुः' (८–२–३०) इत्यादौ भाव्यमानेनापि सवर्णग्रहणम्, विधेये उदिदुच्चारणसामर्थ्यात्। एतदेवाभिप्रेत्य 'भाव्यमानोऽण्सवर्णान्न गृह्णाति' इति नव्याः पठन्ति ॥ १९ ॥

पाणिनि व्याकरण परम्परा में सवर्ण का ग्रहण तीन प्रकार से प्राप्त होता है। पहला—अणुदित् सूत्र से, दूसरा—जातिपक्ष से और तीसरा—'गुणा अभेदकाः' इस नियम से। विधीयमान स्थल में इन तीनों प्रकारों से प्राप्त सवर्ण ग्रहण का निषेध करना इष्ट है। प्राचीन वैयाकरण दीक्षित आदि ने अणुदित् सूत्र के अप्रत्यय घटक प्रत्यय शब्द को योगार्थ माना और 'प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः' इस व्युत्पत्ति से उसका अर्थ विधीयमान किया। इस प्रकार अविधीयमान अण् ही सवर्ण का ग्राहक होगा। इस प्रकार भाव्यमानस्थल में सर्वविध सवर्णग्राहकता का निषेध जब संभव ही है तब आगम-आदेशादि जो विधीयमान होते हैं वहाँ सवर्णग्रहण-निषेध के

लिये 'टित्कित्मित्सूपसंख्यानं कर्त्तव्यम्' यह वार्तिककार का कथन व्यर्थ हो जायेगा। इसलिये 'अणुदित्' सूत्र का अप्रत्यय घटक प्रत्यय शब्द को यौगिक नहीं मानना चाहिये, किन्तु वह प्रत्यय अर्थ में रूढ है ऐसा स्वीकार करना चाहिये। इस बात को ध्यानस्थ कर उपर्युक्त मूलग्रन्थ की व्याख्या इस प्रकार होगी--अणुदित् सूत्र में 'अप्रत्ययः' यह पृथक् योग किया जायेगा। इसमें प्रत्यय पद यहाँ प्रत्यय का ही बोधक है, इसलिये प्रत्यय सवर्ण का ग्राहक नहीं होता, यह इस योग का अर्थ होगा। किन्तु यदि इस योग से केवल सूत्र से प्राप्त सवर्णग्रहण का निषेध किया जाय तो पृथक् योग विभाग करना व्यर्थ हो जायेगा। इसलिये योगविभागसामर्थ्यात् उपर्युक्त तीनों प्रकार से प्राप्त सवर्णग्रहण का निषेध अप्रत्यय ग्रहण करेगा। किन्तु ऐसा करने पर भी अप्रत्यय ग्रहण व्यर्थ ही है क्योंकि—प्रत्यय अंश में सवर्णग्राहकता का अनभिधान कर दिया गया है इसलिये वहाँ सवर्णग्रहण प्राप्त ही नहीं है। आदेश स्थल में भी सवर्ण का ग्रहण नहीं होता है क्योंकि यदि आदेश स्थल में सवर्णग्रहण होता तो माङ् धातु से त प्रत्यय करने पर 'मा–ते' इस स्थिति में 'ई हल्यघोः' सूत्र से आकार के स्थान पर दीर्घ ईकार का विधान नहीं किया जाता, किन्तु वहाँ ह्रस्व इकार का विधान करके सवर्णग्रहण के द्वारा दीर्घ ईकार को लक्ष्य में कर दिया जाता। इससे सिद्ध है कि आदेश में सवर्णग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार 'वृतो वा' सूत्र से इट् को वैकल्पिक दीर्घ विधान करना इस बात को सूचित करता है कि आगमस्थल में भी सवर्णग्रहण नहीं होता है। इस प्रकार सभी जगह सवर्णग्रहण का निषेध जब उपर्युक्त विधि से सिद्ध ही है तब प्रत्यय की सवर्णग्राहकता निषेध करने के लिये किया गया अप्रत्यय ग्रहण व्यर्थ ही है। इसलिये तत्सामर्थ्यात् यह परिभाषा ज्ञापित की गई कि 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' इस परिभाषा में यह 'अप्रत्यय ग्रहण' 'एकदेशानुमित्या' प्रमाण होता है। अर्थात् प्रत्यय, आगम और आदेश, ये तीनों भाव्यमान हैं। इन तीनों में सवर्णग्राहकता नेष्ट है। इनमें प्रत्ययांश में सूत्रकार का अप्रत्यय शब्द ही प्रमाण है तो स्थालीपुलाक न्याय से पूरी परिभाषा प्रमाण सिद्ध हो गयी।

यदि कहा जाय कि अप्रत्यय शब्द का इतना ही अर्थ होगा कि प्रत्यय सवर्ण का ग्राहक नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह एकदेशानुमित्या परिभाषा का ज्ञापक होता है, इसमें क्या प्रमाण है? इस आशंका के उत्तर में लिखा गया है कि इसीलिये अणुदित् सूत्र के भाष्य में प्रत्यय आदेश और आगम स्थल में प्रकारान्तर से (उपर्युक्त प्रकार से) सवर्णग्रहण के अभाव को कहकर भाष्यकार ने कहा कि जब इसी प्रकार सवर्णग्रहणाभाव सिद्ध है तो फिर अप्रत्यय इस निषेध की क्या आवश्यकता है? यही निषेध व्यर्थ होकर भाव्यमान परिभाषा का ज्ञापक होता है।

इस प्रकार भाष्यकार का यह कथन तभी संगत होता है जब अप्रत्यय घटक प्रत्यय शब्द प्रत्यय परक हो और वह व्यर्थ होकर उपर्युक्त परिभाषा का ज्ञापन करे।

इस परिभाषा में दूसरा ज्ञापक देते हुए लिख रहे हैं—किञ्च—'ज्यादादीयसः' यह सूत्र ज्य शब्द से पर में रहने वाले ईयसुन् के ईकार को आकार करता है। यहाँ 'ज्यात्-आत्-ईयसः' ऐसा पदच्छेद होता है। अब यहाँ ऐसा प्रश्न होता है कि 'ईयसुन्' के ईकार को आकार विधान करना व्यर्थ है। क्योंकि यदि 'ज्याद ईयसः' ऐसा सूत्र स्वीकृत किया जाय और 'ज्यात् अः ईयसः' ऐसा पदच्छेद करके ईयस् के इकार को ह्रस्व अकार विधान किया जाय तो भी दीर्घ स्थानी ईकार के स्थान पर आन्तरतम्य-वशात् दीर्घ आकार स्वयमेव आदेश हो जायेगा। इसलिये 'ज्यादादीयसः' सूत्र में दीर्घोच्चारण (आत्) यह व्यर्थ है। यही दीर्घोच्चारण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'भाव्यामानेन सवर्णानां ग्रहणं न' यह परिभाषा मान लेने पर प्रस्तुत स्थल में यदि अकार विधान किया जायेगा तो भाव्यमान होने के कारण उससे दीर्घ का ग्रहण नहीं होगा। इसलिये 'आत्' यह दीर्घोच्चारण सार्थक होता है।

'अणुदित्' सूत्र तथा 'ज्यादादीयसः' सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है।

यहाँ एक शंका यह उपस्थित होती है कि 'चोः कुः' सूत्र से जहाँ चवर्ग के स्थान पर कवर्ग का विधान किया जाता है वहाँ क के सवर्णी का ग्रहण नहीं होना चाहिये, क्योंकि इस परिभाषा में वहाँ सवर्ण ग्रहण का निषेध हो जायेगा। इस प्रकार की शंका के उत्तर में ग्रन्थकार ने लिखा है कि 'चोः कुः' में ककार के विधेय होने पर भी वहाँ सवर्ण का ग्रहण होता है, क्योंकि वहाँ विधेय को उदित् करके (कु इस रूप में) पढ़ा गया है। इसलिये उदितउच्चारण-सामर्थ्यात् वहाँ भाव्यमान होने पर भी सवर्ण का ग्रहण होता है। तात्पर्य यह है कि अणुदित् सूत्र में अण् अंश में ही यह परिभाषा प्रभावी होती है। उदित अंश में इसका प्रभाव नहीं है।

इसी तात्पर्य से नवीनों का कहना है भाव्यमान् अण् सवर्ण का ग्राहक नहीं होता॥ १९॥

नन्वेवं 'अदसोऽसेः' (८–२–८०) इत्यादिना अमू इत्यादौ दीर्घविधानं न स्यादत आह—

इस प्रकार 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' यह परिभाषा मानने पर यह दोष उपस्थित होता है कि 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' सूत्र में जहाँ ह्रस्व उकार का उच्चारण करने पर भी आन्तरतम्यात् दीर्घ के स्थान पर दीर्घ ऊकार का विधान किया जाता है वह अब नहीं होगा, क्योंकि भाव्यमान परिभाषा से विधेय उकार से सवर्णग्रहण का निषेध हो जायेगा। फल यह होगा कि अदस् शब्द से औ विभक्ति लाकर अत्व, पररूप और वृद्धि के द्वारा 'अदौ' बनने पर उपर्युक्त सूत्र से औ के स्थान पर दीर्घ ऊकार नहीं होगा। इसलिये यह परिभाषा आवश्यक हुई—

भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति ॥ २० ॥

उकार यदि भाव्यमान् भी हो तो वह अपने सवर्णी का ग्राहक होता है।

इस परिभाषा को मान लेने से यह हुआ कि 'अदसोऽसेः' सूत्र से विधीयमान उकार अपने सवर्णी का ग्राहक हो सका, जिससे 'अमू' प्रयोग में दीर्घ ऊकार की सिद्धि हुई।

इस परिभाषा में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए लिख रहे हैं—

'दिव उत्' (६–१–१३१) 'ऋत उत्' (६–१–१११) इति तपरकरणमस्या ज्ञापकम्। 'तित्स्वरितम्' (६–१–१८५) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टैषा।

'दिव उत्' सूत्र जो 'सुद्युभ्याम्' प्रयोग में वकार के स्थान पर उकार करता है तथा 'ऋत् उत्' सूत्र जो 'क्रोष्टुः' इत्यादि प्रयोगों में उकार एकादेश करता है, इन दोनों सूत्रों से विधेय उकार में जो तपरकरण किया गया है, वही इस परिभाषा का ज्ञापक है। उक्त दोनों जगहों पर तपरकरण इसलिये किया गया है कि वहाँ समकाल का बोध हो, जिससे दीर्घ की निवृत्ति हो जाय। किन्तु 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' इस परिभाषा से ही जब उक्त दोनों जगहों पर उकार विधेय होने के कारण सवर्णी का ग्राहक नहीं होगा तो दीर्घ की निवृत्ति के लिये तपरकरण की क्या आवश्यकता रह जाती है? वही तपरकरण व्यर्थ होकर प्रस्तुत परिभाषा का ज्ञापक होता है। इसलिये उक्त दोनों स्थलों में दीर्घादि न होने लग जाँय, इसलिये तपरकरण सार्थक होता है। 'तित्स्वरितम्' सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है। वहाँ भाष्यकार ने कहा कि 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' इस परिभाषा को स्वीकार करने पर 'अमूभ्याम्' प्रयोग में दीर्घ ऊकार किस प्रकार होगा? ऐसी आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि 'दिव उत्' सूत्र में जो तपरकरण किया गया है वही प्रस्तुत परिभाषा का ज्ञापन करता है जिससे भाव्यमान उकार सवर्ण का ग्राहक होता है। इस प्रकार 'अमूभ्याम्' इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं ॥ २० ॥

ननु गवे हितं गोहितमित्यादौ प्रत्ययलक्षणेनावाद्यादेशापत्तिरत आह—

'गवे हितं' इस विग्रह में चतुर्थी समास कर विभक्ति का लोप करके 'गोहितम्' यह प्रयोग बनता है। यहाँ शंका होती है कि 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सूत्र से प्रत्ययलक्षण द्वारा लुप्त ङे (ए) प्रत्यय को पर में मानकर 'एचोऽयवायावः' सूत्र से गो शब्द के एकार को 'अव्' आदेश होना चाहिये। यदि कहा जाय कि 'न लुमताङ्गस्य' सूत्र से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायेगा, इसलिये उक्तदोष नहीं है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'न लुमताङ्गस्य' का निषेध अङ्गोद्देश्यक कार्य में लगता है। यहाँ जो अवादेश होने वाला है वह एच् उद्देश्यक है न कि अंगोद्देश्यक। इसलिये 'न लुमताङ्गस्य' निषेध यहाँ नहीं लगेगा। तस्मात् प्रत्यय-

लक्षण से अव् आदेश की आपत्ति यहाँ यथापूर्व है। इस शंका को दृष्टिगत कर यह परिभाषा बनायी गयी—

वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम् ॥ २१ ॥

वर्णः आश्रयो निमित्तं यस्यासौ 'वर्णाश्रयः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार परिभाषा का अर्थ इस प्रकार होता है कि वर्ण को निमित्त मानकर जो कार्य कर्त्तव्य हो उस कार्य को करने में प्रत्ययलक्षण नहीं होता है। 'गोहितम्' इस प्रयोग में प्राप्त अव् आदेश अच् पर में रहने पर होता है। इसलिये यह वर्णाश्रय कार्य है। इस कार्य में प्रत्ययलक्षण नहीं हुआ, इसलिये एकार के न आने के कारण अवादेश नहीं हुआ।

अच् पर में रहने पर अवादि आदेश होते हैं ऐसा 'एचोऽयवायावः' का अर्थ होने से यह बात स्पष्ट है कि यहाँ वर्ण की प्रधानता है। यदि यहीं पर ऐसा कहा गया होता कि 'अजादि प्रत्यय पर में रहने पर अवादि आदेश होते हैं' तो यहाँ अजादि प्रत्यय में प्रधानता रहती और अच्वर्ण में अप्रधानता। यहाँ वर्णाश्रय कार्य जिसमें प्रत्ययलक्षण का निषेध किया गया है यहाँ वर्ण की प्रधानता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह परिभाषा वर्णप्राधान्य में प्रत्ययलक्षण का निषेध करती है। जहाँ वर्ण की अप्रधानता रहती है वहाँ तो प्रत्ययलक्षण होता ही है। इसी बात को अब लिख रहे हैं—

वर्णप्राधान्यविषयमेतत्। तत्त्वञ्च 'प्रत्ययलोपे' (१–१–६२) इति सूत्रे 'स्थानिवत्' (१–१–५६) इत्यनुवृत्त्यैव सिद्धे प्रत्ययलक्षणग्रहणं प्रत्ययस्येतराविशेषणत्वरूपं यत्र प्राधान्यं तत्रैव प्रवृत्त्यर्थमित्येतत्सिद्धम्। वर्णप्राधान्यं च वर्णस्येतराविशेषणत्वरूपं प्रत्ययनिरूपितविशेष्यतारूपं च। तेन गोहितमित्यादावव्यादि न 'चित्रायां जाता चित्रा' इत्यादावण्योऽकारस्तदन्तान् ङीबिति ङीप् च न।

इयमल्विधौ स्थानिवत्त्वाप्राप्तावपि प्राप्तप्रत्ययलक्षणविधेर्निषेधिकेति स्पष्टं भाष्ये ॥ २१ ॥

यह परिभाषा वर्णप्राधान्यविषयक है। अर्थात् जिस कार्य में वर्ण की प्रधानता रहती है उस वर्णनिमित्तककार्य में प्रत्ययलक्षण नहीं होता है। वर्णप्राधान्य में इस परिभाषा का लगना इस प्रकार सिद्ध होता है कि 'प्रत्ययलोपे' सूत्र में स्थानिवत् इस अंश की अनुवृत्ति करके 'प्रत्यय का लोप होने पर स्थानिवद्भाव होता है' ऐसा अर्थ किया जायेगा। लोप भी एक प्रकार का आदेश ही है, इसलिये प्रत्यय के लोपस्थल में उपर्युक्त प्रकार से स्थानिवद्भाव द्वारा कार्य चल सकता था। ऐसी स्थिति में प्रत्ययलोपे सूत्र में प्रत्ययलक्षणग्रहण करने की क्या आवश्यकता है? यही प्रत्ययलक्षणग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि जहाँ प्रत्यय की प्रधानता रहती है, वहीं प्रत्यय-

लक्षण होता है। प्रत्यय की प्रधानता का तात्पर्य यह है कि प्रत्यय जहाँ इतरनिष्ठ विशेष्यतानिरूपित प्रकारताश्रय न हो अर्थात् किसी अन्य के प्रति विशेषण न हो वहीं प्रत्यय की प्रधानता होती है और ऐसे ही प्रत्ययप्राधान्य में प्रत्ययलक्षण होता है। इस प्रकार प्रत्यय की प्रधानता में प्रत्ययलक्षण करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जहाँ प्रत्यय की प्रधानता रहेगी, वहाँ वर्ण की अप्रधानता रहेगी। इस प्रकार वर्ण की अप्रधानता अर्थात् प्रत्यय की प्रधानता में प्रत्ययलक्षण करने से यह फलितार्थ निकला कि जहाँ वर्ण की प्रधानता रहती है वहाँ प्रत्ययलक्षण नहीं होता है। इस प्रकार 'वर्णाश्रये' यह परिभाषा वर्णप्राधान्यविषयक है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

यहाँ वर्ण की प्रधानता दो प्रकार की वाञ्छित है। पहला प्रकार तो यह है कि वर्ण जहाँ किसी अन्य के प्रति विशेषण न हो वहाँ वर्ण की प्रधानता मानी जायेगी। दूसरा प्रकार यह है कि—वर्ण यद्यपि किसी के प्रति विशेषण बन गया है, किन्तु वहीं पर यदि वह प्रत्यय के प्रति विशेष्य हो रहा है तो भी वहाँ वर्ण की प्रधानता ही मानी जायेगी। क्योंकि वह वर्ण प्रत्ययनिष्ठ प्रकारतानिरूपित विशेष्यता का आश्रय हो रहा है। इसलिये वहाँ वर्ण का ही प्राधान्य रहेगा।

इसका फल यह हुआ कि गोहितम् प्रयोग में प्रत्ययलक्षण न होने के कारण ओ को अव् आदेश नहीं हुआ। अच् पर में रहने पर अवादेश होता है। इसलिये अवादेश रूपी कार्य वर्णप्राधान्य-विषयक कार्य है। यहाँ अच् रूपी वर्ण किसी के प्रति विशेषण नहीं है।

वर्ण प्राधान्य के दूसरे प्रकार का फल यह है कि 'टिड्ढाणञ्' सूत्र का 'अण् योऽकारस्तदन्त प्रातिपदिकात् ङीप्' ऐसा अर्थ करने पर अकार वर्ण यद्यपि प्रातिपदिक का विशेषण है किन्तु अण् प्रत्यय के प्रति वह विशेष्य है, इसलिये प्रत्यय निरूपित विशेष्यताश्रय होने के कारण वर्ण यहाँ प्रधान ही माना गया। इसलिये 'चित्रायां जाता' इस विग्रह में चित्रा शब्द से जातार्थक अण् प्रत्यय करने पर 'चित्रा-रेवती रोहिणीभ्यः स्त्रियामुपसंख्यानम्' इस वार्तिक से जात अर्थवाले अण् प्रत्यय का लुक् तथा 'लुक्तद्धितलुकि' से स्त्री प्रत्यय का लुक् करने पर प्रत्यय लक्षण से लुप्त अकार (अण्) का आनयन नहीं हो सका, क्योंकि वर्णप्राधान्य होने के कारण यहाँ प्रत्यय लक्षण नहीं हुआ। इसलिये अणन्त मान कर यहाँ ङीप् नहीं हुआ किन्तु अदन्त प्रातिपदिक से टाप् करके 'चित्रा' यही प्रयोग बना।

यद्यपि लोप भी एक प्रकार का आदेश ही है। इसलिये लोपस्थल में भी स्थानिवत् सूत्र से स्थानिवद्भाव करके ही कार्य चलाया जा सकता था, किन्तु स्थानिवत् सूत्र की प्रवृत्ति अल् विधि में नहीं होती है, इसलिये अल् विधि में प्रत्यय

लक्षण करने के लिये यह सूत्र (प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्) आवश्यक एवं विध्यर्थक है। इस सूत्र में 'अनल्विधौ' का सम्बन्ध नहीं होता है।

इसलिये यह सूत्र अल्विधि में भी प्रत्ययलक्षण करता है। यह अल्विधि दो प्रकार की होती है। एक जगह तो वर्ण की प्रधानता रहती है और दूसरी जगह वर्ण की अप्रधानता। इन दोनों जगहों में जहाँ वर्ण की प्रधानता रहती है वहाँ इस परिभाषा से प्रत्ययलक्षण का निषेध कर दिया जाता है। जैसे 'गोहितम्' 'चित्रा' आदि उदाहरणों में निषेध हुआ है। जहाँ वर्ण की अप्रधानता होती है, वहाँ प्रत्ययलक्षण हो जाता है। इसलिये 'अतृणेट्' 'मित्रशीः' इत्यादि प्रयोगों में हलादि पित् सार्वधातुकत्व लाकर इम् का आगम तथा हलादि कित्व धर्म लाकर शास की उपधा को इकार होता है।

यदि यह परिभाषा अविशेषेण 'वर्णप्राधान्य तथा वर्णाप्राधान्य' दोनों जगह प्रत्ययलक्षण का निषेध कर दे तो प्रत्ययलक्षण सूत्र व्यर्थ ही हो जायेगा। क्योंकि सब जगह स्थानिवत् सूत्र से ही कार्य चल सकता था। इसलिये अल् विधि के लिये प्रत्ययलक्षण सूत्र की आवश्यकता थी। यहाँ पर भी अविशेषेण निषेध करने पर प्रत्ययलक्षण सूत्र की व्यर्थता स्पष्ट है। यह बात वार्तिककार के मतानुसार है। वार्तिककार ही अल्विधि में प्रत्ययलक्षण सूत्र को विध्यर्थक मानते हैं। उस अल्विधि में वर्णप्राधान्यस्थल में प्रत्ययलक्षणनिषेध के लिये यह परिभाषा भी वार्तिककार के मतानुसार ही है।

भाष्यकार तो अल्विधि में प्रत्ययलक्षण सूत्र की प्रवृत्ति नहीं मानते हैं। इसलिये इनके मतानुसार वर्णाश्रय में प्रत्यय लक्षण की जब प्राप्ति ही नहीं है तो उसके निषेध के लिये प्रस्तुत परिभाषा की आवश्यकता भी नहीं है। इसलिये भाष्यकार के मतानुसार यह परिभाषा नहीं है, ऐसा समझना चाहिये ॥ २१ ॥

ननु 'अतः कृकमि' (८-३-४६) इत्यत्र कमिग्रहणेन सिद्धे कंसग्रहणं व्यर्थमत आह—

'विष्वग्देवयोश्च' सूत्र के अप्रत्यय ग्रहण से यह बात ज्ञापित की गई है कि 'धातुग्रहणेऽपि तदादिविधिर्भवति' अर्थात् धातुबोधक शब्द में भी तदादिविधि होती है। वह विधि यहाँ न होने लगे इसलिये 'अप्रत्यये' ग्रहण की सार्थकता होती है।

इस सिद्धान्त के आधार पर 'अतः कृकमि' सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा कि कमादि उत्तरपद पर में रहने पर अकार के आगे रहने वाले विसर्ग को सकार हो। ऐसी स्थिति में—'अयस्कंसः' इस प्रयोग में भी 'कमि' ग्रहण से ही कार्य चल सकता है तो वहाँ कंस ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है। यदि कहा जाय कि यह कंस शब्द कम् धातु से नहीं बना है किन्तु कसि (कंस्) धातु से बना है, इसलिये इसका

पृथक् ग्रहण आवश्यक है, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि भाष्यकार ने 'कमेः सः कंसः' कह कर 'अतः कृकमि' के कंस शब्द को कम् धातु से बनाया है। इसलिये 'सत्वविधायक उक्त सूत्र का कंस ग्रहण व्यर्थ है' ऐसी आशंका में यह परिभाषा बनी–

उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि ॥ २२ ॥

उणाद्यन्ततदादि जो शब्द हैं वे अव्युत्पन्न अर्थात् प्रकृतिप्रत्ययविभाग-शून्य हैं।

उणादि शब्दों के प्रकृतिप्रत्ययविभाग-शून्य होने के कारण 'कंस' शब्द में कम् धातु मान कर 'अतः कृकमि' सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता, इसलिये पृथक् कंस ग्रहण की सार्थकता होती है।

इदमेवास्या ज्ञापकमिति कैयटादयः। कंसेस्तु न कंसोऽनभिधानात्। 'प्रत्ययस्य लुक्' (१-१-६१) इत्यादौ भाष्ये स्पष्टा। 'ण्वुल्तृचौ' (३–१–१३३) इत्यादौ भाष्ये व्युत्पन्नानीत्यपि। इदं शाकटायनरीत्या। पाणिनेस्त्वव्युत्पत्तिपक्षे एवेति शब्देन्दुशेखरे निरूपितम्। 'आयनेयी' (६–१–१) इति सूत्रे भाष्ये स्फुटमेतत् ॥ २२ ॥

इदमेव = 'अतः कृकमिकंस' सूत्र का कंस ग्रहण ही इस परिभाषा में ज्ञापक है। क्योंकि यदि उणादि शब्द व्युत्पन्न होते तो कम् धातु मान कर ही कंस शब्द का काम चल सकता था, तो ऐसी स्थिति में कंस ग्रहण व्यर्थ हो जाता। वही कंस ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है। यह कंस शब्द कंस धातु से नहीं बना है क्योंकि कम् धातु से कंस बनाकर कंस् धातु से कंस शब्द का अनभिधान कर कर दिया गया है।

'प्रत्ययस्य लुक्' सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है। वहाँ कहा गया है कि यदि इस सूत्र में प्रत्यय का ग्रहण नहीं किया जायेगा, तो 'कंसीय' और 'परशव्य' शब्द में प्रकृति का लुक् होने लगेगा। इसकी निवृत्ति के लिये कहना चाहिये कि छ और यत् प्रत्यय का लोप होता है। तात्पर्य कि छ और यत् का लोप ही जिस प्रकार हो इसलिये प्रत्ययग्रहण करना चाहिये। किन्तु प्रत्ययग्रहण करने पर भी कंस शब्द में सकार का और परशु शब्द में उकार का लोप क्यों नहीं होता ? इस शंका के उत्तर में भाष्यकार ने वहाँ कहा कि 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि'। अर्थात् यहाँ प्रकृति-प्रत्यय विभाग नहीं है, इसलिये कोई दोष नहीं है। इस प्रकार प्रस्तुत परिभाषा वहाँ स्पष्ट है।

'ण्वुल् तृचौ' सूत्र के भाष्य से यह बात भी सिद्ध होती है कि उणादि से बने शब्द व्युत्पन्न होते हैं। व्युत्पन्न का तात्पर्य यह है कि वहाँ प्रकृति-प्रत्ययविभाग है। इसीलिये 'अप्तृन्तृच्' सूत्रघटक नप्त्रादिग्रहण को तृनन्त और तृजन्त से कार्य

चला कर ज्ञापनार्थ माना गया है। यदि उणादि निष्पन्न शब्द अव्युत्पन्न ही होते तो नप्त्रादिग्रहण की नियमार्थता संगत नहीं होती।

औणादिक शब्दों का व्युत्पत्ति पक्ष है यह बात शाकटायन की रीति से है। पाणिनि के मतानुसार तो उणादि शब्दों में अव्युत्पत्ति ही है। यह बात शब्देन्दु-शेखर में निरूपित है। यह अव्युत्पत्ति पक्ष 'आयनेयी' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है वहाँ पर शंख शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई 'शमेः खः' शंखः और शण्ढ शब्द की 'शमेः ढः' शण्ढः। ऐसी व्यत्पत्ति करके यह शंका वहाँ पुनः की गई कि यहाँ ख को ईन और ढ को एय क्यों नहीं होता? ऐसी शंका करके उत्तर में कहा गया कि 'प्रातिपदिकविज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेः सिद्धम्'। 'प्रातिपदिकविज्ञानात्' का अर्थ है कि प्रकृतिप्रत्ययरहित अखण्ड प्रातिपदिक मानने से उक्त दोष नहीं है।

इससे सिद्ध होता है कि पाणिनि के मतानुसार उणादि शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं॥ २२॥

ननु 'देवदत्तश्चिकीर्षती'त्यादौ देवादेः सन्नन्तत्वप्रयुक्तधातुत्वाद्या-पत्तिरत आह—

'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र से सनन्त की जो धातु संज्ञा की जाती है वह 'देवदत्त-श्चिकीर्षति' इस वाक्य में 'देवदत्तश्चिकीर्ष' इतने अंश को होनी चाहिये, क्योंकि सनन्त शब्द से देवदत्तसहित चिकीर्ष का ग्रहण हो सकता है। इस शंका के सन्दर्भ में यह परिभाषा बनी—

प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्॥ २३॥

प्रत्यय मात्र बोधक पद जहाँ होता है, वहाँ तदादि और तदन्त का ग्रहण होता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्ययमात्र बोधक पदघटित शास्त्र में यह परिभाषा तदादि पद की उपस्थिति कराती है। उपस्थित तदादि पद विशेष्य होता है और प्रत्यय विशेषण होता है, इसके बाद 'येन विधिस्तदन्तस्य' सूत्र से तदन्त विधि होती है, जिससे वहाँ प्रत्ययान्त तदादि का ग्रहण होता है। तदादि शब्द में स आदिर्यस्यासौ तदादिः, इस प्रकार बहुव्रीहि समास किया गया है। यहाँ स शब्द से किसका ग्रहण किया जाय इस जिज्ञासा में परिभाषा का यह शब्द है 'यस्मात्स विहितः'। जिससे वह प्रत्यय विहित है वह प्रकृति तदादि शब्द से ली जाती है। प्रकृति से पूर्व का भाग तदादि शब्द से नहीं लिया जायेगा। और प्रत्ययान्त कहने से प्रत्यय से पर में रहने वाले का ग्रहण नहीं होगा। इस प्रकार प्रत्ययान्त तदादि कहने से प्रकृतिप्रत्यय विशिष्ट समुदाय का ग्रहण होगा। उससे अतिरिक्त किसी का ग्रहण नहीं होगा।

'देवदत्तश्चिकीर्ष' इस शब्द में सन् प्रत्यय कृधातु से विहित है। इसलिये 'सना-द्यन्ता धातवः' सूत्र में तदादि विशेष्यक तदन्तविधि होने पर 'सनाद्यन्त तदादि' से

केवल 'चिकीर्षं' मात्र का ग्रहण होगा न कि देवदत्तसहित का ग्रहण। इसलिये उपर्युक्त दोष नहीं रह जाता। इसी बात को ग्रन्थकार लिख रहे हैं—

'यस्मात्प्रत्ययविधिः' (१–४–१३) इति सूत्रे 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्यय' इति योगो विभज्यते। गृह्यमाण उपतिष्ठत इति शेषः। तेन तदाद्यन्तांशः सिद्धः। तदन्तांशस्तु 'येन विधिः' (१–१–७२) इत्यनेन सिद्धः। स च शब्दरूपं विशेष्यमादाय विशेष्यान्तरासत्त्वे।

'यस्मात् प्रत्ययविधिः' इस सूत्र में 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्यये' यह पृथक् योगविभाग करके इस योग में 'गृह्यमाणे और उपतिष्ठते'—इन दो पदों का अध्याहार किया जायेगा। इस प्रकार इस योग का अर्थ इस प्रकार होगा—'प्रत्यये गृह्यमाणे तदादि उपतिष्ठते' अर्थात् प्रत्ययमात्रबोधकपदघटितशास्त्र में तदादि की उपस्थिति होती है। तदादि पद से क्या ग्राह्य हो, इसलिये–'यस्मात्प्रत्ययविधि' यह अंश प्रस्तुत होता है। अर्थात् जिससे प्रत्यय का विधान किया गया है वह प्रकृति ही तदादि शब्द से ली जायेगी। यह तदादि विशेष्य और प्रत्यय विशेषण होगा तो 'येन विधिः' सूत्र से तदन्तांश का लाभ होता है। इस प्रकार यह परिभाषा यस्मात् प्रत्ययविधि के अर्थ से सिद्ध होती है।

प्रत्यय को विशेषण तथा तदादि शब्दरूपी विशेष्य को लेकर यह जो तदन्तविधि हो रही है, यह वहीं होती है जहाँ विशेष्यान्तर=तदादि के अतिरिक्त दूसरा कोई विशेष्य न हो। जैसे 'सनाद्यन्ताः धातवः' सूत्र में तदादि के अतिरिक्त दूसरा कोई विशेष्य नहीं है, इसलिये वहाँ तदन्तविधि के द्वारा सन्नन्त तदादि की धातु संज्ञा की जाती है।

यदि कोई विशेष्यान्तर हो भी तो वह 'तदादि' रूप विशेष्य से भिन्न नहीं होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जहाँ एक तदादिरूपी विशेष्य पहले से उपस्थित है, वहीं पर यदि दूसरा भी तदादि उपस्थित हो जाता है तो यहाँ दो विशेष्य हो जाते हैं। किन्तु ये दोनों विशेष्य तदादिरूप ही हैं, इसलिये यहाँ तदन्तविधि हो जाती है, क्योंकि तदादि के अतिरिक्त विशेष्यान्तर का अभाव यहाँ रहता है। ऐसे स्थल पर पहले से वर्तमान तदादि दूसरे तदादि में विशेषण हो जाता है, इसलिये यहाँ दुबारा तदन्तविधि होती है। जैसे 'हलङ्याब्भ्य' सूत्र में ङी और आप् के प्रत्यय होने के कारण तदादि की उपस्थिति होती है, जिससे तदन्तविधि करके 'ङ्यन्त और आबन्त तदादि' इतना अर्थ लाभ करने के बाद 'सुतिसि' के प्रत्यय होने के कारण एक और तदादि उपस्थित होता है। 'सुतिसि' को विशेषण बना कर इस तदादि के साथ तदन्तविधि नहीं हो सकती, क्योंकि 'प्रत्ययग्रहणे चापश्चम्या' इस परिभाषा से इस तदन्तविधि का निषेध हो जायेगा। इसलिये ङी और आप् से उपस्थित तदादि, सुतिसि से

उपस्थित तदादि का विशेषण होता है, जिससे पुनः तदन्तविधि होती है। इसलिये 'हल्ङ्याब्भ्यः' सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है। ङ्यन्त और आबन्त जो तदादि तदन्त अर्थात् ङ्याबन्तान्त जो तदादि उससे पर में रहने वाले सु ति सि के अपृक्त हल् का लोप होता है। जैसे बहुश्रेयसी शब्द में ङ्यन्ततदादि श्रेयसी है और तदन्त-तदादि 'बहुश्रेयसी' है। इसलिये ङ्यन्त तदाद्यन्ततदादि से पर में रहने वाले सु के अपृक्त हल् का लोप होता है।

जहाँ पर तदादि से अन्य विशेष्य पहले ही से विद्यमान रहता है वहाँ तदन्त-विधि के लिये विशेष्याख्य धर्मी के पहले से ही वर्तमान रहने के कारण तदादि की उपस्थिति नहीं होती है, किन्तु वहाँ पर तदादित्व धर्म के विधान में ही परिभाषा का तात्पर्य रहता है। जैसे 'हृदयस्य हृल्लेख' सूत्र में उत्तरपद का अधिकार होने के कारण उत्तरपदरूपी विशेष्य पहले से ही विद्यमान है। इसलिये यहाँ अण् प्रत्यय से तदादि की उपस्थिति नहीं होती है, किन्तु केवल तदादित्व धर्ममात्र की उपस्थिति होती है। इसलिये 'तदादित्व विशिष्ट जो अणन्त उत्तरपद, वह पर में रहे तो हृदय को हृद् आदेश होता है' ऐसा अर्थ वहाँ किया जाता है।

यत्तु प्रत्ययेन स्वप्रकृत्यवयवकसमुदायाक्षेपात् तद्विशेषणत्वेन तदन्त-विधिरिति। तन्न 'इयानि'त्यादौ तस्य तादृशसमुदायेन व्यभिचारेणाक्षेपा-सम्भवात्।

यत्र प्रत्ययो निमित्तत्वेनाश्रीयते तत्र तदादीत्यन्तांशमात्रोपस्थितिरिति 'अङ्गस्य' (६–४–१) इति सूत्रे भाष्यकैयटयोः। एवं यत्रापि पञ्चम्य-न्तात्परः प्रत्यय आश्रीयते तत्रापि तदादीत्यन्तांशोपस्थितिः, परन्तु तत्र पञ्चम्यन्तता। अत एव 'एङ्ह्रस्वात्' (६–१–६९) इति सूत्रे एङन्ता-दित्यर्थलाभः।

अस्याः परिभाषायाः प्रयोजनान्तरं 'येन विधिः' (१–१–७२) इत्यत्र भाष्य उक्तम्। परमगार्ग्यायण इति। परमगार्ग्यस्यापत्यमिति विग्रहेऽपि गार्ग्यशब्दादेव प्रत्ययो न विशिष्टात्। निष्कृष्य तावन्मात्रेणैकार्थीभावा-भावेऽपि वृत्तिर्भवत्येव। अत्र चेदं भाष्यमेव मानमित्यन्यत्र विस्तरः। प्रत्ययमात्रग्रहणे एषा न तु प्रत्ययाप्रत्ययग्रहण इति। 'उगितश्च' (४–१–६) इति सूत्रे भाष्ये। इयमङ्गसंज्ञासूत्रे (१–४–१३) भाष्ये स्पष्टा॥ २३॥

कुछ लोगों का कहना है कि प्रत्यय प्रकृति के बिना रह नहीं सकता, इसलिये प्रत्यय से उसकी प्रकृति है अवयव जिसका ऐसे समुदाय का आक्षेप किया जायेगा। आक्षेप का अर्थ यहाँ अनुमान है। उसका प्रकार यह होगा 'प्रत्ययः स्वप्रकृत्यवयवक-समुदायविशिष्टः, प्रत्ययत्वात्' इस प्रकार के आक्षेप से लभ्य स्वप्रकृत्यवयवकसमु-

दाय को विशेष्य तथा प्रत्यय को विशेषण बना कर तदन्तविधि हो सकती है। ऐसी स्थिति में यह परिभाषा अनावश्यक है। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यह कोई आवश्यक नहीं है कि बिना प्रकृति के प्रत्यय न रहे। जैसे 'इयान्' इस पद में प्रकृति के बिना भी प्रत्यय रहता है। इयान् प्रयोग के लिये इदम् शब्द से वतुप् प्रत्यय और वतुप् के वकार को घकार और उसको इय आदेश किया जाता है। इसके बाद इदम् शब्द को ईश् आदेश करके ई-इयत्, इस स्थिति में भ-संज्ञा करके 'यस्येति च' सूत्र से ईकार का लोप कर दिया जाता है। इस प्रकार प्रकृति इदम् का लोप होकर केवल प्रत्यय मात्र इयत् बचता है जिसका प्रथमा के एकवचन में 'इयान्' ऐसा रूप बनता है। यह इयान् केवल प्रत्ययमात्र है जो अपनी प्रकृति के बिना भी प्रयोग में आता है। इस उदाहरण से स्पष्ट कि प्रत्यय बिना प्रकृति के नहीं रहता; यह नियम व्यभिचरित है। इसलिये प्रत्यय से स्व-प्रकृत्यवयवकसमुदाय का आक्षेप होगा, यह कहना सर्वथा असंगत है। तस्मात् यह परिभाषा आवश्यक है।

अब यहाँ शंका होती है कि 'सुपि च' सूत्र में सुप् पद प्रत्ययमात्र का बोधक है, इसलिये यहाँ पर भी तदादिविशेष्यक तदन्तविधि करके 'सुबन्त जो तदादि तदव्यवहित पूर्वत्वविशिष्ट अदन्त अंग को दीर्घ हो' ऐसा उसका अर्थ किया जायेगा। ऐसा अर्थ करने पर सुबन्ततदादि 'रामाभ्याम्' होगा। उससे पूर्व कोई अदन्त अंग नहीं है जिसे दीर्घ हो। रामशब्दावयव अकार को दीर्घ इसलिये नहीं होगा कि वह सुबन्ततदादि के अन्तर्गत है, जो निमित्तकोटि में आता है।

इस प्रकार का दोष उपस्थित होने पर ग्रन्थकार का कहना है कि जहाँ पर प्रत्यय का निमित्त रूप में आश्रयण किया गया है वहाँ पर केवल तदादि की उपस्थिति होती है, वहाँ तदन्तविधि नहीं होती। इसी बात को मूल में लिखा गया है कि 'तदादि इत्यन्तांशमात्रोपस्थितिः'। तात्पर्य यह है कि 'तदन्तस्य ग्रहणम्' इतने अंश को छोड़ कर अवशिष्ट परिभाषा की वहाँ उपस्थिति होती है। इसी का निष्कर्ष है कि वहाँ केवल 'तदादि' की उपस्थिति होती है। यह बात अंगस्य सूत्र के भाष्य और कैयट में कही गयी है।

इसी प्रकार जहाँ पञ्चम्यन्त पद से पर में प्रत्यय का आश्रयण किया गया है वहाँ पर भी केवल तदादि की उपस्थिति होती है, वहाँ भी तदन्तविधि नहीं होती। परन्तु वहाँ उपस्थित तदादि की क्या स्थिति होती है, इस जिज्ञासा में दो प्रकार के संकेत मिलते हैं। उसमें पहले प्रकार का स्वरूप-निर्देश करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि 'तत्र पञ्चम्यन्तता'। अर्थात् जहाँ पञ्चम्यन्त से परे प्रत्ययमात्रबोधक पद रहेगा वहाँ उपस्थित तदादि पद पञ्चम्यन्त होकर प्रत्यय का विशेषण होता है।

दूसरा प्रकार यह है कि जहाँ प्रत्ययनिमित्तत्वेन आश्रीयमाण (सप्तम्यन्त) हो

वहाँ उपस्थित तदादि, प्रत्यय के समभिव्याहृत (समीपवर्त्ती) पद के समानविभक्तिक (विभक्तिवाला) हो जाता है।

इसमें पहले प्रकार का उदाहरण 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य' यह सूत्र है। यहाँ भी निष्ठा के प्रत्यय होने के कारण तदादिविशेष्यक तदन्तविधि होकर 'रेफदकार से पर में जो निष्ठान्त तदादि उसके अवयव तकार को नकार हो' ऐसा अर्थ होता। इसका परिणाम यह होता कि 'दृषद्+तीर्णः' इस स्थिति में दकार से पर में रहने वाले निष्ठान्ततदादि तीर्ण के तकार को भी नकार होने लग जाता। जब यह बात मान ली गई कि ऐसे स्थल पर तदन्तविधि नहीं होती है, किन्तु केवल तदादि उपस्थित होकर पञ्चम्यन्त हो जाता है तो प्रस्तुत स्थल में पञ्चम्यन्त तदादि में सूत्रस्थ पञ्चम्यन्त पद 'रदाभ्यां' यह विशेषण होता है तथा रदाभ्यां से विशेषित तदादि प्रत्यय का विशेषण होता है, इसलिये ऐसा सूत्रार्थ होता है—रेफान्त और दकारान्त जो तदादि उससे परे जो निष्ठा प्रत्यय उसके तकार को नकार होता है। ऐसा अर्थ करने पर उक्त प्रयोग में 'दृषद्' यह जो दकारान्त है, वह क्तप्रत्ययान्ततदादि नहीं है, इसलिये यहाँ तीर्ण के तकार को नकार नहीं होता।

दूसरे प्रकार का उदाहरण 'सुपि च' सूत्र है। यहाँ प्रत्यय पद सप्तम्यन्त है। इसलिये यहाँ भी तदादिविशेष्यक तदन्तविधि नहीं होती, किन्तु तदादि पद प्रत्यय समभिव्याहृत पद अंगस्य (जिसकी अनुवृत्ति आती है) के समान विभक्तिवाला अर्थात् षष्ठ्यन्त हो जाता है। इसलिये उक्त सूत्र का सूत्रार्थ इस प्रकार होता है—सुप् से अव्यवहित पूर्वत्व विशिष्ट जो तदादि रूपी अंग उसको दीर्घ होता है। ऐसा अर्थ करने से 'रामाभ्याम्' का उपर्युक्त दोष दूर हो जाता है। यहाँ सुप् से अव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट अंग राम है जो व्यपदेशिवद्भावेन तदादि भी है, उसके अवयव अकार को दीर्घ करके 'रामाभ्याम्' यह प्रयोग निर्बाध सिद्ध किया जाता है।

अतएव पञ्चम्यन्त से पर में जहाँ प्रत्ययमात्रबोधक पद हो वहाँ तदादि पञ्चम्यन्त हो जाता है, ऐसा स्वीकार करने से ही 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' इस सूत्र में 'एङन्तात्' इस प्रकार तदन्तविधियुक्त अर्थ का लाभ होता है। इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ सम्बुद्धि जो प्रत्ययबोधक पद है उससे तदादि की उपस्थिति होती है और वह तदादि पञ्चम्यन्त हो जाता है। उसमें सूत्रस्थ 'एङ्ह्रस्वात्' यह पद विशेषण होता है जिससे तदन्तविधि होकर एङन्त और ह्रस्वान्त जो तदादि ऐसा अर्थ किया जाता है। यदि तदादि पञ्चम्यन्त नहीं होता तो उसका 'एङ्ह्रस्वात्' के साथ सम्बन्ध होकर तदन्तविधि नहीं होती। यदि कहा जाय कि सम्बुद्धि से अंग का आक्षेप करके उसे विशेष्य बनाकर तदन्तविधि हो सकती है तो यह कथन अकिञ्चित्कर है। क्योंकि यहाँ अंग का आक्षेप असम्भव है, यह बात भाष्यादि ग्रन्थों में स्पष्ट

Jagadanand Jha

कही गई है। इसलिये एङ्ह्रस्व को अंग का विशेषण बना कर तदन्तविधि सर्वथा असम्भव है। अतः उपर्युक्त प्रकार से ही यहाँ तदन्तविधि का लाभ होता है।

'येन विधिः' सूत्र के भाष्य में इस परिभाषा का दूसरा प्रयोजन 'परमगार्ग्यायणः' यह प्रयोग दिया गया है। यहाँ 'परमगार्ग्यस्यापत्यम्' इस विग्रह में 'यञिञोश्च' सूत्र से जो फक् यञन्ततदादि से विहित है वह परमगार्ग्यघटक गार्ग्य शब्द से ही होता है न कि विशिष्ट शब्द परमगार्ग्य से। क्योंकि गर्ग शब्द से यञ् प्रत्यय करने के कारण गार्ग्य शब्द ही यञन्ततदादि है न कि परमगार्ग्य। यदि कहा जाय कि 'परमगार्ग्य-स्यापत्यम्' ऐसा विग्रह करने से पर्याप्ति सम्बन्ध से एकार्थीभाव 'परमगार्ग्य' में है, अतः केवल गार्ग्य से प्रत्यय नहीं होगा, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि निष्कृष्य अर्थात् तावन्मात्र (गार्ग्य) में एकार्थीभाव हो तभी उससे तद्धितवृत्ति हो, यह कोई आवश्यक नहीं है। भाष्यकार ने इस परिभाषा के प्रयोजन के रूप में इस उदाहरण को जो प्रस्तुत किया है, इसी से सिद्ध है कि पर्याप्ति सम्बन्ध से जो एकार्थी-भाव का अधिकरण हो तद्घटक से भी तद्धित वृत्ति होती है। यह बात अन्यत्र विस्तार से कही गयी है।

यह परिभाषा प्रत्ययमात्रबोधकपदघटितशास्त्र में ही लगती है। जो पद प्रत्यय और प्रत्यय-भिन्न दोनों के बोधक हैं, तद्घटित शास्त्र में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिये यह परिभाषा 'उगितश्च' इस सूत्र में नहीं लगती, क्योंकि उगित् पद जिस प्रकार 'मतुप्' आदि उगित् प्रत्ययों का बोधक है, उसी प्रकार 'भवतु' इत्यादि उगित् प्रातिपदिक का भी बोधक है। इस प्रकार 'उगित्' पद के प्रत्ययाप्रत्यय उभयबोधक होने के कारण प्रस्तुत परिभाषा 'उगितश्च' सूत्र में नहीं लगी। इसका फल यह हुआ कि 'निर्यवमती' इस प्रयोग में मत्वन्ततदादि से भिन्न 'निर्यवमत्' शब्द से ङीप् प्रत्यय उपपन्न होता है। यह बात 'उगितश्च' इस सूत्र के भाष्य में कही गयी है। अङ्गसंज्ञासूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है ॥ २३ ॥

'येन विधिः' (१–१–७२) इति सूत्रे भाष्य एतद्घटकतदन्तांशस्यापवादः पठ्यते—

'येन विधिस्तदैन्तस्य' इस सूत्र के भाष्य में इस परिभाषा का घटक जो तदन्त अंग है उसका अपवाद इस प्रकार (वक्ष्यमाण परिभाषा के रूप में) पढ़ा गया है—

प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः ॥ २४ ॥

प्रत्ययमात्रबोधक पद जहाँ पञ्चम्यन्त पद से पर में रहे, वहाँ उस प्रत्यय से उपस्थित तदादि को विशेष्य तथा प्रत्यय को विशेषण बना कर तदन्तविधि नहीं होती है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिख रहे हैं—

यत्र पञ्चम्यन्तात्परः प्रत्ययः कार्यान्तरविधानाय परिगृह्यते, तत्र तदन्तविधिर्नेत्यर्थः। यथा 'रदाभ्यां निष्ठातो नः' (८–२–४२) इत्यत्र। तेन दृषत्तीर्णेत्यादौ धातुतकारस्य न नत्वम्। तदन्तेत्यंशानुपस्थितावपि तदादीत्यंशस्योपस्थितौ रेफदान्तात्परस्य निष्ठातस्येत्यर्थ इति न दोषः, तदंशानुपस्थितौ मानाभावात्। तदन्तांशोपस्थितौ तूभयोरेकविषयत्वमेव स्यादिति 'दृषत्तीर्ण' इत्यादौ दोषः स्यादेव।

जिस शास्त्र (सूत्र) में प्रत्ययमात्रबोधक पद पञ्चम्यन्त पद से पर में पठित हो और किसी कार्यान्तर-विधान के लिए उसका उपादान (ग्रहण) किया गया हो, उस पद से उपस्थित तदादि को विशेष बना कर तदादिविशेष्यक, प्रत्ययविशेषणक तदन्तविधि वहाँ नहीं होती है।

यहाँ कार्यान्तर-विधान का यह तात्पर्य है कि कार्यान्तरनिष्ठ विधेयतानिरूपित उद्देश्यता का आश्रय जो प्रत्ययमात्रबोधक पद होता है वह तदन्तोपस्थापक नहीं होता। अर्थात् प्रत्यय को उद्देश्य बना कर जहाँ कोई कार्य विधेय होता है, वहाँ तदादिविशेष्यक तदन्तविधि नहीं होती है। जैसे 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' इस सूत्र में 'रदाभ्याम्' यह पञ्चम्यन्त पद है, इससे पर में 'निष्ठा' यह प्रत्ययमात्रबोधक पद है और यह कार्यान्तर नत्व विधान के लिए उपात्त किया गया है। इससे तदादि की उपस्थिति होकर यदि तद्विशेष्यक तदन्तविधि हो जाती तो सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता—रेफ और दकार से पर में जो निष्ठान्ततदादि, तदवयव तकार को नकार हो। इस अर्थ का परिणाम यह होता कि तॄ धातु से क्त प्रत्यय, इत्व, रपरत्व और टाप् करके 'तीर्ता' ऐसा बना कर उसका दृषद् के साथ सम्बन्ध करने पर 'दृषद्+तीर्ता' इस स्थिति में निष्ठान्त तदाद्यवयव तकार जिस प्रकार प्रत्यय का तकार है उसी प्रकार धात्वयव तकार भी है, और वह दकार से पर में भी है, अतः उसे नकारादेश होने लग जाता।

इस परिभाषा को मानने पर आपत्ति दूर हो जाती है, क्योंकि इस परिभाषा से यहाँ जब तदादिविशेष्यक तदन्तविधि का निषेध कर दिया गया तो उपस्थित तदादि पद को पञ्चम्यन्त करके सूत्रस्थ पञ्चम्यन्त पद 'रदाभ्यां' का विशेष्य उसे बना कर तदन्तविधि की गई, जिससे इस प्रकार सूत्रार्थ हुआ—रेफान्त और दान्त जो तदादि उससे पर में रहनेवाले निष्ठा के तकार को नकार हो—ऐसा अर्थ करने पर दकारान्त जो दृषद् शब्द है वह ऐसा तदादि नहीं है जिससे निष्ठा प्रत्ययविहित हो। इसलिये यहाँ धातु के तकार को नकार नहीं होता है।

इस प्रकार देखा गया कि यहाँ तदन्तांश की उपस्थिति नहीं होती, अर्थात् तदादिविशेष्यक तदन्तविधि नहीं होती तथापि तदादि अंश की उपस्थिति होती है,

जिससे उपर्युक्त प्रकार से सूत्रार्थ होता है और फलस्वरूप 'दृषत्तीर्णा' का दोष दूर हो जाता है।

यदि कहा जाय कि ऐसे स्थलों पर तदन्तांश की भाँति 'तदादि' इस अंश की भी उपस्थिति न हो, तो इसके उत्तर में ग्रन्थकार लिखते हैं कि 'तदंशानुपस्थितौ मानाभावात्, अर्थात् तदादि अंश की अनुपस्थिति में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये तदादि अंश की उपस्थिति तो यहाँ होगी ही। इस पर यदि यह कहा जाय कि तदादि अंश की भाँति यहाँ तदन्त अंश की भी उपस्थिति कर ली जाय, अर्थात् तदादिविशेष्यक तदन्तविधि ऐसे स्थलों पर कर ली जाय, तो इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि 'तदन्तांशोपस्थितौ तूभयोरेकविषयत्वमेव स्यात्' अर्थात् यदि यहाँ तदन्त अंश की उपस्थिति हो जाती है तो 'उभयोः=तदाद्यंश तदन्तांशयोः' तदादि अंश और तदन्त अंश इन दोनों अंशों का विषय एक ही हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि पञ्चम्यन्त से पर में जहाँ प्रत्ययग्रहण होगा वहाँ दोनों अंशों की उपस्थिति होने पर 'रदाभ्यां परो यो निष्ठान्ततदादिः तदवयवतकारस्य नकारः' ऐसा सूत्रार्थ होगा। इसका फल यह होगा कि 'दृषद्-तीर्तः' इस स्थिति में 'तीर्त' यह निष्ठान्त-तदादि है, इसलिये तदवयव धातु के तकार को भी नकार होने लगेगा। 'तीर्त' इतने अंश में तदादित्व और तदन्तत्व ये दोनों चीजें रह रही हैं, यही 'उभयोरेकविषयत्वमेव स्यात्' इस पङ्क्ति का रहस्य है। इस प्रकार यहाँ तदन्तांश की उपस्थिति होने पर 'दृषत्तीर्णः' का दोष रह ही जायेगा, इसलिये ऐसे स्थलों पर इस परिभाषा द्वारा तदन्तांश का निषेध करना आवश्यक है।

इसी प्रकार 'अतो भिस ऐस्' इस सूत्र में 'अतः' इस पञ्चम्यन्त पद से पर में 'भिसः' यह प्रत्ययमात्रबोधक पद ऐसा देशरूपी कार्यान्तर-विधान के लिये उद्देश्य रूप में गृहीत है, इसलिये यहाँ भी तदादिविशेष्यक तदन्तविधि का निषेध कर दिया जाता है।

जहाँ पर प्रत्ययमात्रबोधक पद कार्यान्तर-विधान के लिये उद्देश्यरूप में गृहीत न होकर स्वयमेव विधेय हो, जैसे 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इस स्थल में ङीप् विधेय है, ऐसे स्थल में इस सूत्र के वाक्यार्थबोध के बिना ङीप् का प्रत्ययत्व ही असिद्ध है, इसलिये यहाँ प्रत्ययग्रहण-परिभाषा के द्वारा तदन्तविधि की प्राप्ति नहीं होती है। अतः यहाँ उसके निषेध का प्रश्न भी नहीं होता है। इसी उद्देश्य से मूल में लिखा गया है 'कार्यान्तरविधानाय'। तात्पर्य यह है कि कार्यान्तरविधान-स्थल में ही प्रत्यय उद्देश्यरूप में गृहीत होता है, वहीं तदादिविशेष्यक तदन्तविधि की प्राप्ति होती है जिसका इस परिभाषा के द्वारा निषेध हो जाता है।

'स्यतासी लृलुटोः' (३–१–३३) इत्यादौ लृलुटोः परयोरित्यर्थे नियमेनावधिसाकाङ्क्षत्वेन उपस्थितधातोरित्यस्यावधित्वेनान्वयान्न तदन्तविधिः। 'हल्ङ्याब्भ्यः' (६–१–६८) इत्यादौ तु न दोषः, तत्र कस्मादिति नियतावध्याकाङ्क्षाया अभावेन पञ्चम्यन्तस्य प्रत्ययविशेषणत्वाभावात्।

अङ्गसंज्ञासूत्रे (१–४–१३) तु तदादेः प्रत्यये पर इत्यर्थे पञ्चम्यन्तस्य विशेषणत्वं स्पष्टमेव। अत एव 'उत्तमैकाभ्याम्' (५–४–९०) इत्यादिनिर्देशाः सङ्गच्छन्ते ॥ २४ ॥

अब यहाँ एक शंका होती है कि 'स्यतासी लृलुटोः' इस सूत्र में 'लृलुटोः' जो प्रत्ययमात्रबोधक पद है वह पञ्चम्यन्त से पर में नहीं है, इसलिये प्रस्तुत परिभाषा से तदादिविशेष्यक तदन्तविधि का निषेध नहीं होगा। फलस्वरूप 'लृङन्त और लुङन्त तदादि पर में रहने पर स्य और तास् प्रत्यय हों' ऐसा सूत्र का अर्थ होना चाहिये। इस प्रकार की शंका को दृष्टिगत कर मूल में कहा गया है कि स्यतासी लृलुटोः इत्यादि। यहाँ 'लृलुटोः' यह सप्तम्यन्त पद है, इससे 'तस्मिन्निति' परिभाषा के द्वारा 'ल और लुट् प्रत्यय पर में रहने पर तदव्यवहित पूर्व को स्य और तास् होता है' ऐसा सूत्रार्थ होगा। ऐसा सूत्रार्थ होने पर इस बात की नियमतः आकांक्षा होगी कि ल और लुट् किससे पर में हों ? इस प्रकार अवधि की आकांक्षा होने पर 'धातोः' इस पञ्चम्यन्त पद की उपस्थिति होती है, जिससे धातु से पर में ल और लुट् के रहने पर स्य और तास् विकरण होते हैं, ऐसा सूत्रार्थ होता है। इस प्रकार प्रत्ययमात्रबोधक पद पञ्चम्यन्त से पर में हो जाता है, इसलिये प्रस्तुत परिभाषा के द्वारा तदन्तविधि का निषेध कर दिया जाता है।

इसके ऊपर अब यह शंका होती है कि 'हल्ङ्याब्भ्यः' इस सूत्र में ङी और आप् ये दोनों प्रत्यय हैं। इनसे प्रातिपदिक का आक्षेप होगा। आक्षिप्त प्रातिपदिक पद पञ्चम्यन्त होने से, उससे पर में रहने वाले ङी और आप् प्रत्यय से तदादिविशेष्यक तदन्तविधि नहीं होनी चाहिये। ऐसी शंका के उत्तर में कहा गया है कि 'ङ्याब्भ्यः इत्यादौ तु न दोषः' 'हल्ङ्याब्भ्यः' सूत्र में तो दोष नहीं है। तात्पर्य यह है कि यहाँ ऐसी आकांक्षा नियमतः उत्थित नहीं होती कि ङी और आप् प्रत्यय किससे पर में रहे ? इसलिये आक्षिप्त पञ्चम्यन्त 'प्रातिपदिकात्' यह पद ङी और आप् रूपी प्रत्यय का विशेषण नहीं होता है। इसलिये यहाँ का प्रत्ययमात्रबोधक पद पञ्चम्यन्त से पर में नहीं होता। तस्मात् यहाँ तदादिविशेष्यक तदन्तविधि का निषेध नहीं होता है।

वस्तुस्थिति में तो ङी और आप् प्रत्यय होने के कारण प्रातिपदिक से ही पर में रहते हैं, परन्तु प्रातिपदिक की शाब्दिक विशेषणता उनके प्रति नहीं है। इसलिये वे पञ्चम्यन्त से पर में यहाँ नहीं माने जाते। अतः यहाँ तदन्तविधि हो जाती है।

अब यहाँ एक यह विचार प्रस्तुत होता है कि जहाँ प्रत्ययमात्रबोधक पद सप्तम्यन्त होगा जैसे 'सुपि च' इस सूत्र में है, वहाँ प्रत्ययमात्रबोधक पद पञ्चम्यन्त से पर में नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में वहाँ तदादिविशेष्यक तदन्तविधि का निषेध नहीं होगा। इसलिये 'सुपि च' का अर्थ 'सुबन्ततदादि पर में रहने पर दीर्घ हो' ऐसा होना चाहिये। इस अर्थ का परिणाम यह होगा कि 'उत्तमैकाभ्याम्' यह पाणिनि का निर्देश तथा रामाभ्याम् इत्यादि पद नहीं बन सकेंगे। क्योंकि 'उत्तमैकभ्याम्' इतना स्वयं सुबन्त तदादि होगा जिसे पर में मान कर किसी अदन्त अंग को दीर्घ कर्त्तव्य होगा।

इस प्रकार की विसंगति में ग्रन्थकार का कहना है कि जहाँ प्रत्ययमात्रबोधक पद सप्तम्यन्त हो वहाँ उससे उपस्थित तदादि पद को पञ्चम्यन्त बना दिया जाता है, और वह पञ्चम्यन्त तदादि पद प्रत्यय का विशेषण होता है। इस प्रकार सप्तम्यन्त प्रत्ययबोधकपद भी पञ्चम्यन्त से पर में हो जाता है, इसलिये वहाँ भी तदादिविशेष्यक तदन्तविधि का निषेध हो जाता है। 'सुपि च' सूत्र में उपस्थित तदादि पञ्चम्यन्त होकर सुपि का विशेषण हो गया, इसलिये 'तदादेः सुपि प्रत्यये परे अदन्ताङ्गस्य दीर्घः' ऐसा सूत्रार्थ होता है। यहाँ पञ्चम्यन्ततदादेः इस पद की प्रत्यय के प्रति विशेषणता स्पष्ट है। अतः यहाँ तदन्तविधि का निषेधपूर्वक उपर्युक्त सूत्रार्थ किया गया है। इसका फल यह होता है कि 'उत्तमैकाभ्याम्' यह पाणिनि का निर्देश संगत हो जाता है। यह बात अङ्गसंज्ञाविधायक सूत्र में कही गई है॥ २४॥

नन्वेवं कुमारीब्राह्मणिरूपेत्यादौ 'घरूप' (६-३-४३) इति ह्रस्वापत्तिरत आह--

इस प्रकार पूर्व परिभाषा 'प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः' से तदादिविशेष्यक तदन्तविधि का निषेध करने पर भी 'घरूपकल्पचेलड्' इस सूत्र में उत्तरपद का अधिकार आने के कारण उत्तरपदविशेष्यक और प्रत्ययविशेषणक तदन्तविधि हो जायेगी। ऐसी स्थिति में 'कुमारी-ब्राह्मणिरूपा' इस प्रयोग में 'ब्राह्मणिरूपा' यह रूपान्त-उत्तर पद पर में मान कर कुमारी शब्दावयव ईकार को ह्रस्व होना चाहिये।

यदि कहा जाय कि 'घरूपकल्प' ये जो प्रत्ययमात्रबोधक शब्द हैं, वे पञ्चम्यन्त पद से पर में नहीं हैं, ऐसी स्थिति में 'प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः' से तदादिविशेष्यक तदन्तविधि का निषेध किस प्रकार किया जाता है? तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस प्रकार 'सुपि च' इस सूत्र में सुपि यह सप्तम्यन्त प्रत्ययमात्रबोधक पद है, उसी

प्रकार यहाँ भी 'घरूप' इत्यादि सप्तम्यन्त पद है, इसलिये जिस प्रकार 'सुपि च' सूत्र में उपस्थित तदादि पञ्चम्यन्त होकर प्रत्यय का विशेषण हो जाता है और इस प्रकार वहाँ प्रत्ययबोधकपद पञ्चम्यन्त से पर में मान लिया जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी उपस्थित तदादि पञ्चम्यन्त होकर घरूपादि प्रत्ययों का विशेषण होगा, इसलिये यहाँ भी प्रत्ययबोधक पद पञ्चम्यन्त से परे हो जाता है। इस प्रकार तदादि-विशेष्यक तदन्तविधि का निषेध तो यहाँ पूर्व परिभाषा से हो जायेगा, किन्तु उत्तरपदविशेष्यक प्रत्ययविशेषणक तदन्तविधि का निषेध पूर्व परिभाषा से संभव नहीं है। इसलिये तदन्तविधि होकर 'कुमारी-ब्राह्मणिरूपा' इस प्रयोग में पुंवद्भाव को बाध कर रूपान्त-उत्तरपद को पर में मान कर ह्रस्व की प्राप्ति होती है।

वस्तुतस्तु 'कुमारीब्राह्मणिरूपा' में न तो बहुव्रीहि है और न कर्मधारय, क्योंकि यदि ये दोनों समास हुए होते तो भाषितपुंस्क होने के कारण यहाँ पुंवद्भाव ही हो जाता। षष्ठी तत्पुरुष भी इसलिये नहीं है कि 'घरूप' सूत्र से जो ह्रस्व की प्राप्ति होती है वह समानाधिकरण उत्तरपद पर में रहने पर ही होती है। इसलिये 'कुमारी-ब्राह्मणिरूपा' इस विग्रह में ही पुंवद्भाव को बाध कर घरूप सूत्र से ह्रस्व प्राप्त होता है, इसके वारण के लिये यह परिभाषा बनाई गई—

उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे न तदन्तग्रहणम् ॥ २५ ॥

'उत्तरपदे' का जहाँ अधिकार होता है वहाँ प्रत्ययमात्रबोधक पद को विशेषण और उत्तरपद को विशेष्य बना कर तदन्तविधि नहीं होती है।

इस प्रकार तदन्तविधि का निषेध कर देने के कारण 'घरूप' सूत्र से रूपादिप्रत्यय पर में रहने पर ही ह्रस्व होगा, न कि रूपान्त-उत्तरपद पर में रहने पर भी। इसलिये ब्राह्मणिरूपा में तो ह्रस्व हुआ और 'कुमारीब्राह्मणिरूपा' में रूपान्त-उत्तरपद को पर में मान कर कुमारी को ह्रस्व नहीं हुआ। यही परिभाषा मानने का फल हुआ।

इस परिभाषा की ज्ञापक सिद्धता का उल्लेख करते हुए लिख रहे हैं—

'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' (६-३-५०) इत्यत्र लेखग्रहणात्। तत्र लेखेति न घञन्तमनभिधानात्। इयं च 'हृदयस्य' इति सूत्र एव भाष्ये स्पष्टा ॥ २५ ॥

'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' इस सूत्र में जो लेख ग्रहण है, वही इस परिभाषा का ज्ञापक है। यह सूत्र लेखादि पर में रहने पर हृदय शब्द को हृत् आदेश करता है। यहाँ लेख शब्द के विषय में यह सन्देह होता है कि यह शब्द लिख् धातु से घञ् प्रत्यय करके बना है या अण् प्रत्यय करके ? क्योंकि दोनों प्रत्ययों के करने पर लघूपध-गुण करके 'लेख' शब्द बन सकता है। ऐसी स्थिति में इसे घञन्त माना जाय

अथवा अणन्त माना जाय। ऐसा सन्देह होने पर इसे अणन्त ही माना गया और घञन्तत्व का अनभिधान कर दिया गया। ऐसा इसलिये किया गया कि भाष्यकार ने 'लेखग्रहण' से ही इस परिभाषा को ज्ञापित किया है। घञन्त मानने पर लेखग्रहण से यह परिभाषा ज्ञापित नहीं हो सकती थी, इसलिये लेख शब्द अणन्त है, ऐसा स्वीकार किया गया।

उक्त सूत्र में अण् ग्रहण भी किया गया है, साथ ही यह सूत्र उत्तरपद के अधिकार में आता है, इसलिये यहाँ उत्तरपदरूपी विशेष्यान्तर पहले से ही रहने के कारण अण् प्रत्यय से केवल तदादित्वधर्ममात्र की उपस्थिति होती है। यह बात 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितः' इस परिभाषा में कही जा चुकी है कि जहाँ पर कोई विशेष्यान्तर पहले से वर्तमान रहता है वहाँ केवल तदादित्वधर्म के विधान में उस परिभाषा का तात्पर्य रहता है। तदनुसार 'हृदयस्य' सूत्र में तदादित्वधर्म की उपस्थिति होने पर प्रत्ययविशेषणक और उत्तरपदविशेष्यक तदन्तविधि करके ऐसा सूत्रार्थ होता है कि तदादित्व विशिष्ट अणन्त—उत्तरपद पर में रहने पर हृदय को हृत् आदेश होता है। इस प्रकार की व्याख्या से ही 'हृल्लेखः' इस प्रयोग की सिद्धि हो सकती है तो पुनः लेखग्रहण की क्या आवश्यकता है? इसलिये लेख-ग्रहण व्यर्थ होकर उक्त परिभाषा का ज्ञापन करता है। परिभाषा मान लेने पर उपर्युक्त सूत्रार्थ संभव नहीं है इसलिये 'हृल्लेख' प्रयोग की सिद्धि भी अण् ग्रहण के द्वारा नहीं हो सकती है, तस्मात् हृल्लेख बनाने के लिये लेखग्रहण की सार्थकता होती है।

यदि लेख शब्द को घञन्त माना गया होता तो 'हृल्लेखः' यह प्रयोग अण् ग्रहण के द्वारा कथमपि सिद्ध नहीं होता, इसलिये इसे बनाने के लिये लेखग्रहण स्वयं आवश्यक रहता। ऐसी स्थिति में उससे यह परिभाषा ज्ञापित नहीं हो सकती थी। इसलिये लेख शब्द की घञन्तता का अनभिधान कर दिया गया और उसे अणन्त मान लिया गया। अणन्त मानने पर तो अण्ग्रहण से ही कार्य चल सकता था। इसलिये लेखग्रहण व्यर्थ होकर परिभाषा का ज्ञापक होता है।

यदि कहा जाय कि लेखग्रहण जब रहता है तब उत्तरपदविशेष्यक तदन्त-विधि करके लेखान्त उत्तरपद पर में रहने पर हृदय को हृत् आदेश करके 'हृत्परम-लेखः' प्रयोग बनता है। लेखग्रहण के अभाव में अण्ग्रहण से कार्य चलाने पर तदादित्व विशिष्ट अणन्त उत्तरपद पर में रहने पर हृत् आदेश होगा। ऐसी स्थिति में परमलेख शब्द तदादित्व विशिष्ट अणन्त उत्तरपद नहीं है, क्योंकि अण् की तदादि लेख मात्र है न कि परमलेख। इसलिये इस पक्ष में हृत् आदेश न होने के कारण 'हृदयपरमलेखः' यह प्रयोग बनेगा। इस प्रकार फलभेद होने के कारण लेख-

ग्रहण से इस परिभाषा का ज्ञापन संभव नहीं है, तो इसके उत्तर में यही कहा जाता है कि भाष्यकार ने लेखग्रहण से ही इस परिभाषा को ज्ञापित किया है। उसके अनुरोध से 'हृत्परमलेखः' प्रयोग का अनभिधान ही मानना चाहिये। 'हृदयस्य हृल्लेख' सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है ॥ २५ ॥

नन्वेवं परमकारीषगन्धीपुत्र इत्यत्रैव 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्र' इत्यत्र 'ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योः' (६-१-१३) इति स्यादत आह—

'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्सविहितः' इस परिभाषा को मानने पर जिस प्रकार 'परमकारीषगन्धीपुत्रः' इस प्रयोग में सम्प्रसारण होता है, उसी प्रकार 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः' इस प्रयोग में भी सम्प्रसारण होना चाहिये। इस प्रकार की आशंका में परिभाषा बनी—

स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न ॥ २६ ॥

अनुपसर्जन स्त्री-प्रत्यय में तदादिविशेष्यक तदन्तविधि नहीं होती है।

विमर्श—यह परिभाषा विवेच्य विषय की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है, अतः इसके अवतरण पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है। अवतरण में दो शब्द आये हैं 'परमकारीषगन्धीपुत्रः' तथा 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः'। इन शब्दों की सिद्धि इस प्रकार होती है—करीषस्य गन्धः करीषगन्धः षष्ठीसमास, इसके बाद 'करीषगन्ध इव गन्धो यस्य सः करीषगन्धिः' 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च' इस वार्तिक से समास, करीषगन्ध शब्द में उत्तरपद गन्ध का लोप और 'उपमानाच्च' सूत्र से इत्व करके 'करीषगन्धि' शब्द बनता है। इस करीषगन्धि शब्द से करीषगन्धेरपत्यं स्त्री इस अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। इस अण् प्रत्यय को 'अणिञोरनार्षयोः' इत्यादि सूत्र से ष्यङ् आदेश हो जाता है। आदिवृद्धि, यस्येति च सूत्र से इकार का लोप और 'यङश्चाप्' सूत्र से 'चाप्' प्रत्यय करके कारीषगन्ध्या शब्द बनता है। इसके बाद परमा चासौ कारीषगन्ध्या परमकारीषगन्ध्या तस्याः पुत्रः, 'परमकारीषगन्धीपुत्रः' यह रूप बनाया जाता है। षष्ठी समास करने के बाद यहाँ 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' सूत्र से सम्प्रसारण, पूर्वरूप और सम्प्रसारणस्य सूत्र से दीर्घ करके उक्त रूप बनाया गया है।

इसी प्रकार कारीषगन्ध्या शब्द बनाकर कारीषगन्ध्यामतिक्रान्ता अतिकारीषगन्ध्या तस्याः पुत्रः 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः' यह प्रयोग बनता है। यहाँ सम्प्रसारण नहीं होता है। इन दोनों उदाहरणों में यही विशेषता है कि 'परमकारीषगन्धीपुत्रः' में ष्यङ् अनुपसर्जन है और 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः' इस उदाहरण में अतिक्रान्तपदार्थ के प्रधान होने के कारण ष्यङ् उपसर्जन हो गया है।

इस परिभाषा के अवतरण में यह शंका उठाई गयी है कि 'परमकारीषगन्धी-पुत्र' की भाँति 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्र' में सम्प्रसारण क्यों नहीं होता है ? ऐसी शंका होने पर यह प्रस्तुत परिभाषा बनायी गई है ।

अब यहाँ यह विचार उपस्थित होता है कि 'ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्र पत्योः' यह सूत्र उत्तरपद के अधिकार में है, अतः उत्तरपद से पूर्वपद का आक्षेप होगा । यह पूर्वपद यहाँ विशेष्यान्तर के रूप में उपस्थित है और जहाँ विशेषान्तर की उपस्थिति होती है वहाँ 'प्रत्ययग्रहणे' परिभाषा के द्वारा तदादि की उपस्थिति नहीं होती, किन्तु वहाँ केवल तदादित्व धर्म की उपस्थिति होती है । इस प्रकार यहाँ ष्यङ् को विशेषण और पूर्वपद को विशेष्य बनाकर तदन्तविधि करके इस प्रकार सूत्रार्थ होगा—'तदा-दित्व विशिष्ट जो ष्यङन्त पूर्वपद उसके अवयव ष्यङ् को सम्प्रसारण हो' ऐसा अर्थ करने पर परमकारीषगन्ध्या + पुत्र इस स्थिति में कारीषगन्ध्या जो ष्यङन्त शब्द है, वह पूर्वपद नहीं है, और परमकारीषगन्ध्या जो पूर्वपद है वह ष्यङन्ततदादि नहीं है । ऐसी स्थिति में जब यहीं पर सम्प्रसारण की प्राप्ति नहीं है तब इस के समान अतिकारीषगन्ध्यापुत्र में भी सम्प्रसारण होना चाहिये, यह कथन कहाँ तक संगत है ? तात्पर्य यह कि यह अवतरण ठीक नहीं है ।

उपर्युक्त शंका के उत्तर में यह कहा जाता है कि परिभाषा के अवतरण में जो इव शब्द आया है उसे 'अतिगन्ध्यापुत्र' के आगे रखकर इस प्रकार अवतरण का अर्थ किया जायेगा कि जिस प्रकार 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः' इस प्रयोग में सम्प्रसारण होता है उसी प्रकार परमकारीषगन्धीपुत्र में भी होना चाहिये । तात्पर्य यह है कि 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः' इस प्रयोग में अतिकारीषगन्ध्या यह पूर्वपद होते हुए भी तदादित्वविशिष्ट ष्यङन्त पूर्वपद नहीं है और जो कारीषगन्ध्या इतना अंश है वह यद्यपि ष्यङन्ततदादि (तदादित्वविशिष्टष्यङन्त) तो है किन्तु वह पूर्वपद नहीं है, इसलिये सम्प्रसारण विधायकसूत्र के अर्थानुसार स्थिति यहाँ न होने के कारण जिस प्रकार यहाँ सम्प्रसारण नहीं होता, उसी प्रकार 'परमकारीषगन्धीपुत्रः' इस प्रयोग में भी सम्प्रसारण नहीं होना चाहिये । क्योंकि जिस प्रकार तदादित्वविशिष्ट पूर्वपद का अभाव 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः' इस प्रयोग में है, उसी प्रकार परम-कारीषगन्धीपुत्र में भी है । इस पर यह कहा जा सकता है कि जब 'अतिकारीष-गन्ध्यापुत्रः' इस प्रयोग में सम्प्रसारण होता ही नहीं है तो 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः' की भाँति 'परमकारीषगन्धीपुत्रः' इसमें भी सम्प्रसारण होना चाहिये, ऐसा अवतरण का अर्थ क्यों किया गया है ? इस शंका का उत्तर यह है कि जिस स्थान पर घट नहीं होता वहाँ इस प्रकार की वक्रोक्ति भी की जाती है कि यहाँ स्वप्रतियोगिका-भाववत्वसम्बन्ध से घट है । तात्पर्य यह है कि यहाँ घटप्रतियोगिक अभाव अर्थात्

घटाभाव है। उसी प्रकार स्वप्रतियोगिक-अभाववत्वसम्बन्धेन सम्प्रसारण जिस प्रकार 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः' इस प्रयोग में होता है, उसी प्रकार 'परमकारीषगन्धीपुत्रः' इस प्रयोग में भी होना चाहिये। अर्थात् 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः' की भाँति 'परमकारीषगन्धीपुत्रः' इस प्रयोग में भी सम्प्रसारण नहीं होना चाहिये, यही परिभाषा के अवतरण का रहस्य है।

उपर्युक्त प्रकार से 'परमकारीषगन्धीपुत्रः' इस प्रयोग में सम्प्रसारण के अभाव की स्थिति उत्पन्न होने पर प्रस्तुत परिभाषा को स्वीकार किया गया। परिभाषा को स्वीकार करने का परिणाम यह हुआ कि 'परमकारीषगन्धीपुत्रः' इस प्रयोग में तो सम्प्रसारण होता है, किन्तु 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः' इस प्रयोग में नहीं होता। इस विभिन्नता के लिये 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' इस सूत्र की आवृत्ति की जाती है। उनमें एक सूत्र अनुपसर्जनविषयक तथा दूसरा उपसर्जनविषयक होता है। अनुपसर्जनविषयक सूत्र में इस परिभाषा की उपस्थिति होने पर ऐसा परिभाषार्थ होता है कि स्त्रीप्रत्ययमात्रबोधकपदघटितशास्त्र में अनुपसर्जन की उपस्थिति होती है और वहाँ तदादिविशेष्यक तदन्तविधि नहीं होती है। इससे अनुपसर्जनविषयक सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है। अनुपसर्जन ष्यङ् तदन्त पूर्वपद तदवयव निर्दिश्यमान ष्यङ् को सम्प्रसारण होता है।

'उपसर्जन-स्थल में तो तदादिविशेष्यक तदन्तविधि होती ही है' ऐसा परिभाषार्थ स्वीकार कर दूसरे 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा—उपसर्जनीभूत जो ष्यङ्, तदादित्वविशिष्टतदन्त जो पूर्वपद तदवयव ष्यङ् को सम्प्रसारण होता है।

इन दोनों में अनुपसर्जनविषयक सूत्र का उदाहरण 'परमकारीषगन्धीपुत्रः' है। यहाँ कर्मधारयसमास होने के कारण ष्यङ्-प्रत्यय अनुपसर्जन है, अतः यहाँ तदादित्वविशिष्ट पूर्वपद की अपेक्षा न होकर केवल ष्यङन्त पूर्वपद अपेक्षित है, जो परमकारीषगन्ध्या रूप में यहाँ प्रस्तुत है। अतः यहाँ सम्प्रसारण होकर 'परमकारीषगन्धीपुत्रः' इस प्रयोग की सिद्धि होती है।

उपसर्जनविषयक सूत्र का उदाहरण—'कारीषगन्ध्या इव मनुष्यः कारीषगन्ध्या तस्याः पुत्रः कारीषगन्धीपुत्रः'। यहाँ पर कारीषगन्ध्या यह ष्यङन्त शब्द इवार्थ में विशेषण है, इसलिये यहाँ ष्यङ्-प्रत्यय उपसर्जन है। इस प्रकार तदादित्वविशिष्ट उपसर्जनष्यङन्त पूर्वपद कारीषगन्ध्या है, अतः उसके अवयव ष्यङ् को सम्प्रसारण होकर 'कारीषगन्धीपुत्रः' यह रूप बनाया जाता है।

'अतिकारीषगन्ध्यापुत्रः' इस प्रयोग में सम्प्रसारण नहीं होता, क्योंकि यहाँ ष्यङ् अतिक्रान्त पदार्थ के प्रति उपसर्जन है और उपसर्जन स्थल में तदादिविशेष्यक

तदन्तविधि का निषेध नहीं होता है। ऐसी स्थिति में अतिकारीषगन्ध्या को तदादित्वविशिष्टष्यङन्त पूर्वपद नहीं होने के कारण यहाँ सम्प्रसारण नहीं होता है। इसी बात को ग्रन्थकार मूल में इस प्रकार कह रहें हैं—

विषयसप्तमीयम्। यः स्त्रीप्रत्ययः स्त्रियं प्राधान्येनाह तत्र तदादिनियमो न, यस्त्वप्राधान्येनाह तत्र तदादिनियमोऽस्त्येवेत्यर्थः।

प्रस्तुत परिभाषा में 'स्त्रीप्रत्यये' इस पद में जो सप्तमी है, वह विषयसप्तमी है। अर्थात् स्त्रीप्रत्यय की विषयता में ही यदि यह प्रतीत हो जाय कि यहाँ स्त्री प्रत्यय अनुपसर्जन होने की स्थिति में है, तो वहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है।

जो स्त्रीप्रत्यय प्रधानरूप से स्त्रीत्व को कहता है वहाँ तदादि नियम नहीं होता है, अर्थात् वहाँ तदादिविशेष्यक तदन्तविधि नहीं होती है। स्त्रीप्रत्यय को प्रधानरूप से कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्रीप्रत्यय जहाँ अनुपसर्जन रहे, क्योंकि अनुपसर्जन स्त्रीप्रत्यय ही प्रधानरूप में कहा जा सकता है।

जो स्त्रीप्रत्यय स्त्रीत्व को अप्रधानरूप में अर्थात् उपसर्जन रूप में कहता है वहाँ पर तदादिविशेष्यक तदन्तविधि तो होती ही है। ऊपर इस बात का सोदाहरण व्याख्यान किया जा चुका है।

अब इस परिभाषा में आये हुए अनुपसर्जन शब्द में प्रतियोगिमुद्रया प्रविष्ट उपसर्जन शब्द पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है। यहाँ पर उपसर्जन शब्द से 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इस सूत्र से विहित शास्त्रीय उपसर्जन नहीं लिया जाता, क्योंकि वह उपसर्जनत्व समासशास्त्रीय प्रथमान्तपदबोध्य को होता है। ष्यङ् प्रत्यय में इस प्रकार का शास्त्रीय उपसर्जनत्व कथमपि संभव नहीं है। इसी प्रकार इतरपदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्वरूप उपसर्जनत्व भी यहाँ नहीं लिया जाता, क्योंकि इस प्रकार का उपसर्जन लेने पर 'परमकारीषगन्धीपुत्रः' इस उदाहरण में स्त्रीत्वविशिष्ट कारीषगन्ध्या का बोध होने के कारण स्त्रीत्व का प्रकारतया भान होने से यहाँ भी उपसर्जनत्व होने लग जायेगा। इसलिये इस परिभाषा में 'स्वान्तपर्याप्तशक्तिनिरूपकार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठावच्छेदकताप्रयोजकत्वमुपसर्जनत्वम्' ऐसा उपसर्जन लिया जाता है। इसका समन्वय इस प्रकार होता है—यहाँ स्व शब्द से स्त्रीप्रत्यय का ग्रहण होता है। 'अतिकारीषगन्ध्या' इस शब्द में स्व-पद से ष्यङ्-प्रत्यय लिया गया, तदन्तसमुदाय 'अतिकारीषगन्ध्या' हुआ, तत्पर्याप्त शक्तिनिरूपक अर्थ=कारीषगन्ध्याकर्मक अतिक्रमणकर्त्री रूप अर्थ होगा। यहाँ मुख्य विशेष्यता अतिक्रमणकर्त्री में है, तन्निरूपित प्रकारता स्त्रीत्वविशिष्ट कारीषगन्ध्या में है। क्योंकि स्त्रीत्वविशिष्ट कारीषगन्ध्या अतिक्रमणकर्त्री पदार्थ में प्रकार (विशेषण) है, इसलिये विशेषण का विशेषण क्योंकि विशेषणतावच्छेदक होता है, इसलिये यहाँ स्त्रीत्व में अवच्छेदकता सिद्ध होती है उसका

प्रयोजक ष्यङ्-प्रत्यय है, इसलिये यहाँ ष्यङ् उपसर्जन होता है। 'परमकारीषगन्धी-पुत्रः' इस प्रयोग में ष्यङ्-प्रत्यय में यह उपसर्जनत्व इसलिये नहीं जाता कि यहाँ परमा चासौ कारीषगन्ध्या यह कर्मधारयसमास होने के कारण कारीषगन्ध्या में विशेष्यता होती है, न कि प्रकारता। इसलिये यहाँ उपसर्जनत्व नहीं होता है।

इस सन्दर्भ में अब एक यह सन्देह उपस्थित होता है कि 'राज्ञः कुमारी=राज-कुमारी, राजकुमारीमतिक्रान्तः पुरुषः अतिराजकुमारिः' यह प्रयोग बनता है। यहाँ 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इस सूत्र से कुमारीशब्दावयव ईकार, जो स्त्रीप्रत्यय का ईकार है, उसे ह्रस्व होता है, जिससे उक्त रूप की सिद्धि होती है। किन्तु अब यह ह्रस्व संभव नहीं हो रहा है, क्योंकि 'गोस्त्रियोः' सूत्र का अर्थ करने से पूर्व यह देखना आवश्यक है कि अतिराजकुमारी का ङीप्प्रत्यय परिभाषा में वाञ्छित उप-सर्जन है या नहीं ? यदि प्रस्तुत ङीप् अनुपसर्जन होगा तो तदादि नियम का निषेध करके सूत्रार्थ होगा। यदि उपसर्जन होगा तो तदादिविशेष्यक तदन्तविधि करके सूत्रार्थ किया जायेगा। इस सन्दर्भ को दृष्टिगत कर विवेचन करने से स्पष्ट है कि 'अतिराजकुमारीघटक ङीप्-प्रत्यय में उपर्युक्त उपसर्जन का लक्षण भलीभाँति सम-न्वित होता है क्योंकि स्वान्तपर्याप्तशक्तिनिरूपक अर्थ=राजकुमारीकर्मक अतिक्रमण-कर्त्ता रूपी अर्थ है, तन्निष्ठविशेष्यतानिरूपित प्रकारता कुमारी में है, तन्निरूपित स्त्रीत्वनिष्ठ अवच्छेदकता का प्रयोजक ङीप् प्रत्यय है' अतः यह उपसर्जन है। 'स्त्री-प्रत्यये चानुपसर्जनेन' इस परिभाषा के सम्बन्ध में जैसा कि पहले कहा जा चुका है यह परिभाषा अनुपसर्जन स्त्रीप्रत्यय स्थल में तदादिविशेष्यक तदन्तविधि का निषेध करती है, किन्तु उपसर्जन स्त्रीप्रत्यय-स्थल में तदादिविशेष्यक तदन्तविधि तो होती ही है। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि 'गोस्त्रियोः' इस सूत्र में जो उपसर्जन पद है उससे एक विभक्ति चापूर्वनिपात का उपसर्जन अथवा इतरपदार्थ-निष्ठविशेष्यतानिरूपित-प्रकारताश्रयरूपी उपसर्जन लिया है। इस सन्दर्भ में अब 'अतिराजकुमारी' प्रयोग पर विचार करने से विदित होता है कि यहाँ उपसर्जन स्त्रीप्रत्यय ङीप् है, तदन्ततदादि कुमारी शब्द है, यह कुमारी शब्द 'अतिराजकुमारी' इस समास में उपसर्जन नहीं है, किन्तु अतिक्रान्त पदार्थ की अपेक्षा 'राजकुमारी' यह शब्द उपसर्जन है, किन्तु यह स्त्रीप्रत्ययान्ततदादि नहीं है क्योंकि ङीप् रूपी स्त्री-प्रत्यय कुमार शब्द से हुआ है, न कि राजकुमार शब्द से। इसलिये यहाँ ह्रस्व की सिद्धि नहीं हो रही है। इस शंका को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार लिख रहे हैं—

प्रत्यासत्त्या यस्य समुदायस्य स्त्रीप्रत्ययान्तत्वमानेयं तदर्थं प्रत्यनुप-सर्जनत्वमेवैतत्परिभाषाप्रवृत्तौ निमित्तम्। तेन 'अतिराजकुमारिः' इत्यादौ राजकुमारीशब्दार्थस्यातिशब्दार्थं प्रत्युपसर्जनत्वेऽपि तदर्थ प्रत्यनुपसर्जन-त्वात् तदादिनियमाभावेन ह्रस्वसिद्धिः।

उपस्थितत्वात् जिस समुदाय में स्त्रीप्रत्ययान्तत्व ले आना हो उस समुदाय के प्रति स्त्रीप्रत्यय यदि अनुपसर्जन हो तो ऐसा अनुपसर्जन ही प्रकृत परिभाषा (स्त्री-प्रत्यये चानुपसर्जने न) की प्रवृत्ति में कारण होता है। 'अतिराजकुमारी' इस प्रयोग में 'गोस्त्रियोः' इस सूत्र से ह्रस्व करने के लिये 'राजकुमारी' शब्द में स्त्री-प्रत्ययान्तत्व ले आना वाञ्छित है। इस 'राजकुमारी' समुदाय के प्रति ङीप् प्रत्यय अनुपसर्जन ही है क्योंकि तन्निष्ठशक्तिनिरूपक अर्थ राजसम्बन्धिकुमारी रूप अर्थ है, यहाँ कुमारी में विशेष्यता है न कि प्रकारता। इस प्रकार स्वान्तपर्याप्तशक्ति-निरूपकार्थनिष्ठ विशेष्यतानिरूपित-प्रकारतानिरूपित-स्त्रीत्वनिष्ठ अवच्छेदकता का प्रयोजक न होने के कारण यहाँ का ङीप् प्रत्यय उपसर्जन नहीं है। इस प्रकार अनुपसर्जन स्त्रीप्रत्यय होने के कारण 'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न' इस परिभाषा की प्रवृत्ति होने से यहाँ तदादिविशेष्यक तदन्तविधि का निषेध हो जायेगा। इसलिये अनुपसर्जन जो स्त्रीप्रत्यय, तदन्त जो उपसर्जन, तदन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व हो, ऐसा 'गोस्त्रियोः' सूत्र का अर्थ होगा। अतिराजकुमारी शब्द में अनुपसर्जन स्त्रीप्रत्यय ङीप् है तदन्त और अत्यर्थ के प्रति उपसर्जन शब्द राजकुमारी है अतः तदवयव ईकार को ह्रस्व करके 'अतिराजकुमारिः' यह प्रयोग बनता है।

यहाँ राजकुमारी शब्द अति शब्दार्थ के प्रति यद्यपि उपसर्जन है तथापि जिस राजकुमारी में स्त्रीप्रत्ययान्तत्व वाञ्छित है उसके अर्थ के प्रति ङीप् प्रत्यय अनुपसर्जन ही है, इसलिये यहाँ तदादिविशेष्यक तदन्तविधि न होने के कारण ह्रस्व की सिद्धि हो गई है। यहाँ 'राजकुमारी' में स्त्रीप्रत्ययान्तत्व ले आना क्यों वाञ्छित है? कुमारी शब्द में क्यों नहीं वाञ्छित है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उस स्त्रीप्रत्ययान्त को ह्रस्व किया जाता है, जो उपसर्जन (एकविभक्ति चापूर्वनिपात वाला) हो, अथवा किसी पदार्थ के प्रति प्रकार बनकर उपसर्जन हुआ हो। यह उपसर्जनत्व 'राजकुमारी' में ही है। क्योंकि वही अतिक्रान्त पदार्थ के प्रति विशेषण बन कर उपसर्जन हुआ है। कुमारी पदार्थ तो षष्ठी समास के द्वारा प्रधान ही सिद्ध हो चुका है, अतः वह उपसर्जन नहीं है। इसलिये यहाँ राजकुमारी में ही स्त्रीप्रत्ययान्तत्व ले आना अभीष्ट है।

अत एवात्र परिभाषायां न शास्त्रीयमुपसर्जनत्वम्, असम्भवात्। अस्याः 'प्रत्ययग्रहणे' (प० २३) इत्यस्यापवादत्वात्तदेकवाक्यतापन्नत्वाच्चात्रापि ग्रहणपदसम्बन्धेन स्त्रीप्रत्ययसामान्यग्रहणे तद्विशेषग्रहणे च प्रवृत्तिर्न तु स्त्रीप्रत्ययास्त्रीप्रत्ययग्रहणे। ध्वनितश्चेदम् 'अर्थवत्' (१-२-४५) सूत्रे भाष्ये। इत्थञ्च वाचनिक्येव 'ष्यङः' (६-१-१३) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टा ॥ २६ ॥

अत एव=इस परिभाषा में वाञ्छित उपसर्जनत्व की प्रत्ययमात्र में विवक्षा होने के कारण, इस परिभाषा में 'प्रथमानिर्दिष्टम्' 'एकविभक्तिचापूर्वनिपाते' इत्यादि सूत्रों से विहित शास्त्रीय उपसर्जन नहीं लिया जाता, क्योंकि ये दोनों उपसर्जन तो समासशास्त्रीयप्रथमान्तपदबोध्य को और विग्रह में नियतविभक्तिक को ही होते हैं। इसलिये केवल प्रत्यय में इनका मिलना सम्भव नहीं होता। तस्मात् यहाँ शास्त्रीय उपसर्जन नहीं लिया जाता है।

यह परिभाषा 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितः' इस परिभाषा का अपवाद है, इसलिये निषेधक और निषेध्य की एकवाक्यता होने के कारण इसमें भी ग्रहण पद करण व्युत्पत्ति से बोधकपरक होता है, इसलिये यह परिभाषा स्त्रीप्रत्ययसामान्यबोधक पदघटितशास्त्र 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' और स्त्रीप्रत्ययविशेषबोधक पदघटितशास्त्र 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' इन दोनों जगहों पर लगती है।

जो प्रत्ययमात्रबोधक पद स्त्रीप्रत्यय और तद्भिन्नप्रत्यय अर्थात् प्रत्ययसामान्य का बोधक है, वहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इस सूत्र के समासग्रहण की नियमार्थता संभव होती है। अन्यथा 'अर्थवत्' सूत्र का प्रत्ययग्रहण जो स्त्रीप्रत्यय और तद्भिन्न प्रत्ययमात्र का बोधक है, वहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति होने पर अनुपसर्जन स्त्रीप्रत्यय में तदादिनियम का निषेध हो जाता है जिससे प्रत्ययान्त तदादिभिन्न यह अर्थ नहीं होता, किन्तु केवल प्रत्ययान्तभिन्न को प्रातिपदिक संज्ञा हो ऐसा 'अप्रत्यय' इस अंश का अर्थ होता। इसका परिणाम यह होता कि 'राजकुमारी' इस समास को प्रत्ययान्त होने के कारण अर्थवत् सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा सिद्ध नहीं होती, इसलिये समासग्रहणअप्राप्तप्रातिपदिकसंज्ञाविधान के लिये सार्थक हो जाता। ऐसी स्थिति में उसके लिये नियमार्थत्व का भाष्यकारीय कथन असंगत हो जाता। इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि प्रत्ययसामान्यबोधक पदघटित शास्त्र में यह परिभाषा नहीं लगती है। यह बात 'अर्थवत्' सूत्र के भाष्य में ध्वनित है। भाष्यकार ने इस परिभाषा में कोई ज्ञापक नहीं प्रस्तुत किया है। इसलिये यह परिभाषा वाचनिक अर्थात् वचनरूपेण पठित है। यह 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' इस सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है ॥ २६ ॥

नन्वेवं 'तरप्तमपौ घः' (१-१-२२) इत्यादिना तरबन्तादेः संज्ञा स्यादत आह—

इस प्रकार 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितः' इस परिभाषा को स्वीकार करने पर एक यह दोष उपस्थित होता है 'तरप्तमपौ घः' इस घ-संज्ञाविधायक सूत्र में तरप् और तमप् इन दोनों प्रत्ययों के आधार पर तदादिविशेष्यक तदन्तविधि करके तरबन्त

और तमबन्त तदादि को घ-संज्ञा होने लगेगी। वास्तव में घ-संज्ञा तो तरप् और तमप् इन दोनों प्रत्ययों को ही होती है, किन्तु अब तरबन्त और तमबन्त को प्राप्त है। यदि इन्हें घ-संज्ञा कर दी जाती है तो इसका परिणाम यह होगा कि 'कुमारी–गौरितरा' इस स्थिति में गौरितरा को घ-संज्ञक मान कर उससे पूर्व कुमारी शब्दावयव ईकार को ह्रस्व होने लगेगा। इस शंका को ध्यान में रख कर यह परिभाषा बनायी गई—

संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति ॥ २७ ॥

प्रत्ययमात्रबोधक पदघटितशास्त्र द्वारा यदि किसी संज्ञा का विधान किया जाता हो तो, उस शास्त्रघटक प्रत्यय पद से तदादिविशेष्यक तदन्तविधि नहीं होती है। उपर्युक्त दोषस्थल में तरप् और तमप् ये दोनों प्रत्ययमात्रबोधक हैं। इनसे घटित सूत्र के द्वारा घ-संज्ञा विधेय है, अतः यहाँ तदन्तविधि नहीं हुई। परिणाम यह हुआ कि तरबन्त को घ-संज्ञा नहीं हुई। इस प्रकार कुमारी गौरितरा का दोष दूर हो गया।

परिभाषा का इस प्रकार अर्थ करने पर एक यह दोष उपस्थित होता है कि 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इस प्रातिपदिकसंज्ञाविधायक सूत्र में भी तदन्तविधि का निषेध हो जायेगा। फलस्वरूप कृदन्त और तद्धितान्त को वाञ्छित प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो सकेगी। इस प्रकार की शंका होने पर परिभाषा का अर्थ इस प्रकार किया जाता है—संज्ञानिष्ठविधेयतानिरूपित उद्देश्यता जहाँ साक्षात् प्रत्यय में रहे, वहीं तदादिविशेष्यक तदन्तविधि नहीं होती। प्रत्यय में साक्षात् उद्देश्यता कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्यय में जहाँ परम्परया उद्देश्यता रहेगी, वहाँ तदन्तविधि का निषेध नहीं होगा।

'कृत्तद्धितसमासाश्च' इस सूत्र का 'कृत्-तद्धित जो अर्थवत् उसे प्रातिपदिक-संज्ञा होती है' ऐसा अर्थ करने से स्पष्ट है कि प्रातिपदिकसंज्ञानिष्ठ विधेयता-निरूपित साक्षात् उद्देश्यता अर्थवत् में है, और उसका विशेषण होने के कारण परम्परया उद्देश्यता 'कृत्तद्धित' में है, इसलिये यहाँ तदन्तविधि का निषेध नहीं हुआ।

'सुप्तिङन्तम्' (१–४–१४) इत्यन्तग्रहणमस्यां ज्ञापकम्। न च प्रत्यययोः पदसंज्ञायामपि 'प्रत्ययग्रहणे'परिभाषया तदन्तग्रहणसम्भवाज्ज्ञापितेऽपि फलाभाव इति वाच्यम्, पदसंज्ञायाः 'स्वादिषु' (१–४–१७) इति विषये प्रकृतिनिष्ठतया पदग्रहणस्य प्रत्ययमात्रग्रहणत्वाभावात्। 'सुप्तिङन्तम्' (१–४–१४) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टा ॥ २७ ॥

'सुप्तिङन्तं पदम्' इस सूत्र का अन्तग्रहण इस परिभाषा में ज्ञापक है। सुबन्त और तिङन्त को पदसंज्ञा करने के लिये यहाँ अन्तग्रहण किया गया है। यहाँ यह

जिज्ञासा होती है कि प्रस्तुत सूत्र में सुप् और तिङ् ये दोनों प्रत्ययबोधक शब्द हैं, इसलिये 'प्रत्ययग्रहणे' परिभाषा के द्वारा तदादि की उपस्थिति और तद्विशेष्यक तदन्तविधि करके सुबन्त और तिङन्त तदादि को पदसंज्ञा जब स्वतः सिद्ध है तो उसके लिये अन्तग्रहण की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार अन्तग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है। यहाँ पदसंज्ञानिष्ठ विधेयतानिरूपित साक्षात्-उद्देश्यता सुप् तिङ् प्रत्यय में है, अतः यहाँ तदन्तविधि का निषेध हो जाने के कारण सुबन्त और तिङन्त की पदसंज्ञा करने के लिये अन्तग्रहण की सार्थकता होती है।

अब यहाँ यह शंका होती है कि "सुप्तिङन्तं पदम्" इस सूत्र के अन्तग्रहण से इस परिभाषा को ज्ञापित करने पर भी अन्तग्रहण की स्वांश में चरितार्थता (आवश्यकता) नहीं हो रही है, क्योंकि उसके अभाव में भी सुबन्त और तिङन्त को पदसंज्ञा सिद्ध है। यदि कहा जाय कि इस परिभाषा से निषेध की स्थिति में बिना अन्तग्रहण के सुबन्त और तिङन्त को पदसंज्ञा किस प्रकार सम्भव है, तो इसका उत्तर ग्रन्थकार इस प्रकार देते हैं कि अन्तग्रहण के अभाव में सुप् और तिङ् की पदसंज्ञा होगी। ऐसी स्थिति में पद शब्द से घटित 'पदस्य' 'पदव्यवायेऽपि' इत्यादि जितने सूत्र होंगे, उन सभी में पद शब्द से सुप् और तिङ् इन दोनों का ग्रहण होगा और इन दोनों के प्रत्ययमात्रबोधक होने के कारण 'प्रत्ययग्रहणे' परिभाषा से सब जगह तदादिविशेष्यक तदन्तविधि करके सुबन्त और तिङन्त तदादि का बोध हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि सुप् और तिङ् की पदसंज्ञा करने पर भी पद शब्द से सुबन्त और तिङन्त ही लिये जायेंगे, इस प्रकार अन्तग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। मूल में 'ज्ञापितेऽपि फलाभावः' जो लिखा गया है, उसमें फलाभावः का अर्थ चारितार्थ्याभावः है। अर्थात् अन्तग्रहण इस परिभाषा को ज्ञापित करके भी स्वांश में चरितार्थ नहीं हो रहा है।

इस प्रकार की शंका के उत्तर में कहा गया है कि यह शंका तब उचित होती जब पद शब्द से सब जगह सुप् और तिङ् ये दो प्रत्यय ही लिये जाते। किन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है क्योंकि 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इस सूत्र से जो पदसंज्ञा होती है वह सर्वनामस्थानभिन्न हलादिस्वादि प्रत्यय पर में रहने पर प्रकृतिमात्र को होती है। इस प्रकार पदसंज्ञा के प्रकृतिनिष्ठ होने के कारण पद शब्द से सब जगह प्रत्यय-मात्र (सुप्-तिङ्) का ग्रहण सम्भव नहीं है। अतः पद शब्द से सुप् तिङ् का ग्रहण कर उनसे तदादि की उपस्थिति कराकर तद्विशेष्यक तदन्तविधि सम्भव होने के कारण सुबन्त और तिङन्त को पदसंज्ञा करने के लिये अन्तग्रहण की आवश्यकता (चरितार्थता) होती है। 'सुप्तिङन्तं पदम्' इस सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है ॥ २७ ॥

ननु अवतप्ते 'नकुलस्थितमि'त्यादौ नकुलस्थितशब्दस्य क्तान्तत्वाभावात्समासो न स्यादत आह—

'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितः' इस परिभाषा को मानने पर एक यह दोष उपस्थित होता है कि 'क्षेपे' इस सूत्र से 'अवतप्ते नकुलस्थितम्' इस प्रयोग में समास नहीं होगा। समास न होने का कारण यह है कि 'क्षेपे' इस सूत्र में 'क्तेनाहोरात्रावयवाः' इस सूत्र से 'क्तेन' इस पद की अनुवृत्ति होती है। इस अनुवृत्त पद में क्त प्रत्यय समाविष्ट है, इसलिये प्रत्ययग्रहणे परिभाषा के द्वारा तदादिविशेष्यक तदन्तविधि करके ऐसा सूत्रार्थ होगा, कि—'क्तान्ततदादिशब्दप्रकृतिक सुबन्त के साथ सप्तम्यन्त का समास होता है'। ऐसा अर्थ होने पर नकुल स्थित शब्द प्रकृतिक सुबन्त के साथ अवतप्ते इस सप्तम्यन्त का समास नहीं होगा, क्योंकि 'नकुलस्थित' शब्द क्तान्ततदादि नहीं है। क्तान्ततदादि तो केवल इसमें स्थित शब्द है, किन्तु समास नकुलस्थित के साथ करना वाञ्छित है जो अब सम्भव नहीं हो रहा है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यहाँ समास के अनन्तर 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' सूत्र से सप्तमी का अलुक् हुआ है। इस प्रकार यहाँ समास की असिद्धि को देखकर यह परिभाषा बनायी गयी—

कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् ॥ २८ ॥

कृत्प्रत्ययबोधक पदघटितशास्त्र (सूत्र) में गतिपूर्वक और कारकपूर्वक का भी ग्रहण करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि कृत्प्रत्यय की प्रकृति से पूर्व जहाँ गति और कारक रहे, जिसके कारण उस शब्द में कृदन्ततदादित्व का व्यवहार न होता हो, ऐसे गतिपूर्वक और कारकपूर्वक शब्द का भी कृत् पदघटितशास्त्रीय कृत् पद से ग्रहण कर लेना चाहिये। अर्थात् अतदादि में तदादित्व का आरोप करके उसे कृदन्त तदादि मान लेना चाहिये।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि 'क्षेपे' इस सूत्र में क्तान्ततदादि से 'नकुलस्थित' इस कारकपूर्वक का ग्रहण हो जाता है, जिससे वाञ्छित समास की सिद्धि होती है।

अस्याश्च कर्मणि क्तान्त उत्तरपदेऽनन्तरो गतिः प्रकृतिस्वर इत्यर्थके 'गतिरनन्तरः' (६-२-४९) इति सूत्रेऽनन्तरग्रहणं ज्ञापकम्। तद्धि अभ्युद्धृतमित्यादावतिव्याप्तिवारणार्थम्। प्रत्ययग्रहणपरिभाषयोद्धृतस्य क्तान्तत्वाभावादेवाप्राप्तौ तद् व्यर्थं सदस्या ज्ञापकम्। न चाभ्युद्धृतमित्यादौ परत्वाद् 'गतिर्गतौ' (८-१-७०) इत्यनेनाभेर्निघात एवेति वाच्यम्, पादादित्वेन पदात्परत्वाभावेन च तदप्राप्तेः। अनन्तरग्रहणे कृते तु तत्सामर्थ्याद्गत्याक्षिप्तधातुनिरूपितमेवानन्तर्यं गृह्यत इति न दोषः। न चाभ्युद्-

धृतमित्यादावभिना समासेऽनन्तरस्योदः पूर्वपदत्वाभावेऽपि स्वरार्थं तदिति वाच्यम्, 'कारकाद्दत्त' (६–२–१४८) इति सूत्रे कारकादिति योगं विभज्य गतिग्रहणमनुवर्त्य कारकादेव परं गतिपूर्वपदं क्तान्तमन्तोदात्तमिति नियमेन थाथादिस्वराप्राप्त्या कृत्स्वरेणोद उदात्तत्वसिद्धेः। तस्मादनन्तरग्रहणं व्यवहितनिवृत्यर्थमेवेति ज्ञापकमेव।

'गतिरनन्तरः' इस सूत्र का अनन्तरग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। कर्म में जो क्तप्रत्यय तदन्त शब्द पर में रहने पर अनन्तर गति को प्रकृति स्वर (उदात्तस्वर) का विधान यह सूत्र करता है। अनन्तरग्रहण के कारण जो गतिसंज्ञक शब्द अन्तर (व्यवहित) होता है, उसे यह स्वर नहीं होता। इसलिये 'अभ्युद्धृतम्' इस प्रयोग में 'हृत' इस क्तान्ततदादि को पर में मान कर 'उत्' इस गति को ही यह प्रकृति स्वर होता है। 'अभि' इस गतिसंज्ञक को यह स्वर नहीं होता है, क्योंकि वह व्यवहितगति है। यदि अनन्तर ग्रहण नहीं किया गया होता तो 'अभि' को यह प्रकृतिस्वर हो जाता, जिससे अतिव्याप्ति दोष की प्रसक्ति हो जाती। इस प्रकार 'अभ्युद्धृतम्' इस प्रयोग में अतिव्याप्ति दोष का वारण करना ही अनन्तर ग्रहण का प्रयोजन है। किन्तु विचार करने से विदित होता है कि यदि अनन्तर ग्रहण न भी किया जाय तो 'अभ्युद्धृतम्' इस प्रयोग में अभि इस गतिसंज्ञक को प्रकृतिस्वर की प्राप्ति नहीं है, क्योंकि 'अभि' क्तान्ततदादि-हृत शब्द से पूर्व में नहीं है। जिस 'उद्धृत' शब्द से पूर्व में अभि है, वह 'उद्धृत' शब्द क्तान्ततदादि नहीं है। 'प्रत्ययग्रहणे' परिभाषा के द्वारा क्तान्ततदादित्व 'हृत' शब्द में ही है, न कि 'उद्धृत' शब्द में। इस प्रकार 'अभि' इस गतिसंज्ञक को प्रकृतिस्वर की प्राप्ति ही नहीं है, तब उसके निषेध के लिये किये गये 'अनन्तर' ग्रहण की व्यर्थता स्पष्ट ही है। इस प्रकार 'अनन्तर' ग्रहण व्यर्थ होकर प्रस्तुत परिभाषा का ज्ञापन करता है।

यहाँ अब यह शंका होती है कि इस परिभाषा के ज्ञापित होने पर 'उद्धृत' शब्द क्तान्ततदादि कहा जायेगा। उससे अव्यवहित पूर्व में 'अभि' शब्द है ही। अतः अनन्तरग्रहण करने पर भी अभि को प्रकृतिस्वर की प्राप्ति रहती ही है, तो अनन्तर-ग्रहण की सार्थकता किस प्रकार सम्भव है? इस शंका के उत्तर में कहा गया है कि अनन्तरग्रहण के सामर्थ्य से उस गति को प्रकृति स्वर होगा, जो 'गति' धातु से अनन्तर पूर्व में हो। गति में धातु के आनन्तर्य की विवक्षा का कारण यह है कि गतिसंज्ञा क्रियायोग में होती है और क्रिया का वाचक धातु होता है, इसलिये गति से धातु का आक्षेप होगा और उसी के अनन्तर गति को यह स्वर किया जायेगा। इस विवेचन के अनुसार अभि को स्वर की प्रसक्ति नहीं होती है, क्योंकि वह धातु से अनन्तर पूर्व में नहीं है।

यहाँ अब यह शंका होती है कि अभि को उदात्तस्वर (प्रकृतिस्वर) न हो जाय, इसलिये 'गतिरनन्तरः' इस सूत्र में अनन्तर ग्रहण किया गया है, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'गतिरनन्तरः' इस सूत्र को परत्वात् बाधकर, यहाँ 'गतिर्गतौ' इस सूत्र से अभि को निघात (अनुदात्त) हो जायेगा। ऐसी स्थिति में अभि को उदात्तस्वर न हो जाय, इसलिये अनन्तरग्रहण की क्या आवश्यकता है ? इस शंका के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि—अभि यह गतिसंज्ञक शब्द किसी पद से पर में नहीं है अतः यह पद के आदि में स्थित है, इसलिये 'गतिर्गतौ' सूत्र की यहाँ प्राप्ति नहीं है। तस्मात् उसे प्रकृति स्वर के वारण के लिये अनन्तरग्रहण की आवश्यकता है। यह आनन्तर्य गत्याक्षिप्त धातु की अपेक्षा लिया जाता है, इसलिये अभि को यह प्रकृतिस्वर नहीं होता है।

अनन्तरग्रहण की सार्थकता के ऊपर पुनः एक इस प्रकार का सन्देह होता है कि उत् का हृत् के साथ 'कुगति प्रादयः' से समास करने पर सर्वप्रथम 'समासस्य' इस सूत्र से अन्तोदात्त प्राप्त होता है, उसे बाधकर 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया' इत्यादि सूत्र से अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर प्राप्त होता है, इसे बाधकर गतिकारकोपपदात् कृत् इस सूत्र से कृतस्वर प्राप्त होता है इसे भी बाधकर 'थाथघञ्क्ताजवित्रकाणाम्' इस सूत्र से अन्तोदात्त प्राप्त होता है इस थाथादिस्वर को बाधकर 'गतिरनन्तरः' इस सूत्र से उद्धृत शब्द को आद्युदात्त किया जाता है। उद्धृत शब्द का अभि के साथ समास करने पर, जिस प्रकार उद्धृत शब्द में स्वरों का परस्परबाध्यबाधक भाव होते-होते अन्त में 'गतिरनन्तरः' से उदात्तस्वर होता है, उसी प्रकार यहाँ भी अन्त में 'गतिरनन्तरः' की प्राप्ति होती है। इस सूत्र में "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' इस सूत्र से पूर्वपद की अनुवृत्ति करके इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया जाता है कि कर्म में जो क्त प्रत्यय तदन्त उत्तरपद पर में रहने से प्रत्यासत्या तत्समासीय पूर्वपद रूप जो गतिसंज्ञक शब्द उसे प्रकृतिस्वर होता है। इस अर्थ के अनुसार अभि को प्रकृतिस्वर प्राप्त ही नहीं है, क्योंकि 'अभि' यद्यपि उद्धृत शब्द के साथ किये गये समास में पूर्वपद है, तथापि वह गत्याक्षिप्त धातु से अनन्तर पूर्वपद नहीं है और धातु से अव्यवहित पूर्व में जो 'उत्' है वह तत्समासीय पूर्वपद नहीं है इस प्रकार न तो 'उत्' को और न 'अभि' शब्द को ही स्वर प्राप्त है। इस प्रकार 'गतिरन्तरः' की अप्राप्ति में 'थाथादिस्वर' न होने लग जाय, इसलिये अनन्तरग्रहण की आवश्यकता है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि अभि के साथ उद्धृत का समास करने पर यद्यपि 'उत्' यह पूर्वपद नहीं है तथापि उत् का हृत के साथ जो समास हुआ है, उसमें तो 'उत्' पूर्वपद है ही, इसलिये उसे प्रकृति स्वर हो सकता है। किन्तु यह

कथन इसलिये ठीक नहीं है कि 'उद्धृत' इस समास के पूर्वपदत्व को लेकर प्रवृत्त 'गतिरनन्तरः' यह सूत्र तत्समासीय थाथादिस्वर का ही बाधक होता है। अभि के साथ उद्धृत का समास करने पर पुनः प्राप्त थाथादिस्वर का बाधक यह नहीं हो सकता। इसलिये 'अभ्युद्धृतम्' इस विशिष्ट समास में 'गतिरनन्तरः' की यदि अप्राप्ति होती है तो थाथादिस्वर अवश्यमेव होने लग जायेगा। इसलिये उसे बाधने के लिये अनन्तरग्रहण की आवश्यकता है। अनन्तरग्रहण करने पर तत्सामर्थ्यात् पूर्वोक्त प्रत्यासत्ति का आश्रयण नहीं किया जाता। फल यह होता है कि 'अभ्युद्धृतम्' इस समासीय पूर्वपद के न होने पर भी उद् को प्रकृतिस्वर होता है। इस प्रकार अनन्तर ग्रहण तत्समासीय पूर्वपदभिन्न को स्वरविधान के लिये जब सार्थक है तो वह इस परिभाषा का ज्ञापक किस प्रकार हो सकता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि 'कारकादृत्त' इस सूत्र में 'कारकात्' यह पृथक् योग करके इसमें गतिग्रहण की अनुवृत्ति कर ऐसा अर्थ किया जायेगा कि कारक से पर में रहने वाला गतिपूर्वक क्त प्रत्ययान्त शब्द अन्तोदात्त होता है। किन्तु यह अन्तोदात्तता जब थाथादिस्वर से सिद्ध है तो इस प्रकार योग विभागादि गौरव की क्या आवश्यकता है? इसलिये यह योग विभागीय प्रकार व्यर्थ होकर नियम करता है कि—थाथादिस्वर से उदात्त हो तो वह कारक से पर में ही होना चाहिये। प्रस्तुत उदाहरण में 'अभि' तथा 'उद्' इन दोनों में कोई भी कारक से पर में नहीं है, इसलिये यहाँ थाथादिस्वर की प्राप्ति नहीं है। इसलिये 'गतिकारकोपपदात् कृत्' इस सूत्र से प्रकृतिस्वर के द्वारा 'उद्' को उदात्तत्व की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार 'गतिरनन्तरः' की प्रवृत्ति के बिना भी जब उद् को उदात्त सिद्ध है तो उसके लिये अनन्तरग्रहण की क्या आवश्यकता रह जाती है। इसलिये यही कहना चाहिये कि अनन्तरग्रहण व्यवहित को स्वर निवृत्ति के लिये है। किन्तु पूर्वोक्त रीति से व्यवहित 'अभि' को जब स्वर प्राप्त ही नहीं है तो अनन्तर ग्रहण की व्यर्थता स्पष्ट ही है। इसलिये अनन्तरग्रहण व्यर्थ होकर परिभाषा का ज्ञापक होता है।

यत्र गतिकारकसमभिव्याहृतं कृदन्तं तत्र कृद्ग्रहणे तद्विशिष्टस्यैव ग्रहणम्, अपिशब्दात्तदसमभिव्याहृतस्य केवलस्यापीति तदर्थः। अन्यथा अनया कृद्ग्रहणविषये परत्वात् 'प्रत्ययग्रहण'परिभाषाया बाध एव स्यादित्यपि ग्रहणम्।

अत एव 'साङ्कूटिनमि'ति 'गतिकारकोपपदानाम्' (प० ७६) इति 'कृद्ग्रहण' इति च परिभाषाभ्यां कृदन्तेन समासे कृते विशिष्टादेवाणि सिध्यति, न तु 'सङ्कौटिनमि'तीति 'पुंयोगात्' (४-१-४८) इति सूत्रे भाष्योक्तं सङ्गच्छते। अन्यथा तत्र केवलं कूटिन्नित्येतस्यापीनुणन्तत्वात्ततोऽपि पाक्षिकदोषो दुर्वार एव स्यात्।

स्पष्टं चेदं सर्वं 'समासेऽनञ्पूर्वे' (७–१–३७) इति सूत्रे भाष्य-कैयटयोः । 'गतिरनन्तरः' (६–२–४९) इत्यत्र तु गतेः पूर्वपदस्य क्तान्त उत्तरपदे परे कार्यविधानात्तत्समवधानेऽपि केवलस्य क्तान्तत्वेन ग्रहणं बोध्यम् । इयं च कृत्सामान्यग्रहणे कृद्विशेषग्रहणे च, न तु कृदकृद्ग्रहण इति 'अनुपसर्जनात्' (४–१–१४) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ॥ २८ ॥

जहाँ पर गति और कारक के समभिव्याहृत (समीप) में कृदन्त रहेगा, वहाँ कृद्ग्रहण से गति और कारक विशिष्ट का ही ग्रहण होता है । तात्पर्य यह है कि ऐसे स्थल पर कृदन्ततदादि पद से गति और कारक विशिष्ट का ग्रहण किया जाता है । परिभाषा में अपि शब्द का उल्लेख किया गया है । इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ पर गतिकारक के असमभिव्याहृत कृदन्त रहेगा अर्थात् कृदन्त से पूर्व में न वहाँ गति है और न कारक, किन्तु मात्र कृदन्त ही है, ऐसे स्थल पर कृत् पद से केवल कृदन्त का भी ग्रहण किया जाता है । अन्यथा यदि परिभाषा में अपि शब्द नहीं होता तो—कृद्ग्रहण में गतिकारकपूर्वक का ग्रहण होता है । यही परिभाषा का अर्थ होता । इसका फल यह होगा कि जिस-जिस सूत्र में कृत् का ग्रहण किया गया है वहाँ सब जगह गति और कारक पूर्वक का ही ग्रहण प्राप्त होगा, किन्तु सब जगह ऐसा मिलना सम्भव नहीं है क्योंकि सारे कृत् स्थल में गति और कारक पूर्वकत्व का होना कोई आवश्यक तो है नहीं, तथापि वहाँ प्रत्ययग्रहणपरिभाषा से प्राप्त तदन्तविधि भी नहीं हो सकेगी । उसका कारण यह है कि अपि शब्द के अभाव में परिभाषा का सामान्य अर्थ यह होगा कि 'कृद्ग्रहण से यदि किसी का ग्रहण किया जाय तो वह गतिपूर्वक और कारकपूर्वक का ही होना चाहिये ।

इस प्रकार कृद्ग्रहण के विषय में इस परिभाषा के द्वारा परत्वात् 'प्रत्यय-ग्रहण' परिभाषा का बाध ही हो जायेगा, इसलिये परिभाषा में अपि शब्द का उल्लेख किया गया है । इसका फल यह होता है कि जहाँ कृदन्त शब्द के पूर्व में गति और कारक नहीं रहते, ऐसे स्थल पर केवल कृदन्त भी कृत पद से गृहीत होता है । अतएव=गतिकारक के समभिव्याहार में केवल कृदन्त का ग्रहण नहीं होता, किन्तु विशिष्ट का ही होता है ऐसा स्वीकार करने से ही 'साङ्कूटिनम्' इस प्रयोग की सिद्धि होती है । यहाँ कूट् धातु से इनुण् प्रत्यय करके कूटिन् शब्द बना हुआ है । कूटिन् इस कृदन्त के साथ सम् इस गति का समास 'गतिकारकोपपदानाम्' इस परिभाषा की सहायता से 'कुगतिप्रादयः' इस सूत्र से सुबुत्पत्ति के पहले ही होता है । समास के बाद 'अणिनुणः' इस सूत्र से स्वार्थिक अण् प्रत्यय करने के समय 'कृद्ग्रहणे' इस परिभाषा के द्वारा सम् इस गति से विशिष्ट 'सम्कूटिन्' यह शब्द इनुणन्त तदादि माना गया और उससे अण् प्रत्यय और आदिवृद्धि करके 'साङ्कूटिनम्' इस प्रयोग की सिद्धि की जाती है । यदि गतिकारक समभिव्याहार में कृद्

ग्रहण से केवल कृदन्त भी लिया जाता तो 'कूटिन्' शब्द को भी कदाचित् इनुणन्त मानकर उससे अण् प्रत्यय और उसी के आदि अच् को वृद्धि करके 'संकौटिनम्' यह रूप भी एक पक्ष में बनने लगता। इस प्रकार यह पाक्षिक दोष दुर्वार हो जाता। इसे पाक्षिक दोष इसलिये कहा गया है कि जब गतिविशिष्ट, कृदन्त शब्द से (इनुणन्त शब्द से) गृहीत होगा, तब तो 'साङ्कूटिनम्' बनेगा ही, किन्तु जब केवल कृदन्त ग्राह्य होगा, उसी पक्ष में यह दोष है। इसलिये इसे पाक्षिक दोष कहा गया है। इस प्रकार यहाँ 'साङ्कूटिनम्' प्रयोग की सिद्धि होती है, न कि 'संकौटिनम्' इस प्रयोग की सिद्धि। ऐसी 'पुंयोगादाख्यायाम्' इस सूत्र के ऊपर भाष्योक्ति संगत होती है।

'समासेऽनञ्पूर्वे' इस सूत्र के भाष्य और कैयट में यह सब स्पष्ट किया गया है।

अब यहाँ यह शंका होती है कि गति समभिव्याहार में केवल कृदन्त यदि कृत् शब्द से ग्राह्य नहीं होगा तो 'उद्धृतम्' इस प्रयोग में 'उद्' इसे प्रकृतिस्वर नहीं होगा, क्योंकि क्तान्त तदादि पर में रहने पर अनन्तर गति को यह स्वर किया जाता है। उपर्युक्त व्याख्यान के अनुसार 'हृत्' यह क्तान्ततदादि कहा ही नहीं जायेगा। अतः यहाँ स्वर की सिद्धि नहीं हो रही है। इस शंका के उत्तर में कहा गया है कि 'गतिरनन्तरः' इस सूत्र से क्तान्त उत्तरपद पर में रहने पर गत्यात्मक पूर्वपद को स्वरविधानसामर्थ्यात् गति के समवधान रहने पर भी क्त पद से केवल क्तान्त-तदादि का ग्रहण कर लिया जाता है। अन्यथा यहाँ पर भी यदि गतिविशिष्ट का ही ग्रहण किया जाय तो लक्ष्य न मिलने के कारण स्वरविधायक यह सूत्र ही व्यर्थ हो जायेगा।

यह परिभाषा कृद्विशेषग्रहण और कृत्सामान्यग्रहण में लगती है। जो प्रत्यय कृद् और अकृत् साधारण है वहाँ यह परिभाषा नहीं लगती है।

कृद्विशेषग्रहण का उदाहरण 'क्षेपे' यह समासविधायक सूत्र है। यहाँ क्त प्रत्यय की अनुवृत्ति होती है। क्त एक कृद्विशेष प्रत्यय है, अतः यहाँ परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। फलस्वरूप 'अवतप्ते नकुलस्थितम्' इस प्रयोग में समास की सिद्धि होती है। कृत्सामान्यग्रहण का उदाहरण 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' यह समास-विधायक सूत्र है। यहाँ परिभाषा की प्रवृत्ति का फल यह होता है कि 'नखनिभिन्नः' इस प्रयोग में भी समास हो जाता है।

'टिड्ढाणञ्' सूत्र का अण् प्रत्यय कृदकृत्साधारण है, इसलिये यहाँ इस परि-भाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। यह बात 'अनुपसर्जनात्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है ॥ २८ ॥

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च ॥ २९ ॥

जो कार्य पदाधिकार के होते हैं और जो कार्य अङ्गाधिकार के होते हैं ये दोनों कार्य तस्य=सूत्र में उच्चारित के स्थान पर तथा वह (सूत्रोच्चारित) जिसके

अन्त में हो ऐसे तदन्त के स्थान पर होते हैं। तात्पर्य यह है कि जहाँ-जहाँ पद का और अंग का अधिकार जाता है वहाँ पद और अंग ये विशेष्य होते हैं और सूत्र में उच्चारित शब्द विशेषण होता है जिससे 'येन विधिस्तदन्तस्य' इस सूत्र से तदन्त विधि होती है। इस प्रकार वहाँ सूत्र में उच्चारित शब्दान्त का तथा स्वयं उस शब्द का ग्रहण होता है, क्योंकि विशेषण तदन्त की संज्ञा होता है तथा स्व की भी संज्ञा होता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए मूल में लिखा गया है—

पदमङ्गं विशेष्यम्, विशेषणेन च तदन्तविधिः। 'येन विधिः' (१–१–७२) इत्यस्यायं प्रपञ्चः। तेन 'इष्टकचितम्, पक्वेष्टकचितमि'त्यादौ 'इष्टकेषीकामालानां चित' (६–३–६५) इति ह्रस्वः, महान्, परममहान्, परमातिमहानित्यादौ 'सान्तमहतः' (६–४–१०) इति दीर्घश्च सिद्धः। अत एव तदुत्तरपदस्येति पाठोऽयुक्त इति भाष्ये स्पष्टम्। अत्र परशब्देनोत्तरपदाधिकारः केवलपदाधिकारश्च।

'पादस्य पदाज्याति' (६–३–५२) इत्यत्र न तदन्तग्रहणं लक्ष्यानुरोधादिति सर्वं 'येन विधिः' (१–१–७२) इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् ॥२९॥

पद और अङ्ग ये दोनों जहाँ जाते हैं वहाँ विशेष्य होते हैं। इन दोनों को विशेष्य बनाने में ही परिभाषा का तात्पर्य है। इस प्रकार इनके विशेष्य तथा सूत्र में पठित शब्द के विशेषण बनने पर 'येन विधिः' इस सूत्र से तदन्तविधि होती है। यहाँ पद का उदाहरण 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' यह सूत्र है। यहाँ पदस्य का अधिकार आता है। अधिकृत 'पदस्य' यह विशेष्य होता है और वस्वन्तादि उसके विशेषण होते हैं। अङ्गाधिकार का उदाहरण 'सान्तमहतः संयोगस्य' यह सूत्र है। इसमें 'अङ्गस्य' का अधिकार आता है। यह अनुवृत्त 'अङ्गस्य' विशेष्य होता है और महदादि शब्द इसके विशेषण होते हैं। इस प्रकार विशेष्य-विशेषणभाव होने पर 'येन विधिः' इस सूत्र से तदन्तविधि होती है। इसका फल यह होता है कि अनडुह् शब्द की भाँति अनडुह् शब्दान्त 'स्वनडुह्' शब्द में भी 'वसुस्रंसु' इस दत्वविधायक सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है जिससे 'स्वनडुद्भ्याम्' प्रयोग की सिद्धि होती है इसी प्रकार 'इष्टकेषीकामालानाम्' इस सूत्र में उत्तरपद का अधिकार आता है। उत्तरपद से पूर्वपद का आक्षेप होता है और वह पूर्वपद विशेष्य होता है और इष्टकादि उसके विशेषण होते हैं, इसलिये तदन्तविधि करके इष्टकादि शब्दों की भाँति इष्टकाद्यन्त शब्द को भी ह्रस्व किया जाता है, जिससे 'इष्टकचितम्' 'पक्वेष्टकचितम्' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि होती है। 'सान्तमहतः संयोगस्य' सूत्र में तदन्तविधि होने से महत् शब्द तथा महत् शब्दान्त शब्द के उपधा को दीर्घ करने से महान्, परममहान्, परमातिमहान् इन रूपों की सिद्धि होती है।

इस प्रकार 'येन विधिः' इस सूत्र से जो बात सिद्ध है उसी का अनुवाद करने के कारण यह परिभाषा 'येन विधिः' इस सूत्र का ही प्रपञ्च है।

यहाँ तदन्तविधि करने का फल यह होता है कि सूत्र में उच्चारित शब्द जिसके अन्त में होता है, उसका ग्रहण किया जाता है। 'सान्तमहतः' सूत्र के महत् शब्द से महत् शब्दान्त का ग्रहण करने से जिस प्रकार 'परममहान्' इस प्रयोग में उपधा को दीर्घ होता है, उसी प्रकार उपधा को दीर्घ 'परमातिमहान्'. प्रयोग में भी होता है, क्योंकि 'परमातिमहत्' शब्द भी महत् शब्दान्त शब्द है। 'परमातिमहान्' प्रयोग में दीर्घ की सिद्धि होने के कारण ही इस परिभाषा के स्थान पर 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च' ऐसे पाठ में 'तदुत्तरपदस्य' इस पाठ की अयुक्तता भाष्य में स्पष्ट की गई है। तात्पर्य यह है कि 'तदुत्तरपदस्य' ऐसा पाठ मानने पर सूत्र में उच्चारित शब्द जहाँ उत्तरपद होगा, वहीं उस सूत्र की प्रवृत्ति होगी। परम का महत् शब्द से समास करने पर महत् शब्द उत्तरपद में है, अतः यहाँ 'सान्त-महतः' सूत्र की प्रवृत्ति तो होगी, किन्तु 'अतिशयितो महान् अतिमहान् परमश्चासौ अतिमहान् परमातिमहान्' इस प्रयोग में उपधा को दीर्घ नहीं होगा, क्योंकि यहाँ अतिमहत् शब्द उत्तरपद में है न कि महत् शब्द। इसलिये महदुत्तर पद न होने के कारण यहाँ 'सान्तमहतः' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। तदुत्तरपदस्य की जगह जब तदन्तस्य पाठ किया जाता है तो सूत्र में पठित शब्द जहाँ किसी के अन्त में रहता है वहाँ भी उस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है। इसलिये अतिमहत् की भाँति परमातिमहत् को महत् शब्दान्त होने के कारण दोनों जगह 'सान्तमहतः' सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है।

यहाँ पदाधिकार शब्द से दोनों पद के अधिकार लिये जाते हैं। एक तो 'पदस्य' सूत्र से विहित अष्टमाध्याय का पदाधिकार और दूसरा 'अलुगुत्तरपदे' सूत्र से विहित उत्तरपदाधिकार। यहाँ उत्तरपदघटक पद को लेकर इसे भी पदाधिकार माना गया है। यह पदाधिकार षष्ठ अध्याय के समस्त तृतीय पाद में जाता है। अङ्गाधिकार तो 'अङ्गस्य' सूत्र से विहित होता है और यह षष्ठ अध्याय के चौथे पाद से लेकर सम्पूर्ण सप्तमाध्याय तक जाता है।

'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' यह सूत्र उत्तरपदाधिकारीय सूत्र है, इसलिये यहाँ भी तदन्तविधि होकर पाद शब्दान्त को पदादेश होना चाहिये, किन्तु लक्ष्यानुरोधात् यहाँ तदन्तविधि नहीं होती है। इसलिये 'दिग्धपादेनोपहतं, दिग्धपादोपहतम्' यही प्रयोग बनता है। यहाँ पदादेश नहीं होता है। अन्यथा 'दिग्धपदोपहतम्' ऐसा प्रयोग बनने लगता। यह सब 'येन विधिस्तदन्तस्य' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है ॥ २९ ॥

नन्वेवम् 'अस्यापत्यमिरि'त्यादावदन्तप्रातिपदिकाभावादिञ् न स्यादत आह—

नन्वेवम्=इस प्रकार 'येन विधिस्तदन्तस्य' इस सूत्र से विशेषण से तदन्तविधि करने पर अस्य=वासुदेवस्य अपत्यम् 'इः' यह प्रयोग नहीं बनेगा, क्योंकि इञ्-विधायक सूत्र 'अत इञ्' में 'प्रातिपदिकात्' का अधिकार आता है और यह प्रातिपदिकात् पद विशेष्य होता है और सूत्रस्थ 'अतः' यह पद विशेषण होता है। इस प्रकार विशेषणविशेष्यभाव होने पर तदन्तविधि होकर ऐसा सूत्रार्थ होगा कि 'अदन्त-प्रातिपदिक से इञ् प्रत्यय हो। ऐसा अर्थ करने पर अदन्तप्रातिपदिक 'दक्ष' आदि शब्दों से तो इञ् प्रत्यय होगा, किन्तु वासुदेव अर्थ का वाचक 'अ' शब्द से इञ् प्रत्यय नहीं होगा, क्योंकि अ शब्द अदन्त नहीं है। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनायी गयी—

व्यपदेशिवदेकस्मिन् ॥ ३० ॥

एकस्मिन्=असहाय में व्यपदेशिवद् कार्य करना चाहिये। असहाय शब्द से=मुख्यधर्माश्रयासमभिव्याहृत, मुख्यधर्माश्रयाघटित, मुख्यधर्माश्रयाघटक—इन तीन सम्बन्धों से युक्त का ग्रहण होता है। मुख्य धर्म वह धर्म कहा जाता है जिस धर्म का वहाँ आरोप करना हो। ऐसे असहाय में व्यपदेशिवत् कार्य करना चाहिये। व्यपदेश का अर्थ मुख्य व्यवहार होता है, वह मुख्य व्यवहार जिसके लिये होता हो वह व्यपदेशी कहा जाता है, उस मुख्यव्यवहार वाले व्यपदेशी के तुल्य कार्य या व्यवहार असहाय में भी करना चाहिये। यही परिभाषा का अर्थ है।

उदाहरण के द्वारा इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि किसी शब्द में अदन्तत्व का व्यवहार वहीं किया जायेगा जहाँ अनेक वर्णों की सत्ता हो। उनमें कोई वर्ण आदि में कोई वर्ण मध्य में हो और अन्त में अकार हो। ऐसे शब्द को ही अदन्त कहा जायेगा। जैसे दक्ष शब्द में चार वर्ण हैं, उनमें अकार अन्त में वर्तमान है, इसलिये दक्ष शब्द अदन्त कहा जाता है जहाँ एक ही वर्ण हो, जैसे वासुदेव अर्थ का वाचक 'अ' वर्ण। यह 'अ' वर्ण किसी के अन्त में नहीं है, जिससे इसे अदन्त कहा जाय। मुख्य अदन्तत्व धर्म वाले दक्ष शब्द का घटक (अवयव) भी यह नहीं है, इसलिये यह अकार 'असहाय' है। इस असहाय अकार में इस परिभाषा के द्वारा व्यपदेशिवद् भाव अर्थात् मुख्य व्यवहारवाले दक्ष शब्द की भाँति अदन्तत्व व्यवहार कर लिया गया, जिससे इञ् प्रत्यय होकर 'इः' इस रूप की सिद्धि होती है। इसी बात को मूल में लिखा गया है—

निमित्तसद्भावद्दिशिष्टोऽपदेशो मुख्यो व्यवहारो यस्यास्ति स व्यपदेशी। यस्तु व्यपदेशहेत्वभावादविद्यमानव्यपदेशोऽसहायः स तेन

तुल्यं वर्त्तते कार्यं प्रतीत्येकस्मिन्नसहायेऽपि तत्कार्यं कर्त्तव्यमित्यर्थः। तेनाकारस्याप्यदन्तत्वान्न क्षतिः।

एकस्मिन्नित्युक्तेः सभासन्नयनेन आकारस्य नादित्वम्, दरिद्राधातावि कारस्य नान्तत्वम्। अन्यथा 'सभासन्नयने भव' इत्यर्थे 'वृद्धाच्छः' (४–२–११४) दरिद्रातेरिवर्णान्तलक्षणोऽच्च स्यात्। अत एव हरिश्चित्यादौ सोः पदत्वं न। लोकेऽपि बहुपुत्रसत्त्वे नैकस्मिन् ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वादिव्यहारोऽयं मे ज्येष्ठः कनिष्ठो मध्यम इति किन्त्वेकपुत्रसत्त्व एव।

निमित्तसद्भावात्=अदन्तत्वादिव्यवहार का निमित्त=वर्णसमभिव्याहाररूप सहाय की स्थिति होने के कारण विशिष्ट अपदेश=अर्थात् मुख्य व्यवहार (मुख्य अदन्तत्वादि व्यवहार) जिस शब्द के लिए किया जाता है वह दक्षादिशब्द व्यपदेशी=मुख्यव्यवहार वाला कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि 'दक्ष' शब्द में अनेक वर्णों की सत्ता होने के कारण यहाँ अदन्तत्व का प्रयोग मुख्य प्रयोग कहा जाता है, किन्तु जहाँ व्यपदेशहेतु का अभाव अर्थात् मुख्य व्यवहार के हेतु अनेक वर्णों का अभाव है, वह एक वर्ण असहाय कहा जाता है। वह असहाय वर्ण 'तेन तुल्यं'=उस मुख्य व्यवहारवान् के तुल्य होता है। इसलिये एकस्मिन्=असहाय में भी वह कार्य कर लेना चाहिये जो कार्य मुख्यव्यवहार वाले शब्द में होता है। इसलिये दक्ष शब्द की भाँति वासुदेव अर्थ का वाचक 'अ' शब्द भी अदन्त मान लिया गया। जिससे इञ् प्रत्यय होकर 'इः' इस प्रयोग की सिद्धि हो गई। इससे 'इः' प्रयोग की असिद्धि रूप क्षति नहीं हुई।

यह व्यपदेशिवद्भाव एकस्मिन्=असहाय में ही होता है। पहले कहा जा चुका है कि असहाय के नियामक तीन धर्म होते हैं उनमें अतिदिश्यमान धर्म=सभासन्नयननिरूपित आदित्व धर्म है, उसका आश्रय 'सम्' यह अंश है, इसके समभिव्याहृत होने के कारण यहाँ आकार में असहायत्व नहीं है, इसलिये आकार में सभासन्नयन निरूपित आदित्व का आरोप या व्यवहार नहीं होता है। इसी प्रकार सभासन्नयन शब्द में वृद्धत्व का व्यवहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वृद्धत्व धर्मवान् 'भासन्नयन' शब्द असहाय नहीं है। इसलिये इसमें वृद्धत्व व्यवहार नहीं होता है। इसी प्रकार 'आसन्न' शब्द में प्रातिपदिकत्व का व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि अतिदिश्यमान प्रातिपादिक धर्मवान् यहाँ 'सभासन्नयन' यह शब्द है, इसका घटक ही आसन्नयन शब्द है। इसलिये अतिदिश्यमान धर्माश्रयाघटक न होने के कारण यह असहाय नहीं है, तस्मात् यहाँ व्ययदेशिवद्भाव नहीं होता है।

दरिद्रा धातु के इकार में अन्तत्व व्यवहार भी इसीलिये नहीं होता कि अतिदिश्यमानधर्म अन्तत्व का आश्रय यहाँ आकार है उसके समभिव्याहृत ही इकार है।

इसलिये अतिदिश्यमान धर्माश्रयासमभिव्याहृतत्व का इकार में अभाव होने के कारण इकार असहाय नहीं है अतः उसमें अन्तत्व का व्यवहार नहीं होता है।

अन्यथा = यदि असहाय में भी व्यपदेशिवद्भाव स्वीकार किया जाता तो भासन्नयन का वृद्धत्व सभासन्नयन में व्यवहृत होता। ऐसी स्थिति में 'सभासन्नयने भवः' इस विग्रह में सभासन्नयन शब्द से 'वृद्धाच्छः' इस सूत्र से छ प्रत्यय होने लगता। इसी प्रकार दरिद्रा धातु के इकारान्त न होने के कारण 'एरच्' सूत्र से इकारान्तरनिमित्तक अच् प्रत्यय नहीं होता है।

अत एव = 'असहाय में ही व्यपदेशिवद्भाव होता है' यह बात स्वीकार करने से ही 'हरिषु' इस पद का घटक केवल सु प्रत्यय पद नहीं कहा गया, क्योंकि वह पदत्व-धर्मवान् 'हरिषु' का घटक ही है अतः वह असहाय नहीं है। असहाय में ही व्यपदेशिवद्भाव होता है यह बात लोकसिद्ध है। लोक में देखा जाता है कि अनेक पुत्रों के रहने पर एक ही लड़के को यह मेरा ज्येष्ठ है, यह मेरा मध्यम अथवा कनिष्ठ है ऐसा नहीं कहा जाता है क्योंकि अनेक पुत्रों के रहने पर ही वहाँ तत्तद्पुत्रों में ज्येष्ठत्वादि व्यवहार मुख्य रूप से हो सकता है, अतः वहाँ असहाय की स्थिति नहीं है। यदि एक ही पुत्र हो तो उसे ज्येष्ठ, मध्यम या कनिष्ठ कुछ भी कहा जा सकता है क्योंकि वह असहाय है। इसी प्रकार शास्त्र में एक ही वर्ण में समुदायत्व का आरोप करके अदन्तत्वादि व्यवहार कर लिया जाता है।

अनेन चाशास्त्रीयस्याप्यतिदेशः। अत एव 'इयाय' इत्यादावेकाच्त्वनिबन्धनद्वित्वसिद्धिः। अत एव 'भवती'त्यादौ 'भू' इत्यस्याङ्गत्वम्, 'इयानि'-त्यादौ कार्यकालपक्षे तद्धितान्तत्वनिबन्धनप्रातिपदिकत्वं च सिद्ध्यति। अन्यथा यस्माद्विहितस्तदादित्वाभावान्न स्यात्।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह परिभाषा लोकसिद्ध है अतः यह परिभाषा न केवल शास्त्रीय धर्म का ही अतिदेश करती है अपितु यह परिभाषा अशास्त्रीय धर्म का भी अतिदेश करती है। शास्त्रीय धर्म से शास्त्रकृतसंकेतविषयतावच्छेदक धर्म लिया जाता है। उदाहरण के लिये 'अच्त्व' धर्म को लिया जा सकता है। यह शास्त्रीय धर्म है क्योंकि 'आदिरन्त्येन सहेता' इस सूत्र से अकारादिचान्त समुदाय की अच् यह संज्ञा की गयी है। इस प्रकार शास्त्रकृतसंकेतविषयता अकारादिचान्त समुदाय में गयी, तदवच्छेदक अच्त्व धर्मशास्त्रीय धर्म कहा जाता है। किन्तु एकाच्त्व धर्म-शास्त्रीय न होकर अशास्त्रीय कहा जाता है क्योंकि किसी भी शास्त्र से 'एकाच्' यह संज्ञा नहीं की गई है। ऐसे एकाच्त्वादि अशास्त्रीय धर्म का भी अतिदेश यह परिभाषा करती है अत एव = इस परिभाषा से अशास्त्रीय धर्म का भी अतिदेश स्वीकार

करने से ही 'इण्' धातु से लिट् लकार प्रथमपुरुष का एकवचन में तिप् और उसे णलादेश करने पर 'इ-अ' इस स्थिति में इकार को इस परिभाषा से एकाच् मानकर द्वित्व की सिद्धि की जाती है। एकाच् शब्द का अर्थ है जिसमें एक अच् हो। किन्तु यहाँ केवल एकमात्र 'इकार' है जो किसी में नहीं है इसलिये एकाच्त्व के अभाव के कारण यहाँ द्वित्व नहीं हो सकता था, किन्तु इस परिभाषा से एकाच्त्व रूपी अशास्त्रीय धर्म का अतिदेश करने से केवल 'इकार' भी एकाच् कहा गया और उसे द्वित्व की सिद्धि हुई।

अत एव=अशास्त्रीय धर्म का इस परिभाषा से अतिदेश स्वीकार करने से ही 'भवति' इस प्रयोग में 'भू' शब्द को शप् इस विकरण को पर में मान कर अङ्ग-संज्ञा होती है। बिना अङ्गसंज्ञा किये 'भू' शब्द इगन्त अङ्ग नहीं कहा जायेगा। परिणाम यह होगा कि इगन्त अङ्ग के अभाव में यहाँ गुण नहीं हो सकेगा। इसलिये शप् को पर में मान कर 'भू' को अंगसंज्ञा अपेक्षित है, किन्तु 'यस्मात् प्रत्यय-विधि स्तदादित्व' यह धर्म केवल 'भू' में नहीं है क्योंकि 'स आदिर्यस्यासौ तदादिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'भू-अ' इतना अंश तदादि है न कि केवल 'भू'। इसलिये भू को अंगसंज्ञा सिद्ध नहीं हो रही है, किन्तु जब इस परिभाषा से अशास्त्रीय धर्म का भी अतिदेश कर लिया जाता है तो 'भू' इस असहाय में व्यपदेशिवद्भाव से अशास्त्रीय धर्म 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादित्व' का अतिदेश हो गया, जिससे शप् को लेकर 'भू' को अंगसंज्ञा सिद्ध हो गई। इसी प्रकार 'इयान्' यह प्रयोग जो इदम् शब्द से तद्द्वितीय वतुप् प्रत्यय कर इदम् शब्द को इश् आदेश और प्रत्यय के वकार को घकार और उसे इय् आदेश करके प्रकृति के ईकार को भसंज्ञा द्वारा लोप करने पर केवल प्रत्ययमात्र 'इयत्' शब्द के प्रथमा के एकवचन में बनता है, इस प्रयोग में कार्यकालपक्ष में जब प्रातिपदिकसंज्ञा कर्त्तव्य होती है तब 'इयत्' इस शब्द में तद्धितान्ततदादित्व यह अशास्त्रीय धर्म इस परिभाषा के द्वारा यहाँ लाया जाता है जिससे प्रातिपदिकसंज्ञा की सिद्धि होती है। यहाँ कार्यकालपक्ष में तद्धितान्ततदादित्व-निबन्धनप्रातिपदकत्व की सिद्धि की बात की गयी है। इससे विदित होता है कि यथोद्देश पक्ष में प्रातिपदिकसंज्ञा करने के लिये इस परिभाषा की उपयोगिता नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में स्थानिवद्भाव से 'ई-इयत्' वृत्ति तद्धितान्तदादित्व केवल 'इयत्' शब्द में आ जाने से प्रातिपदिकत्व सुलभ है।

अन्यथा=अशास्त्रीयधर्म के अतिदेश में इस परिभाषा की अप्रवृत्ति मानने पर भवति प्रयोग में 'भू' को अङ्गसंज्ञा तथा 'इयान्' प्रयोग में 'इयत्' इस प्रकृति को प्रातिपदिकसंज्ञा ये दोनों कार्य नहीं हो सकते थे, क्योंकि 'यस्मात् विहितस्तदादित्व' का अभाव दोनों जगह है। तदादि शब्द से प्रकृति और प्रत्यय इन दोनों से विशिष्ट समुदाय लिया जाता है। भवति में जिस भू शब्द को अङ्गसंज्ञा करनी है, वह केवल

प्रकृति मात्र है और इयान् में जिस इयत् को प्रातिपदिक संज्ञा करनी है वह केवल प्रत्ययमात्र है। इसलिये तदादित्व का अभाव दोनों जगह है। इस परिभाषा से अशास्त्रीयधर्म का अतिदेश स्वीकार करने पर यस्मात् विहितस्तदादित्व का अतिदेश हो जाने से दोनों लक्ष्यों में वाञ्छित प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

यत्तु योऽर्थवांस्तत्रार्थस्य त्यागोपादानाभ्यामेकाज्व्यपदेशो, यथा 'इयाये'-त्यादावर्थवतो धातोरयं वर्णरूपः एकोऽजिति कैयटः। तन्न, तस्य 'एकपदा ऋगि'त्यत्र भाष्योक्तरीत्या मुख्यव्यवहारसत्त्वात्। 'एकपदा ऋगि'त्यत्र 'अर्थेन युक्तो व्यपदेश' इति भाष्ये उक्तम्; ऋक्त्वादेरर्थशब्दोभयवृत्तित्वेन तस्याः शब्दमात्ररूपं पदमेकोऽवयव इत्यर्थ इति तदाशयः।

तस्मादेकस्मिंस्तत्तद्धर्मारोपेण युगपद्यथा ज्येष्ठत्वादिव्यवहारो यथा वा 'शिलापुत्रकस्य शरीरमि'त्यादावेकस्मिन्नारोपितानेकावस्थाभिः समुदाय-रूपत्वाद्यारोपेण 'एतस्य शरीरमि'त्यादिव्यवहारस्तथाऽत्रैकाच्त्वादिव्यव-हारोपपत्तिरिति लोकन्यायसिद्धेयम्।

अब यत्तु शब्द से कैयट के मत का उपपादन कर रहे हैं—जो शब्द अर्थवान् होता है वहाँ अर्थ का त्याग और उपादान = ग्रहण के द्वारा एकाच् का व्यवहार किया जाता है। जैसे 'इयाय' इत्यादि प्रयोगों में अर्थवान् इण् धातु का 'इ' वर्ण-रूपी एक अच् है ऐसा कैयट ने कहा है। यहाँ कैयट का तात्पर्य यह है कि फल और व्यापाररूपी अर्थ का वाचक शब्द धातु कहा जाता है। 'इयाय' इस प्रयोग में शब्दार्थोभयसमुदायरूप 'इ' धातु द्वित्वविधायक सूत्रस्थ एकाच् शब्द में बहुव्रीहिसमास करते समय अन्य पदार्थ से गृहीत होता है। उस समय 'एकः अच् शब्दमात्रं यस्मिन्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार एकाच् शब्द से अर्थहीन केवल 'इ' इस शब्दमात्र का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार समास के भीतरवर्ती पदार्थ की विपक्षा में अर्थ का त्याग और केवल शब्दमात्र का ग्रहण स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। जब अन्य पदार्थ की विवक्षा होती है तो एक अच् वर्णरूपी है जिसमें ऐसा शब्दार्थोभयसमु-दायरूप धातु अन्य पदार्थ से गृहीत होता है। अर्थात् धातु एक ऐसा अन्य पदार्थ है जिसका एक अवयव तो केवल एक अच् रूपी वर्ण है और दूसरा अवयव उसका अर्थ है। इस प्रकार अन्यपदार्थ की विवक्षा में अर्थ का उपादान किया गया है। यहाँ इण् धातु को एक अच् है अवयव जिसका, इस प्रकार का एकाच् बनाने के लिये अर्थ का ग्रहण कर लिया जाता है। इससे इ शब्द और उसका अर्थ इन दोनों का एक समुदाय हो जाता है, जिसका एक अवयव इकाररूपी अच् होता है। शब्द और उसका अर्थ इन दोनों का समुदाय कल्पित कर 'इ' धातु को एक अच् वाला मान लेने के बाद जब उसे द्वित्व करने की स्थिति आती है तब कान्तारतरण

न्याय से अर्थ का परित्याग कर केवल शब्द को द्वित्व किया जाता है। कान्तारतरण न्याय का तात्पर्य यह है जिस प्रकार किसी को कान्तार (वन) पार कराने के के लिये कुछ व्यक्ति साथ जाते हैं और जब वह कान्तार पार कर जाता है तब लौट आते हैं उसी प्रकार 'इ' धातु को एक अच् वाला कहलाने के लिये अर्थ का ग्रहण कर लिया गया और जब वह एकाच् हो गया तो द्वित्व करने के समय अर्थ का त्याग कर दिया गया। यही 'अर्थस्य त्यागोपादानाभ्यामेकाज्व्यपदेशः' का रहस्य है असहाय वर्ण में इसी प्रकार व्यपदेशिवद्भाव होता है यही प्रस्तुत कैयट ग्रन्थ का निष्कर्ष है। किन्तु कैयट का यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'एकपदा ऋक्' इस स्थल में भाष्यकार ने व्यपदेशिवद्भाव न करके मुख्य व्यवहार ही जिस प्रकार माना है उसी प्रकार 'इयाय' इत्यादि प्रयोगों में अर्थ के आधार पर एकाच्त्व का मुख्य व्यवहार ही होगा। वेद में कोई एक पद है जिसे 'एकपदा ऋक्' कहा जाता है। वहाँ सन्देह होता है कि इसे 'एकपदा' क्यों कहा जाता है ? क्योंकि एकपद है जिसमें उसे एकपदा कहा जा सकता है। यहाँ तो केवल मात्र एकपद है जो किसी में नहीं है, तो फिर इसे किस आधार पर एकपदा कहा जाता है ? इस प्रकार की शंका होने पर भाष्यकार ने कहा कि यहाँ एकपद स्वयं अपने में है। इस प्रकार यहाँ व्यपदेशिवद्भाव की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो एकपदा यह व्यवहार अर्थ के आधार पर मुख्यरूप से हो सकता है। ऋक्त्व=वेदत्व न केवल शब्द का धर्म है अपितु यह शब्दार्थोभय वृत्ति धर्म है। इसलिये शब्द और अर्थ इन दोनों के समुदाय का शब्दमात्र पद एक अवयव होता है। इसी आधार पर उसे एकपद वाला ऋक् कहा जाता है। यह मुख्य व्यवहार ही है न कि व्यपदेशिवद्भाव। इसी प्रकार इयाय इत्यादि स्थलों में भी अर्थ के त्याग और उपादान के द्वारा एकाच् शब्द का मुख्य ही व्यवहार होगा। अतः वहाँ कैयट का व्यपदेशिवद्भाव कहना उचित नहीं है। इसलिये जिस प्रकार विजातीय कन्याओं के रहने पर यदि पुत्र एक ही है तो उस एक ही पुत्र को असहाय होने के कारण उसमें युगपत् ज्येष्ठत्व, कनिष्ठत्व, मध्यमत्व धर्म का आरोप कर उसे ज्येष्ठ, मध्यम या कनिष्ठ कहा जाता है, वहाँ कन्याओं की सत्ता उसके ज्येष्ठत्वादि धर्म का विधान नहीं करती है क्योंकि कन्याएँ विजातीय हैं। अतः वहाँ ज्येष्ठत्वादि तत्तद्धर्म आरोपित हो जाता है। अथवा 'शिलापुत्र= पेषणग्रावा (लोढ़ी या वट्टा) का शरीर' ऐसा जहाँ प्रयोग किया जाता है वहाँ यद्यपि प्राणिनिष्ठ बाल्यादि अवस्था का सम्बन्ध उस अचेतन पेषणग्रावा में नहीं है तथापि उस एक शिलापुत्र में अनेक अवस्था विशिष्टशरीर समुदायत्व का आरोप करके 'शिलापुत्र का शरीर' इस प्रकार का अवयवावयवीभावसम्बन्ध का व्यवहार किया जाता है उसी प्रकार अत्र='इयाय' इत्यादि प्रयोगों में, एक ही इकार में अच्समुदायरूपत्व का आरोप कर अवयव और अवयवी भाव की कल्पना से एकाच्

का व्यवहार उपपन्न होता है। अथवा एक ही में ज्येष्ठत्वादि आरोप की भाँति एक ही अच् इकार में एकाच्त्व (एक अच्वाला) का आरोप करके एकाच् व्यवहार सम्पन्न होता है। इस प्रकार उक्त लौकिक दोनों प्रकारों से यहाँ कार्य सिद्ध हो सकने के कारण यह परिभाषा लोकन्यायसिद्ध है।

न चासहाय एवैतत्प्रवृत्तौ 'भवती'त्यत्र 'भू' इत्यस्याङ्गत्वानापत्तिः ससहायत्वादिति वाच्यम्, शपमादायाङ्गत्वे कार्ये यस्माद्विहितस्तदादित्वे तस्य ससहायत्वाभावाल्लोके विजातीयकन्यादिसत्त्वेऽप्येकपुत्रस्य तस्मिन्नेव 'अयमेव ज्येष्ठ' इत्यादिव्यवहारवत्।

न चैवं 'निजौ चत्वार एकाच' इति भाष्यासङ्गतिः, इकारस्यासहायत्वाभावेन तत्रैकाच्त्वानुपपादनादिति वाच्यम्? 'एकस्मिन्नि'त्यस्यापर्यालोचनया तत्प्रवृत्तेः।

'अर्थवता व्यपदेशिवद्भाव' इत्यत्रार्थवत्पदेनाप्यसहायत्वमुपलक्ष्यते। अर्थबोधकेन शब्देन व्यपदेशिसदृशो भावः कार्यं लभ्यते इति तदर्थः। प्रायोऽसहाय एवार्थवत्त्वात्।

'कुरुते' इत्यादौ 'तशब्दाकारोऽचामन्त्य' इति व्यवहारे, 'स आदिर्यस्ये'ति व्यवहारे चासहाय एवेति तत्र व्यपदेशिवद्भावेन टिसंज्ञासिद्धिरित्यन्यत्र विस्तरः॥ ३०॥

अब यहाँ यह शंका होती है कि यदि इस परिभाषा की प्रवृत्ति असहाय में ही होती है तो 'भवति' इस प्रयोग में 'भू-अ-ति' इस स्थिति में 'भू' शब्द की शप् निरूपित अङ्गसंज्ञा नहीं होगी क्योंकि अङ्गसंज्ञा प्रत्यय के पर में रहने पर तदादि की होती है। तदादि शब्द से वह प्रकृति आदि में है जिसके, ऐसा समुदाय लिया जाता है। इस प्रकार का तदादित्व ति प्रत्यय को पर में मान कर 'भू-अ' इतने अंश में है, किन्तु शप् प्रत्यय को पर में मान कर केवल 'भू' तो तदादि ही नहीं है। ऐसी स्थिति में इसे अङ्गसंज्ञा नहीं होगी। व्यपदेशिवद्भाव से 'भू' को तदादि माना नहीं जा सकता, क्योंकि व्यपदेशिवद्भाव असहाय में होता है। यहाँ तो तदादि कहलाने के लिये 'भू-अ' यह समुदाय सुलभ है, इसलिये यहाँ ससहाय की स्थिति है न कि असहाय की। अतः यहाँ अङ्ग संज्ञा किस प्रकार होगी? इस प्रकार की शंका होने पर ग्रन्थकार का कहना है कि जिस प्रकार विजातीय कन्याओं के रहने पर भी एक पुत्र को लोक में असहाय माना जाता है और उस एक ही के लिये ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार यहाँ ति प्रत्यय-निरूपित अङ्गसंज्ञा करने में यद्यपि 'भू' ससहाय है तथापि शप् निरूपित अङ्ग संज्ञा करने में तो वह असहाय ही है। यहाँ तिप् निरूपित ससहायत्व

असहायत्व का विघातक नहीं हो सकता। जिस प्रकार विजातीय कन्याएँ एक पुत्र में ज्येष्ठत्वादि व्यवहार के हेतु असहायत्व का विघातक नहीं होती हैं।

इस प्रकार शप् निरूपित अङ्ग संज्ञा करने में भू असहाय ही कहा जायेगा। इसलिये यहाँ व्यपदेशिवद्भाव से अङ्ग संज्ञा हो जाती है।

असहाय में व्यपदेशिवद्भाव करने पर दूसरा दोष यह उपस्थित होता है कि भाष्यकार ने 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इस सूत्र के भाष्य में कहा है कि 'निजौ चत्वार एकाचः' अर्थात् निज् धातु में चार एकाच् हैं। ये चार एकाच् 'निज्-इज्-नि तथा केवल 'इ' इन चारों के द्वारा होते हैं। यहाँ भाष्यकार ने केवल इकार को भी एक अच् है जिसमें ऐसा एकाच् माना है। तभी 'चत्वारः एकाचः' यह कथन संगत होगा। किन्तु प्रश्न यह है कि भाष्यकार ने इकार को एकाच् किस प्रकार माना है क्योंकि इकार तो स्वयं एकअच्रूप है। यदि कहा जाय कि व्यपदेशिवद्भाव से इकार स्वयं में है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इकार यहाँ असहाय नहीं है। ऐसी स्थिति में यहाँ चार एकाच् है यह भाष्योक्ति असंगत हो रही है।

इस प्रकार की शंका होने पर ग्रन्थकार का कहना है कि भाष्यकार ने एकस्मिन् का अर्थ असहाय होता है ऐसा न समझ कर ही 'निजौ चत्वार एकाचः' ऐसा प्रयोग किया है।

अब यहाँ एक यह विचार प्रस्तुत होता है कि भाष्यकार ने कहा है कि 'अर्थवता व्यपदेशिवद्भावः' अर्थात् अर्थवत् स्थल में व्यपदेशिवद्भाव होता है, किन्तु यहाँ असहाय में व्यपदेशिवद्भाव कहा गया है। यह दोनों कथनों में किस प्रकार समन्वय होगा? ऐसी जिज्ञासा के सन्दर्भ में कहा गया है कि 'अर्थवता व्यपदेशिवद्भावः' इस भाष्योक्ति में अर्थवत् शब्द से असहाय ही उपलक्षित है, अर्थात् अर्थवत् शब्द असहाय का ही सूचक है; क्योंकि असहाय वर्ण ही अर्थवान् होता हैं, जैसे वासुदेव अर्थ का वाचक 'अ' शब्द असहाय होने के कारण अर्थवान् है। जहाँ ससहाय होगा—जैसे दक्ष शब्द का अकार, तो वहाँ का अकार अनर्थक ही होगा क्योंकि समुदायस्थल में अर्थवत्ता समुदायवृत्ति होती है वहाँ प्रत्येक वर्ण अनर्थक होते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'अर्थवता व्यपदेशिवद्भावः' और 'असंहाये व्यपदेशिवद्भावः' इन दोनों वचनों का तात्पर्य एक ही है।

अर्थबोधक शब्द व्यपदेशिसदृश=मुख्य व्यवहारवान् के समान कार्य को प्राप्त करता है, यही उसका अर्थ है। जैसा कि कहा जा चुका है कि वर्ण की अर्थवत्ता प्रायः असहाय में ही होती है। इसीलिये 'एधते' प्रयोग में त प्रत्यय के अवयव अकार की टि संज्ञा सिद्ध होती है। टि संज्ञा के लिये किसी अच् वर्ण को अचों के मध्य अन्त्य अच् होना चाहिये। साथ ही उस अन्त्य अच् को किसी वर्ण के आदि में होना

चाहिये। इस प्रकार अन्त्य अच् जिसके आदि में होता है उस समुदाय की टि संज्ञा होती है त प्रत्यय स्थल में स्पष्ट है कि यहाँ केवल एकमात्र अच् तकारोत्तरवर्ती अकार है। वह न तो अचाम् अन्त्य है और न ही किसी के आदि में है। इसलिये यह असहाय है। इस प्रकार इसे असहाय होने के कारण यहाँ व्यपदेशिवद्भाव के द्वारा इस एक ही अकार को अचाम् अन्त्यः तथा अपने ही आदि में माना गया, जिससे उसकी टि संज्ञा करके उसे टित्वात् एकार किया जाता है।

यदि अर्थवत् पद से असहाय न लेकर अर्थवान् लिया जाता तो 'त' प्रत्यय के अकार को अर्थवान् न होने के कारण यहाँ व्यपदेशिवद्भाव ही नहीं होता। इसलिये अर्थवत् पद को असहाय का उपलक्षक मानना ही उचित है ॥ ३० ॥

ननु गर्गादिभ्यो विहितो यञ् तदन्तविधिना परमगर्गादिभ्योऽपि स्यादत आह—

तदन्तविधि के प्रसंग में उसकी निषेधिका परिभाषा का अवतरण 'ननु' शब्द से कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि 'येन विधिस्तदन्तस्य' इस सूत्र से विशेषण जब तदन्त का बोधक होता है तब 'गर्गादिभ्यो यञ्' इस सूत्र में प्रातिपदिक का अधिकार आने से उसे विशेष्य तथा गर्गादि को विशेषण होने के कारण तदन्तविधि करके गर्गाद्यन्तप्रातिपदिक से यञ् प्रत्यय हो, ऐसा सूत्रार्थ होना चाहिये। इस प्रकार के सूत्रार्थ का परिणाम यह होगा कि गर्गशब्द से यञ् प्रत्यय की भाँति गर्गशब्दान्त—परमगर्ग शब्द से भी यञ् प्रत्यय होने लगेगा। इस प्रकार का अनभीष्ट प्रयोग न बनने लगे। इसलिये यह परिभाषा बनायी गयी—

ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति ॥ ३१ ॥

ग्रहणवत्प्रातिपदिकप्रयोज्य तदन्तविधि नहीं होती है। अर्थात् ग्रहणवान् प्रातिपदिक को विशेषण बना कर तदन्तविधि नहीं होती है। 'गर्गादिभ्यो यञ्' सूत्र में गर्गादिग्रहणवत्प्रातिपदिक है, अतः इसे विशेषण बनाकर तदन्तविधि नहीं हुई। इसका फल यह हुआ कि गर्गान्त 'परमगर्ग' शब्द से यञ् प्रत्यय नहीं हुआ।

अब यहाँ थोड़ा यह विचार करना भी आवश्यक है कि ग्रहणवत्प्रातिपदिक किसे कहते हैं? यदि कहा जाय कि 'आनुपूर्व्यवच्छिन्न-विषयता-प्रयोजक-प्रातिपदिक' 'ग्रहणवत्प्रातिपदिक' है अर्थात्—आनुपूर्वी क्रम से पढ़ा गया प्रातिपदिक 'ग्रहणवत्प्रातिपदिक' है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ग्रहणवत्प्रातिपदिक की ऐसी परिभाषा करने पर 'गर्गादिभ्यो यञ्' इस सूत्र में 'ग्रहणवत्प्रातिपदिक' भले मिल जाय, किन्तु 'वृद्धाच्छः' 'नौ द्वयचष्ठन्' इत्यादि स्थलों में जहाँ किसी आनुपूर्वी का उल्लेख नहीं है ऐसे स्थल पर तदन्तविधि होने लगेगी। यदि कहा जाय जिसमें प्रातिपदिकत्वव्याप्यविषयता हो वह ग्रहणवत्प्रातिपदिक कहा जाता है, तो यह कथन भी

संगत नहीं है। क्योंकि ऐसा करने से उक्त दोनों स्थलों पर द्वयच् प्रातिपदिक और वृद्ध प्रातिपदिक इन दोनों को प्रातिपदिकत्वव्याप्य होने से यद्यपि ग्रहणवत्प्रातिपदिकत्व उपलब्ध हो सकता है किन्तु इसी प्रकार 'अत इञ्' सूत्र में भी 'अत्' प्रातिपदिक 'ग्रहणवत्प्रातिपादिक' कहा जायेगा और यहाँ भी तदन्तविधि का निषेध हो जायेगा। इसलिये 'ग्रहणवत्प्रातिपदिक' शब्द से उगित्ग्रहणभिन्न, वर्णग्रहणभिन्न तथा प्रत्ययग्रहणभिन्न का ग्रहण किया जाता है। इसलिये 'उगितश्च' 'अत इञ' तथा 'यञिञोश्च' इन तीन स्थलों में तदन्तविधि का निषेध नहीं होता। 'वृद्धाच्छः' सूत्र का वृद्ध पद तथा 'नौ द्वयचः' का 'द्वयच्' पद उपर्युक्त प्रकार से ग्रहणवत्प्रातिपदिक कहा जाता है। इसलिये 'अतिमाल' शब्द जो वृद्ध शब्दान्त है उससे छ प्रत्यय नहीं हुआ। इसी प्रकार द्वयजन्त शब्द परमघट शब्द से ष्ठन् प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि यहाँ प्रस्तुत परिभाषा से तदन्तविधि का निषेध हो जाता है।

इयं च 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेध उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्' इति वार्तिकस्थप्रत्ययांशानुवादः। अत एवायं प्रत्ययविधिविषय एव। अत एव 'येन विधिः' (१–१–७२) इति सूत्रभाष्ये प्रत्ययविधिभिन्ने 'अप्तृन्' (६–४–११) इत्यादौ गृह्यमाणप्रातिपदिकेनापि तदन्तविधिप्रतिपादनं 'स्वसा, परमस्वसे'त्याद्युदाहरणं च सङ्गच्छते।

'येन विधिस्तदन्तस्य' इस सूत्र के भाष्य में पठित 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेध उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्' इस वार्तिक के प्रत्ययांश की अनुवादिका यह परिभाषा है। उक्त वार्तिक के प्रत्ययांश द्वारा प्रत्ययविधि में अर्थात् प्रत्यय के विधेयस्थल में तदन्तविधि का निषेध किया जाता है। जैसे 'नडादिभ्यः फक्' सूत्र से विधेय फक् के स्थल में उक्तवार्तिक से तदन्तविधि का निषेध कर दिया जाता है जिससे नड-शब्द से फक् की भाँति सूत्रनड् शब्द से फक् प्रत्यय नहीं होता। इस परिभाषा को प्रत्ययांश में तदन्तविधि के निषेध का अनुवादक होने के कारण यह परिभाषा भी प्रत्ययविधि के विषय में ही लगती है, जैसा कि 'गर्गादिभ्यो यञ्' सूत्र में इस परिभाषा के द्वारा तदन्तविधि के निषेध का स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

अत एव=इस परिभाषा की प्रवृत्ति प्रत्ययविधेयस्थल में ही होती है इसलिये 'येन विधिस्तदन्तस्य' इस सूत्र के भाष्य में प्रत्ययविधि से भिन्न 'अप्तृन्तृच्' इस सूत्र से दीर्घ विधेयस्थल में गृह्यमाण प्रातिपदिक स्वसृशब्द में तदन्तविधि का प्रतिपादन किया गया है और स्वसा की भाँति परमस्वसा में भी दीर्घ किया गया है। यहाँ ग्रहणवत्प्रातिपदिक होने के कारण तदन्तविधि का निषेध होना चाहिये, किन्तु ग्रहणवत्प्रातिपदिक होने पर भी यहाँ प्रत्ययविधि नहीं है अतः यहाँ तदन्तविधि का निषेध नहीं किया गया, अपितु तदन्तविधि की गई। इस प्रकार यहाँ तदन्तविधि का प्रतिपादन और 'स्वसा' 'परमस्वसा' यह उदाहरण दोनों संगत होते हैं।

अत एव च तदन्तविधिसूत्रे भाष्ये समासेत्यादिनिषेधस्य कथनवदस्य न कथनम्। सोऽपि निषेधो विशिष्य तत्तद्रूपेण गृहीतप्रातिपदिकसूत्र एव। ध्वनितं चेदम् 'असमासे निष्कादिभ्यः' (५–१–२०) इति सूत्रे भाष्ये।

अत्र च ज्ञापकं 'सपूर्वाच्च' (५–२–८७) इति सूत्रम्, अन्यथा 'पूर्वादिनिः' (५–२–८६) इत्यत्र तदन्तविधिनैव सिद्धे किं तेन ॥ ३१ ॥

अतएव=यह परिभाषा 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' इस वार्तिकस्थ प्रत्ययांश का अनुवादक है, यह बात स्वीकार करने के कारण ही जिस प्रकार तदन्तविधि सूत्र के भाष्य में 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' इस निषेध का कथन किया गया है उस प्रकार इस निषेधवचन (परिभाषा) का कथन नहीं किया गया है, क्योंकि जब मूल निषेधक का उल्लेख कर दिया गया तो उसके अनुवादक का उल्लेख करना कोई अर्थ नहीं रखता। यदि इस परिभाषा के द्वारा प्रत्ययविधि से भिन्न स्थल में तदन्तविधि का निषेध किया जाता तो पृथक् से इसका उल्लेख किया जाता। किन्तु यह तो अनुवादक मात्र है अतः इसका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया।

'प्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' और प्रस्तुत परिभाषा इन दोनों का विषय एक ही है, इस बात को और स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि—और 'सोऽपि निषेधः'= 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' इस वचन का प्रत्ययविधिनिषेध भी विशेषकर तत्तद्रूप से अर्थात् उगित्ग्रहणभिन्न, वर्णग्रहणभिन्न और प्रत्ययग्रहणभिन्न जो गृहीत प्रातिपदिक है वहीं प्रवृत्त होता है। यह बात 'असमासे निष्कादिभ्यः' इस सूत्र के भाष्य में ध्वनित है। भाष्यकार ने वहाँ विचार किया कि 'परमनिष्केण क्रीतम्'='परमनैष्किकम्' यहाँ समस्त परमनिष्क शब्द से ठक् प्रत्यय के वारण के लिये असमासग्रहण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यहाँ तो 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन' इस परिभाषा से तदन्तविधि का निषेध हो जायेगा। इसलिये समासस्थल में ठक् की प्राप्ति नहीं है। ऐसी स्थिति में असमासग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि इससे पूर्व 'प्राग्वतेष्ठञ्' में तदन्तविधि का प्रतिषेध नहीं होता। इस पर भाष्यकार ने कहा कि ठञ् विधि में किसी प्रकृति या प्रातिपदिक का उल्लेख नहीं है अतः वहाँ ग्रहणवता परिभाषा की प्राप्ति न होने से तदन्त विधि का निषेध प्राप्त ही नहीं है तो उक्त ज्ञापन का क्या फल है? अब यह विचारना है कि यदि 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' यह निषेध अविशेषेण सब जगह लगता होता तो प्रस्तुत उदाहरण में 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' यह निषेध भले न लगे किन्तु 'समासप्रत्ययविधौ' यह निषेध तो लग ही जाता, तो फिर यहाँ तदन्तविधि किस प्रकार की गई? और निष्कशब्दान्त परमनिष्क शब्द से ठञ् प्रत्यय और 'परिमाणान्तस्य' सूत्र से उत्तरपद के आदि अच् को वृद्धि करके परम नैष्किकम् यह रूप किस प्रकार बना?

इससे विदित होता है कि 'समासप्रत्ययविधौ' यह निषेध भी ग्रहणवत्प्रातिपदिक में ही लगता है। इस प्रकार दोनों की तुल्यविषयता स्पष्ट है। इसलिये यह परिभाषा प्रत्ययांश का अनुवादक है यह कथन सर्वथा संगत होता है।

'सपूर्वाच्च' यह सूत्र जो कृतपूर्व शब्द से इन् प्रत्यय कर 'कृतपूर्वी' यह प्रयोग बनाने के लिये है, यही सूत्र इस परिभाषा का ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा नहीं होती तो 'पूर्वादिनिः' इस सूत्रघटक पूर्व शब्द में तदन्तविधि करके पूर्वशब्दान्त से तथा पूर्वशब्द से दोनों से इन्प्रत्यय होकर 'पूर्वी' और 'कृतपूर्वी' ये दोनों प्रयोग बन सकते थे। ऐसी स्थिति में 'सपूर्वाच्च' सूत्र का क्या औचित्य रह जाता है। यही सूत्र व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है। परिभाषा ज्ञापित होने पर 'पूर्वादिनिः' सूत्र से तदन्तविधि नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ 'पूर्वशब्द' ग्रहणवत्-प्रातिपदिक है। इसलिये 'सपूर्वाच्च' सूत्र की स्वांश में चरितार्थता होती है ॥ ३१ ॥

नन्वेवं 'सूत्रान्ताट्ठक्' (४–२–६०), 'दशान्ताड्डः' (५–२–४५) 'एकगोपूर्वात्' (५–२–११८) इत्यादेः केवलसूत्रशब्ददशन्शब्दैकशब्दादिष्वपि प्रवृत्तिर्व्यपदेशिवद्भावात्स्यादत आह—

नन्वेवम्='व्यपदेशिवदेकस्मिन्' इस परिभाषा को मान कर असहाय में व्यपदेशिवद्भाव होता है ऐसा स्वीकार करने से निम्नलिखित दोष उपस्थित होता है १—'क्रतूक्थादि सूत्रान्ताट्ठक्' इस सूत्र से विधीयमान् ठक् प्रत्यय जिस प्रकार 'सांग्रहसूत्रिकः' इस प्रयोग में सूत्र शब्दान्त 'संग्रहसूत्र' शब्द से होता है उसी प्रकार केवल सूत्रशब्द से भी व्यपदेशिवद्भाव से सूत्रान्त मानकर होना चाहिये। २—'तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः' इस सूत्र से विधीयमान् 'ड' प्रत्यय जिस प्रकार दशान्त शब्द 'एकादशन्' से होता है उसी प्रकार व्यपदेशिवद्भाव से केवल 'दशन्' शब्द को दशान्त मान कर उससे भी होना चाहिये। इसी प्रकार 'एकगोपूर्वाट्ठञ् नित्यम्' इस सूत्र से विधीयमान ठञ् प्रत्यय जिस प्रकार एकशत शब्द से होता है उसी प्रकार केवल एक शब्द को ही व्यपदेशिवद्भाव से एक पूर्वक मान कर उससे भी ठञ् प्रत्यय होना चाहिये, इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनायी गयी—

व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन ॥ ३२ ॥

अन्तादि पद से घटित जो प्रातिपदिकत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नविषयताप्रयोजक पद उसे उद्देश्य कर विहित जो कार्य है वह व्यपदेशिवद्भाव से केवल प्रातिपदिक में नहीं होता है।

उपर्युक्त तीन स्थलों में अन्तादि पद से घटित प्रातिपदिकत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्न-विषयताप्रयोजक पद दशान्त, सूत्रान्त और 'एकगोपूर्वात्' है, इन्हें उद्देश्य कर

विधीयमान् प्रत्यय ङ, ठक् और ठञ् हैं। ये प्रत्यय केवल प्रातिपदिक दशन्-सूत्र और एक शब्द से नहीं होते हैं। इसलिये उपर्युक्त दोषों का निराकरण हो जाता है।

कहा जा सकता है कि परिभाषा का सीधा अर्थ करना चाहिये कि प्रातिपदिक स्थल में व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता है। तो इस प्रकार के अर्थ को छोड़कर उपर्युक्त परिभाषार्थ क्यों किया गया है? इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर यह है कि यदि ऐसा ही परिभाषार्थ किया जायेगा तो प्रातिपादिक स्थल में कहीं भी व्यपदेशिवद्भाव नहीं होगा। ऐसी स्थिति में केवल 'अ' शब्द को अदन्त मानकर इञ् प्रत्यय किस प्रकार हो सकेगा। इसलिये उपर्युक्त परिभाषार्थ ही समीचीन है।

'पूर्वात्सपूर्वादिनिरि'त्येकयोगे एव कर्त्तव्ये पृथग्योगकरणमस्या ज्ञापकम्। न च 'इष्टादिभ्यः' (५-२-८८) इति सूत्रेऽनुवृत्त्यर्थं तथा पाठः, अत एव 'अनिष्टी'त्यादिसिद्धिरिति वाच्यम्, ज्ञापकपरभाष्यप्रामाण्येन 'अनिष्टी'-त्यादिप्रयोगाणामनिष्टत्वात्; एकयोगेऽपि तावत् उत्तरत्रानुवृत्तौ बाधका-भावाच्च।

'पूर्वादिनिः' 'सपूर्वाच्च' इन दो सूत्रों की जगह 'पूर्वात्-सपूर्वादिनिः' यह एक ही सूत्र कर देना चाहिये था। ऐसा करने से 'कृतपूर्वी' में सपूर्वक 'पूर्व' शब्द से इन् प्रत्यय तथा केवल पूर्व शब्द से व्यपदेशिवद्भाव से सपूर्वक मानकर इन् प्रत्यय सिद्ध ही है। ऐसी स्थिति में पृथक् योग करना अर्थात् पृथक् दो सूत्र बनाना व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है। यदि कहा जाय कि पृथक् योग करना व्यर्थ नहीं है किन्तु वह इसलिये सार्थक है कि जब 'सपूर्वाच्च' यह योग पृथक् रहता है तो 'इष्टादिभ्यश्च' इस अग्रिम सूत्र में इसकी अनुवृत्ति जाती है जिससे सपूर्वक इष्ट शब्द अर्थात् अनिष्ट शब्द से इन् प्रत्यय होकर 'अनिष्टी' यह प्रयोग बनता है। इस प्रकार पृथक् योग करण जब व्यर्थ नहीं है तो इस परिभाषा का ज्ञापक वह कैसे होगा?

इस प्रकार की शंका के उत्तर में कहा गया है कि भाष्यकार ने पृथक्योगकरण को व्यर्थ मान कर इस परिभाषा को ज्ञापित किया है। इस भाष्यप्रामाण्य से 'अनिष्टी' इत्यादि प्रयोगों का अनभिधान मान लेना चाहिये। अर्थात् अनिष्टी प्रयोग बनाने के लिये उत्तरत्र अनुवृत्यर्थ पृथक् योग अनावश्यक है। अतः वह परिभाषा का ज्ञापक हो सकता है।

अथवा एक योग रहने पर भी स्वरितत्व प्रतिज्ञा के आधार पर तावतः='सपू-र्वात्' इतने अंश की उत्तरत्र अनुवृत्ति में कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार पृथक्योग की व्यर्थता स्पष्ट ही है। अतः उसके द्वारा परिभाषा का ज्ञापन युक्त है।

अत एव 'नान्तादसङ्ख्यादेः' (५-२-४९) इति चरितार्थम्। अन्यथा 'पञ्चम' इत्यादावपि व्यपदेशिवद्भावेन सङ्ख्यादित्वात्तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव।

इयं च प्रातिपदिकग्रहणे एव, न तु प्रातिपदिकाऽप्रातिपदिकग्रहणे। तेन 'उगितश्च' (४-१-६) इत्यत्र न दोष इति तत्रैव भाष्ये स्पष्टम्।

इयं 'ग्रहणवता' (प० ३१) इति च परिभाषा प्रत्ययविधिविषयैवेति 'असमासे निष्कादिभ्यः' (५-१-२०) इति सूत्रे भाष्यकैयटयोः। तेन 'अहन्' (८-२-६८) इत्यादेः परमाहन्शब्दे केवलाहन्शब्दे च प्रवृत्तिरित्यन्यत्र विस्तरः॥ ३२॥

अत एव=इस परिभाषा को स्वीकार करने से ही 'नान्तादसंख्यादेर्मट्' यह सूत्र चरितार्थ होता है। अन्यथा=यदि यह परिभाषा नहीं होती तो 'पञ्चन्' शब्द को व्यपदेशिवद्भाव से संख्यादि शब्द मान लेने पर मट् का आगम नहीं हो सकता था। असंख्यादि नान्त शब्द से परे डट् को मट् का आगम होता है। यहाँ तो संख्यादि ही हो गया है तो मडागम कैसे होगा? इस प्रकार मट्विधायक सूत्र की व्यर्थता स्पष्ट ही है।

यह परिभाषा प्रातिपदिकमात्रबोधक पदघटित शास्त्र में ही लगती है। जैसे—'सूत्र, दशन्, एक, गो' ये शब्द प्रातिपदिकमात्रबोधक हैं। अतः एतद्घटितशास्त्र में तो यह परिभाषा लगी और वहाँ व्यपदेशिवद्भाव का निषेध हो गया, किन्तु जो पद प्रातिपदिक और प्रातिपदिकेतर दोनों का बोधक है तद्घटितशास्त्र में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। जैसे 'उगितश्च' इस सूत्र में पठित उगित् पद 'भवतु' इत्यादि उगित् प्रातिपदिक और उगित् धातु दोनों का बोधक है। इसलिये यह प्रातिपादिक और प्रातिपदिकेतर उभय का बोधक है, अतः यहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती हैं। परिणाम यह होता है कि वहाँ केवल उगित् प्रातिपदिक को भी व्यपदेशिवद्भाव से उगिदन्त प्रातिपदिक मान लिया जाता है और वहाँ ङीप् प्रत्यय कर दिया जाता है, जिससे 'अतिभवती' की भाँति 'भवती' प्रयोग की भी सिद्धि होती है। यह परिभाषा और 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' यह परिभाषा ये दोनों परिभाषाएँ प्रत्ययविधिविषया हैं। जहाँ प्रत्यय का विधान करना हो, वहीं इन दोनों परिभाषाओं की प्रवृत्ति होती है यह बात 'असमासे निष्कादिभ्यः' सूत्र के भाष्य और कैयट में कही गई है। इसलिये 'अहन्' इस रुत्व-विधायक सूत्र में ग्रहणवत् प्रातिपदिक होने पर भी प्रत्ययविधि न होने के कारण तदन्तविधि का निषेध नहीं होता, अपितु तदन्तविधि हो जाती है। तदन्तविधि होने के बाद परमाहन् शब्द में ही 'अहन्' सूत्र की प्रवृत्ति होनी चाहिये, न कि केवल अहन् शब्द में भी। किन्तु यहाँ व्यपदेशिवद्भाव के द्वारा केवल अहन् शब्द में भी 'अहन्' सूत्र की प्रवृत्ति करायी गई है, क्योंकि प्रत्ययविधिविषयत्व न होने के कारण यहाँ व्यपदेशिवद्भाव का भी निषेध नहीं होता है। यह बात अन्यत्र विस्तार से कही गयी है॥ ३२॥

ननु 'वान्तो यि' (६-१-७९) इत्यादौ 'यादौ प्रत्यये' इत्यर्थः कथमत आह—

'येन विधिस्तदन्तस्य' इस सूत्र के द्वारा विशेषण जब तदन्त की संज्ञा होता है तो 'वान्तो यि प्रत्यये' इस सूत्र में भी तदन्तविधि होनी चाहिये। यहाँ 'यि' यह सप्तम्यन्तपद विशेषण है और प्रत्यये यह सप्तम्यन्त पद उसका विशेष्य है। ऐसी स्थिति में तदन्तविधि होकर 'यकारान्ते प्रत्यये परे' ऐसा सूत्रार्थ होना चाहिये न कि 'यादौ प्रत्यये'। यदि कहा जाय कि यकारान्त प्रत्यय अप्रसिद्ध है, अतः असम्भवात् तदन्तविधि नहीं होगी, तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि 'गोमयम् अत्ति इति गोमयात्, तम् आचष्टे' इस विग्रह में णिच् प्रत्यय और टिलोप करने पर 'गोमय् इ-ति' इस स्थिति में गो शब्द के आगे 'मय्' यह यकारान्त प्रत्यय सुलभ है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि असम्भवात् तदन्तविधि नहीं होगी। इस प्रकार तदन्तविधि की अवश्य प्राप्ति होने की स्थिति में 'यादौ प्रत्यये' यह अर्थ किस प्रकार किया गया है, ऐसी शंका होने पर तदन्तविधि की बाधिका यह परिभाषा बनायी गई—

यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे ॥ ३३ ॥

इस परिभाषा में 'यस्मिन्' यह पद सप्तम्यन्तपदों का बोधक है। विधि शब्द 'विधीयते योऽसौ विधिः' इस कर्मव्युत्पत्ति से कार्य का बोधक है। ग्रहण शब्द करण-व्युत्पत्ति से बोधकपरक है। इस प्रकार इस परिभाषा का ऐसा अर्थ होता है—अल्-बोधक सप्तम्यन्तपद जहाँ अभेदसम्बन्ध से विशेषण के रूप में उच्चारित होता है, उस विशेषण के परे जो विधि कर्तव्य होती है वह विधि तदादि में होती है। तदादि का तात्पर्य है कि वह अल् जिसके आदि में हो, ऐसे प्रत्यय के पर में रहने पर वह विधि होती है। सारांश यह है कि वहाँ तदन्तविधि को बाधकर तदादिविधि हो जाती है। इसलिये 'वान्तो यि प्रत्यये' इस सूत्र में तदन्तविधि को बाधकर तदादि-विधि करने से 'यादौ प्रत्यये' यह अर्थ करना सर्वथा संगत होता है।

तदन्तविधेरपवाद इयम्। वाचनिक्येषा 'येन विधिः' (१-१-७२) इत्यत्र भाष्ये पठिता। अस्याश्च स्वरूपसती सप्तमी निमित्तम्। अत एव 'नेड्वशि कृति' (७-२-८) इत्यादौ वशादेः कृत इत्याद्यर्थलाभः। इयं च 'आर्द्धधातुकस्येट्' (७-२-३५) इति सूत्रे वलादेरित्यादिग्रहणसामर्थ्याद् विशेष्यविशेषणयोरुभयोः सप्तम्यन्तत्व एव प्रवर्त्तते। तेन 'ङः सि धुट्' (८-३-२९) इत्यादौ सादेः पदस्येति नार्थः। 'तीषसह' (७-२-४८) 'सेऽसिचि' (७-२-५७) इत्यादौ यथा तादेरित्याद्यर्थलाभस्तथा शब्देन्दुशेखरे निरूपितम् ॥ ३३ ॥

यह परिभाषा तदन्तविधि का अपवाद है। यह वाचनिकी परिभाषा है अर्थात्

भाष्य में यह वचनरूप से पढी गई है। भाष्यकार ने इसके लिये किसी ज्ञापक का उल्लेख नहीं किया है।

यद्यपि इस परिभाषा के लिये किसी ज्ञापक का उपन्यास नहीं किया गया है तथापि 'न ल्यपि' सूत्र इस परिभाषा में ज्ञापक हो सकता है। यह सूत्र 'प्रदाय' 'प्रधाय' इत्यादि प्रयोगों में 'घुमास्थागापा' इस सूत्र से प्राप्त इत्व के प्रतिषेध के लिये है। इस परिभाषा के अभाव में इत्वविधायक सूत्र की प्रवृत्ति हलन्त आर्धधातुक के पर में रहने पर होगी। किन्तु क्त्वास्थानिक ल्यप् (य) को हलन्त न होने के कारण इत्व की प्राप्ति ही नहीं होगी। ऐसी स्थिति में इत्वनिषेध के लिये किया गया 'न ल्यपि' सूत्र व्यर्थ होकर प्रस्तुत परिभाषा का ज्ञापक होता है।

इस परिभाषा की प्रवृत्ति में सप्तमी विभक्ति (ङि-ओस्-सुप्) स्वरूपतः कारण है। उसका अधिकरण रूपी अर्थ इसकी प्रवृत्ति में विवक्षित नहीं है। इसीलिये 'नेड्-वशि कृति' इस सूत्र में 'वशि कृति' इन सप्तम्यन्त पदों से अधिकरण अर्थ की प्रतीति न होने पर भी इस परिभाषा की प्रवृत्ति हुई और तदादिविधि होकर 'वशादेः कृतः' इस अर्थ का लाभ हुआ। इट् निरूपित सम्बन्धार्थिका होने के कारण यहाँ षष्ठ्यर्थ में सप्तमी है इसलिये सप्तम्यर्थ के न होने पर भी सप्तमी स्वरूपतः है, इसलिये तदादि विधि हो गई। षष्ठ्यर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये वृत्ति में 'वशादेः कृतः' ऐसा उल्लेख किया गया है।

विशेषण और विशेष्य ये दोनों जब सप्तम्यन्त होते हैं तभी इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इस सूत्र में आदिग्रहण इस बात में प्रमाण है। यदि विशेषण और विशेष्य की भिन्न विभक्तिकता में भी इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती तो 'आर्धधातुकस्येट् वलि' ऐसा न्यास करने पर भी सप्तम्यन्त विशेषण 'वलि' में तदादिविधि होकर 'वलादेः' इस अर्थ का लाभ हो जाता, तो फिर आदिग्रहण की क्या आवश्यकता रह जाती है ? इस प्रकार आदिग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि विशेषण और विशेष्य इन दोनों की सप्तम्यन्तता ही इस परिभाषा की प्रवृत्ति में कारण है। इसका फल यह होता है कि 'डः सि धुट्' इस सूत्र में 'सि' इस विशेषण पद के सप्तम्यन्त होने पर भी वहाँ अनुवृत्त 'पदस्य' इस विशेष्यवाचक पद के षष्ठ्यन्त होने के कारण यह परिभाषा यहाँ प्रवृत्त नहीं होती है। इसलिये सादिपद को धुट् हो, ऐसा अर्थ यहाँ नहीं होता है किन्तु सकार को धुट् हो, ऐसा अर्थ किया जाता है। इसलिये 'लिटत्सु' इस प्रयोग में सकार को धुट् हो जाता है। यदि यह नियम नहीं होता और भिन्नविभक्तिक स्थल में भी तदादिविधि होती, तो यहाँ भी तदादिविधि करके 'सकारादिपद' को धुट का आगम हो, ऐसा अर्थ कर दिया जाता। इसका परिणाम यह होता कि 'षटत्सन्तः' में तो धुट् होता, क्योंकि यहाँ

सकारादि पद है, किन्तु 'लिटत्सु' में धुट् नहीं होता, क्योंकि यहाँ का 'सु' पद नहीं है। इसलिये इस परिभाषा की प्रवृत्ति में दोनों की (विशेष्य और विशेषण की) सप्तम्यन्तता आवश्यक समझनी चाहिये।

अब यहाँ यह शंका होती है कि 'तीषसहलुभरुषरिषः' तथा 'सेऽसिचि कृतछृद-तृदनृतः' इन दोनों सूत्रों में 'ति' और 'से' ये सप्तम्यन्त विशेषण पद हैं और विशेष्य रूप में यहाँ 'आर्धधातुकस्य' की अनुवृत्ति आती है। स्पष्ट है कि यहाँ विशेषण और विशेष्य दोनों में सप्तम्यन्तता नहीं है। ऐसी स्थिति में यहाँ 'तादेः आर्धधातुकस्य' और 'सादेः आर्धधातुकस्य' यह अर्थ किस प्रकार किया जाता है ? इस शंका के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि उक्त दोनों स्थलों में तादि और सादि अर्थ का लाभ जिस प्रकार हुआ है उसका निरूपण शब्देन्दुशेखर में किया गया है। उक्त दोनों सूत्रों के व्याख्यान के अवसर पर वहाँ कहा गया है कि यहाँ 'ति' और 'से' इन दोनों पदों में जो सप्तमी है वह प्रथमार्थ में है। इन दोनों सूत्रों में जिस प्रकार 'आर्धधातुकस्य' की अनुवृत्ति आती है, उसी प्रकार 'वलादेः' इस षष्ठ्यन्त पद की भी अनुवृत्ति आती है। इस वलादि के एकदेश वल् पदार्थ में तकार और सकार का अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है। इस प्रकार ऐसा सूत्रार्थ होता है कि तकार से अभिन्न तथा सकार से अभिन्न जो वल् तदादि आर्धधातुक को इट् का आगम होता है। यही तादि और सादि अर्थ के लाभ का प्रकार उक्त दोनों सूत्रों के व्याख्यान के अवसर पर शब्देन्दुशेखर में निरूपित किया गया है ॥ ३३ ॥

घटपटं 'घटपटावि'त्यादिसिद्धये आह—

घट और पट का समाहार (समूह) इस विवक्षा में 'घटपटम्' और 'घट और पट' ये दो वस्तुएँ इस विवक्षा में 'घटपटौ' यह रूप बनाया जा सके, इसलिये परिभाषा बनायी गयी।

सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवति ॥ ३४ ॥

सभी द्वन्द्व विभाषा=विकल्प से एकवद्भाव होता है। इसलिये 'घटश्च पटश्च' इस विग्रह में 'चार्थे द्वन्द्वः' सूत्र से विहित समास जब एकवद्भाव हो गया तब 'घटपटम्' यह रूप बना और जब वर्तिपदार्थ के आधार पर द्विवचन विभक्ति आयी तब 'घटपटौ' यह रूप बनता है।

यहाँ कहा जा सकता है कि यह तो द्वन्द्वमात्र के लिये स्वयं-सिद्ध नियम है कि उद्भूतावयवभेद की विवक्षा में इतरेतरयोग द्वन्द्व होता है और अनुद्भूतावयव अथवा तिरोहितावयव भेद की विवक्षा में समाहार द्वन्द्व होता है। इतरेतरयोग में वर्तिपदार्थ के अनुसार द्विवचन या बहुवचन होता है और समाहारद्वन्द्व में एकवचन

होता है। इस प्रकार एकवचन और द्विवचन के रूप जब स्वयमेव सिद्ध हैं तब इस परिभाषा की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि सर्वनाम शब्द के अतिरिक्त शब्दों में एक ही जगह एक साथ उद्भूतावयव और अनुद्भूतावयव पक्ष इन दोनों की विवक्षा नहीं होती है। इसीलिये अनेक वृक्षों के तात्पर्य में 'वृक्षाः और वनम्' ऐसा प्रयोग किया जाता है। ऐसा नहीं होता कि वृक्ष में अनुद्भूतावयव पक्ष मानकर 'वृक्षः' ऐसा एकवचनान्त प्रयोग किया जाय। जहाँ एक वृक्ष के लिये 'वृक्षः' ऐसा प्रयोग किया जाता है वहाँ तो वह प्रयोग साधु ही है, किन्तु अनेक वृक्षों के लिये अनुद्भूतावयव पक्ष मानकर 'वृक्षः' ऐसा प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार उद्भूतावयव पक्ष मानकर अनेक वृक्षों के लिये 'वनानि' ऐसा प्रयोग नहीं किया जाता है। इससे सिद्ध है कि एक शब्द में दोनों पक्षों की विवक्षा नहीं होती है। लोक में 'सर्वो लोकः' 'सर्वे लोकाः' ऐसा प्रयोग देखा जाता है, इसलिये सर्वनाम स्थल में तो उभयविवक्षा होती है, किन्तु अन्यत्र नहीं होती। इस नियम के आधार पर 'घटपट' शब्द में उद्भूतावयव और अनुद्भूतावयव इन दोनों पक्षों की विवक्षा नहीं हो सकती है। इसलिये इस परिभाषा की आवश्यकता है। इसका तात्पर्य यह है कि द्वन्द्वसमास में भी उभयविवक्षा होती है। इसलिये 'घटपटम्' और 'घटपटौ' ये दोनों प्रयोग बनते हैं।

'द्वन्द्वश्च प्राणि' (२-४-२) इत्यादिप्रकरणाविषयः सर्वो द्वन्द्व इत्यर्थः। 'चार्थे द्वन्द्वः' (२-२-२९) इति सूत्रेण समाहारेतरेतरयोगयोरविशेषेण द्वन्द्वविधानान्न्यायसिद्धेयम्। 'तिष्यपुनर्वस्वोः' (१-२-६३) इति सूत्रस्थं बहुवचनस्येतिग्रहणमस्या ज्ञापकम्। तद्धीदं 'तिष्यपुनर्वस्वि'त्यत्र तद्व्यावृत्त्यर्थम्।

न चैवमप्यत्र 'जातिरप्राणिनाम्' (२-४-६) इति नित्यैकवद्भावेन बहुवचनाभावादिदं सूत्रं व्यर्थमिति वाच्यम् ? तद्वैकल्पिकत्वस्याप्यनेन ज्ञापनात्। न चैते प्राणिन इति वाच्यम् ? 'आपोमयः प्राणः' इति श्रुतेरद्भिर्विना ग्लायमानप्राणानामेव प्राणित्वात्। स्पष्टं चेदं 'तिष्यपुनर्वस्वोः' (१-२-६३) इति सूत्रे भाष्ये। अत एव 'द्वन्द्वश्च प्राणि' (२-४-२) इत्यादेः प्राण्यङ्गादीनामेव समाहार इति विपरीतनियमो न ॥ ३४ ॥

अब एक यह शंका होती है कि जब इस परिभाषा के द्वारा सारे द्वन्द्व को विभाषा से एकवद्भाव होता है तो 'पाणिपादम्' इस प्रयोग में नित्य एकवद्भाव क्यों होता है ?

इसके उत्तर में ग्रन्थकार ने लिखा है कि यहाँ सर्व शब्द से 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इसके प्रकरण का अविषय द्वन्द्व ही गृहीत होता है। यदि ऐसा नहीं माना

जाय तो 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य' इत्यादि जो नियम-सूत्र हैं वे सब व्यर्थ हो जायेंगे। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि 'चार्थे द्वन्द्वः' सूत्र से विहित द्वन्द्व ही इस परिभाषा में ग्राह्य है।

'चार्थे द्वन्द्वः' सूत्र से अविशेषेण=सामान्यतया समाहार और इतरेतरयोग में द्वन्द्वसमास का विधान है। इसलिये समाहार में एकवचन और इतरेतरयोग में द्विवचनादि स्वयं-सिद्ध है। इस प्रकार यह परिभाषा उक्त सूत्र से प्राप्त उभयविवक्षा-प्रयुक्त वैकल्पिक एकवचन का अतिदेश करती है। इसलिये यह परिभाषा न्याय-सिद्ध है। 'तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम्' इस सूत्र का 'बहुवचनस्य' पद इस परिभाषा का ज्ञापक है। 'तिष्यश्च पुनर्वसू च' इस विग्रह में द्वन्द्व-समास करने पर यहाँ बहुवचन प्राप्त है, क्योंकि एक तिष्य और दो पुनर्वसु मिलकर बहुत होते हैं, किन्तु यहाँ 'तिष्यपुनर्वसू' यह द्विवचनान्त रूप ही अभीष्ट है, इसलिये यहाँ बहुवचन का बाध किया जाता है। किन्तु प्रश्न यह है कि प्रस्तुत उदाहरण में जब उद्भूतावयव भेद की विवक्षा होगी तो बहुवचन ही होगा, तो ऐसी स्थिति में एक-वचनान्त प्रयोग 'इदं तिष्यपुनर्वसु' की प्राप्ति ही नहीं है, इसलिये व्यावर्त्य के अभाव में बहुवचन-ग्रहण व्यर्थ है।

यदि तिरोहितावयवभेदसमुदाय की विवक्षा की जायेगी तो उक्त उदाहरण में नियमतः एकवचन ही होगा। बहुवचन की प्राप्ति तो यहाँ होगी ही नहीं, तो फिर बहुवचन-ग्रहण की क्या आवश्यकता रह जाती है। इस प्रकार बहुवचन-ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है। परिभाषा ज्ञापित होने पर द्वन्द्व-समास से उभयविवक्षा का होना निश्चित होता है, क्योंकि सर्वनाम के अतिरिक्त अन्यत्र उभयविवक्षा नहीं होती है। इस प्रकार उभयविवक्षा या विभाषया एकवद्भाव से सम्पन्न 'इदं तिष्यपुनर्वसु' इस रूप में द्विवचन न होने लगे, इसलिये बहुवचन-ग्रहण सार्थक होता है।

अब शंका होती है कि इस परिभाषा के ज्ञापित होने पर भी 'तिष्यपुनर्वस्वोः' यह सूत्र व्यर्थ ही है, क्योंकि 'तिष्यश्च पुनर्वसू च' इस विग्रह में 'जातिरप्राणिनाम्' सूत्र से समास कर नित्य एकवद्भाव का विधान किया जाता है। ऐसी स्थिति में यहाँ बहुवचन की संभावना ही नहीं है तो किसे द्विवचन का विधान किया जायेगा। इस प्रकार यह सूत्र अभी भी व्यर्थ ही है। इस शंका का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार का कहना है—'यावता न चरितार्थं तावत् सर्वं ज्ञाप्यम्' इस नियम के आधार पर 'तिष्यपुनर्वस्वोः' यह सूत्र 'जातिरप्राणिनाम्' इस सूत्र का भी वैकल्पिकत्व ज्ञापित करता है। अर्थात् इस सूत्र से एकवद्भाव विकल्प से होता है। इसलिये जिस पक्ष में एकवद्भाव नहीं होगा, उस पक्ष में बहुवचन मिलेगा, जिसे द्विवचन करने के लिये सूत्र सार्थक होता है।

यदि कहा जाय कि तिष्य और पुनर्वसू ये प्राणी है, इसलिये 'जातिरप्राणिनाम्' सूत्र से इनका समास किस प्रकार होगा तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'आपोमयः प्राणः' इस श्रुति के आधार पर उन्हीं को प्राणी कहा जाता है जिनका प्राण जल के बिना ग्लायमान=शुष्यमाण होता है। तिष्यपुनर्वसू ये नक्षत्र हैं। इनकी स्थिति उपर्युक्त प्राणियों की-सी नहीं है, अतः ये प्राणी नहीं हैं। इस प्रकार 'जातिरप्राणिनाम्' से समास में यहाँ कोई बाधा नहीं है। यह बात 'तिष्यपुनर्वस्वोः' इस सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

अतएव=बहुवचनग्रहणज्ञापित इस परिभाषा को स्वीकार करने से ही 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इस सूत्र में विपरीत नियम नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य' यह सूत्र प्राण्यङ्ग आदि के समास को एकवद्भाव करता है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि समाहारद्वन्द्व करने से ही एकवद्भाव जब सिद्ध है तब इस सूत्र से एकवद्भाव विधान की क्या आवश्यकता है? ऐसी स्थिति में यह सूत्र व्यर्थ होकर नियम करता है कि प्राण्यङ्ग आदि का समास हो तो वह समाहार ही हो। यह शुद्ध नियम कहा जाता है, किन्तु जहाँ शुद्ध नियम होता है वहाँ विपरीत नियम की भी सम्भावना रहती है। इसलिये यहाँ ऐसा विपरीत नियम भी हो सकता था कि समाहारद्वन्द्व यदि किसी का हो तो वह प्राण्यङ्ग आदि का ही हो। किन्तु यदि ऐसा नियम हो जाता तो तिष्य और पुनर्वसू शब्द को प्राण्यङ्ग न होने के कारण इनका समाहार-द्वन्द्व नहीं होता और समाहार-द्वन्द्व के अभाव में एकवचन भी नहीं होता। ऐसी स्थिति में एकवचन की व्यावृत्ति के लिये सूत्र में बहुवचन की क्या आवश्यकता रहेगी। इस प्रकार बहुवचनग्रहण व्यर्थ हो जायेगा। अथवा इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जब प्राण्यङ्ग से अतिरिक्त कहीं भी समाहार-द्वन्द्व नहीं होगा तो तिष्य और पुनर्वसू—इस स्थल में भी समाहार-द्वन्द्व नहीं होगा, क्योंकि ये प्राण्यङ्ग नहीं है। इसलिये इनका समास इतरेतरयोग होगा और वहाँ सदा बहुवचन ही मिलेगा। इस प्रकार जब बहुवचन का ही मिलना निश्चित हो गया तो किसकी व्यावृत्ति के लिये 'तिष्यपुनर्वस्वोः' सूत्र में बहुवचन-ग्रहण किया जाय। इस प्रकार बहुवचन-ग्रहण की व्यर्थता हो जाती है। इसलिये बहुवचन-ग्रहण-ज्ञापित इस परिभाषा के आधार पर यही कहना चाहिये कि 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य' इस सूत्र में विपरीत नियम नहीं होता है ॥ ३४ ॥

विकल्प के प्रसंग में दूसरी परिभाषा कह रहे हैं—

सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते ॥ ३५ ॥

आचार्य पद का अध्याहार कर इस परिभाषा का अर्थ होता है कि आचार्य के द्वारा छन्दसि=वेद में सारे कार्य विकल्प से किये जाते हैं।

'व्यत्ययो बहुलम्' (३–१–८५) इति सूत्रे भाष्ये बहुलमिति योग-विभागेन 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि' (१–४–९) इति सूत्रे वेति योगविभागेन चैषा साधिता। तेन 'प्रतीपमन्य' 'ऊर्मिर्युध्यती'त्यादि सिद्धम्। 'युद्धचत' इति प्राप्नोति ॥ ३५ ॥

'व्यत्ययो बहुलम्' इस सूत्र के भाष्य में 'बहुलम्' यह योग-विभाग करके और 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा' इस सूत्र में 'वा' यह पृथक् योग-विभाग करके यह परिभाषा सिद्ध की गई है। इस प्रकार छन्द में सर्वविधियों के विकल्प से होने के कारण 'प्रतीपमन्य उर्मिर्युद्धचति' इस प्रयोग में 'युद्धचति' यह परस्मैपद सिद्ध होता है। यहाँ नियमानुसार 'युद्धचते' यह आत्मनेपद प्राप्त है। इसी प्रकार विकरणों का भी बहुलं व्यत्यय छन्द में देखा जाता है जैसे 'आण्डा शुष्मस्य भेदति' यहाँ 'भिनत्ति' ऐसा रूप प्राप्त था, किन्तु उसकी जगह भेदति यह रूप बनाया गया। यहाँ श्नम् विकरण की जगह शप् विकरण किया गया है। इसी प्रकार 'जरसा मरते पतिः' यहाँ तौदादिक श विकरण होकर 'म्रियते' यह रूप प्राप्त था, किन्तु इसकी जगह शप् विकरण करके 'मरते' यह प्रयोग बनाया जाता है। इस प्रकार वेद में सभी कार्यों का वैकल्पिकत्व उपर्युक्त प्रकार से किया जाता है ॥ ३५ ॥

ननु 'क्षियः' (६–४–५९; ८–२–४६) इत्यादावियङ् कथमत आह—

'क्षियो दीर्घात्' यह सूत्र निष्ठा को नत्व विधान करता है। यहाँ शंका होती है कि इस सूत्र में 'क्षि' यह शब्द 'क्षि' धातु का अनुकरण है। अनुकरण होने के कारण यह अनुकार्य का बोधक है न कि यह क्रियावाचक है। इसलिये क्रिया न होने के कारण यह धातु नहीं कहा जायेगा और धातुत्व के अभाव में यहाँ 'अचिश्नुधातुभ्रुवाम्' सूत्र से 'इयङ्' किस प्रकार होगा ? इसलिये 'क्षियः' यह सौत्र-निर्देश असंगत है, ऐसी शंका होने पर यह परिभाषा बनायी गयी—

प्रकृतिवदनुकरणं भवति ॥ ३६ ॥

अनुकरण प्रकृति के तुल्य होता है। प्रकृति से तात्पर्य यहाँ अनुकार्य से है। अर्थात् अनुकरण अनुकार्यवृत्तिधर्मवान् होता है। इस प्रकार इस परिभाषा से अनुकरण में अनुकार्यवृत्तिधर्म का अतिदेश करने से सूत्रस्थ 'क्षि' यह शब्द भी धातु हो गया, जिससे इसको इयङ् करने पर 'क्षियः' यह निर्देश संगत होता है।

'क्षिय' इतीयङ्निर्देशोऽस्या ज्ञापकः। तत्रैव प्रातिपदिकत्वनिबन्धन-विभक्तिकरणादनित्या चेयमिति 'क्षियो दीर्घात्' (८–२–४६) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ॥ ३६ ॥

'क्षियो दीर्घात्' इस सूत्र में किया गया 'क्षियः' यह निर्देश इस परिभाषा का ज्ञापक है। अन्यथा धातुत्व के अभाव में इयङ् न होने के कारण 'क्षियः' यह निर्देश

ही असंगत हो जाता। अब यहाँ शंका होती है कि इस परिभाषा से धातुत्व का अतिदेश करने पर कृतदीर्घ क्षी धातु के अनुकरणसूत्रस्थ 'क्षी' की प्रातिपदिक संज्ञा किस प्रकार होगी ? क्योंकि प्रातिपदिक संज्ञा धातुभिन्न की होती है। यह तो धातु ही हो गया है। इसलिये इसे प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होगी। और जब प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होगी, तब प्रातिपदिकत्वनिबन्धनविभक्ति यहाँ किस प्रकार होगी ? इस प्रकार की शंका होने पर मूल में कहा गया है कि 'क्षियः' इस प्रयोग में प्रातिपदिकत्व-निबन्धनपञ्चमीविभक्ति लाने के कारण यह ज्ञापन किया जाता है कि यह अनित्यत्व कार्यभेद के आधार पर होगा न कि लक्ष्यभेद के आधार पर। इसलिये किसी कार्य के लिये तो प्रकृतिवत् अतिदेश होगा और किसी कार्य के लिये नहीं होगा। प्रस्तुत स्थल में इयङ् करने के लिये तो अनुकार्यवृत्तिधातुत्व का अतिदेश होता है, किन्तु प्रातिपदिक संज्ञा के समय नहीं होता है। इसी प्रकार 'भुवो वुग् लुङ्लिटोः' इस निर्देश में भी उवङ् करने के समय धातुत्व का अतिदेश होता है और विभक्ति लाने के समय नहीं होता है।

यह 'क्षियो दीर्घात्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है ॥ ३६ ॥

अतिदेश के प्रसंग में अतिदेश करने वाली एक दूसरी परिभाषा का उपक्रम कर रहे हैं—

ननु 'रामावि'त्यादौ वृद्धौ कृतायां कार्यकालपक्षे कथं पदत्वम्, उभयत आश्रयणेऽन्तादिवत्वाभावाद्यस्माद्विहितस्तदादितदन्त्वाभावादत आह—

राम शब्द से औ विभक्ति लाने पर वृद्धि हो जाती है तब उस वृद्धिरूप एकादेश औ प्रत्ययरूप सुप् का तथा 'यस्मात् स विहितस्तदादिरूप' प्रकृति भाग का अपहार हो जाता है। अपहार का तात्पर्य यह है कि 'रामौ' इस रूप में यह पता नहीं लगता है कि कौन प्रकृतिभाग है और कौन प्रत्ययभाग ऐसी स्थिति में सुबन्त-तदादि को की जाने वाली पदसंज्ञा यहाँ कैसे होगी ? क्योंकि कार्यकालपक्ष में जब कार्य उपस्थित होता है तभी संज्ञा करना अपेक्षित होता है। इसलिये कार्यकाल में 'रामौ' की पदसंज्ञा किस प्रकर होगी ? यहाँ कार्यकालपक्ष का उल्लेख कर यह सूचित किया गया है कि यथोद्देश्य में तो 'राम+औ' इस स्थिति में सुबन्ततदादि मान कर जो पदसंज्ञा कर दी गई है, यह एकादेश हो जाने के बाद भी राम औ के स्थान पर 'रामौ' यह आदेश हुआ है इस प्रकार के आनुमानिक स्थान्यादेश के आधार पर स्थानिवद्भाव से सुलभ है। इसलिये यह दोष कार्यकाल पक्ष में ही है।

यदि कहा जाय कि एकादेशघटित 'औ' शब्द में परादिवद्भाव से सुप्त्व तथा एकादेशघटित 'रामौ' में पूर्वान्तवद्भाव से तदादित्व चला आयेगा, इसलिये पद-

संज्ञा यहाँ सुलभ है तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्' इस नियम के आधार पर यहाँ अन्तादिवत् भाव एक साथ हो ही नहीं सकता है। यदि कहा जाय कि भ और पदसंज्ञा के विषय में यथोद्देश पक्ष ही होता है ऐसा पहले कहकर अब कार्यकालपक्ष में दोष देना ठीक नहीं है तो इसका उत्तर यह समझना चाहिये कि भसंज्ञा के साहचर्य से 'स्वादित्वसर्वनामस्थाने' इस सूत्र से विहित पदसंज्ञा के लिये यथोद्देशपक्ष का अवधारण किया गया है। यहाँ तो 'सुप्तिङन्तं पदम्' से पदसंज्ञा करनी है। इसके लिये तो कार्यकालपक्ष है ही। इसलिये कार्यकाल-पक्ष में 'रामौ' इस आनुपूर्वी की पदसंज्ञा सम्भव नहीं है, इसलिये यह परिभाषा बनायी गई—

एकदेशविकृतमनन्यवत् ॥ ३७ ॥

एकदेश का अर्थ=स्वावयव है। विकृत शब्द भाव में क्त प्रत्यय करके अर्शाद्य-जन्त है जिसका अर्थ है विकृतिवाला। यहाँ 'एकदेशः विकृतो यस्मिन्' इस प्रकार बहुव्रीहि समास है। इसलिये इस परिभाषा का अर्थ होता है कि एकदेश की विकृति होने पर भी वह अन्य की भाँति नहीं होता है तात्पर्य यह है कि स्वावयव विकार से घटित जो होता है वह स्ववत् ही होता है।

प्रस्तुत उदाहरण में—रामशब्द का एक अवयव अकार वृद्धि के द्वारा विकृत हो गया है। ऐसी स्थिति में 'राम्' यह मकारान्त शब्द स्वावयव विकार=अकाराभाव से घटित होने पर भी अकारसहित राम से अन्य नहीं होता है। इसलिये 'रामौ' इस प्रयोग में परादिवद्भाव से सुप्त्व तथा मान्त 'राम्' इस अंश में इस परिभाषा के द्वारा यस्माद्विहितस्तदादित्व आ जाने से 'रामौ' की पदसंज्ञा हो जाती है।

अनन्यवदित्यस्यान्यवन्नेत्यर्थः। तत्रान्यसादृश्यनिषेधेऽन्यत्वाभावः सुत-राम्। अत एव तादृशादर्थबोधः। अन्यथा शक्तावच्छेदकानुपूर्व्यज्ञानात्ततो बोधो न स्यात्। एवं च रामिति मान्तस्य यस्माद्विहितस्तत्त्वम् औ इत्यस्य परादिवत्त्वेन सुप्त्वमिति तदादितदन्तत्वमार्थसमाजग्रस्तम्।

अनन्यवत् का अर्थ है कि वह एकदेशविकृत 'अन्य के तुल्य नहीं' होता है। इस प्रकार वहाँ जब अन्यसादृश्य का निषेध किया जाता है तो यह बात स्वयं सिद्ध है कि अन्य नहीं होता है। अत एव=एकदेश के विकृत होने पर भी उसमें अन्यत्व नहीं हो जाता है, ऐसा स्वीकार करने से ही तादृशात्=विकृतावयवघटित से भी अर्थ का बोध हो जाता है। जैसे 'रामौ' इस प्रयोग में मान्त जो 'राम्' यह शब्द है वह अदन्त राम से भिन्न नहीं है 'यह बात जब परिभाषा से बोधित है तब इस हलन्त राम् शब्द से भी दशरथापत्यरूपी अर्थ का बोध होता है। अन्यथा=इस परिभाषा को न मानने पर मान्त राम् शब्द में दशरथापत्यरूपी अर्थ निरूपित

शक्तता जो राम शब्द में है उसका अवच्छेदक आनुपूर्वी=रकारोत्तराकारोत्तर-मकारोत्तरअत्वरूप आनुपूर्वी का अभाव होने के कारण ततः=विकृतावयवघटित मान्त राम् शब्द से बोध नहीं होता।

एवञ्च=जब इस परिभाषा को मान लिया गया तो 'राम्' इस मान्त में इस परिभाषा से यस्माद्विहितस्तदादित्व चला आता है क्योंकि मान्त राम् जब अदन्त राम से भिन्न नहीं है तब अदन्तराम का धर्म यस्माद्विहितस्तदादित्व उसमें आने में क्या बाधा है? इसके बाद 'औ' में परादिवद्भाव से सुप्त्व चला आता है। इस प्रकार यस्माद्विहितस्तदादितदन्तत्व 'रामौ' इस प्रयोग में आर्थसमाजग्रस्त होता है।

यहाँ आर्थसमाजग्रस्त शब्द पर भी थोड़ा विचार करना आवश्यक है। इसमें 'अर्थानामयम् इति आर्थः, समाजः=समुदायः, आर्थश्चासौ समाजः आर्थसमाजः, तेन ग्रस्तम्=आर्थसमाजग्रस्तम्' इस प्रकार समास होता है। अर्थपद से यहाँ सुप्त्व और तदादित्व ये दोनों विवक्षित हैं। इस परिभाषा और परादिवद्भाव इन दोनों के द्वारा 'रामौ' यह पद आर्थसमाज से अर्थात् सुबन्ततदादित्व से ग्रस्त अर्थात् व्याप्त हो जाता है जिससे इसकी पदसंज्ञा हो जाती है, यही 'आर्थसमाजग्रस्तम्' शब्द का का अर्थ है।

छिन्नपुच्छे शुनि श्वत्वव्यवहारवन्मान्ते तत्त्वं लोकन्यायसिद्धम्। अत एव 'प्राग्दीव्यतः' (४-१-८३) इति सूत्रे भाष्ये दीव्यतिशब्दैकदेशदीव्यच्छब्दानुकरणमिदमित्युक्त्वा 'किमर्थं विकृतनिर्देशः?' एतदेव ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषैकदेशविकृतमनन्यवदित्युक्तम्। एतेन—अयं न्यायः शास्त्रीय कार्य एव शास्त्रीयविकार एवेत्यपास्तम्। विकृतावयवनिबन्धनकार्ये तु नायम्, छिन्नपुच्छे शुनि पुच्छवत्त्वव्यवहारवद्विकृतावयवव्यवहारस्य दुरुपपादत्वात्। एवमक्तपरिमाणग्रहणेऽपि नायम्, उक्त युक्तेः। एतत् 'येन विधिः' (१-१-७२) इत्यत्र भाष्यकैयटयोर्ध्वनितम्।

लोक में देखा जाता है कि जिस कुत्ते की पूँछ कट जाती है, उसे भी यह 'कुता है' ऐसा व्यवहार किया जाता है। अर्थात् पूँछ कट जाने से वह कुत्ता गदहा या घोड़ा नहीं होता, किन्तु वह कुत्ता ही रहता है उसी प्रकार 'रामौ' इस प्रयोग का एकदेश मकारान्त 'राम्' यह अंश जिसका अकार निकल गया है, उस मान्त राम् में 'यस्माद् विहितस्तदादित्व' भी स्वयंसिद्ध ही है। अकार के निकल जाने पर भी यह मकारान्त 'राम्' यस्माद् विहितस्तदादित्वविशिष्ट अदन्त राम से अन्य तो नहीं हो जाता। इस प्रकार यह परिभाषा लोकन्याय से सिद्ध है।

अत एव=इस परिभाषा को स्वीकार करने से ही 'प्राग्दीव्यतोऽण्' इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा कि इस सूत्र में जो 'दीव्यतः' यह पद है यह 'तेन दीव्यति

खनति जयति जितम्' इस सूत्र के 'दीव्यति' इस पद के एकदेश दीव्यत् के अनुकरण से बना है। यह दीव्यत् यद्यपि दीव्यति के एकदेश का अनुकरण है तथापि प्रस्तुत सूत्र में यह 'दीव्यति' के अनुकरण के रूप में पढ़ा गया है। इससे यहाँ दीव्यति का बोध करना अभिप्रेत है। ऐसा कहकर भाष्यकार ने पुनः कहा कि जब इससे दीव्यति का बोध कराना है तो उसी का अनुकरण करना चाहिये। यह विकृत का निर्देश क्यों किया गया? ऐसी स्थिति में यह विकृतनिर्देश व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है।

इस प्रकार लोकसिद्ध इस परिभाषा के शास्त्र में प्रवृत्त होने के कारण दीव्यत् यह विकृतनिर्देश 'दीव्यति' इससे अभिन्न होता है। इसलिये यह उसका अनुकरण कहा जाता है।

एतेन='प्राग्दीव्यतोऽण्' इस सूत्रस्थ ज्ञापक परभाष्य से यह सिद्ध होता है कि 'दीव्यति' शब्द के अन्त्य इकार का लोपरूपी विकार तथा उस लुप्त इकार वाले का अनुकरण रूपी कार्य ये दोनों बातें ऐच्छिक हैं अर्थात् ये शास्त्रीय नहीं हैं। इकार का लोप और लुप्त इकार वाले का अनुकरण करना ये दोनों बातें किसी शास्त्र (सूत्र) द्वारा बोधित नहीं हैं। इसलिये यह परिभाषा शास्त्रीय कार्य और शास्त्रीय विकार में ही लगे, ऐसा कोई नियम नहीं है। ऐसी स्थिति में जो लोग इस न्याय की प्रवृत्ति शास्त्रीय कार्य एवं शास्त्रीय विकार में ही मानते थे वे परास्त हो गये।

विकृत जो अवयव, तत्प्रयुक्त कार्य करने में यह न्याय प्रवृत्त नहीं होता है जैसे कटे हुए पूँछ वाले कुत्ते में 'यह पूँछ वाला कुत्ता है' ऐसा व्यवहार नहीं होता, उसी प्रकार विकृत अवयव का व्यवहार करना दुरुपपाद है। इसका फल यह होता है कि मास शब्द को 'पद्दन्नोमास्' सूत्र से मास् यह हलन्त आदेश कर देने पर हलन्त मास् शब्द को अकारवान् नहीं कहा गया। इसलिये उसके आगे भिस् को ऐस् आदेश नहीं होता है।

इसी प्रकार यह परिभाषा उक्तयुक्तेः=लोकव्यवहार के आधार पर अक्त-परिमाण ग्रहण में भी नहीं लगती है। अक्तपरिमाण का अर्थ है परिच्छिन्नपरिमाण। इसलिये संख्यात्वव्याप्यधर्म, परिमाणत्वव्याप्यधर्म को लाने में यह परिभाषा नहीं लगती है क्योंकि उक्त स्थलों पर परिच्छिन्नपरिमाण का लाना वाञ्छित होता है जो लोकविरुद्ध बात है। लोक में ऐसा नहीं होता कि जब सौ आदमियों में से एक कम हो जाय तो उन निन्यानबे व्यक्तियों में शतत्व का व्यवहार कर लिया जाय। इससे स्पष्ट है कि यह न्याय अक्तपरिमाण में नहीं लगता है।

'येन विधिस्तदन्तस्य' इस सूत्र के भाष्य और कैयट में यह बात ध्वनित है।

यत्र त्वर्द्धं तदधिकं वा विकृतं, तत्र जातिव्यञ्जकभूयोऽवयवदर्शनाभावेन तत्त्वाप्रतीतौ कार्यसिद्ध्यर्थं विकृतानल्रूपावयवत्वप्रतीत्यर्थञ्च

स्थानिवत्सूत्रम्। क्वचित्तु लक्ष्यानुरोधान्न्यायानाश्रयणम्। तेन 'अभीयादि'-त्यादिसिद्धिः।

स्पष्टं च क्वचिन्न्यायाप्रवृत्तिः 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (६–१–१०२) इत्यत्र कैयटेन दर्शितेत्यन्यत्र विस्तरः ॥ ३७ ॥

अब यहाँ यह शंका होती है कि जब इसी परिभाषा से सब जगह कार्य चल सकता है तो 'स्थानिवत्' सूत्र की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि आदेशरूप विकृति होने पर भी कोई शब्द इस परिभाषा के द्वारा अपने पहले स्वरूप से अन्य नहीं कहा जायेगा। इस प्रकार स्थानिवत् सूत्र से जो कार्य होता है, वही कार्य प्रकारान्तर से यह परिभाषा भी कर रही है। ऐसी स्थिति में स्थानिवत् सूत्र की क्या आवश्यकता है ? यही प्रस्तुत शंका का रहस्य है। इस शंका के उत्तर में मूल में लिखा गया है कि जहाँ पर आधा अंश या आधा से अधिक अंश, अथवा सम्पूर्ण अंश की विकृति हो जाती है, वहाँ जातिव्यञ्जक भूयो अवयव का दर्शन नहीं होता है, अर्थात् वहाँ वहाँ पर विकृत और अविकृत की अभिन्नता का सूचक धर्म उपलब्ध नहीं होता है। इसलिये ऐसे स्थल पर 'तत्त्वाप्रतीतौ'=अनन्यत्व की प्रतीति न होने के कारण वाञ्छित कार्य की सिद्धि के लिये और विकृत अनल् (अल्भिन्न) अवयव की प्रतीति के लिये स्थानिवत् सूत्र की आवश्यकता है। स्थानिवत् सूत्र अल्विधि में नहीं लगता, इसलिये अनल् अवयव की प्रतीति के लिये यहाँ उसकी आवश्यकता बतायी गयी है। लोक में भी देखा जाता है कि जिस कुत्ते का अधिक अवयव कट जाता है उसमें कुत्ते की प्रतीति नहीं होती है।

उपर्युक्त अर्ध विकार का उदाहरण 'जूर्णः' यह प्रयोग है। यहाँ ज्वर् धातु से निष्ठा (क्त) प्रत्यय करके 'ज्वरत्वर' सूत्र से उपधा और वकार के स्थान पर ऊठ् आदेश किया जाता है। यह विकार दो वर्णों के स्थान पर होता है। शेष दो वर्ण यहाँ यथापूर्व रहते हैं। इसलिये यहाँ अर्धविकार है।

अर्धाधिक विकार का उदाहरण 'त्वदीयः' यह प्रयोग है। यहाँ 'मपर्यन्त' के स्थान पर त्व आदेश किया जाता है। यह विकार अर्धाधिक के स्थान पर होता है।

सर्व विकार का उदाहरण 'रामाय' यह प्रयोग है। यहाँ पूरे ङे के स्थान पर 'य' आदेश होता है। यह सर्वादेश है। यहाँ ज्वर का धातुत्व जूर् में तथा युष्मद् का प्रकृतित्व 'त्व' इस आदेश में स्थानिवत् सूत्र से ही आता है। प्रस्तुत परिभाषा से यह कार्य नहीं हो सकता था, क्योंकि यहाँ मूल शब्द का अभिव्यञ्जक भूयः अवयव उपलब्ध नहीं है। रामाय इस प्रयोग में स्थानिवत् सूत्र के बिना 'य' इसमें सुप्त्व-धर्म आ ही नहीं सकता था, क्योंकि यहाँ सर्वादेश होने के कारण मूलप्रकृति का ही परिवर्तन हो गया है। इसलिये ऐसे स्थलों के लिये स्थानिवत् सूत्र की आवश्यकता है।

विकृतानल् रूप अवयवत्व की प्रतीति का उदाहरण 'बहुयज्वा स्त्री' यह प्रयोग

है। यहाँ बहुयज्वन् शब्द से आचष्ट अर्थ में णिच् प्रत्यय तथा इष्ठवद्भाव से टिलोप और कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय कर णिलोप कर देने पर 'बहुयज्व्' शब्द में लुप्त अन् भाग का आनयन स्थानिवत् सूत्र से करके इसे अनन्त बहुव्रीहि माना जाता है, इसलिये यहाँ 'डाबुभाभ्याम्' सूत्र से डाप् होकर 'बहुयज्वा' यह रूप बनता है। अन् का आनयन अल्विधि नहीं है, इसलिये यहाँ स्थानिवद्भाव हो जाता है। एकदेश से अधिक का विकार होने के कारण यहाँ प्रस्तुत परिभाषा से कार्य नहीं हो सकता है। इसलिये ऐसे स्थल के लिये भी स्थानिवत् सूत्र की आवश्यकता है।

कहीं पर लक्ष्य के अनुरोध पर इस न्याय का आश्रयण नहीं किया जाता है। जैसे 'अभीयात्' इस प्रयोग में इस परिभाषा का आश्रयण नहीं किया जाता। इण् धातु का आशिष् लिङ् में 'ईयात्' यह रूप बनता है। इसका 'अभि' उपसर्ग से योग कर सवर्ण दीर्घ करने पर 'अभीयात्' ऐसा रूप बनता है। यहाँ 'अभ्' इस भकारान्त को इस परिभाषा से यदि उपसर्ग मान लिया जाय और ईकार को परादिवद्भाव से इण् धातु का अण् मान लिया जाय तो यहाँ 'एतेर्लिङि' सूत्र से ईकार को ह्रस्व होने लगेगा। किन्तु यहाँ ह्रस्व करना वाञ्छित नहीं है, इसलिये लक्ष्यानुरोधात् यहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है।

इस न्याय की कहीं-कहीं प्रवृत्ति नहीं होती; यह बात 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' सूत्र के कैयट में दिखायी गयी है। इस बात का विस्तार से वर्णन अन्यत्र किया गया है।

इति शास्त्रत्वसम्पादनोद्देशनामकं प्रथमं प्रकरणम्।

इस प्रकार शास्त्रत्वसम्पादनोद्देश नामक प्रथम प्रकरण पूर्ण हुआ।

इस प्रकार परिभाषेन्दुशेखर के प्रथम प्रकरण की विश्वनाथमिश्र द्वारा की गयी 'सुबोधिनी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

अथ बाधबीजनाम द्वितीयं प्रकरणम्

शास्त्रत्वसम्पादनोद्देश नामक प्रकरण की समाप्ति के बाद जब सूत्रों में शास्त्रत्व की सिद्धि हो गयी, तब कौन शास्त्र किस शास्त्र से बाधा जाता है और वह क्यों बाधा जाता है, अर्थात् उसके बाधे जाने का बीज क्या है ? इस बात का निरूपण करने के लिये इस द्वितीय प्रकरण का आरम्भ कर रहे हैं।

पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः ॥ ३८ ॥

पूर्व, पर, नित्य, अन्तरङ्ग और अपवाद इनमें पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर शास्त्र बलवान् होता है।

यहाँ उत्तरोत्तर को बलवान् कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्वशास्त्र की अपेक्षा परशास्त्र, उसकी अपेक्षा नित्य और नित्य की अपेक्षा अन्तरङ्ग तथा अन्तरङ्ग से भी अपवाद शास्त्र बलवान् होता है। इस प्रकार पूर्वशास्त्र की अपेक्षा परादि सभी शास्त्रों की बलवत्ता बोधित होती है। बलवत्ताबोधन का परिणाम यह होता है कि यदि दो शास्त्रों का आपस में विरोध उपस्थित होता है, तो उस स्थिति में बलवान् शास्त्र के द्वारा दुर्बल शास्त्र का बाध कर दिया जाता है। अब अनुमान की प्रक्रिया के द्वारा पूर्वशास्त्र की अपेक्षा परशास्त्र की बलवत्ता का प्रतिपादन कर रहे हैं—

पूर्वात्परं बलवत्। विप्रतिषेधशास्त्रात्पूर्वस्य परं बाधकमिति यावत्।

यहाँ 'परशास्त्रं, पूर्वशास्त्रावधिकबलवत्, परशास्त्रत्वात्' यह अनुमान का आकार है। इस अनुमान से यह सिद्ध किया जाता है कि परशास्त्र पूर्वशास्त्र की अपेक्षा बलवान् होता है।

इस अनुमान के ऊपर कहा जा सकता है कि यहाँ 'परशास्त्रत्व' इस हेतु से परशास्त्र में पूर्वशास्त्र की अपेक्षया बलवत्वबोधन की जगह बलवत्वाभाव की अनुमति क्यों न की जाय, जिसका प्रकार यह होगा—'परशास्त्रं पूर्वशास्त्रावधिकबलवत्वाभाववत् परशास्त्रत्वात्'। इस प्रकार की विपरीत अनुमति यहाँ क्यों न हो ? इस शंका के उत्तर में परशास्त्र में बलवत्वसाधक युक्ति के रूप अनुकूल तर्क प्रस्तुत करते हुए मूल में कहा गया है कि 'विप्रतिषेधशास्त्रात्'। अर्थात् परशास्त्र में बलवत्व का प्रयोजक 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' यह सूत्र है। इस सूत्र से ही यह बात सिद्ध है कि पूर्वशास्त्र का बाधक परशास्त्र होता है। परशास्त्र के द्वारा पूर्वशास्त्र का बाध उसी स्थिति में होता है जब दोनों में समबल हो। समबल का तात्पर्य है कि दोनों शास्त्र अन्यत्रान्यत्र लब्धावकाश हों। ऐसे लब्धावकाश पूर्व और परशास्त्र जब एक ही

लक्ष्य में साथ-साथ प्राप्त होते हैं तब विरोध उपस्थित होने से बलवान् परशास्त्र से पूर्वशास्त्र का बाध कर दिया जाता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि यदि पूर्वशास्त्र नित्य, अन्तरङ्ग या अपवाद हो तो उसका बाध परशास्त्र से नहीं होता है, क्योंकि यहाँ दोनों का समबल नहीं होता है।

परशास्त्र से पूर्वशास्त्र के बाध का उदाहरण 'वृक्षेभ्यः' यह प्रयोग है। 'वृक्ष+भ्यस्' इस स्थिति में 'सुपि च' इस सूत्र से दीर्घ तथा 'बहुवचने झल्येत्' इस सूत्र से एत्व, ये दोनों कार्य साथ ही प्राप्त होते हैं। 'बहुवचने झल्येत्' की अप्राप्ति 'रामाय' इस प्रयोग में है, जहाँ 'सुपि च' सूत्र चरितार्थ है। 'सुपि च' का अप्राप्तिस्थल 'रामेषु' इस प्रयोग में 'बहुवचने' सूत्र सावकाश है। इस प्रकार ये दोनों समबल हो जाते हैं। इस प्रकार के समबल सूत्र जब 'वृक्षेभ्यः' में साथ ही प्राप्त होते हैं तो विरोध होने पर परशास्त्र एत्वविधायक से 'सुपि च' का बाध कर दिया जाता है।

परशास्त्र से नित्यशास्त्र के बलवान् का उदाहरण 'तुदति' यह प्रयोग है। यहाँ शप्रत्यय और लघूपधगुण ये दोनों साथ-साथ प्राप्त होते हैं। इनमें लघूपधगुण शप्रत्यय होने के बाद इसलिये नहीं हो सकता कि शप्रत्यय ङित् है। किन्तु शप्रत्यय तो लघूपधगुण के होने और न होने दोनों स्थितियों में प्राप्त है। इसलिये 'कृताकृतप्रसंगी यो विधिः स नित्यः' इस नियम के आधार पर नित्यत्वात् पर लघूपधगुण को बाध कर यहाँ शप्रत्यय ही होता है। इसके बाद शप्रत्यय के ङित् होने के कारण यहाँ लघूपधगुण नहीं होता।

परशास्त्र की अपेक्षा नित्यशास्त्र की बलवत्ता का बीज यह है कि परशास्त्र का अभाव क्लप्त है, क्योंकि शप्रत्यय होने पर वह प्रवृत्त नहीं हो सकता। नित्यशास्त्र तो परशास्त्र की प्रवृत्ति के पहले तथा बाद भी प्रवृत्त हो सकता है, इसलिये इसका अभाव अक्लप्त है। ऐसी स्थिति में क्लप्ताभावक परशास्त्र की अभावकल्पना ही उचित है। यही बात नित्यशास्त्र की बलवत्ता का बीज है।

पर की अपेक्षा अन्तरङ्ग की बलवत्ता का उदाहरण—'उभये देवमनुष्याः' यह प्रयोग है। यहाँ परत्वात् 'प्रथमचरम' इत्यादि सूत्र से वैकल्पिकप्राप्त सर्वनाम संज्ञा को अन्तरङ्गत्वात् बाधकर 'सर्वादीनि' सूत्र से नित्य ही सर्वनामसंज्ञा की जाती है। नित्यसर्वनामसंज्ञा की अन्तरङ्गता विभक्ति की अपेक्षा न करने के कारण होती है। अन्तरङ्ग की बलवत्ता का बोधन 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' यह परिभाषा करती है।

परशास्त्र की अपेक्षा अपवाद की बलवत्ता का उदाहरण—'दध्ना' यह प्रयोग है। यहाँ पर 'अनेकाल्' सूत्र जो पर में है उसे बाधकर अपवादत्वात् 'ङिच्च' सूत्र से अन्त के स्थान पर अनङ् आदेश होता है। अपवाद की बलवत्ता का बोधन 'येन नाप्राप्ति' न्याय से होता है। नित्य से भी अन्तरङ्ग बलवान् होता है, इसका उदाहरण

'ग्रामणिनि कुले' यह प्रयोग है। यह सप्तम्यन्त प्रयोग है। यहाँ 'इकोऽचि विभक्तौ' से नुम् तथा 'ह्रस्वो नपुंसके' से ह्रस्व, ये दोनों कार्य प्राप्त होते हैं। नुम् तो कृताकृत-प्रसंगी विधि से होने से नित्य है, किन्तु पहले नुम् कर देने पर अजन्तत्व के अभाव के कारण ह्रस्व नहीं हो सकता है। यहाँ ह्रस्व विभक्ति निरपेक्ष होने के कारण अन्तरङ्ग है। इसलिये नुम् को बाधकर पहले ह्रस्व हो जाता है।

अन्तरङ्ग से अपवाद की बलवत्ता का उदाहरण 'श्रीशः' यह प्रयोग है। यहाँ अन्तरङ्गत्वात् प्राप्त यण् को अपवादत्वात् बाधकर दीर्घ हो जाता है॥ ३८॥

नन्वेवं 'भिन्धी'त्यत्र परत्वात् तातङा बाधितो धिर्न स्यादत आह—

नन्वेवम्=इस प्रकार पूर्वशास्त्र की अपेक्षा परशास्त्र की बलवत्ता स्वीकार करने पर जब परशास्त्र से पूर्वशास्त्र का बाध होगा तो 'भिन्धि' इस प्रयोग में 'भिनद् + हि' इस अवस्था में हि के स्थान पर प्राप्त धि-भाव का तातङ् से परत्वात् बाध होगा। परिणाम यह होगा कि तातङ् से परत्वात् बाधित 'धि' यहाँ नहीं होगा, जिससे उक्त रूप की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

यहाँ अब यह शंका होती है कि यह अवतरण ठीक नहीं है, क्योंकि तातङ्विधि वैकल्पिक है, इसलिये जब तातङ् नहीं होगा तब 'हि' के स्थान पर 'धि' हो सकता है। इस प्रकार 'भिन्धि' और 'भिन्तात्' ये दोनों रूप जब सिद्ध हो रहे हैं तो यह कहना कहाँ तक ठीक है कि तातङ् से बाधे जाने के कारण 'धि' नहीं होगा? यदि कहा जाय कि जहाँ किसी कार्य का वैकल्पिक विधान किया जाता है, वहाँ एक पक्ष में उसका अभाव भी विधेय होता है। अन्यथा एक पक्ष में यदि पूर्वप्राप्त कार्य हो जाय तो विकल्पविधि व्यर्थ हो जायेगी। जैसे नेम शब्द का सर्वादिगण में पाठ होने के कारण 'सर्वादीनि' सूत्र से सब जगह नित्यसर्वनामसंज्ञा प्राप्त रहती है, जिसका 'जस्' विभक्ति में 'प्रथमचरमतय' इत्यादि सूत्र से विकल्प किया जाता है। यहाँ यदि एक पक्ष में 'सर्वादीनि' सूत्र से सर्वनामसंज्ञा हो जाती है तो जस् विभक्ति में वैकल्पिक सर्वनामसंज्ञा का विधान व्यर्थ हो जायेगा। इसलिये यह बात माननी चाहिये कि जहाँ किसी कार्य का वैकल्पिक विधान किया जाता है वहाँ एक पक्ष में उसके अभाव का भी विधान किया जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत में तातङ् के अभाव-पक्ष में उसके अभाव का विधान किया गया है, इसलिये अवतरण में 'तातङाबाधितः' का अर्थ है, तातङ् के अभाव से बाधित धि यहाँ नहीं होगा। इस प्रकार अवतरण की संगति ठीक हो जाती है। किन्तु यह कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि वैकल्पिक स्थल में यदि भाव और अभाव दोनों का विधान किया जाय तो 'मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा' इस सूत्र से एक पक्ष में गुण और एक पक्ष में उसका अभाव, ये दोनों विधेय

होंगे। इसका परिणाम यह होगा कि 'मुचोऽकर्मकस्य' के प्रकरण में विधेय सारे कार्यों के साथ जिस प्रकार 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इस सूत्र से अभ्यास का लोप होता है, उसी प्रकार इस सूत्र से विधेय अभाव पक्ष में 'मुमुक्षते वत्सः स्वयमेव' इस प्रयोग में भी अभ्यास का लोप होने लग जायेगा। इसलिये यह मानना संगत नहीं है कि वैकल्पिक स्थल में एक पक्ष में अभाव का भी विधान किया जाता है।

इस प्रकार यह कथन सर्वथा अर्थहीन हो जाता है कि 'तातङाभावे न बाधितो धिर्न स्यात्'। तस्मात् उपर्युक्त अवतरण असंगत ही रह जाता है। इस असंगति को दूर करने के लिये कहा जाता है कि यहाँ 'भिन्धि' यह प्रयोग 'भिन्तात्' इस प्रयोग का उपलक्षण है। तात्पर्य यह है कि 'भिन्तात्' इस प्रयोग में धिभाव को परत्वात् बाधकर जब तातङ् हो जाता है तब तातङ्विधायक परशास्त्र के द्वारा पूर्वशास्त्र के लिये स्वविहितकार्याश्रयातिरिक्तत्वेन संकोच करने के कारण वहाँ 'धि'भाव की प्राप्ति स्वयमेव नहीं है। ऐसी स्थिति में स्थानिवद्भाव से तातङ् को 'हि' मानकर प्राप्त धिभाव को वारण करने के लिये किया गया 'तातङादेः स्थानिवत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः' यह वार्तिक व्यर्थ हो जायेगा। इसलिये यह परिभाषा बनायी गयी—

पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्सिद्धम् ॥ ३९ ॥

इस परिभाषा में प्रसङ्ग शब्द लुप्त सप्तम्यन्त है, इसलिये इस परिभाषा का ऐसा अर्थ होता है—प्रसंगे सति=शास्त्र की प्राप्ति होने पर, पुनः विज्ञानात्=पुनः बुद्धि विषय करने से कार्य सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि यदि किसी प्रकार कोई कार्य पुनः प्राप्त हो तो शास्त्र की प्रवृत्ति कर ली जाती है। इससे वह कार्य सिद्ध होता है। 'भिन्तात्' बन जाने पर स्थानिवद्भाव से 'हि' बुद्धि करके उसे धि की पुनः प्राप्ति है। यह धि रूप कार्य 'हेर्धिः' सूत्र से सिद्ध हो सकता था, इसलिये यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध करना सार्थक होता है। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि तातङ् के अभाव पक्ष में 'भिन्धि' प्रयोग तो बनता ही है। उपर्युक्त शंका तो 'भिन्तात्' इस प्रयोग के सम्बन्ध में है कि तातङ् होने पर उसमें स्थानिवद्भाव से 'हि'बुद्धि करके उसे 'धि' क्यों नहीं होता? यह शंका इस परिभाषा को मानने पर ही संगत होती है, जिसका समाधान स्थानिवद्भाव के निषेध के द्वारा दिया गया है ॥ ३९ ॥

नन्वेवं 'तिसृणामि'त्यत्र परत्वात्त्रिशब्दादेशे पुनस्त्रयादेशः स्यादत आह—

नन्वेवम्=इस प्रकार 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्' इस परिभाषा को मानकर पुनः प्राप्ति होने पर सूत्र की प्रवृत्ति स्वीकार करने का परिणाम यह होगा कि त्रि शब्द से स्त्रीलिङ्ग में आम् विभक्ति लाने पर 'त्रि+आम्' इस स्थिति में त्रयादेश और 'तिसृ' आदेश इन दोनों की जब प्राप्ति होती है तब ऐसी स्थिति में त्रयादेश

को परत्वात् बाधकर 'तिसृ' आदेश हो जाने पर स्थानिवद्भाव से 'तिसृ' को त्रि शब्द समझा जायेगा और त्रि शब्द समझने से उसे त्रयादेश की पुनः प्राप्ति होती है। इसलिये शास्त्र की प्रवृत्ति के द्वारा 'तिसृणाम्' इस प्रयोग में त्रयादेश होना चाहिये, इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनी—

सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव ॥ ४० ॥

गतौ=दो शास्त्रों की एक साथ प्राप्ति होने पर एक बार जो शास्त्र बाधित हो जाता है, तद्=वह शास्त्र बाधित ही रहता है। इस परिभाषा को मानने का फल यह हुआ कि 'तिसृणाम्' इस प्रयोग में एक बार जब त्रयादेश बाधित हो गया है तो वह सदा बाधित ही रहेगा। इसलिये 'तिसृणाम्' इस प्रयोग में स्थानिवद्भाव से पुनः त्रयादेश की शंका का निराकरण हो जाता है।

तत्र क्वचिच्चरितार्थयोरेकस्मिन् युगपदुभयोः कार्ययोरसम्भवेन बाधकाभावात्पर्यायेण तृजादिवच्छास्त्रद्वयप्रसङ्गे नियमार्थं विप्रतिषेधसूत्रमिति सकृद्गतिन्यायसिद्धिः। यथा—तुल्यबलयोरेकः प्रेष्यो भवति, स तयोः पर्यायेण कार्यं करोति। यदा तमुभौ युगपत्प्रेषयतो नाना दिक्षु च कार्यं, तदोभयोर्न करोति यौगपद्यासम्भवात्। तथा शास्त्रयोर्लक्ष्यार्थयोः क्वचिल्लक्ष्ये यौगपद्येन प्रवृत्यसम्भवादप्रतिपत्तौ प्राप्तायामिदं परविध्यर्थम्। तत्र कृते यदि पूर्वप्राप्तिरस्ति, तर्हि तदपि भवत्येवेति पुनःप्रसङ्गविज्ञानसिद्धिरिति विप्रतिषेधसूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

अब उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं में प्रमाण प्रस्तुत किया जा रहा है कि—पूर्व और पर शास्त्रों में दोनों शास्त्र पहले कहीं चरितार्थ हैं, ऐसे क्वचित् चरितार्थ पूर्व और पर शास्त्र एक साथ किसी एक प्रयोग में जब प्राप्त होते हैं तो वहाँ युगपत् दोनों का कार्य होना सम्भव नहीं होता है। ऐसी स्थिति में बाधकाभावात् दोनों शास्त्रों की प्रवृत्ति वहाँ पर्यायेण हो जायेगी। जिस प्रकार 'ण्वुल् तृचौ' सूत्र से विहित ण्वुल् और तृच् ये दोनों प्रत्यय 'कारकः' और 'कर्त्ता' इत्यादि प्रयोगों में पर्यायेण होते हैं, उसी प्रकार 'वृक्षेभ्यः' इत्यादि प्रयोगों में पूर्व और पर शास्त्र की प्रवृत्ति पर्याय से सम्भव है। इसका तात्पर्य यह होगा कि एक बार पूर्वशास्त्र की और एक बार परशास्त्र की प्रवृत्ति जब स्वयंसिद्ध है तब पर परशास्त्र की प्रवृत्ति के लिये 'विप्रतिषेध' सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस प्रकार विप्रतिषेध सूत्र व्यर्थ होकर नियम करेगा कि यहाँ पर शास्त्र का ही कार्य हो, पूर्वशास्त्र का न हो। विप्रतिषेध सूत्र के इस नियम से 'सकृद्गतिन्याय' की सिद्धि होती है। 'वृक्षेभ्यः' इत्यादि प्रयोगों में एत्वविधायक परशास्त्र से बाधित दीर्घविधायकशास्त्र बाधित

ही रहता है। उसकी प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती है। इस प्रकार इस शास्त्रीय दृष्टान्त से सकृद्गतिन्याय की सिद्धि प्रदर्शित की गई है।

अब लौकिक दृष्टान्त से 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्' की सिद्धि की जा रही है जिस प्रकार समबल वाले अर्थात् समान स्थिति वाले दो स्वामियों का एक भृत्य होता है, वह उन दोनों का कार्य पर्यायेण करता है। तात्पर्य यह कि कभी एक का और कभी दूसरे का कार्य करता है। किन्तु जब दोनों उसे एक ही साथ अपने कार्यों के लिये भेजते हैं और उनका कार्य भिन्न-भिन्न दिशाओं में होता है, तो एककालावच्छेदेन दोनों का कार्य असम्भव होने के कारण वह किसी का कार्य नहीं करता, उसी प्रकार प्रकृत में जहाँ शास्त्र (सूत्र) लक्ष्य के लिये होते हैं वहाँ दो सूत्रों की एक लक्ष्य में यौगपद्येन प्रवृत्ति सम्भव नहीं है, इसलिये यहाँ अप्रतिपत्ति=शास्त्र की अप्रवृत्ति प्राप्त होती है। इसका तात्पर्य यह है कि न तो पूर्वशास्त्र की प्रवृत्ति हो रही है और न परशास्त्र की। ऐसी स्थिति में परशास्त्र के कार्य के विधान के लिये विप्रतिषेध-सूत्र सार्थक होता है। इसके द्वारा परशास्त्र का कार्य हो जाने पर यदि पूर्वशास्त्र की प्राप्ति है तो उसकी भी प्रवृत्ति हो जाय। इसमें कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रकार पुनः प्रसङ्गविज्ञान की सिद्धि होती है। यह बात 'विप्रतिषेध' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

यहाँ एक बात यह ध्यान देने की है कि लौकिक दृष्टान्त में दो स्वामी हैं और एक भृत्य है। प्रस्तुत स्थल में शास्त्ररूपी भृत्य दो हैं और स्वामी के स्थानापन्न लक्ष्य एक है। मूल में लिखा गया है कि 'शास्त्रयोः लक्ष्यार्थयोः' अर्थात् शास्त्र लक्ष्य के लिये हैं। इस प्रकार दृष्टान्तदार्ष्टान्तिभाव यहाँ ठीक प्रतीत नहीं हो रहा है, तथापि इस दृष्टान्त का तात्पर्य इसी अर्थ में समझना चाहियें कि जिस प्रकार लौकिक भृत्य यौगपद्येन दो कार्यों को नहीं कर सकता, उसी प्रकार एक लक्ष्य में दो सूत्रों के कार्य का यौगपद्यासंभव ही यहाँ दार्ष्टान्तिरूप में अभिप्रेत है। तात्पर्य यह है कि जैसे कार्यद्वय का यौगपद्यासम्भव लौकिकभृत्यस्थल में है, उसी प्रकार का यौगपद्यासम्भव दो सूत्रों के कार्यों में है।

कुछ लोगों ने लक्ष्य को भृत्यस्थानीय मानकर व्याख्यान किया है कि भृत्य स्थानीय लक्ष्य किसी भी शास्त्र के विधेय से सम्बन्धरूपी कार्य नहीं करेगा। किन्तु इस व्याख्यान के अनुसार 'शास्त्रयोर्लक्ष्यार्थयोः' इस वाक्य का अर्थ असंगत हो जायेगा। इसके द्वारा शास्त्रों को लक्ष्यार्थ कह कर उन्हें भृत्य स्थानीय माना गया है। इसलिये यहाँ 'यौगपद्यासम्भव' इतने ही अंश में दृष्टान्तदार्ष्टान्तिभाव समझना चाहिये।

यत्तु कैयटादयो व्यक्तौ पदार्थे प्रतिलक्ष्यं लक्षणोपप्लवादुभयोरपि शास्त्रयोस्तल्लक्ष्यविषययोरचारितार्थ्येन पर्यायेण द्वयोरपि प्राप्तौ परमेवेति

नियमार्थमिदमिति 'सकृद्गति'न्यायसिद्धिः। अत्र पक्षे एतन्नियमवशादेतल्लक्ष्यविषयपूर्वशास्त्रानुपप्लव एव। जातिपक्षे तु उद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्ते क्वचिल्लक्ष्ये चरितार्थयोर्द्वयोः शास्त्रयोः 'सत्प्रतिपक्ष'न्यायेन युगपदुभयासम्भवरूपविरोधस्थल उभयोरप्यप्राप्तौ परविध्यर्थमिदमिति पुनः प्रसङ्गविज्ञानसिद्धिरित्याहुः। तन्न, व्यक्तिपक्षे सर्वं लक्ष्यं शास्त्रं व्याप्नोति न जातिपक्षे इत्यत्र मानाभावात्। 'न ब्राह्मणं हन्यादि'त्यादौ जात्याश्रयसकलव्यक्तिविषयत्वार्थमेव जातिपक्षाश्रयणस्य भाष्ये दर्शनात्।

जो कैयटादि आचार्य कहते हैं कि जिस पक्ष में पद का वाच्यार्थ व्यक्ति होता है उस पक्ष में प्रत्येक लक्ष्य के लिये लक्षण (सूत्र) का उपप्लव होता है। उपप्लव का अर्थ आवृत्ति है। उदाहरण के लिये 'इको यणचि' का इक् पद लिया जा सकता है। इस इक् पद का वाच्यार्थ इक् व्यक्ति हैं। ये इक् व्यक्ति नाना प्रयोगों में नाना हैं। जितने ये इक् व्यक्ति हैं उनमें यण् विधान करने के लिये 'इको यणचि' सूत्र की आवृत्ति की जाती है। इस पक्ष में एक-एक प्रयोग-व्यक्ति के लिये एक-एक सूत्र अलग होता है। यदि वह एक सूत्र उस एक प्रयोग रूप एक व्यक्ति में चरितार्थ नहीं होता है तो उसे व्यर्थ समझा जाता है। इस पृष्ठभूमि में पूर्व और परशास्त्र दोनों की आवृत्ति जहाँ किसी एक ही प्रयोग के लिये की जाती है, वहाँ दोनों शास्त्र उस लक्ष्य के विषय में अचरितार्थ हैं, इसलिये वहाँ पर्यायेण दोनों की प्रवृत्ति होगी। ऐसी स्थिति में परशास्त्र की पाक्षिकता सिद्ध ही है तो विप्रतिषेध सूत्र की क्या आवश्यकता रह जाती है ? इसलिये विप्रतिषेध सूत्र व्यर्थ होकर 'परमेव भवति' ऐसा नियम करता है। इस नियम का फलितार्थ ही 'सकृद्गतिन्याय' है। इस व्यक्ति पक्ष में जब कि एक प्रयोग-व्यक्ति में उसके लिए उपप्लुत सूत्र की प्रवृत्ति ही उसकी चरितार्थता है, तो जिस प्रयोग में पूर्वशास्त्र का बाध परशास्त्र में होने वाला है उस प्रयोग के लिये पूर्वशास्त्र का उपप्लव पहले ही नहीं किया जाता। पूर्वशास्त्र का यह अनुपप्लव ही परशास्त्र के द्वारा पूर्वशास्त्र का बाध समझना चाहिये। यहाँ नियम शब्द से विप्रतिषेध सूत्र का नियम लिया जाता है। जब पदों की शक्ति जाति में है तो उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्न किसी भी लक्ष्य में यदि सूत्र लग चुका है तो उसे सार्थक समझा जाता है। जैसे 'त्रेस्त्रयः' का उद्देश्यतावच्छेदक त्रिशब्दत्वावच्छिन्न 'त्रि' शब्द 'त्रयाणाम्' इस प्रयोग में है। यहाँ 'त्रेस्त्रयः' सूत्र चरितार्थ है। इसी प्रकार 'तिस्रः' इस प्रयोग में 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' यह सूत्र चरितार्थ है। इसी प्रकार किन्हीं लक्ष्यों में चरितार्थ पूर्व और पर इन दोनों सूत्रों की जब एक साथ किसी एक लक्ष्य में प्राप्ति होती है तो वहाँ सत्प्रतिपक्ष न्याय से किसी भी शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि वहाँ दोनों शास्त्रों की युगपत् प्रवृत्ति असम्भव है। जिस

जगदानन्द झा

प्रकार सत्प्रतिपक्षस्थल में परस्पर प्रतिबन्धक होने के कारण किसी भी हेतु से साध्य की अनुमिति नहीं होती, उसी प्रकार जातिपक्ष में एक लक्ष्य में दो शास्त्रों का यौगपद्यासम्भवरूप विरोध होने के कारण किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में जब कि परशास्त्र की प्रवृत्ति अत्यन्त असम्भव है तब विप्रतिषेधसूत्र परशास्त्र के कार्य के लिये विध्यर्थक होता है। इससे 'पुनः प्रसङ्गविज्ञान' की सिद्धि होती है। तात्पर्य यह है कि परशास्त्र के लगने के बाद यदि पूर्वशास्त्र की प्राप्ति है तो वह भी लग जाय।

इस प्रकार नागेशभट्ट जहाँ शास्त्रीय और लौकिक दृष्टान्तों से प्रस्तुत दोनों परिभाषाओं को सिद्ध करते हैं, वहाँ कैयट व्यक्ति और जातिपक्ष के द्वारा इन दोनों परिभाषाओं की सिद्धि कर रहे हैं। इसका खण्डन करते हुए नागेशभट्ट का कहना है कि कैयट का यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि व्यक्तिपक्ष में शास्त्र सारे लक्ष्यों को व्याप्त करता है किन्तु जातिपक्ष में नहीं करता, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। 'न ब्राह्मणं हन्यात्' इस वाक्य में इसीलिये जातिपक्ष का आश्रयण किया गया है कि ब्राह्मणत्व जाति का आश्रय सकल ब्राह्मण व्यक्ति का यहाँ बोध हो। अन्यथा 'ब्राह्मणम्' इस एकवचन के आधार पर एक ब्राह्मण का हनन निषिद्ध होने पर भी अनेक का हनन उचित हो जाता। अतः ब्राह्मणत्वावच्छिन्न सकलब्राह्मण व्यक्ति के हनन को निषिद्ध बताने के लिये भाष्यकार ने यहाँ जातिपक्ष का आश्रयण किया।

अत एव 'सरूप'सूत्रे भाष्ये जातौ पदार्थेऽनवयवेन साकल्येन विधिप्रवृत्तेः गौरनुबन्ध्य इत्यादौ सकलगवानुबन्धनासम्भवात्कर्मणो वैगुण्यमुक्तम्। द्रव्यवादे चासर्वद्रव्यावगते 'गौरनुबन्ध्य' इत्यादावेकः शास्त्रोक्तोऽपरोऽशास्त्रोक्त इत्युक्तम्। किञ्च न हि भाष्योक्ततृजादिदृष्टान्तस्य व्यक्तिपक्ष एव सर्वविषयत्वं न जातिपक्ष इत्यत्र मानमस्ति।

अपि च व्यक्तिपक्षेऽपि अन्यव्यक्तिरूपविषयलाभेन चरितार्थयोरियं व्यक्तिविरोधात् स्वविषयकत्वं न कल्पयतीति वक्तुं शक्यम्। जातिपक्षेऽपि तज्जात्याश्रयतद्व्यक्तिविषयकत्वमेव नैतद्व्यक्तिविषयकत्वमित्यत्र विनिगमकाभावः।

तत्र लक्ष्यानुसारात् क्वचिच्छास्त्रीयदृष्टान्ताश्रयणं क्वचिल्लौकिकदृष्टान्ताश्रयणमिति भाष्यसम्मतमार्ग एव युक्त इति बोध्यम्।

अतएव=जातिपक्ष में शास्त्र सकललक्ष्य को व्याप्त करता है। इस बात को स्वीकार करने से ही सरूप सूत्र का भाष्य संगत होता है। भाष्यकार ने वहाँ विचार किया कि जब जातिपद का अर्थ होता है तब 'गौरनुबन्ध्यः' इस वैदिक वाक्य में गोपद से गोत्वजातिविशिष्ट सकलगोव्यक्ति की उपस्थिति होगी। इसलिये वहाँ अनुबन्धन विधि अनवयवेन अर्थात् साकल्येन प्रवृत्त होगी; अर्थात् वहाँ सभी गौ का अनुबन्धन प्रवृत्त होता है। किन्तु सकल गो व्यक्ति का अनुबन्धन एक साथ असम्भव

है, इसलिये अनुबन्धन कर्म विगुण हो जायेगा। अनुबन्धन कर्म या यागकर्म के वैगुण्य का तात्पर्य यह है कि अनुबन्धन के लिए उपस्थिति तो सारे व्यक्तियों की हो रही है क्योंकि जातिपक्ष में जाति का अनुबन्धन असम्भव होने के कारण जाति से व्यक्ति की उपस्थिति होती है और वह उपस्थिति जात्यवच्छिन्न समस्त व्यक्तियों की होती है, किन्तु समस्त व्यक्तियों का अनुबन्धन हो नहीं रहा है, यही कर्म का वैगुण्य है।

इसके बाद द्रव्यवाद अर्थात् शब्द की शक्ति व्यक्ति में है, इस पक्ष के अनुसार विचार करते हुए भाष्यकार ने कहा कि 'गौरनुबन्ध्य' इस वाक्य में 'गौः' इस एक-वचनान्त प्रयोग से एक गो व्यक्ति की उपस्थिति होती है न कि सकलद्रव्य की उपस्थिति। ऐसी स्थिति में सकलद्रव्य की अवगति न होने के कारण एक व्यक्ति तो शास्त्रोक्त माना जायेगा और दूसरा व्यक्ति अशास्त्रोक्त होगा। अशास्त्रोक्त में किया गया कर्म विगुण होता है। इस प्रकार दोनों पक्षों में कर्म के वैगुण्य की आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि जिस प्रकार जातिपक्ष में साकल्येन उपस्थिति होने पर भी क्रिया की समाप्ति प्रत्येक में कर ली जाती है, क्योंकि प्रत्येक का जाति से सम्बन्ध है। इसी प्रकार व्यक्ति पक्ष में भी जात्युपलक्षित व्यक्तिमात्र का बोध साकल्येन होता है और क्रिया की परिसमाप्ति प्रत्येक में कर ली जाती है। इस प्रकार दोनों पक्षों की स्थिति समान है। इस भाष्य से सिद्ध होता है कि दोनों पक्षों में सकल व्यक्ति की उपस्थिति होती है, इसलिये शास्त्र द्वारा दोनों पक्षों में सकल लक्ष्य का व्यापन होगा। इसलिये कैयट का पक्षभेद के द्वारा दो परिभाषाओं की व्यवस्था करना संगत नहीं है।

दूसरी बात यह है कि भाष्योक्त तृजादि दृष्टान्त को कैयट ने व्यक्ति पक्ष के लिये स्वीकार किया है। उनका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ण्वुल् और तृच्—ये दोनों प्रत्यय एक धातु से एक साथ नहीं हो सकते हैं इसलिये इनकी पर्यायता होती है, उसी प्रकार व्यक्ति पक्ष में जब प्रत्येक लक्ष्य व्यक्ति के लिये सूत्र की आवृत्ति की जाती है तो जिस एक प्रयोग के लिये पूर्व और पर शास्त्र दोनों का उपप्लव होता है, वहाँ दोनों शास्त्रों की एक साथ प्रवृत्ति असम्भव होने के कारण दोनों सूत्र व्यर्थ होने लगेंगे, इसलिये वहाँ दोनों की पर्यायेण प्रवृत्ति प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में वहाँ परमेव भवति ऐसा नियम होता है, किन्तु जाति पक्ष में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में तो उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्न किसी भी लक्ष्य में यदि सूत्र लग चुका है तो वह सार्थक हो चुका। वह व्यर्थ नहीं है। इसलिये यह पक्ष परविध्यर्थ होता है। किन्तु कैयट का यह कथन इसलिये संगत नहीं है कि उपर्युक्त भाष्य से यह सिद्ध हो चुका है कि दोनों पक्षों में शास्त्र द्वारा सकल लक्ष्य का व्यापन होता है। इसलिये व्यक्तिपक्ष में ही शास्त्र सर्वविषयक होते हैं जाति पक्ष में नहीं होते, यह बात प्रमाण-

हीन हो जाती है। ऐसी स्थिति में जब कि उभय पक्ष में शास्त्र द्वारा सकल लक्ष्य का व्यापन सिद्ध हो चुका है तब जाति पक्ष में भी सकल लक्ष्य का व्यापन होने पर जब किसी एक प्रयोग में दोनों शास्त्र प्राप्त होंगे तो यौगपद्येन दोनों का होना वहाँ असम्भव हो जायेगा। फलस्वरूप दोनों की व्यर्थता भी अनिवार्य होगी। इसके निराकरण के लिये इस पक्ष में भी तृजादिदृष्टान्त के आधार पर पर्यायतापत्ति अनिवार्य होगी। पर्यायतापत्ति की स्थिति में विप्रतिषेध सूत्र नियमार्थ होता है। विप्रतिषेध सूत्र के नियमार्थ होने का फल सकृद्गतिन्याय है। इस प्रकार कैयट के ही मतानुसार जातिपक्ष में 'पुनः प्रसंगविज्ञान' की सिद्धि नहीं हो रही है।

एक दूसरी बात कैयट के मतानुसार यह है कि वे व्यक्तिपक्ष में सूत्रों को व्यर्थ होने की बात कहते हैं और जातिपक्ष में उन्हें चरितार्थ मानते हैं। इसका कारण उनके अनुसार यह है कि व्यक्ति पक्ष में प्रत्येक लक्ष्य के लिये लक्षण का उपप्लव होने के कारण जिस एक लक्ष्यव्यक्ति में दोनों सूत्र एक साथ उपप्लुत होकर प्राप्त होते हैं, वहाँ दोनों का होना असम्भव होने के कारण दोनों सूत्र व्यर्थ होने लगते हैं। जातिपक्ष को वे इससे भिन्न बताते हैं, क्योंकि इस पक्ष में तज्जात्यवच्छिन्न किसी लक्ष्य व्यक्ति में सूत्र के लगने पर उसकी चरितार्थता हो जाती है।

नागेशभट्ट इस बात से असहमत है। अपनी असहमति वे 'अपि च' इसके द्वारा व्यक्त कर रहे हैं। इनका तात्पर्य यह है कि कैयट की उपर्युक्त प्रक्रिया में कोई विनिगमक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार जातिपक्ष में तज्जात्यवच्छिन्न किसी लक्ष्य में चरितार्थ होने पर सूत्र को चरितार्थ माना जाता है उसी प्रकार व्यक्तिपक्ष में भी 'त्रयः' इस लक्ष्य व्यक्तिरूप विषय का लाभ 'त्रेस्त्रयः' सूत्र को हो रहा है और 'तिस्रः' इस लक्ष्यरूप व्यक्ति का लाभ 'त्रिचतुरोः' इस सूत्र को हो रहा है। इस प्रकार अन्य व्यक्तिरूप विषय का लाभ कर दोनों सूत्र चरितार्थ हो रहे हैं। इसके बाद 'तिसृणाम्' इस लक्ष्य व्यक्ति में स्थानिवद्भाव से त्रिव्यक्ति की बुद्धि करने पर जब दोनों की प्राप्ति एक साथ होगी तो यहाँ विरोध होने के कारण एतद् व्यक्ति विषयकत्व की कल्पना दोनों शास्त्रों के लिये नहीं होगी। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि व्यक्तिपक्ष में भी सूत्र चरितार्थ है। ऐसी स्थिति में व्यक्तिपक्ष में कैयट ने जो सूत्रों की अचरितार्थता की बात कही थी वह कहाँ संगत हो रही है ?

जातिपक्ष में उद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्त किसी भी लक्ष्य में चरितार्थ सूत्र को चरितार्थ मानने की कैयट की बात भी ठीक नहीं है क्योंकि इस पक्ष में भी कहा जा सकता है कि यह सूत्र तज्जात्याश्रय तद्व्यक्तिविषयक ही है, एतद्व्यक्ति विषयक नहीं है। जैसे—'इको यणचि' इस सूत्र के सम्बन्ध में कहा जा सकता है है कि यह सूत्र इक्त्व जात्याश्रय 'सुधी + उपास्यः' इस लक्ष्य व्यक्ति के लिये है। यह

सूत्र 'श्री+ईशः' इस लक्ष्य व्यक्ति के लिये नहीं है। इसलिये 'श्री+ईशः' इस व्यक्ति के लिये जो 'इको यणचि' सूत्र है वह तो व्यर्थ ही है क्योंकि इसी प्रयोग के लिये 'अकः सवर्णे दीर्घः' यह जो सूत्र होगा, उसकी भी साथ ही प्राप्ति होने पर दोनों सूत्रों की युगपद्प्रवृत्ति असम्भव होने से दोनों व्यर्थ होंगे। इस प्रकार स्पष्ट है कि कैयट ने व्यक्तिपक्ष में सूत्रों की अचरितार्थता और तत्प्रयुक्त पर्यायता की जो बात कही है, ठीक वही स्थिति जातिपक्ष में भी हो रही है। इसी प्रकार कैयट ने जातिपक्ष में सूत्र की चरितार्थता की बात जो कही है वह व्यक्तिपक्ष में भी हो रही है, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है। इसलिये कैयट के कथन में विनिगमक= प्रमाण का अभाव है।

इसलिये कैयट के अनुसार प्रस्तुत दोनों परिभाषाओं की व्यवस्था उचित नहीं है, किन्तु पहले कहे हुए शास्त्रीय और लौकिक दृष्टान्तों के आधार पर ही दोनों परिभाषाओं की व्यवस्था करनी चाहिये। तत्र=उन दोनों दृष्टान्तों में लक्ष्य के अनुरोध से कहीं शास्त्रीय दृष्टान्त (तृजादि दृष्टान्त) और कहीं पर लौकिक भृत्य के दृष्टान्त का आश्रयण करना चाहिये। यही भाष्यसम्मत मार्ग उचित है।

द्वयोः कार्ययोर्यौगपद्येनासम्भव एव विप्रतिषेधशास्त्रोपयोगी। इदम् 'इको गुण' (१-१-३) इति सूत्रे कैयटे स्पष्टम्। यथा 'शिष्टादि'त्यादौ तातङ्-शाभावयोर्युगपत्प्रवृत्तौ स्वस्वनिमित्तानन्तर्यासम्भवः। यद्यपि तातङादेः स्थानिवद्भावेनास्त्येव तत्, तथाप्यादेशप्रवृत्युत्तरमेव स, न तु तत्प्रवृत्तिकाले। एवं नुम्तृज्वत्त्वयोः 'प्रियक्रोष्टूनी'त्यादौ युगपदसम्भवो 'यदागमाः' (प० ११) इत्यस्य नुम्प्रवृत्युत्तरं प्रवृत्तेः। एवं 'भिन्धी'त्यत्र तातङ्धिभावयोर्युगपदेकस्थानिसम्बन्धस्याङ्गरूपनिमित्तानन्तर्यस्य चासम्भवो बोध्यः। नुम्नुटोरपि नुटचजादिविभक्त्याऽऽनन्तर्यबाधो नुमि ह्रस्वान्ताङ्गबाध इत्यसम्भवाद्विप्रतिषेधः।

'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे' इस परिभाषा में आये हुए 'विप्रतिषेध' शब्द का अनुगत अर्थ करते हुए लिख रहे हैं कि एक स्थानी के स्थान पर दो कार्यों का यौगपद्येन=एक साथ असम्भव ही विप्रतिषेध शास्त्रोपयोगी होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विप्रतिषेध शब्द से न केवल एक स्थान पर कार्यद्वय का असम्भव ही लिया जाना चाहिये, अपितु कार्यद्वय का यौगपद्यासम्भव भी लेना चाहिये। इसीलिये भाष्यकार की यह उक्ति 'नावश्यं द्विकार्ययोग एव विप्रतिषेधः किन्त्वसम्भवोऽपि' संगत होती है। जैसे—'राम+भ्यस्' इस स्थिति में 'सुपि च' इस सूत्र से अकार को दीर्घ और उसी अकार को 'बहुवचने झल्येत्' इस सूत्र से एकार ये दोनों प्राप्त हैं। इन दोनों का यौगपद्येन होना यहाँ असम्भव है। यह यौगपद्यासम्भव ही यहाँ

विप्रतिषेध है। यह बात 'इको गुणवृद्धी' सूत्र के कैयट में स्पष्ट है। जैसे—'शिष्टात्' इस प्रयोग में 'शास्-हि' इस स्थिति में हि के स्थान पर तातङ् और शास् के स्थान पर 'शा' ये दोनों साथ ही प्राप्त हैं, ये दोनों यौगपद्य असम्भव हैं, अतः विप्रतिषेध है। यदि कहा जाय कि 'रामेभ्यः' इस प्रयोग की स्थिति से यहाँ की स्थिति भिन्न है क्योंकि वहाँ तो एक अकार के स्थान पर दो कार्यों का यौगपद्य असम्भव हो सकता है किन्तु यहाँ तो तातङ् का स्थानी भिन्न है और शादेश का स्थानी भिन्न है, इसलिये यहाँ दोनों कार्यों के साथ-साथ होने में कोई बाधा नहीं है। इसलिये यहाँ यौगपद्यासम्भव किस प्रकार है? इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि तातङ् और शाभाव की युगपत् प्रवृत्ति हो जाती है तो स्व-स्वनिमित्त के साथ आनन्तर्य असम्भव हो जायेगा। यह असम्भव रूप विप्रतिषेध यहाँ है।

विमर्श—तातङ् और शाभाव की युगपद् प्रवृत्ति करने पर स्व स्वनिमित्त के आनन्तर्य का असम्भव कह कर नागेशभट्ट ने इस अंश को विशेष-विवेचनसापेक्ष बना दिया है प्रश्न यह होता है कि निमित्त के साथ आनन्तर्यासम्भव किसका हो रहा है? देखा जाता है कि निमित्त सब जगह उद्देश्य का ही विशेषण होता है। जैसे 'इको यणचि' इस सूत्र में 'अचि' यह निमित्तवाचक पद इक् में विशेषण है। इसलिये अजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट इक् के स्थान पर यण् हो, ऐसा सूत्रार्थ होता है। इसीलिये 'हरिभ्याम्' इस प्रयोग में यण् नहीं होता है।

इस बात को दृष्टिगत कर यदि प्रस्तुत स्थल पर विचार किया जाय अर्थात् निमित्त को उद्देश्य का विशेषण माना जाय तो 'शास्-हि' इस स्थिति में 'हि-निरूपिताव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टशास्त्व' जो 'शा हौ' का उद्देश्यतावच्छेदक है वह मिल ही रहा है। इसी प्रकार 'तातङ्'विधायकसूत्र का उद्देश्यतावच्छेदक-अङ्गाव्यवहितोत्तरत्वविशिष्ट 'हि' शब्दत्व भी यहाँ उपलब्ध ही है। इस प्रकार निमित्त का उद्देश्य के साथ आनन्तर्य सम्भव होने पर भी नागेशभट्ट ने यहाँ निमित्तानन्तर्य की असम्भावना किस प्रकार की है इस आशंका के उत्तर में कहा जाता है कि यहाँ निमित्तवाचक पद की आवृत्ति करके निमित्त को विधेय का भी विशेषण स्वीकार करना चहिये। ऐसा स्वीकार करने पर हि अव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट-शास् के स्थान पर हि से अव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट-शा आदेश होता है ऐसा 'शा हौ' का सूत्रार्थ होगा। इसी प्रकार तातङ्विधायकसूत्र का भी 'अङ्गाव्यवहितोत्तरत्वविशिष्ट-हि' के स्थान पर तादृशोत्तरत्वविशिष्ट-तातङ् हो, ऐसा सूत्रार्थ होगा। इसका परिणाम यह होगा कि यदि तातङ् और शा-भाव की युगपत् प्रवृत्ति की जाती है तो 'शा-तात्' इस स्थिति में हि से अव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट-शा नहीं मिल रहा है। इसी प्रकार धातुरूपी अंग से अव्यवहितोत्तरत्वविशिष्ट 'तात्' नहीं मिल रहा है, क्योंकि 'शा' यह धातु नहीं है। यदि

कहा जाय कि स्थानिवद्भाव से 'शा' को धातु तथा तात् को हि मान लेने पर निमित्त का विधेय के साथ आनन्तर्य सम्भव हो जाता है तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि यह जो सम्भव हो रहा है वह स्थानिवद्भाव के बाद हो रहा है। उसके पहले तो असम्भव ही है।

इस प्रकार 'स्वस्वनिमित्तानन्तर्यासम्भवः' इस पद से नागेशभट्ट का यह तात्पर्य है कि विधेय का निमित्त के साथ आनन्तर्य असम्भव है।

इसी प्रकार 'प्रियक्रोष्टूनि' इस प्रयोग में 'प्रियक्रोष्टु+इ' इस स्थिति में नुम् और तृज्वद्भाव का यौगपद्यासंभव है, क्योंकि पहले नुम् कर देने पर अङ्गोद्देश्यक-तृज्वद्भाव नहीं हो सकेगा। इसका कारण यह है कि 'प्रियक्रोष्टू-न्' यह अङ्ग नहीं है। यदि यदागमन्याय से इसमें अङ्गत्व का अतिदेश किया जाय तो 'प्रियक्रोष्टून्' यह स्वरूप अङ्ग कहा जा सकता है और इसे तृज्वद्भाव हो सकता है, किन्तु यह कार्य 'यदागमन्याय' की प्रवृत्ति के बाद ही हो सकता है। इसी प्रकार यदि पहले यहाँ तृज्वद्भाव कर दिया जाता है तो स्थानिवद्भाव से प्रियक्रोष्टृ में अङ्गत्व लाने पर ही नुम् की प्राप्ति होती है। इस प्रकार नुम् और तृज्वद्भाव का यौगपद्यासम्भव होता है। इन दोनों कार्यों में न केवल प्रत्यय की ही अपेक्षा है, अपितु अङ्ग की भी अपेक्षा है, और अङ्गत्व यदागमन्याय और स्थानिवद्भाव के द्वारा लाया जा सकता है। इसलिये यौगपद्यासम्भव होता है। दूसरी बात यह है कि यदि नुम् पहले हो जाता है तो यदागम न्याय से नुम् विशिष्ट अङ्गत्व आने पर भी वह निर्दिश्यमान नहीं कहा जायेगा, क्योंकि 'यदागम'परिभाषा से उपस्थापित में निर्दिश्यमानता होती ही नहीं है, इसलिये तृज्वद्भाव यहाँ होगा ही नहीं।

इसी प्रकार 'भिन्द्धि' इस प्रयोग में 'भिनद्+हि' इस स्थिति में 'हि' रूप एक स्थानी के स्थान पर दो कार्यों का यौगपद्यासंभव ही है क्योंकि एक ही 'हि' के स्थान पर 'धि' तथा 'तातङ्' ये दोनों आदेश प्राप्त होते हैं जिनका एक साथ होना असम्भव है। यदि कहा जाय कि 'हि' के स्थान पर 'धि' और 'तातङ्' ये दोनों आदेश साथ ही कर दिये जाय तो क्या आपत्ति है? तो इस शंका के उत्तर में लिखा गया है कि ऐसी स्थिति में अङ्गरूप निमित्त का विधेय के साथ आनन्तर्य का असम्भव हो जायेगा क्योंकि 'भिनद्-धि-तात्' इस स्थिति में अङ्ग से अव्यवहितोत्तरत्वविशिष्ट 'धि' तो है, किन्तु 'तात्' यह आदेश अङ्गरूप निमित्त से अनन्तर नहीं होता है। इस प्रकार यहाँ भी यौगपद्यासम्भव है। इसी प्रकार 'वारि+आम्' इस स्थिति में यदि पहले 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' सूत्र से आम् विभक्ति को नुट् हो जाता है तो अजादि विभक्त्यव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट इगन्ताङ्गत्वरूप 'इकोऽचि विभक्तौ' का निमित्त नहीं मिल रहा है। यदि पहले 'नुम्' कर दिया जाता है तो 'नुम्' के अङ्गावयव होने के कारण 'ह्रस्वान्ताङ्गाव्यवहितोत्तरत्वविशिष्ट आमृत्वरूपी 'ह्रस्वनद्यापः' का निमित्त

नहीं मिल रहा है। इस प्रकार नुम् और नुट् का यौगपद्यासंभव होने के कारण विप्रतिषेध होता है।

वस्तुतस्तु—'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इस सूत्र के द्वारा ह्रस्वान्त अङ्ग और हलादि विभक्ति के पौर्वापर्य का साधुत्वबोधन किया जायेगा और 'इकोऽचि विभक्तौ' के द्वारा नान्त अङ्ग और अजादिविभक्ति के पौर्वापर्य का साधुत्वबोधन किया जायेगा इस प्रकार यहाँ विरोध का उपपादन किया जा सकता है।

क्वचिदिष्टानुरोधेन पूर्वशास्त्रे स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलात् स्वरितेनाधिकं कार्यमित्यर्थात्पूर्वमेव भवति। तेन 'सर्वे पूर्वविप्रतिषेधाः संगृहीता' इति 'स्वरितेन' (१–३–११) इति सूत्रे भाष्ये। विप्रतिषेधसूत्रस्थपरशब्दस्येष्टवाचित्वात् तत्संग्रह इति विप्रतिषेधसूत्रे भाष्ये ॥ ४० ॥

कहीं ऐसा भी होता है कि पूर्व और पर शास्त्र के मध्य पूर्व का ही कार्य किया जाता है। जैसे—जरा शब्द से ङे-विभक्ति लाने पर परत्वात् प्राप्त याट् को बाध कर पूर्वविप्रतिषेधेन जरसादेश करके 'जरसे' और उसके अभाव में 'जरायै' ये प्रयोग बनाये जाते हैं। इस पूर्वविप्रतिषेध की प्रक्रिया क्या है इस बात का उत्तर देते हुए लिख रहे हैं कि ऐसे स्थल पर पूर्वशास्त्र में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा करके 'स्वरितेनाधिकारः' इस सूत्र से अधिक कार्य किया जाता है। यह अधिक कार्य पूर्वशास्त्र की बलवत्ता बोधन रूप ही होता है। इस प्रकार सभी पूर्व विप्रतिषेधों का सङ्ग्रह हो जाता है। यह बात 'स्वरितेनाधिकारः' इस सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इस सूत्र के भाष्य में 'विप्रतिषेध'सूत्र के परशब्द को इष्टवाची मान कर यह अर्थ किया गया है कि विप्रतिषेध होने पर 'परम्' अर्थात् 'इष्टम्' कार्यं भवति। इससे यह होता है कि जहाँ परशास्त्र इष्ट होता है वहाँ उसे प्रवृत्त किया जायेगा। और जहाँ पूर्वशास्त्र इष्ट होता है वहाँ उसे प्रवृत्त किया जायेगा। इस प्रकार परविप्रतिषेध और पूर्वविप्रतिषेध दोनों प्रकार के विप्रतिषेधों का सङ्ग्रह हो जाता है ॥ ४० ॥

नन्वेवम्—'एधते' इत्यादौ परत्वाद्विकरणे 'अनुदात्तङितः' (१–३–१२) इत्यादिनियमानुपपत्तिस्तेन व्यवधानादत आह—

नन्वेवम्=इस प्रकार 'सकृद्गतिः' इस पूर्व परिभाषा को स्वीकार करने पर एक यह दोष आता है कि 'एध् धातु' से लट् लकार लाने पर 'एध्-ल' इस स्थिति में 'तिप्तस्झि' इस सामान्य सूत्र से विहित तिबादि प्रत्ययों का 'अनुदात्तङितः' इस सूत्र से नियम प्राप्त होगा और उसी समय 'कर्त्तरि शप्' सूत्र से शप् यह विकरण भी प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में नियम सूत्र का विकरणविधायकसूत्र से परत्वात् बाध हो जायेगा। इस प्रकार परत्वात् विकरण कर देने पर उसके व्यवधान में

'अनुदात्तङितः' इस नियमसूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। खश् और चानश् इत्यादि शित् प्रत्यय जहाँ धातु से किये जाते हैं वहाँ शप् यह विकरण चरितार्थ है और लिट् लकार में जहाँ शप् की प्राप्ति नहीं है वहाँ नियमसूत्र चरितार्थ हैं। लट् लकार में दोनों की एक साथ प्राप्ति होने पर परत्वात् विकरण हो जायेगा, जिससे प्रस्तुत दोष उपस्थित होता है। यदि कहा जाय कि पूर्व विप्रतिषेध के द्वारा नियम सूत्र से विकरण का बाध कर लिया जायेगा, तो यह कहना उचित नहीं है क्योंकि पूर्वविप्रतिषेध की प्रवृत्ति उन्हीं स्थलों पर की जाती है जिन स्थलों का परिगणन भाष्यकार ने किया है। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि प्रस्तुत शंका 'विहितानां नियमः' इस में है। अर्थात् 'एध्-ल' इस स्थिति में 'तिप्तस्' इस सामान्य सूत्र से तिबादि अठारह प्रत्यय जब विहित हो जाते हैं, तभी उनकी सार्वधातुकसंज्ञा करके शप् की और नियमसूत्र की साथ प्राप्ति होती है। ऐसी स्थिति में परत्वात् विकरण हो जाने पर नियमसूत्र की प्राप्ति नहीं होगी। यदि तिबादि सूत्र के साथ एकवाक्यता करके नियमसूत्र की विधायकता पक्ष माना जाय तो 'एध्+ल' इस स्थिति में सार्वधातुक के पर में न रहने के कारण शप् की प्राप्ति ही नहीं होगी तो परत्वात् विकरणे यह कहना असंगत हो जायेगा।

यहाँ पर 'परत्वात्' यह शब्द नित्यत्वात् का भी उपलक्षण है क्योंकि नियमसूत्र की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति दोनों स्थिति में विकरण की प्राप्ति है। इसलिये उभयथा नियमसूत्र को बाध कर विकरण हो जाने पर उसके व्यवधान में नियमसूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी, इसलिये यह परिभाषा बनाई गई—

विकरणेभ्यो नियमो बलीयान् ॥ ४१ ॥

विकरण से नियम बलवान् होता है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि 'एध्+ल' (एध्+तिबादि अठारह) इस स्थिति में पहले नियमसूत्र लग गया, जिससे आत्मनेपदी प्रत्ययों के होने के बाद विकरण होकर 'एधते' इस प्रयोग की सिद्धि हुई।

अब इस परिभाषा में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए लिख रहे हैं—

अत्र 'वृद्भ्यः स्यसनोः' (१-३-९२) इति सूत्रेण स्ये विभाषाऽतङ्विधानं ज्ञापकम्। अन्यथा स्यव्यवधाने नियमाप्रवृत्तौ सामान्यशास्त्रेणोभयसिद्धौ विकल्पविधानं व्यर्थं स्यात्। अत्रार्थे ज्ञापिते तु 'स्य' इति विषयसप्तमी बोध्येति 'अनुदात्तङितः' (१-३-१२) इत्यत्र भाष्यकैयटयोः स्पष्टम्।

विकरणव्यवधानेऽपि नियमप्रवृत्तेरिदं ज्ञापकमिति 'शदेः शितः' (१-३-६०) इत्यत्र भाष्ये ध्वनितम्।

'वृद्भ्यः स्यसनोः' इस सूत्र से 'स्य' इस विकरण के पर में रहने पर वृत् आदि धातुओं से वैकल्पिक परस्मैपद का विधान इस परिभाषा में ज्ञापक है। अन्यथा इस परिभाषा के अभाव में 'वृत्-लृट्' इस स्थिति में प्राप्त स्य विकरण को परत्वात् बाध कर सामान्यशास्त्र='तिप्तस्झि' इस सूत्र से तिबादि अठारह प्रत्यय हो जाने के बाद जब स्यप्रत्यय हो जायेगा तो इस विकरण के व्यवधान के कारण नियमशास्त्र=अनुदात्तङित की प्रवृत्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में उभयपद (परस्मैपद और आत्मनेपद) की सिद्धि जब स्वयमेव हो रही है तो यहाँ विकल्प से परस्मैपद के विधान की क्या आवश्यकता है ? यही वैकल्पिक परस्मैपद का विधान व्यर्थ होकर प्रस्तुत परिभाषा का ज्ञापक होता है।

यहाँ अब कहा जा सकता है कि परिभाषा को स्वीकार करने के बाद भी वैकल्पिक परस्मैपद का विधान स्वांश में चरितार्थ नहीं हो रहा है क्योंकि 'वृत्-लृट्' इस अवस्था में अब पहले नियमशास्त्र की ही प्रवृत्ति होगी। उस समय स्य रूपी विकरण तो हुआ नहीं रहेगा इसलिये 'वृदभ्यः स्यसनोः' इस सूत्र की प्राप्ति ही नहीं होगी तो उसकी चरितार्थता किस प्रकार होगी ? इस शंका के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि अत्रार्थे ज्ञापिते तु=इस परिभाषा के ज्ञापित होने पर 'स्ये' इस पद की सप्तमी विषयसप्तमी समझी जानी चाहिये। इसका परिणाम यह होता है कि 'स्य' विकरण की विवक्षा में ही, 'अनुदात्तङितः' इस नियम के द्वारा प्राप्त आत्मनेपद को बाध कर परस्मैपद विधान के लिये 'वृद्भ्यः' यह सूत्र सार्थक होता है। यह बात 'अनुदात्तङित' इस सूत्र के भाष्य और कैयट में स्पष्ट है।

किन्तु इस पक्ष में विषयसप्तमी का आश्रयण तथा विप्रतिषेध सूत्र का बाध करना पड़ता है, क्योंकि 'विप्रतिषेध' सूत्र से परत्वात् प्राप्त विकरण की अपेक्षा नियम को बलवान् कहना प्रकारान्तर से विप्रतिषेध सूत्र का ही बाध है। इस प्रकार इस परिभाषाज्ञापनपक्ष के गौरवग्रस्त होने के कारण लाघवात् दूसरे पक्ष का उल्लेख कर रहे हैं कि 'वृद्भ्यः स्यसनोः' सूत्र से पाक्षिक परस्मैपद के विधान से यही ज्ञापन करना चाहिये कि विकरण के व्यवधान में भी 'अनुदात्तङितः' इत्यादि नियम शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है।

इस पक्ष में परत्वात् विकरण के होने के बाद उसके व्यवधान में भी नियमसूत्र की प्रवृत्ति स्वीकार करने से विप्रतिषेध सूत्र का बाध नहीं करना पड़ता है। दूसरी बात यह होती है कि 'वृद्भ्यः स्यसनोः' इस सूत्र में 'स्ये' इसे विषयसप्तम्यन्त भी मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती; किन्तु इस पक्ष में यह सप्तमी परसप्तमी ही मानी जाती है। यह बात 'शदेः शित' इस सूत्र के भाष्य में ध्वनित है। वहाँ 'न्यविशत' इस प्रयोग पर ऐसा विचार किया गया है कि विश् धातु से लङ् लकार लाने

पर नित्यत्वात् शप् करने के बाद विकरणविशिष्ट की अंगसंज्ञा करके अडागम करने 'अड्विशिष्ट' में धातुत्व न होने के कारण 'नि' उपसर्ग से परे विश् धातु नहीं मिल रहा है, इसलिये 'नेर्विशः' सूत्र की प्रवृत्ति यहाँ किस प्रकार होगी ? ऐसी आशंका करके वहाँ कहा गया कि 'उपसर्गनियमेऽड्व्यवाये उपसंख्यानम्' अर्थात् उपसर्ग प्रयुक्तनियमशास्त्र की प्रवृत्ति अट् के व्यवधान में भी कर लेनी चाहिये। किन्तु ऐसा कहने पर भी शप् विकरण से व्यवधान होने के कारण तिबादि प्रत्यय विश् धातु से पर में नहीं मिल रहे हैं तो 'नेर्विशः' सूत्र यहाँ किस प्रकार लगेगा ? इसलिये यह स्वीकार करना चाहिये कि विकरण के व्यवधान में भी नियम सूत्रों की प्रवृत्ति होती है।

वस्तुतः—अस्माज्ज्ञापकात् 'अनुदात्तङितः' (१–३–१२) इत्यादिप्रकरणं तिबादिविध्येकवाक्यतया विधायकम्। तत्र 'धातोः' (३–१–९१) इति विहितपञ्चमी, तत्समानाधिकरणम् 'अनुदात्तङितः' (१–३–१२) इत्यादिविहितविशेषणमेव। एवं च लावस्थायां स्येऽपि तद्व्यवधाने तङ्सिद्धिः। शबादिभ्यस्तु पूर्वमेव नियमः।

यद्वा—लमात्रापेक्षत्वादन्तरङ्गा आदेशा लकारविशेषापेक्षत्वात्स्यादयो बहिरङ्गा इति दिग्योगलक्षणपञ्चम्यामपि न दोषः। अत्र पक्षे 'वृद्भ्यः स्य' (१–३–९२) इति सूत्रं स्यविषय इति व्याख्येयम्। आत्मनेपदशब्दादौ भाविसंज्ञाश्रयणीयेति तत्त्वम्।

भिन्नवाक्यतया सामान्यशास्त्रविहितानां नियमे तु लुगादिनेव नियमेन जातनिवृत्तिरङ्गीकार्या। 'भुक्तवन्तं प्रति मा भुङ्क्था इति ब्रूयात्; किं तेन कृतं स्यादि'ति न्यायस्तु नात्र शास्त्र आश्रयितं युक्तो नियमादिशास्त्राणां वैयर्थ्यापत्तेः।

उपरि व्याख्यात दोनों 'पक्षविहितानां नियमः' इस पक्ष में ही होते हैं, किन्तु इस पक्ष में 'तिप्तस्झि' इस सामान्य सूत्र से विहित प्रत्ययों की, तथा उनके कारण कल्पित प्रकृति की निवृत्ति करनी पड़ती है। यह एक प्रकार का गौरव है। इसलिये सिद्धान्तभूत तृतीय पक्ष का उल्लेख कर रहे हैं—वस्तुतः तो अस्मात् ज्ञापकात्='वृद्भ्यः स्यसनोः' इस ज्ञापन से यही समझना चाहिये कि 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इत्यादि आत्मनेपद के प्रकरण तबादिविधायक 'तिप्तस्झि' इस सूत्र के साथ एकवाक्यता करके विधायक अर्थात् विधिसूत्र ही होते हैं, न कि नियमसूत्र हैं। इस पक्ष में, तत्=तिबादिविधायक सूत्र में समागत 'धातोः' इस पद में जो पञ्चमी है वह विहितपञ्चमी है। इस धातोः पद के समानाधिकरण=समानविभक्तिक 'अनुदात्तङितः' इत्यादिपद भी विहित-

विशेषण ही हैं। अर्थात् यहाँ की पञ्चमी भी विहितपञ्चमी ही है। इस प्रकार वृत् धातु से लृट्लकार लाने पर प्रतिपदोक्तत्वात् लावस्था में स्य विकरण करने पर भी उसके व्यवधान में लकार के स्थान पर तङ् की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि यह लकार धातु से विहित ही है। इस प्रकार स्य के व्यवधान में भी तङ् की सिद्धि हो जाती है।

लडादि लकार में जहाँ शप् विकरण होता है, वहाँ शप् आदि विकरणों से पहले ही 'अनुदात्तङितः' इत्यादि नियमसूत्र लगते हैं, क्योंकि शप् आदि विकरणों के लिए कर्त्रर्थक सार्वधातुक का पर में होना अपेक्षित होता है, और यह सार्वधातुक संज्ञा तिङ् प्रत्ययों की ही होती है। इसलिये शप् आदि विकरणों को करने के लिये यह आवश्यक होता है कि उनके पहले नियमसूत्रों की प्रवृत्ति कर ली जाय।

इस पक्ष में विहितपञ्चमी को स्वीकार करना गौरव समझ कर लिख रहे हैं— यद्वा—अथवा उपर्युक्त स्थलों पर जहाँ-जहाँ विहितपञ्चमी स्वीकार की गई वहाँ सब जगह दिग्योगलक्षणपञ्चमी अर्थात् परपञ्चमी मानने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि तिबादि आदेश लकारमात्र की अपेक्षा रखते हैं, इसलिये ये अन्तरङ्ग हैं। स्य आदि विकरण लकारविशेष की अपेक्षा रखते हैं, इसलिये ये बहिरङ्ग हैं। इसलिये अन्तरङ्गत्वात् पहले तङ् प्रत्यय हो जायेंगे। किन्तु इस स्थिति में यह शंका होती है कि जब स्य विकरण पहले नहीं होगा तब स्य के पर में न रहने के कारण 'वृद्भ्यः स्यसनोः' की प्रवृत्ति किस प्रकार होगी ? इस शंका के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि इस पक्ष में 'वृद्भ्यः स्यसनोः' सूत्र का व्याख्यान ऐसा करना चाहिये कि स्य प्रत्यय की विषयता में परस्मैपद विकल्प से हो। अब यहाँ यह शंका होती है कि लकार के स्थान पर तिबादि प्रत्ययों के होने के बाद उन्हें आत्मनेपद या परस्मैपद संज्ञाएँ होंगी। और परस्मैपदादि संज्ञाओं के अभाव में पहले उनका विधान कैसे होगा। तात्पर्य यह है कि पहले संज्ञाएँ हों तो उनका विधान हो, और पहले विधान हो तो पीछे संज्ञाएँ हों, इस प्रकार नियम्य विधानम् इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित हो रहा है। इस दोष का उत्तर देते हुए लिखा गया है कि 'आत्मनेपद, परस्मैपद' इत्यादि शब्दों में भावी संज्ञा का आश्रयण करना चाहिये। अर्थात् लकार के स्थान पर वह प्रत्यय करना चाहिये जिसकी आगे चल कर परस्मैपद या आत्मनेपद ये संज्ञाएँ होने वाली हों।

अब तिबादि सूत्र की और नियम सूत्रों की भिन्नवाक्यता है, इसलिये विहित-प्रत्ययों का नियम होता है। इस प्रथम पक्ष की व्यवस्था करते हुए लिख रहे हैं— कि भिन्नवाक्यता मानकर सामान्यशास्त्र='तिप् तस्' इस सूत्र से विहितप्रत्ययों का 'अनुदात्त ङितः' इस सूत्र से नियम होता है। इस पक्ष में जात प्रत्ययों की निवृत्ति उसी प्रकार करनी चाहिये, जिस प्रकार 'षड्भ्यो लुक्' इस सूत्र से विहित

लुक् के द्वारा तत्तद् प्रत्ययों का लुक् किया जाता है। यदि कहा जाय कि 'भुक्तवन्तं प्रति मा भुङ्क्था इति ब्रूयात् किं तेन कृतं स्यादिति' इस न्याय के आधार पर जात प्रत्यय की निवृत्ति असम्भव है, तो इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि इस शास्त्र में इस न्याय का आश्रयण करना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा करने से 'अनुदात्तङितः' इत्यादि नियमशास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे क्योंकि जात समस्त तिङ् प्रत्ययों में से यदि परस्मैपद प्रत्यय वहाँ से हटते नहीं हैं तो आत्मनेपद का विधान वहाँ व्यर्थ ही है।

ध्वनितं चेदं 'स्थानेऽन्तरतमः' (१–१–५०) इति सूत्रे भाष्ये। शास्त्रानर्थक्यं तु वृद्धिसंज्ञासूत्रे भाष्ये तिरस्कृतम्। सामान्यशास्त्रेणोत्पत्तिस्तु सरूपसूत्रस्थकैयटरीत्या प्रधानानुरोधेन गुणभेदकल्पना तावत् प्रकृतिकल्पनया कार्या। प्रत्ययनिवृत्तौ च तत्कल्पितप्रकृतेरपि निवृत्तिः कल्प्येति गौरवमित्यन्यत्र विस्तरः ॥ ४१ ॥

यह बात 'स्थानेऽन्तरतमः' इस सूत्र के भाष्य में ध्वनित है। वहाँ कहा गया है कि अन्तरतम आदेश जात अन्य आदेशों के निवर्तक होते हैं 'भुक्तवन्तं प्रति' इस न्याय की प्रवृत्ति करके नियम सूत्रों का वैयर्थ्य उचित नहीं है क्योंकि वृद्धिसंज्ञाविधायक सूत्र 'वृद्धिरादैच्' के भाष्य में भाष्यकार ने शास्त्रानर्थक्य का तिरस्कार किया है।

अब एक यह शंका होती है कि 'विहितानां नियमः' इस पक्ष में एक धातु से पर में रहने वाले एक लकार के स्थान पर अठारह प्रत्यय तिबादि एक साथ किस प्रकार होंगे? इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि प्रकृति और प्रत्यय इन दोनों में प्रत्ययप्रधान होता है। सरूपसूत्रस्थ कैयट की रीति से प्रधानीभूत प्रत्यय के अनुरोध से उसके प्रति गुणीभूत=अप्रधानीभूत धातुरूप प्रकृति के भेद की कल्पना करके सामान्यसूत्र=तिप्तस्झि' इत्यादि सूत्र से अठारह प्रकृति से अठारह तिबादि प्रत्यय कर लेना चाहिये। नियमसूत्र से प्रत्ययों की निवृत्ति होने पर उनके लिये कल्पित प्रकृति की भी निवृत्ति हो जाती है। किन्तु इस पक्ष में कल्पनागौरव का दोष है, इसलिये उपरि वर्णित तीन पक्षों में निर्दोष होने के कारण अन्तिम सिद्धान्तपक्ष ही उचित है।

यह सब अन्यत्र विस्तार से कहा गया है ॥ ४१ ॥

परान्नित्यं बलवत् ॥ ४२ ॥

कृताकृतप्रसङ्गित्वात्। तत्राक्लृप्ताभावकस्याभावकल्पनापेक्षया क्लृप्ताभावकस्यैव तत्कल्पनमुचितमिति नित्यस्य बलवत्त्वे बीजम्। तदाह–कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम् तद्विपरितमनित्यम्। अत एव 'तुदतीत्यादौ' परादपि गुणान्नित्यत्वात् शप्रत्ययादिर्भवति ॥४२॥

परशास्त्र की अपेक्षा नित्यशास्त्र बलवान् होता है।

नित्यशास्त्र की बलवत्ता प्रतिपादित करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि अनित्यशास्त्र का नित्यशास्त्र से बाध होता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि परिभाषा में पर शब्द अनित्य का बोधक है, इस लिये 'अनित्यात् नित्यं बलवत्' अर्थात् 'अनित्य से नित्य बलवान् होता है' यह परिभाषार्थ होता है।

नित्य की बलवत्ता में हेतु प्रदर्शित करते हुए लिख रहे हैं—

'कृताकृतप्रसङ्गित्वात्' अर्थात् जो शास्त्र, शास्त्रान्तर में विहितकार्य करने पर भी प्रवृत्त होता है और उसके न करने पर भी प्रवृत्त होता है, वह कृताकृतप्रसङ्गी-शास्त्र नित्य कहा जाता है। उसका कृताकृतप्रसङ्गित्व ही उसकी बलवत्ता में हेतु है।

यहाँ एक यह शंका होती है, कि यदि नित्यशास्त्र उत्सर्ग या बहिरङ्ग है और अनित्यशास्त्र उसका अपवाद या अन्तरङ्ग है तो वहाँ नित्यशास्त्र से उस अनित्य का बाध कैसे होगा? इस शंका के समाधान के लिये यहाँ अनित्यशास्त्र में 'अपवाद और अन्तरङ्गभिन्नत्व' यह विशेषण लगा देना चाहिये। इस प्रकार अन्तरङ्ग और अपवाद ये भिन्न अनित्यशास्त्र की अपेक्षा नित्यशास्त्र बलवान् होता है यह परिभाषार्थ निष्पन्न होता है।

उपर्युक्त व्याख्यान से यह सिद्ध हुआ कि नित्यशास्त्र बलवान् होता है। अब उसकी बलवत्ता का बीज बतला रहे हैं कि—अनित्य शास्त्र (परशास्त्र) का अभाव कल्प्य है क्योंकि यदि नित्यशास्त्र को पहले कर दिया जाय तो परशास्त्र (अनित्य-शास्त्र) की प्रवृत्ति नहीं होती है। दूसरी ओर नित्यशास्त्र का अभाव अकल्प्य (सिद्ध नहीं) है, क्योंकि परशास्त्र के करने और न करने दोनों स्थिति में वह लग रहा है। इसलिये जिसका अभाव सिद्ध नहीं है उसके अभाव की कल्पना की अपेक्षा जिसका अभाव सिद्ध है उसी के अभाव की कल्पना उचित है। यही बात नित्यशास्त्र की बलवत्ता का बीज है। इसी बात को कह रहे हैं—जो विधि कृताकृतप्रसङ्गी होता है वह नित्य होता है और जो इससे विपरीत होता है वह अनित्य है।

अतएव=इस परिभाषा को स्वीकार करने से 'तुदति' इस प्रयोग में परगुण को बाध कर नित्यत्वात् श प्रत्यय होता है। यहाँ 'तुद+ति' इस स्थिति में लघूपध-गुण और श प्रत्यय ये दोनों साथ ही प्राप्त हैं। यदि पहले श प्रत्यय कर दिया जाय तो उसके 'अपित् सार्वधातुकप्रयुक्त-ङित् होने के कारण गुण की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु दोनों की साथ प्राप्ति की स्थिति में यदि लघूपधगुण करें दोनों स्थिति में श प्रत्यय की प्राप्ति है। इसलिये श प्रत्यय नित्य है। इसलिये यहाँ नित्य श प्रत्यय से पर या अनित्य लघूपधगुण का बाधकर दिया जाता है॥ ४२॥

यद्वच्यक्तिसम्बन्धितया पूर्वं प्रवृत्तिः, तद्वच्यक्तिसम्बन्धितयैव पुनः प्रवृत्तौ कृताकृतप्रसङ्गित्वमित्याशयेनाह—

पूर्व परिभाषा में कह आये हैं कि 'कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम्, तद् विपरीतमनित्यम्' इस कथन के पूर्वांश का उदाहरण प्रदर्शित करके अब उस कथन के द्वितीय अंश= अनित्यत्व अंश का विचार करते हुए लिख रहे हैं कि—जिस व्यक्ति के सम्बन्ध से किसी सूत्र की पहले प्रवृति होती है उसी व्यक्ति के सम्बन्ध से यदि उसकी पुनः प्रवृत्ति होती है तो वह विधि कृताकृतप्रसङ्गि होने के कारण नित्य है। यदि वह विधि किसी दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध से पुनः प्राप्त होती है तो वह अनित्य होती है। इसी बात को यह परिभाषा कह रही है—

शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन्विधिरनित्यो भवति ॥ ४३ ॥

जो विधि पहले किसी और शब्द के आधार पर प्राप्त होती है, वही विधि यदि पुनः शब्दान्तर के आधार पर प्राप्त होती है तो वह अनित्य होती है।

इस परिभाषा का फल यह है कि इष् धातु से सन् प्रत्यय करने पर 'इष्—स' स्थिति में द्वित्व और इट् की जब प्राप्ति होती है तो इट् करने पर जो द्वित्व द्वितीय एकाच् 'षि' शब्द को प्राप्त होता है, वही द्वित्व इट् न करने पर द्वितीय एकाच सन् के सकार को प्राप्त होता है इसलिये शब्दान्तर को प्राप्त होने के कारण द्वित्वविधि अनित्य होती है। दूसरी ओर इट् विधि इसलिये नित्य है कि, द्वित्व करने और न करने—इन दोनों स्थितियों में वह सन् को ही प्राप्त है। इस प्रकार नित्य इट् से द्वित्व का बाध करके पहले इट् करके 'षि' शब्द को द्वित्व किया जाता है, जिससे 'एषिषिषति' इस रूप की सिद्धि होती है।

इदं 'शदेः शितः' (१-३-६०) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। तत्र हि 'न्यविशते'त्यत्र विकरणे कृते तदन्तस्याट् अकृते धातुमात्रस्येत्यडनित्य इत्युक्तम् ॥ ४३ ॥

यह परिभाषा 'शदेः शितः' इस सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। वहाँ 'न्यविशत' इस प्रयोग की सिद्धि के लिये नि पूर्वक विश् धातु से लङ् लकार लाने पर 'न विश् ल्' इस स्थिति में पहले 'शप्' किया जाय या 'अट्' इस जिज्ञासा में नित्यत्वात् शप् की प्राप्ति दिखाकर अट् को भी नित्य बताया गया, क्योंकि विकरण करने और न करने दोनों स्थिति में अट् भी प्राप्त है। ऐसा कहकर भाष्यकार ने कहा कि अट् अनित्य है क्योंकि यदि विकरण (शप्) कर दिया जाता है तो तदन्त=विकरणान्त 'विश्-अ' को अट् प्राप्त होता है और यदि विकरण नहीं करते हैं तो 'विश' इस धातु मात्र को प्राप्त होता है। इसलिये शब्दान्तर को प्राप्त होने के कारण 'अट्' विधि अनित्य है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि लकार के स्थान पर 'तिप्तस्-

झि' इस सूत्र से तिबादि प्रत्यय हो गये हैं, तभी शप् और अट् की साथ में प्राप्ति होती है। नित्यत्वात् शप् कर देने के बाद जब अट् होता है तब उसके व्यवधान में 'नेर्विशः' इस नियम की प्रवृत्ति 'उपसर्गपूर्व नियमेऽड्व्यवाय उपसंख्यानम्' इस वार्तिक के आधार पर की जाती है, जिससे आत्मनेपद करके 'न्यविशत' यह प्रयोग सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार 'शदेः शित' इस सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है ॥४३॥

ऊपर कहा गया है कि यद्व्यक्तिसम्बन्ध से पहले प्राप्ति हो, उसी व्यक्ति के सम्बन्ध से पुनः प्राप्त होने वाली विधि नित्य होती है। इस कथन में 'आये हुए व्यक्ति शब्द से उद्देश्य का ग्रहण करके 'शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यः' यह परिभाषा बनाई गई है। अब व्यक्तिपद से निमित्त का ग्रहण करके दूसरी परिभाषा का उपक्रम करते हुए कह रहे हैं—

एतत्तुल्यन्यायेनाह—

उद्देश्य की भाँति निमित्त की एकता रहने पर विधि की कृताकृतप्रसङ्गिता तुल्य होती है, इसी आशय से यह परिभाषा बनी—

शब्दान्तरात् प्राप्नुवतः शब्दान्तरे प्राप्नुवतश्चानित्यत्वम् ॥ ४४ ॥

निमित्त शब्द से पञ्चम्यन्त और सप्तम्यन्त दोनों का ग्रहण किया जाता है। इसलिये इस परिभाषा में 'शब्दान्तरात् और शब्दान्तरे' ये दोनों पद आये हैं। इस बात को दृष्टिगत कर इस परिभाषा का अर्थ इस प्रकार होता है—

जो विधि पहले किसी अन्य शब्द (निमित्त) से हो रही हो किन्तु अब किसी शब्दान्तर से उसकी प्राप्ति है तो वह विधि अनित्य होती है। इसी प्रकार जो किसी अन्य शब्दरूपी निमित्त को पर में मान कर प्राप्त होती थी, वह अब किसी शब्दान्तर को पर में मान कर प्राप्त हो रही है तो वह विधि भी अनित्य है।

इनमें 'शब्दान्तरात्' इसका उदाहरण 'शदेः शितः' इस सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। वहाँ 'न्यविशत' इस प्रयोग पर विचार करते हुए कहा गया कि 'नि-विश्-त' इस स्थिति में अडागम और शप् विकरण ये दोनों साथ ही प्राप्त हैं। इनमें जिस प्रकार शप् के करने और न करने' इन दोनों स्थितियों से अडागम हो सकता है उसी प्रकार अडागम के करने और न करने दोनों स्थितियों में शप् भी हो सकता है।

इस प्रकार कृताकृतप्रसङ्गित्वेन दोनों विधियों के नित्य होने पर भी यहाँ परत्वात् अडागम ही पहले होगा। यदि कहा जाय कि विकरण होने के बाद 'विश्-अ' इस शब्दान्तर को अडागम होगा, इसलिये शब्दान्तर को होने के कारण अट् विधि अनित्य है तो इसके उत्तर में कहा गया कि अट् होने के पहले जो विकरण पहले विश् धातु से प्राप्त था, वही शप् विकरण अट् होने के बाद यदागम परिभाषा के द्वारा 'अविश्' इस शब्दान्तर के प्राप्त होता है। इसलिये शब्दान्तर से प्राप्त होने के कारण शप् भी

अनित्य है। ऐसी स्थिति में परत्वात् यहाँ अट् का आगम ही पहले होता है। इस प्रकार 'शब्दान्तरात्' प्राप्त अनित्य का उदाहरण स्पष्ट होता है। कैयट ने भी वहाँ यह बात स्पष्ट किया है कि 'न चायं नियमः शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति न तु शब्दान्तरादिति।' इस कैयट से उक्त बात की सम्पुष्टि होती है। 'शब्दान्तरे प्राप्नुवतः' इस दूसरे का उदाहरण 'करिष्यते' यह प्रयोग है। यहाँ 'कृ+ल्ट' इस अवस्था में स्य विकरण और ल्ट के स्थान पर 'स्वरितञितः' सूत्र से तिबादि आदेश ये दोनों प्राप्त हैं इनमें यदि ल्ट के स्थान पर तिबादि पहले कर दिये जाते हैं तो 'स्य विकरण' शब्दान्तरे प्राप्तविधि कहा जायेगा। इसलिये यह अनित्यविधि हुई। इस अनित्यविधि को बाध कर पहले लादेश कर दिया जाता है, जिससे उभयपद की सिद्धि होती है। अन्यथा यदि पहले विकरण होता जाता तो 'ञित्' धातु के पर में न होने के कारण 'स्वरितञितः' यह नियम यहाँ प्रवृत्त नहीं होता। यदि कहा जाय कि 'करिष्यते' यह प्रयोग तो 'विकरणेभ्यो नियमो बलीयान्' इस परिभाषा से ही सिद्ध हो सकता है तो 'शब्दान्तरे' प्राप्त विधि की अनित्यता का उदाहरण 'बिभिद्वान्' यह प्रयोग समझना चाहिये। यहाँ भिद् धातु से क्वसु प्रत्यय अनुबन्ध लोप करने पर 'भिद्-वस्' इस स्थिति में 'लिटि धातोः' सूत्र से द्वित्व तथा 'वस्वेकाचाद्' इस सूत्र से इट् का आगम ये दोनों प्राप्त होते हैं। यहाँ द्वित्व करने पर शब्दान्तरात् प्राप्त होने के कारण जिस प्रकार इट् अनित्य है, उसी प्रकार इट् के पूर्व प्राप्त द्वित्व भी इट् करने के बाद 'इवस्' इस शब्दान्तर के पर में रहने पर प्राप्त होता है, इसलिये द्वित्व भी अनित्य है। इस प्रकार दोनों की अनित्यता समान होने के कारण यहाँ परत्वात् इट् का आगम ही प्राप्त होता है जिसका वारण 'कृते द्वित्वे य एकाच्' अर्थात् द्वित्व करने पर जो एकाच हो उससे इट् होता है, ऐसा अर्थ करके किया गया है। इस भाष्य से स्पष्ट है कि जो विधि शब्दान्तर को पर में मान कर प्राप्त होती है वह अनित्य होती है॥ ४४॥

एतन्मूलकमेवाह—

यद्व्यक्तिसम्बन्धितया में यदि व्यक्तिपद से शास्त्ररूप व्यक्ति का ग्रहण किया जाय, उस स्थिति में कह रहे है—

लक्षणान्तरेण प्राप्नुवन्विधिरनित्यः॥ ४५॥

जो विधि लक्षणान्तर से अर्थात् पहले किसी और लक्षण से प्राप्त होती है, वही विधि पीछे यदि किसी और लक्षण से प्राप्त होती है तो वह विधि अनित्य होती है।

अतिदेशविषये इयम् 'असिद्धवत्' (६-४-२२) सूत्रे कैयटेनोक्ता॥४५॥

'कुर्वः' 'कुर्मः' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि के अवसर पर अतिदेश के सम्बन्ध में में यह परिभाषा 'असिद्धवदत्राभात्' इस सूत्र के कैयट में कही गई है।

इसका उदाहरण 'अजरांसि' यह प्रयोग है। 'अजर+जस्' इस स्थिति में नुम् और जरस् दोनों की साथ प्राप्ति होने पर भाष्यकार ने कहा कि 'नुम्जरसोः प्राप्तयोः परत्वाज्जरस्' अर्थात् नुम् को बाधकर यहाँ परत्वात् जरस् होता है।

यद्यपि नुम् यहाँ कृताकृतप्रसङ्गी विधि है तथापि जरसादेश के पहले वह 'नपुंसकस्य झलचः' इस सूत्र घटक अजन्ताङ्गोद्देश्यक नुम्विधायक वाक्य से प्राप्त होता है और जरसादेश कर देने पर वही नुम् झलन्ताङ्गोद्देश्यक नुम्विधायक वाक्य से प्राप्त होता है। इस प्रकार लक्षणान्तर से प्राप्त होने के कारण नुम् अनित्य होता है। इसलिये यहाँ नित्यत्वानित्यत्वप्रयुक्त बाध न करके तुल्यबल विरोध के आधार पर परत्वात् बाध किया जाता है। इस प्रकार परत्वाज्जरस् यह भाष्योक्ति संगत होती है॥ ४५॥

यदा तु शास्त्रव्यतिरेकेण तद्विधेयकार्ययोरेव नित्यत्वादिविचारः, यदापि व्यक्तिविशेषाश्रयणाभावस्तदाह—

जब नित्यत्वादि के विचार में शास्त्र का आश्रयण और व्यक्ति का आश्रयण नहीं करते हैं, अर्थात् पहले अन्य शास्त्र से प्राप्त था और अब अन्य शास्त्र से प्राप्त है, अथवा पहले अन्य व्यक्ति के आश्रय से प्राप्त था और अब अन्य व्यक्ति के आश्रय से प्राप्त है ऐसा विचार न कर शास्त्र से विधेय कार्यों का ही विचार करते हैं, उस समय कृताकृतप्रसङ्गमात्र से नित्यता ली जाती है। इसी बात को कह रहे हैं—

क्वचित् कृताकृतप्रसङ्गमात्रेणापि नित्यता॥ ४६॥

कहीं पर कृताकृतप्रसङ्गमात्र से भी नित्यता ली जाती है। जैसे 'तुदति' इस प्रयोग में 'तुद्+ति' इस स्थिति में लघूपध गुण और 'श' प्रत्यय इन दोनों की प्राप्ति होने पर यदि पहले गुण कर दिया जाय तो तुद् शब्द की अपेक्षा तो तोद् इस शब्दान्तर से श प्रत्यय की प्राप्ति हो रही है जो निमित्तरूप भिन्न व्यक्ति के आश्रयण से हो रही है। इसी प्रकार गुण करने पर स्थानिवत् सूत्र से धातुत्वातिदेश करने पर ही श प्रत्यय की प्राप्ति होने के कारण लक्षणभेद या लक्षणान्तर से प्राप्त यह श विधि है, इसलिये इसे अनित्य होना चाहिये, किन्तु यहाँ शास्त्र और व्यक्ति का आश्रयण न करके केवल श प्रत्यय की कृताकृतप्रसङ्गिता देखी गई। इसी आधार पर इसे नित्य माना गया। गुण तो श प्रत्यय होने के बाद हो नहीं सकता क्योंकि श प्रत्यय के ङित् होने के कारण उसका निषेध हो जायेगा। इस प्रकार अनित्य गुण को बाधकर नित्यत्वात् 'श' विकरण करना यह इस परिभाषा का प्रयोजन है।

कृते द्वितीये नित्यत्वेनाभिमतस्य पुनः प्रसङ्गमात्रं नित्यत्वव्यवहारे प्रयोजकं न तु बाधकाबाधितफलोपहितप्रसङ्गोऽपि तथेति भावः॥ ४६॥

'कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम्' इस वाक्यघटकप्रसङ्गांश में बाधकाबाधितसफलत्व यह विशेषण कभी लगता है और कभी नहीं लगता है। इसी आधार पर वक्ष्यमाण दो परिभाषाओं का उपक्रम करते हुए कह रहे हैं कि—द्वितीय सूत्र के कर देने पर नित्यत्वे न अभिमत् सूत्र का पुनः प्रसङ्ग होना ही उसके नित्यत्वव्यवहार का प्रयोजक है। उसे नित्य कहने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि बाधक से अबाधित उसकी सफल प्राप्ति हो। इससे यह सिद्ध होता है कि जब बाधकाबाधितसफलत्व यह प्रसङ्ग का विशेषण नहीं है, अर्थात् लक्षणान्तर से उसके निमित्त का विनाश कर दिया है, जिससे वह सूत्र वहाँ सफल नहीं हो रहा है किन्तु उसका प्रसङ्गमात्र है तो वह नित्य ही है। इसी बात को इस परिभाषा द्वारा कह रहे हैं ॥ ४६ ॥

तदाह—

यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम् ॥ ४७ ॥

जिस सूत्र का निमित्त लक्षणान्तर (सूत्रान्तर) से नष्ट हो जाता है वह सूत्र अनित्य नहीं होता।

इस परिभाषा के आश्रयण का फल यह होता है कि 'आतोऽनुपसर्गे कः' इस सूत्र के ऊपर 'सर्वत्रसंप्रसारणिभ्यो डः' इस वार्तिक में सर्वत्र ग्रहण के कारण 'आह्वः, प्रह्वः' इत्यादि प्रयोगों में 'आतश्चोपसर्गे' इस सूत्र से प्राप्त क प्रत्यय के विषय में भी ड प्रत्यय होता है। अन्यथा यदि उक्त दोनों प्रयोगों में क प्रत्यय होता तो पर होने पर प्राप्त आकार लोप को नित्यत्वात् बाधकर सम्प्रसारण पूर्वरूप और डवङ् करके 'आहुवः, प्रहुवः' ऐसा प्रयोग बनने लगता। ऐसा विचार कर इन प्रयोगों के प्रसङ्ग में भाष्यकार ने कहा कि क प्रत्यय करने पर भी यहाँ अभीष्ट रूप की सिद्धि हो सकती है क्योंकि जिस प्रकार सम्प्रसारण नित्य है उसी प्रकार सम्प्रसारण करने और न करने दोनों स्थितियों में प्राप्त आकार का लोप भी नित्य ही है। 'आह्वा + अ' इस स्थिति में पहले सम्प्रसारण कर दिया जाता है तो 'आ-हु-आ-अ' इस स्थिति में अन्तरङ्ग पूर्वरूप से बाध्य आकार का लोप इसलिये अनित्य नहीं है कि जिसका निमित्त लक्षणान्तर से नष्ट हो जाता हो वह अनित्य नहीं होता है। इसलिये 'कृताकृतप्रसङ्गित्वमात्र से आकार का लोप भी नित्य ही है। इस प्रकार सम्प्रसारण और आकारलोप दोनों की समानता होने के कारण परत्वात् आकार का लोप करके सम्प्रसारण और यण् करके 'आह्वः' यह प्रयोग बन सकता है। आकार का लोप करने के बाद उवङ् इसलिये नहीं होता है कि जब उवङ् करने चलते हैं तब आकार का लोप आभीयत्वेन असिद्ध होकर मध्य में बैठ जाता है।

इस प्रकार यह परिभाषा भाष्यसम्मत सिद्ध होती है ॥ ४७ ॥

क्वचित्तु बाधकाबाधितफलोपहितप्रसङ्ग एव गृह्यते। तदाह—

पूर्वपरिभाषा के लिये बाधकाबाधितफलोपहितत्व इस अंश को प्रसङ्ग का विशेषण नहीं रखा गया था, इसलिये बाधक से बाधित होने की स्थिति में भी केवल प्रसङ्गमात्र से नित्यता का वर्णन किया गया है, किन्तु अब बाधकाबाधितफलोपहित यह अंश प्रसंग का विशेषण मान कर कह रहे हैं कि—कहीं पर तो नित्यता के लिये आवश्यक है कि नित्यत्वेन अभिप्रेत शास्त्र की जो कृताकृतप्रसङ्गिता हो वह बाधक से अबाधित एवं फल से उपहित अर्थात् सफल हो। यदि ऐसा प्रसङ्ग हो तब तो वह शास्त्र नित्य कहा जा सकता है, अन्यथा वह अनित्यशास्त्र है। इसी बात को यह परिभाषा कह रही है—

यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते तदप्यनित्यम् ॥ ४८ ॥

जिस सूत्र का निमित्त लक्षणान्तर=दूसरे सूत्र के द्वारा नष्ट हो जाता है वह सूत्र (शास्त्र) भी अनित्य होता है।

'स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र के भाष्य से यह परिभाषा अभिव्यञ्जित है। वहाँ पर विचार किया गया है कि तद् शब्द से नपुंसकलिङ्ग में सु विभक्ति लाने पर 'तद्+सु' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' सूत्र से अत्व विधान किया जाय अथवा 'स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र से सु का लोप किया जाय। अत्व के करने और न करने दोनों स्थितियों में प्राप्त होने के कारण लुक् की नित्यता की सम्भावना करके भाष्यकार ने कहा कि लुक् अनित्य है, क्योंकि अत्व करने के बाद अम् भाव के द्वारा उसका बाध हो जायेगा। इस प्रकार लक्षणान्तर से निमित्त का विनाश होने के कारण अनित्य लुक् यहाँ नहीं हो सकेगा। इसलिये 'स्वमोर्लुक् त्यदादिभ्यश्चेति वक्तव्यम्' यह यह वार्तिक कहना चाहिये। इस भाष्य से स्पष्ट होता है कि यह परिभाषा भाष्य-सम्मत है।

सप्तमे कैयटेनैतदुपष्टम्भकं लोकव्यवहारद्वयमुदाहृतम्। बालिसुग्रीवयोर्युध्यमानयोर्भगवता बालिनि हतेऽपि सुग्रीवस्य बालितः प्राबल्यं न व्यवहरन्ति; भगवत्सहायैः पाण्डवैर्जये लब्धेऽपि पाण्डवानां प्राबल्यं व्यवहरन्ति चेति। सर्वं चेदं लक्ष्यानुरोधाद्व्यवस्थितम् ॥ ४८ ॥

सातवें अध्याय में 'स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर कैयट ने एतदुपष्टम्भकम्=पूर्वोक्त परिभाषाद्वय का ज्ञापक दो लोकव्यवहारों का उल्लेख किया है। वहाँ कहा गया है कि युद्ध करने वाले बाली और सुग्रीव के मध्य भगवान् के द्वारा बाली को मार देने पर भी बाली की अपेक्षा सुग्रीव की प्रबलता का व्यवहार कोई नहीं करता है। दूसरी ओर भगवान् की सहायता से पाण्डवों के विजय प्राप्त करने पर भी कौरवों की अपेक्षा पाण्डवों की प्रबलता का व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार कृताकृतप्रसङ्गत्व जो नित्यत्व के द्वारा बलवत्त्व का प्रयोजक होता है

उसकी यह बलवत्त्वप्रयोजकता सब जगह नहीं मानी जाती है। इसलिये लक्षणान्तर से निमित्त का विघात होने पर भी कहीं नित्यता और कहीं अनित्यता स्वीकार की गई है। ये सारी बातें लक्ष्यानुरोध से व्यवस्थित है। अर्थात् लक्ष्य की सिद्धि के लिये कहीं नित्यता और कहीं पर अनित्यता माननी चाहिये ॥ ४८ ॥

'लुटः प्रथमस्य' (२-४-८५) इति सूत्रे भाष्ये—

स्वरभिन्नस्य प्राप्नुवन्विधिरनित्यो भवति ॥ ४९ ॥

इति पठ्यते।

'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इस सूत्र के भाष्य में 'स्वरभिन्नस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति' यह परिभाषा पढ़ी गई है।

स्वर के द्वारा भिन्न के स्थान पर जो विधि प्राप्त होती है वह विधि अनित्य होती है।

इस परिभाषा का उदाहरण 'दध्युदकम्' है। इसका अर्थ है—दधि से मिश्रित उदक। यहाँ 'दधि + उदकम्' इस स्थिति में यदि 'नड्विषयस्यानिसन्तस्य' इस सूत्र के द्वारा दधि शब्द को आद्युदात्त कर दिया जाता है तो 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इस सूत्र से अनुदात्त इकार के स्थान पर यण् प्राप्त होता है। यदि 'उदकेऽकेवले' इस सूत्र से दधि शब्द को अन्तोदात्त कर दिया जाय तो उदात्त इकार को यण् प्राप्त होता है। इस प्रकार स्वर-भिन्न के भिन्न के स्थान पर प्राप्त होने के कारण यण् अनित्य होता है। इसलिये अनित्य यण् को बाधकर परत्वात् 'उदकेऽकेवले' इस सूत्र से इकार को उदात्त कर दिया जाता है। इस प्रकार उदात्त इकार के स्थान पर यण् किया जाता है और उस उदात्तस्थानिक यण् से आगे उदक के उकार को 'उदात्त स्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' इस सूत्र से स्वरित किया जाता है।

यत्र त्वेकस्यैव कार्यस्य परत्वं नित्यत्वं च तत्रेच्छयान्यतरत्तदुभयं वा तस्य बलवत्त्वे नियामकमुल्लेख्यम्। अत एव तत्र तत्र परत्वान्नित्यत्वाच्चेति भाष्ये उच्यते।

वस्तुतस्तत्र परत्वादित्युक्तिरेकदेशिनः। स्पष्टं चेदं विप्रतिषेधसूत्रे कैयटे। 'णौ चङि' (७-४-१) इति ह्रस्वापेक्षया नित्यत्वान्तरङ्गत्वप्रयुक्तद्वित्वस्य प्रथमतः प्रवृत्तौ नित्यत्वादित्येव भाष्य उक्तम्। एवं नित्यान्तरङ्गयोर्बलवत्त्वमपि यौगपद्यासम्भव एवेति बोध्यम् ॥ ४९ ॥

जहाँ पर एक ही कार्य में परत्व और नित्यत्व ये दोनों बलवत्त्वप्रयोजक धर्म हैं, वहाँ पर उन दोनों में से किसी एक को अथवा दोनों को यथेच्छ उसके बलवत्त्व का नियामक मानना चाहिये। इसीलिये भाष्य में अनेकों जगहों पर परत्वात् नित्यत्वाच्च अर्थात् पर और नित्य होने के कारण यह कार्य होता है ऐसा कहा गया है।

वस्तुतस्तु जब किसी कार्य में नित्यत्व धर्म रहता है, तो उसका यह धर्म परत्व की अपेक्षा उसकी अधिक महत्ता का सूचक होता है। ऐसी स्थिति में वह शास्त्र या कार्य अपनी नित्यता के कारण ही पूर्व या अनित्य शास्त्र का बाधक हो सकता है, इसलिये वह परत्वात् बाध करता है यह कहना असंगत ही है। इसी अभिप्राय से लिखा गया है कि 'परत्वान्नित्यत्वाच्च' इस वाक्य में 'परत्वात्' यह उक्ति एकदेशी की है।

दूसरी बात यह है कि नित्य और अनित्य शास्त्र के मध्य तुल्यबलविरोध भी नहीं रहता, इसलिये वहाँ परत्वात् यह उक्ति एकदेशी की ही कही जा सकती है। इसलिये ऐसे स्थलों पर 'नित्यत्वात्' बाध होता है ऐसा ही कहना चाहिये। यह बात 'विप्रतिषेध' सूत्र के कैयट में स्पष्ट है।

'णौचङ्युपधाया ह्रस्वः' सूत्र के द्वारा विधेय ह्रस्व की अपेक्षा नित्यत्वेन तथा अन्तरङ्गत्वेन प्राप्त द्वित्व की प्रथम प्रवृत्ति में हेतु उसके नित्यत्व को ही भाष्य में कहा गया है।

जैसे—कम् धातु से णिङ् प्रत्यय करके ण्यन्त कामि धातु से लुङ् लकार लाने पर 'काम्-इ-त' इस स्थिति में च्लि और उसे चङादेश के बाद 'काम्-इ-अ-त' इस स्थिति में 'णौ चङि' सूत्र से ह्रस्व और 'चङि' सूत्र से द्वित्व इन दोनों की जब प्राप्ति होती है तो इन दोनों में ह्रस्व की अपेक्षा द्वित्व नित्य तथा अन्तरङ्ग है, इसलिये पहले द्वित्व की ही यहाँ प्रवृत्ति होती है।

ह्रस्वविधि में णिपर्यन्त की अपेक्षा होती है जब कि द्वित्वविधि में चङ्पर्यन्त की अपेक्षा है। इसलिये अन्तर्भूतनिमित्तक होने के कारण द्वित्व अन्तरङ्ग होता है।

यह द्वित्व यद्यपि नित्य और अन्तरङ्ग है तथापि उसकी प्रवृत्ति पहले होने में कारण उसका नित्यत्व ही कहा गया है। नित्य की अपेक्षा अन्तरङ्ग बलवान् होता है इसलिये उचित तो यह होता कि यहाँ द्वित्व की अन्तरङ्गता को ही उसकी प्रथमतः प्रवृत्ति का कारण बताया जाता, किन्तु ऐसा न करके उसके नित्यत्व को ही प्रथमतः प्रवृत्ति का जो कारण बताया गया है उसका रहस्य यह है कि नित्यत्वधर्म लघुकाय, अनुगतस्वरूप तथा प्रथमोपस्थित होता है। इसकी अपेक्षा अन्तरङ्गत्वधर्म दीर्घकाय, अननुगतरूप और पीछे उपस्थित होने वाला है। इसे अननुगत इसलिये कहा जाता है कि अन्तरङ्ग की परिभाषा विभिन्न जगहों पर विभिन्न प्रकार की होती रहती है। इन्हीं कारणों से द्वित्व के अन्तरङ्ग होने पर भी उसकी प्रथमतः प्रवृत्ति में उसकी अन्तरङ्गता को कारण न मानकर उसकी नित्यता को ही कारण माना गया है।

इसी प्रकार नित्य और अन्तरङ्ग में जो बलवत्ता होती है वह यौगपद्यासम्भव होने पर ही होती है। तात्पर्य यह है कि अनित्य और नित्य शास्त्र तथा बहिरङ्ग

और अन्तरङ्ग शास्त्र का किसी एक प्रयोग में जब यौगपद्येन होना असम्भव हो जाता है तो 'सति विरोधे बलीयसा दुर्बलो बाध्यते' इस न्याय से नित्य और अन्तरङ्ग शास्त्र से अनित्य और बहिरङ्ग शास्त्र का बाध होता है ॥ ४९ ॥

नित्यादप्यन्तरङ्गं बलीयः अन्तरङ्गे बहिरङ्गस्यासिद्धत्वात् । तदाह——

नित्यशास्त्र से अन्तरङ्गशास्त्र बलवान् होता है । अन्तरङ्गशास्त्र की बलवत्ता में कारण प्रस्तुत करते हुए लिखा गया है 'अन्तरङ्गे बहिरङ्गस्यासिद्धत्वात्' अर्थात् अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यावस्था में बहिरङ्गशास्त्र असिद्ध हो जाता है । यहाँ 'अन्तरङ्गे' इस पद में जो सप्तमी है वह विषयसप्तमी है, इसलिये अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग इन दोनों शास्त्रों की जहाँ समकाल में प्राप्ति होती है, वहाँ अन्तरङ्ग शास्त्र की विषयता में बहिरङ्गशास्त्र असिद्ध हो जाता है ।

यहाँ 'नित्यादपि' इस पद में अपि शब्द से परशास्त्र का ग्रहण होता है । इस प्रकार पर और नित्यशास्त्र जो किसी शास्त्र के प्रति बहिरङ्ग हैं उस अन्तरङ्ग शास्त्र के प्रति ये बहिरङ्ग शास्त्र असिद्ध हो जाते हैं । इसी बात को व्यक्त करने के लिये यह परिभाषा बनाई गई—

असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥ ५० ॥

अन्तरङ्गशास्त्र को करने की स्थिति में (विषयता में) बहिरङ्गशास्त्र असिद्ध हो जाता है ।

अन्तरङ्ग के प्रति बहिरङ्ग की यह असिद्धता दोनों के समकाल में प्राप्ति होने पर होती है । जातबहिरङ्ग की अपेक्षा अन्तरङ्ग की बलवत्ता का कथन इसलिये अनुपयुक्त हो जाता है कि जब बहिरङ्गशास्त्र हो चुका तो अन्तरङ्ग को पीछे से बलवान् बनाने का क्या प्रयोजन रह जायेगा । किन्तु जैसा कि ग्रन्थकार आगे कहने वाले हैं कि अन्तरङ्ग शास्त्र को करने की स्थिति में जात और समकालप्राप्त ये दोनों बहिरङ्ग असिद्ध हो जाते हैं । इसलिये परिभाषा का यही अर्थ मानना चाहिये कि अन्तरङ्गशास्त्र की विषयता में बहिरङ्गशास्त्र मात्र असिद्ध हो जाता है । अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग का लक्षण करते हुए लिख रहे हैं—

अन्तर्मध्ये बहिरङ्गशास्त्रीयनिमित्तसमुदायमध्ये, अन्तर्भूतान्यङ्गानि निमितानि यस्य तदन्तरङ्गम् । एवं तदीयनिमित्तसमुदायाद् बहिर्भूताङ्गकं बहिरङ्गम् । एतच्च 'खरवसानयोः' (८-३-१५) इति सूत्रे 'असिद्धवत्' (६-४-२२) सूत्रे च भाष्यकैयटयोः स्पष्टम् ।

अन्तरङ्ग शब्द के भीतर दो शब्द हैं—अन्तर् और अङ्ग । इनमें अन्तर् का अर्थ है मध्य में । मध्य में कहने से तत्काल यह जिज्ञासा होती है कि किसके मध्य में ? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि बहिरङ्गशास्त्रीय जो निमित्तसमुदाय उसके

मध्य में अन्तर्भूत हैं अङ्ग अर्थात् निमित्त जिस शास्त्र के वह शास्त्र अन्तरङ्ग कहा जाता है। इसी प्रकार तदीय=अन्तरङ्गशास्त्रीय निमित्तसमुदाय के बहिर्भूत= बाहर जिसके अङ्ग=निमित्त हों, वह शास्त्र बहिरङ्ग कहा जाता है।

यह बात 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' तथा असिद्धवत्-सूत्र के भाष्य और कैयट में स्पष्ट है।

अत्राङ्गशब्देन शब्दरूपं निमित्तमेव गृह्यते, शब्दशास्त्रे तस्यैव प्रधानत्वात्। तेनार्थनिमित्तकस्य न बहिरङ्गत्वम्। अत एव 'न तिसृचतसृ' (६-४-४) इति निषेधश्चरितार्थः। अन्यथा स्त्रीत्वरूपार्थनिमित्तकतिस्रपेक्षयान्तरङ्गत्वात्त्रयादेशे तदसङ्गतिः स्पष्टैव। अत एव त्रयादेशे 'स्त्रन्तस्य प्रतिषेधः' इति स्थानिवत्सूत्रस्थभाष्यवार्तिकादि सङ्गच्छते।

एतेन 'गौधेरः, पचेदि'त्यादावेयादीनामङ्गसंज्ञासापेक्षत्वेन बहिरङ्गतयाऽसिद्धत्वाद्वलिलोपो न स्यादिति परास्तम्। एयादेशादेरपरनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वाच्च।

शब्दशास्त्र (व्याकरणशास्त्र) में शब्द की ही प्रधानता होने के कारण इस परिभाषा में अङ्ग शब्द से शब्दरूपी निमित्त का ही ग्रहण किया जाता है। तात्पर्य यह है कि अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग इन दोनों शब्दों में अङ्ग शब्द से शब्दरूपी निमित्त लिया जाता है। इसलिये अर्थनिमित्तक का बहिरङ्गत्व नहीं माना जाता। अत एव=अर्थनिमित्तकबहिरङ्ग का आश्रयण नहीं किया जाता है इस बात को स्वीकार करने से ही 'न तिसृचतसृ' यह निषेध चरितार्थ होता है। इसका तात्पर्य यह है कि स्त्रीलिङ्ग त्रि शब्द से आम् विभक्ति लाने पर 'त्रि+आम्' इस स्थिति में त्रयादेश और तिसृ आदेश दोनों की प्राप्ति होने पर परत्वात् तिसृ आदेश हो जाने पर सकृद्गतिन्याय से पुनः प्राप्त त्रयादेश का वारण करके 'नामि' से प्राप्त दीर्घ का 'न तिसृचतसृ' से निषेध किया जाता है जिससे 'तिसृणाम्' इस प्रयोग की सिद्धि होती है।

यदि अर्थनिमित्तकबहिरङ्ग का आश्रयण किया जाता तो 'तिसृ' यह आदेश स्त्रीत्वरूपार्थनिमित्तक होने के कारण बहिरङ्ग हो जाता, इसलिये इसे बाधकर अन्तरङ्गत्वात् पहले त्रयादेश हो जाता, ऐसी स्थिति में वहाँ तिसृ आदेश न होने के कारण उसे दीर्घ की प्राप्ति ही नहीं होती तो ऐसी स्थिति में तिसृ शब्द को दीर्घ का निषेध करना व्यर्थ हो जाता। यदि कहा जाय कि त्रयादेश के बाद स्थानिवद्भाव से तिसृ आदेश करने पर उसे प्राप्त दीर्घ का वारण करने के लिये 'न तिसृचतसृ' यह निषेध चरितार्थ है, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार तिसृ आदेश की अपेक्षा त्रयादेश अन्तरङ्ग है, उसी प्रकार तिसृ आदेश की अपेक्षा दीर्घ भी अन्तरङ्ग है, इसलिये अन्तरङ्गत्वात् दीर्घ होने के बाद स्थानिवत्त्वेन यदि तिसृ आदेश हो

जाता है तो लक्ष्ये लक्षणन्याय से वहाँ पुनः दीर्घ की प्राप्ति स्वयमेव नहीं है। ऐसी स्थिति में दीर्घ का निषेध करना व्यर्थ ही हो जायेगा।

अत एव=अर्थकृतबहिरङ्गत्व का आश्रयण न करने से ही त्रयादेश की कर्त्तव्यता में 'स्नन्तस्य प्रतिषेधः' यह स्थानिवत् सूत्रस्थ भाष्यवार्तिकादि संगत होता है। तात्पर्य यह है कि स्त्रीलिङ्ग में 'त्रि+आम्' इस स्थिति में त्रयादेश और तिस्रादेश दोनों की प्राप्ति होने पर परत्वात् तिसृ आदेश हो जाने के बाद स्थानिवत्वेन पुनः प्राप्त त्रयादेश के वारण के लिये 'त्रयादेशे स्नन्तस्य प्रतिषेधः' यह वार्तिक बनाया गया। सकृद्गतौ यद्बाधितं तद्बाधितमेव' इस न्याय का आश्रयण करके भाष्यकार ने इस वार्तिक का प्रत्याख्यान कर दिया। अब यहाँ यह विचार करना है कि यदि अर्थकृत बहिरङ्गत्व का आश्रयण किया जाता तो अन्तरङ्गत्वात् पहले त्रयादेश ही होता। उसके बाद उसे तिसृ आदेश करने के बाद स्थानिवद्भाव से त्रिशब्द बुद्धि के द्वारा पुनः प्राप्त त्रयादेश लक्ष्ये लक्षणन्याय से स्वयमेव नहीं होगा। ऐसी स्थिति में 'त्रयादेशे स्नन्तस्य प्रतिषेधः' यह वार्तिक व्यर्थ हो जाता। इसलिये अर्थकृत बहिरङ्गत्व का आश्रयण नहीं किया जाता, यही मानना संगत है।

एतेन=इस प्रकार अर्थकृत बहिरङ्गत्व के अनाश्रयण से वे लोग परास्त हो गये जो लोग कहते थे कि 'गौधेरः' और 'पचेत्' इन प्रयोगों में गोधा शब्द से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय करने पर जो ढ को एय् आदेश तथा पच् धातु से पर में रहने वाले या को इय् आदेश करने पर 'लोपो व्योर्वलि' सूत्र से यकार का लोप नहीं होगा, क्योंकि एय् और इय् आदेश अङ्गसंज्ञासापेक्ष होने के कारण बहिरङ्ग हैं, इसलिये अन्तरङ्ग लोप की कर्त्तव्यता में एयादि असिद्ध हो जायेंगे। किन्तु यह कथन इसलिये परास्त समझना चाहिये कि संज्ञाकृतबहिरङ्गत्व का आश्रयण किया ही नहीं जाता। इसलिये एयादि असिद्ध नहीं होंगे। तस्मात् वलिलोप में कोई बाधा नहीं रह जायेगी।

दूसरी बात यह है कि उक्त प्रयोगों में यकार का लोप परनिमित्तक होने के कारण स्वयं बहिरङ्ग है जब कि एयादि आदेश अपरनिमित्तक होने के कारण अन्तरङ्ग हैं। इसलिये एयादि को बहिरङ्ग कहना भी उचित नहीं है। इस प्रकार एयादि के असिद्ध होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। तस्मात् वलिलोप वहाँ सुतराम् सिद्ध है।

३ 'येन विधिस्तदन्तस्य (१-१-७२) इति सूत्रे भाष्ये 'इको यणचि' (६-१-७७) इत्यादावपि तदन्तविधौ 'स्योन' इत्यत्रान्तरङ्गत्वाद्यणो गुणबाधकत्वमिष्यते तत्र सिद्धयेत्, ऊनशब्दमाश्रित्य यणादेशो नशब्दमाश्रित्य गुण इत्यभ्यन्तरङ्गत्वाद् गुण एव स्यादित्युक्तम्।

अत्र कैयटः—सिवेर्बाहुलकादौणादिके नप्रत्यये गुणबलोपोठां प्रसङ्ग ऊठ्पवादत्वाद्वलोपं बाधते गुणं त्वन्तरङ्गत्वाद् बाधते। गुणो ह्यङ्गसम्बन्धिनी-

मिग्लक्षणां लघ्वीमुपधामार्द्धधातुकं चाश्रयति। ऊठ् तु वकारान्तमङ्गमनुनासिकादिकञ्च प्रत्ययमित्यल्पापेक्षत्वादन्तरङ्गः। तत्र कृते यणगुणौ प्राप्नुत इति। एवञ्च सञ्ज्ञापेक्षस्यापि बहिरङ्गत्वं स्पष्टमेवोक्तमिति चेत्, न। तदन्तविधावपि बहुपदार्थापेक्षत्वरूपबहिरङ्गत्वस्य गुणे सत्त्वेन तत्र दोषकथनपरभाष्यासङ्गतेः। बहिरङ्गान्तरङ्गशब्दाभ्यां बह्वपेक्षत्वाल्पापेक्षत्वयोः शब्दमर्यादयाऽलाभाच्च। तथा सति 'असिद्धं बह्वपेक्षमल्पापेक्ष' इत्येव वदेत्। अत एव 'विप्रतिषेध' सूत्रेभाष्ये गुणाद्यणादेशोऽन्तरङ्गत्वादित्यस्य 'स्योन' इत्युदाहरणं न तु गुणादूठ् अन्तरङ्गत्वादित्युक्तम्। त्वद्रीत्या तदपि वक्तुमुचितम्। प्राथम्यात्तदेव वा वक्तुमुचितम्। मम त्वन्तरङ्गपरिभाषया तद्वारणासम्भवात्तन्नोक्तम्।

संज्ञाकृतबहिरङ्गत्व के अनाश्रयण से भाष्य और कैयट का विरोध प्रस्तुत करते हुए नागेशभट्ट का कहना है कि—'येन विधिस्तदन्तस्य' इस सूत्र के भाष्य में यह विचार हुआ कि 'इको यणचि' इस सूत्र में भी तदन्तविधि होनी चाहिए। इस प्रकार तदन्तविधि के प्रसंग में वहाँ इक् और यण् इन दो अंशों में तदन्तविधि होने के साथ 'अचि' इस सप्तम्यन्त पद में तदन्तविधि का अपवाद तदादिविधि करके 'इको यणचि' इसका सूत्रार्थ इस प्रकार किया गया कि इगन्त के स्थान पर यणन्त आदेश हो अजादि शब्द पर में रहने पर। इस प्रकार 'इको यणचि' इस सूत्र का अर्थ करके भाष्यकार ने कहा कि 'स्योनः' इस प्रयोग में यण् और गुण दोनों की प्राप्ति होने पर अन्तरङ्गत्वात् यण् के द्वारा गुण की बाधकता वाञ्छित है। अर्थात् यण् अन्तरङ्गत्वात् गुण का बाधक हो यही बात यहाँ अभिलषित है, किन्तु यह बात सिद्ध नहीं हो रही है—क्योंकि परिभाषा में अंग का अर्थनिमित्त है और निमित्त शब्द से सप्तम्यन्त का ग्रहण होता है, साथ ही वह निमित्त शब्दरूपी ही इस परिभाषा में लेने की बात कही गई है। ऐसी स्थिति में 'सि-ऊन' इस स्थिति में ऊन शब्द का आश्रयण कर यण् प्राप्त होता है और न शब्द का आश्रयण करके गुण प्राप्त होता है। इस प्रकार यण् शास्त्रीय निमित्तसमुदाय के मध्य गुणशास्त्रीयनिमित्त के आने के कारण गुण ही अन्तरंग हो जाता है। इसलिये यहाँ अन्तरङ्गत्वात् गुण ही होने लगेगा।

भाष्यकार के इस कथन पर विचार करते हुए कैयट ने कहा कि—सिव् धातु से बाहुलकात् औणादिक न प्रत्यय करने पर 'सिव्-न' इस स्थिति में लघूपधगुण, 'लोपो व्योर्वलि' इस सूत्र से वकार का लोप तथा 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इस सूत्र से ऊठ् ये तीनों कार्य साथ ही प्राप्त होते हैं। इनमें ऊठ् अपवाद होने के कारण वलोप को बाधता है और अन्तरङ्गत्वात् गुण को बाधता है। ऊठ् की अन्तरङ्गता का कारण

यह है कि ऊठ् के होने के लिये वकारान्त अङ्ग और अनुनासिकादि प्रत्यय की अपेक्षा है। दूसरी ओर गुण के लिये अङ्गसम्बन्धी, इग्लक्षणा, लघ्वी, उपधा और आर्धधातुक की अपेक्षा है। अर्थात् गुण के लिये अङ्ग, इक्, लघु, उपधा और आर्धधातुक ये पाँच संज्ञाएँ अपेक्षित हैं। इस प्रकार गुण की अपेक्षा अल्पसंज्ञाओं की अपेक्षा करने के कारण ऊठ् अन्तरङ्ग होता है, इसलिये यह अन्तरङ्गत्वात् गुण को बाध लेता है। इस प्रकार जब ऊठ् कर दिया जाता है तब 'सि-ऊन' इस स्थिति में यण् और लघूपधगुण ये दोनों प्राप्त होते हैं।

कैयट की इस व्याख्या के अनुसार संज्ञा की अपेक्षा करने के कारण बहिरङ्गता स्पष्ट ही कही गई है।

कैयट के इस कथन का निराकरण करते हुए नागेशभट्ट कह रहे हैं—तन्न अर्थात् संज्ञाकृत बहिरङ्गत्व का प्रतिपादन करने वाली कैयटोक्ति ठीक नहीं है क्योंकि 'इको यणचि' इस सूत्र में तदन्तविधि के पक्ष में भी गुण को जहाँ पाँच संज्ञाओं की अपेक्षा होती है, वहाँ यण् को केवल इक्, यण् और अच् इन तीन संज्ञाओं की ही अपेक्षा होती है। इस प्रकार गुण की अपेक्षा जब यण् ही अल्पापेक्ष होने के कारण अन्तरङ्ग हो रहा है। तब 'अन्तरङ्गत्वात् गुण एव स्यात्' यह गुण की अन्तरङ्गता का प्रतिपादक भाष्य असंगत हो जायेगा। इसलिये ऊठ् के प्रति गुण की संज्ञाकृत बहिरङ्गता का प्रतिपादन करना ठीक नहीं है।

दूसरी बात यह है कि अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शब्द की शब्दमर्यादा (शब्दशक्ति) के द्वारा यह बात सिद्ध नहीं होती है कि बहुत की अपेक्षा करने वाला बहिरङ्ग और अल्प की अपेक्षा करने वाला अन्तरङ्ग होता है। तथा सति=यदि उक्त प्रकार का अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग-भाव होता तो 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तङ्गे' इसकी जगह 'असिद्धं बह्वपेक्षमल्पापेक्षे' ऐसी ही परिभाषा कही गई होती।

अतएव='अन्तर्भूतनिमित्तकत्वमन्तरङ्गत्वम्' इस रीति से अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग का लक्षण स्वीकार करने से ही 'गुणात् यणादेशोऽन्तरङ्गत्वात्' इस कथन का उदाहरण भाष्यकार ने 'स्योनः' यह प्रयोग दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि 'सि-ऊन' इस स्थिति में गुण के लिये नकारपर्यन्तसमुदाय की जहाँ अपेक्षा हो रही है वहाँ यण् का निमित्त उकाररूपी शब्द, गुण के निमित्त के अन्तर्भूत हो जाता है। इसलिये यहाँ अन्तरङ्गत्वात् गुण को बाध कर यणादेश हो जाता है।

भाष्यकार ने ऐसा नहीं कहा कि 'गुणादूडन्तरङ्गत्वात्' अर्थात् गुण को बाधकर अन्तरङ्गत्वात् ऊठ् होता है ऐसा भाष्यकार ने नहीं कहा। यदि संज्ञापेक्ष की बहिरङ्गता होती तो 'सिव्-न' इसी स्थिति में गुण को बाध कर अन्तरङ्गत्वात् ऊठ् होता है ऐसा भाष्यकार को कहना चाहिये था। अथवा यण् और गुण की अपेक्षा प्राथमिक

प्राप्ति ऊठ् और गुण की साथ में होती है, इसलिये संज्ञापेक्ष बहिरङ्गत्व की स्थिति में प्राथम्यात् भाष्यकार को यही कहना उचित होता कि गुण की अपेक्षा अन्तरङ्गत्वात् ऊठ् होता है।

मम तु=मेरे मत के अनुसार तो संज्ञाकृतबहिरङ्गत्व के अभाव के कारण अन्तरङ्ग परिभाषा के द्वारा तद्वारणासम्भवात्=ऊठ् की अपेक्षा गुण का वारण असम्भव होने के कारण 'गुणादूडन्तरङ्गत्वात्' ऐसा भाष्यकार ने नहीं कहा।

किञ्च सिद्धान्ते नित्यत्वाद् गुणात्पूर्वमूठ्, गुणस्तु ऊठि यणाबाधित-त्वादनित्यः। ऊनशब्दमाश्रित्येत्यादिभाष्येण च परिभाषायामङ्गःशब्देन सप्तम्याद्यन्ततयोपात्तं शब्दरूपं निमित्तमेव गृह्यत इति स्पष्टमेवोक्तम्।

यत्तु कैयटेन तदन्तविधिपक्षे परत्वाद् गुणः प्राप्नोतीत्युक्तं तत्तु न शब्द-माश्रित्येत्यादिभाष्यासङ्गत्या चिन्त्यम्।

यहाँ एक यह शंका होती है कि भाष्यकार ने 'गुणात् यणादेशोऽन्तरङ्गत्वात्' जो कहा है इस भाष्योक्ति की संगति के लिये गुण की अपेक्षा ऊठ् की प्रवृत्ति पहले आवश्यक है, क्योंकि पहले ऊठ् हो जाने पर ही 'सि-ऊ-न' इस स्थिति में सि घटक इकार को गुण तथा उसी इकार को यण् ये दोनों कार्य साथ ही प्राप्त होंगे, जिसमें अन्तरङ्गत्वात् यण् का होना यहाँ वाञ्छित है। इसलिये गुण की अपेक्षा ऊठ् की स्थिति सिद्धान्तपक्ष में किस प्रकार होती है। इस प्रकार की शंका उपस्थित होने पर 'किञ्च' इस शब्द के द्वारा ग्रन्थकार ने सिद्धान्तपक्ष का उल्लेख करते हुए कहा कि 'सिव्-न' इस स्थिति में इकार को लघूपध गुण और ऊठ् ये दोनों जब साथ ही प्राप्त होते हैं तो इन दोनों में ऊठ् नित्य होने के कारण गुण को बाध लेता है। गुण की अपेक्षा ऊठ् इसलिये नित्य है कि इकार को गुण करने और न करने इन दोनों स्थितियों में ऊठ् की प्राप्ति है। किन्तु गुण की स्थिति इससे भिन्न है क्योंकि ऊठ् के साथ प्राप्त होने वाला गुण, ऊठ् होने के बाद यण् से बाधित होने के कारण पुनः प्राप्त नहीं होता, इसलिये गुण अनित्य है।

इस प्रकार 'सिव्+न' इस स्थिति में नित्यत्वात् गुण से पहले ऊठ् हो जाता है। इसके बाद यण् और गुण की प्राप्ति साथ में होती है, जहाँ अन्तरङ्गत्वात् यणादेश हो जाता है। गुण की अपेक्षा यण की अन्तरङ्गता शब्दरूपी निमित्त के आधार पर ही होती है। 'सि-ऊन' इस स्थिति में 'ऊ' शब्द यण् का निमित्त है और न शब्द गुण का निमित्त। गुण के निमित्त के भीतर या पहले आने के कारण यण् का निमित्त उसके अन्तर्भूत होता है।

भाष्यकार ने 'ऊन शब्दमाश्रित्य' ऐसा कह कर यह स्पष्ट कर दिया है कि परिभाषा में अङ्ग शब्द से शब्दरूपी निमित्त लिया जाता है। वह शब्दरूपी निमित्त तत्तद् सूत्रों में सप्तम्यन्त या पञ्चम्यन्त पद के रूप में उपात्त होता है।

कैयट ने 'इको यणचि' सूत्र में तदन्तविधि के पक्ष में जो यह कहा था कि 'सि ऊन' इस स्थिति में परत्वात् गुण प्राप्त होता है यह कैयट का कथन भाष्य की असंगति के कारण चिन्त्य है। भाष्यकार ने वहाँ कहा है कि ऊन शब्द के आधार पर यण और न शब्द के आधार पर गुण प्राप्त होता है। इससे सिद्ध होता है कि भाष्यकार यहाँ अन्तरङ्गत्वात् गुण की प्राप्ति दिखा रहे हैं और कैयट उसे परत्वात् बतला रहे हैं। इस प्रकार कैयट के अनुसार भाष्य की संगति नहीं हो रही है। इसलिये 'परत्वात् गुणः प्राप्नोति' यह कैयटोक्ति चिन्त्य ही है।

वलिलोपेऽन्तरङ्गपरिभाषा न प्रवर्तत इति तु न युक्तम्, तत्सूत्रे भाष्य एव व्रश्चादिषु लोपातिप्रसङ्गमाशङ्क्योपदेशसामर्थ्यान्न। न च 'वृश्चती'त्यादौ चारितार्थ्यम्, बहिरङ्गतया सम्प्रसारणस्यासिद्धत्वेन पूर्वमेव तत्प्राप्तेरिति भाष्योक्तेः।

अब यहाँ एक यह विचार प्रस्तुत होता है कि 'लोपोव्योर्वलि' इस सूत्र से वल् पर में रहने पर वकार और यकार का लोप जब कर्त्तव्य हो तो वहाँ अन्तरङ्ग परिभाषा प्रवृत्त होती है या नहीं ? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर कुछ लोगों का कहना है कि वलिलोप में अन्तरङ्ग परिभाषा नहीं लगती है। इस कथन की पुष्टि में 'चेले क्नोपेः' इस सूत्र का 'क्नोपेः' यह निर्देश प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया जाता है। क्नूय् धातु से णिच् प्रत्यय और पुक् करके यलोप और पुगन्त सूत्र से गुणादि प्रक्रिया के द्वारा 'क्नोपेः' यह निर्देश बनता है।

यदि वलिलोप में अन्तरङ्गपरिभाषा लगती तो अन्तरङ्ग यलोप की कर्त्तव्यता में बहिरङ्ग पुक् असिद्ध हो जाता तो यकार का लोप नहीं होता, जिससे उक्त निर्देश असंगत हो जाता। इसलिये वलिलोप में अन्तरङ्ग परिभाषा नहीं लगती, ऐसा स्वीकार करना चाहिये। इसलिये यलोप की दृष्टि में पुक् असिद्ध नहीं होता जिससे यलोप करके उक्त निर्देश संगत होता है।

नागेशभट्ट इस बात से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए लिख रहे हैं कि वलिलोप में अन्तरङ्ग परिभाषा नहीं लगती, यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि वलिलोपविधायक सूत्र के भाष्य में ही 'व्रश्चन' इस प्रयोग में वलिलोप की आशंका करके भाष्यकार ने यह समाधान दिया कि वकार का उपदेश धातु में किया गया है, तत्सामर्थ्यात् उसका लोप नहीं होगा। यदि वकार का लोप हो जाय तो उसका उच्चारण ही व्यर्थ हो जायेगा। यदि कहा जाय कि 'वृश्चति' इस प्रयोग में जहाँ रकार का सम्प्रसारण हो जाने के कारण 'वल्' पर में न मिलने के कारण लोप की प्राप्ति नहीं है वहाँ वकारोच्चारण सार्थक है, अतः तत्सामर्थ्यात् लोप का

निवारण नहीं किया जा सकता, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'व्रश्च+ति' इस स्थिति में वलिलोप और सम्प्रसारण इन दोनों की साथ ही प्राप्ति होने पर अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति होती है जिससे बहिर्भूतनिमित्तक बहिरङ्ग सम्प्रसारण असिद्ध हो जाता है, और वलिलोप की प्राप्ति सुस्थिर रह जाती है। इस लोप का निवारण उच्चारणसामर्थ्यात् ही करना होता है।

इसलिये 'वलिलोप' में अन्तरङ्गपरिभाषा की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में यह तथ्य स्वीकार करना चाहिये कि जहाँ अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग ये दोनों साथ ही प्राप्त हों वहाँ वलिलोप में अन्तरङ्ग परिभाषा लगती है। जैसे 'वृश्चति' इस प्रयोग में भाष्यकार ने लगाया है।

जहाँ पर बहिरङ्ग शास्त्र लग चुका होता है, उस जातबहिरङ्ग स्थल में वलिलोप में अन्तरङ्ग परिभाषा नहीं लगती है। जैसे—'यायावरः याति' इन प्रयोगों में 'यायाय+वर' 'यायाय+ति' इस स्थिति में 'अतो लोपः' इस सूत्र से अकार का लोप करने के बाद 'लोपो व्योर्वलि' सूत्र से यकार का लोप करने की स्थिति में जातबहिरङ्ग अकार का लोप अन्तरङ्ग परिभाषा के द्वारा असिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि परिभाषा यहाँ लगी ही नहीं। इसलिये यकार का लोप करके 'यायावरो याति' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि की जाती है।

यत्तु नलोपस्य षट्संज्ञायामसिद्धत्वात् 'पञ्चे'त्यत्र 'न षट्' (४-१-१०) इति निषेध इति। तच्चिन्त्यम्। नलोपस्य हि पदसंज्ञासापेक्षत्वेन बहिरङ्गत्वं वाच्यम्। तच्च न, संज्ञाकृतबहिरङ्गत्वस्यानाश्रयणात्। 'पञ्चे'त्यत्र निषेधस्तु स्त्रियां यत् प्राप्नोति तन्नेति व्याख्यानसामर्थ्येन भूतपूर्वषट्त्वमादायेति बोध्यम्।

अत एव कृति तुग्ग्रहणं चरितार्थम्। 'वृत्रहभ्या'मित्यादौ पदत्वनिमित्तकत्वेऽपि नलोपस्य बहिरङ्गत्वाभावात्। भ्यामः पदसंज्ञानिमित्तत्वेऽपि नलोपस्य तन्निमित्तकत्वाभावात्। परम्परया निमित्तत्वमादाय बहिरङ्गत्वाश्रयणे तु न मानम्। ध्वनितं चेदं 'नलोपः सुप्' (८-२-२) इति सूत्रे भाष्य इति तत्रैव भाष्यप्रदीपोद्योते निरूपितम्।

अब यहाँ एक यह विचार किया जा रहा है कि 'पञ्चन्' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में जस् विभक्ति लाकर 'पञ्च' ऐसा रूप बनने पर अदन्तत्वात् 'टाप्' क्यों नहीं होता? यदि कहा जाय कि 'न षड्स्वस्रादिभ्यः' इस सूत्र से निषेध होने के कारण टाप् नहीं होगा, तो यह कहना संगत नहीं है, क्योंकि इस समय पञ्चन् शब्द नकारान्त नहीं है जिससे उसकी षट्संज्ञा करके टाप् का निषेध किया जाय। इस स्थिति में किसी का कहना है कि कार्यकालपक्ष में जब षट्संज्ञा करने चलेंगे तब षट्संज्ञा की दृष्टि से

न लोप असिद्ध हो जायेगा। इसलिये नान्त मिलने के कारण षट्संज्ञा हो जायेगी, जिससे 'न षड्' सूत्र से टाप् का निषेध हो जायेगा। किन्तु यह कथन भी चिन्त्य है, क्योंकि षट्संज्ञा के प्रति नलोप की बहिरङ्गता पदसंज्ञासापेक्ष होने के आधार पर ही कही जा सकती है, जो कि सम्भव नहीं है, क्योंकि संज्ञाकृत बहिरङ्गत्व का आश्रयण किया ही नहीं जाता है। इसलिये पदसंज्ञासापेक्ष नलोप बहिरङ्ग नहीं कहा जा सकता। तस्मात् 'पञ्च' इस प्रयोग में टाप् का वारण भूतपूर्व षट्त्व के आधार पर करना चाहिये। पञ्च में भूतपूर्व षट्त्व आनुमानिकस्थानिवद् के द्वारा लाया जा सकता है। 'न षड्स्वस्रादिभ्यः' का व्याख्यान ऐसा किया जाता है कि षट् संज्ञक और स्वस्रादिशब्दों से स्त्रीलिङ्ग में जो जो प्राप्त होता है वह न हो। इस प्रकार पञ्च में टाप् का निषेध होता है।

अत एव=संज्ञाकृतबहिरङ्गत्व का अनाश्रयण करने से ही 'नलोपः सुप्स्वर' इत्यादि सूत्र में 'कृतितुग्ग्रहण' चारितार्थ होता है। कृतितुग्ग्रहण का तात्पर्य यह है कि कृत् प्रत्यय को पर में मानकर जहाँ तुग्विधि करनी हो, वहाँ नलोप असिद्ध हो जाता है। 'वृत्रहभ्याम्' इसका उदाहरण है। वृत्र पूर्वक हन् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'वृत्रहन्' शब्द बनता है। इस शब्द से 'भ्याम्' विभक्ति लाने पर प्रकृति की पदसंज्ञा करके नलोप कर देने पर 'वृत्रह + भ्याम्' इस स्थिति में 'ह्रस्वस्य पितिकृति' सूत्र से तुक् प्राप्त होता है। इस तुक् के वारण के लिये 'कृतितुग्ग्रहण' के द्वारा न लोप को असिद्ध किया जाता है। यदि संज्ञाकृतबहिरङ्गत्व लिया जाता तो नलोप पदसंज्ञानिमित्तक होने के कारण बहिरङ्ग हो जाता इस प्रकार अन्तरङ्ग परिभाषा के द्वारा ही नलोप असिद्ध हो जाता, जिससे तुक् की प्राप्ति स्वयमेव नहीं होती। ऐसी स्थिति में 'कृतितुग्ग्रहण' व्यर्थ हो जाता। इस प्रकार संज्ञाकृतबहिरङ्गत्व के अनाश्रयण से ही कृतितुग्ग्रहण की सार्थकता होती है।

यदि कहा जाय कि संज्ञाकृतबहिरङ्गत्व का आश्रयण न करने पर भी नलोप बहिरङ्ग हो सकता है, क्योंकि नकार का लोप पदसंज्ञा के कारण होता है और पदसंज्ञा यहाँ 'भ्याम्' के कारण हुई है। इस प्रकार नलोप में 'भ्याम्' यह शब्द कारण होता है। इसकी अपेक्षा तुक का निमित्त अन्तर्भूत है, इसलिये तुक् की दृष्टि में नलोप बहिरङ्गत्वात् असिद्ध हो जायेगा, जिससे तुक् की प्राप्ति यहाँ नहीं होगी। ऐसी स्थिति में कृतितुग्ग्रहण की क्या आवश्यकता रह जाती है? इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हुए मूल में लिखा गया है कि यद्यपि भ्याम् पदसंज्ञा में निमित्त है, तथापि नलोप, भ्याम्निमित्तक नहीं है। भ्याम्, पदसंज्ञा में निमित्त और पदसंज्ञा नलोप में निमित्त, इस प्रकार भ्याम् की नलोप के प्रति परम्परया निमित्तता तो है ही, यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि परम्परया किसी को निमित्त बनाकर बहि-

बहिरङ्गत्वाश्रयण में कोई प्रमाण नहीं है। यह बात 'नलोपः सुप्' सूत्र के भाष्य में ध्वनित है। इस बात का निरूपण वहीं भाष्य के प्रदीप और उद्योत में किया गया है।

अन्तरङ्गे कर्त्तव्ये जातं, तत्कालप्राप्तिकञ्च बहिरङ्गमसिद्धमित्यर्थः। वृश्चादिषु पदसंस्कारपक्षे समानकालत्वमेव द्वयोरिति बोध्यम्।

एतेनान्तरङ्गं बहिरङ्गाद् बलीय इति परिभाषान्तरमित्यपास्तम्। एनामाश्रित्य विप्रतिषेधसूत्रे भाष्ये तस्याः प्रत्याख्यानाच्च।

अन्तरङ्गशास्त्र की कर्त्तव्यता में जातबहिरङ्ग और तत्कालप्राप्त (अन्तरङ्ग के साथ प्राप्त) बहिरङ्ग ये दोनों प्रकार के बहिरङ्ग असिद्ध हो जाते हैं।

इनमें जातबहिरङ्ग के असिद्धत्व का उदाहरण 'पचावेदम्' यह प्रयोग है। यहाँ 'पचाव + इदम्' इस स्थिति में गुण एकादेश करने पर पूर्वान्तवद्भाव से एकार में लोडुत्तमत्व का आनयन करके 'एत ऐ' सूत्र से एकार को ऐकार प्राप्त रहता है। यह एकारादेश अन्तरङ्ग है और इसकी अपेक्षा पदद्वय-सम्बन्धी वर्णद्वयनिमित्तक होने के कारण गुण बहिरङ्ग है। यह बहिरङ्ग गुण यहाँ जात है। इसलिये अन्तरङ्ग 'एत ऐ' की कर्त्तव्यता में यह जात बहिरङ्ग हो जाता है, इसलिये एकार को ऐकार नहीं होता।

समकालप्राप्त बहिरङ्ग का उदाहरण 'वृश्चति' यह प्रयोग है। यहाँ 'व्रश्च + ति' इस स्थिति में वलोप और सम्प्रसारण दोनों समकाल में प्राप्त होते हैं। अन्तर्भूतनिमित्तक होने के कारण वलोप यहाँ अन्तरङ्ग है। इसकी दृष्टि में सम्प्रसारण असिद्ध हो जाता है, जिससे वलोप की प्राप्ति होती है; इसका वारण वकारोच्चारण सामर्थ्यात् किया जाता है।

यहाँ एक यह शंका होती है कि 'वृश्चति' इस प्रयोग में लकारादि करने के पहले ही वकार का लोप प्राप्त है और सम्प्रसारण की प्राप्ति तो लकारादि के आने के बाद होती है। ऐसी स्थिति में इसे समकालप्राप्तबहिरङ्ग का उदाहरण किस प्रकार कहा जाय। इसे जातबहिरङ्ग का भी उदाहरण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सम्प्रसारण पहले हुआ भी नहीं है। इस प्रकार की शंका में मूल में कहा गया है 'वृश्च' आदि स्थलों में पदसंस्कारपक्ष में दोनों कार्यों की समकालप्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि 'वृश्चति' यह पद उच्चारण करके पीछे इसका जब साधुत्व करने चलते हैं, तब 'व्रश्च + ति' इस स्थिति में तौदादिक श प्रत्यय करने के बाद 'व्रश्च-अ-ति' इस स्थिति में वलोप और सम्प्रसारण दोनों साथ ही प्राप्त होते हैं। इसलिये इसे समकालप्राप्तबहिरङ्ग का उदाहरण कहना उचित ही है।

एतेन=इस एक ही परिभाषा से जात और समकालप्राप्त दोनों प्रकार के बहिरङ्गों के असिद्ध करने के कारण समकालप्राप्तबहिरङ्ग के असिद्धत्व की

बोधिका 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गाद् बलीयः' यह दूसरी परिभाषा है ऐसा कहने वाले परास्त हो गये। कारण यह है कि अंशद्वयवती एक ही परिभाषा है, इसलिये पृथक् पृथक् दो परिभाषाओं का मानना व्यर्थ ही है।

अन्तरङ्गशास्त्रत्वमस्या लिङ्गम्।

अन्तरङ्गशास्त्रत्व इस परिभाषा का लिङ्ग है। तात्पर्य यह है कि यह परिभाषा वहीं लगती है जहाँ अन्तरङ्ग शास्त्रत्वेन रूपेण अन्तरङ्गशास्त्र का ज्ञान हो। इसका फल यह होता है कि यदि अन्तरङ्गशास्त्र त्रैपादिक हो तो वह सपादसप्ताध्याय की इस परिभाषा की दृष्टि से स्वयं असिद्ध हो जाता है, इसलिये यह परिभाषा उसके प्रति बहिरङ्ग का असिद्धत्वबोधन नहीं करती है। यह परिभाषा 'वाह ऊठ्' सूत्र के ऊठ् ग्रहण से ज्ञापित होने के कारण सापादिक है। इसलिये 'पूर्वत्रासिद्धम्' इस सूत्र के द्वारा इस परिभाषा के अन्तरङ्गशास्त्र असिद्ध हो जाता है। यदि अन्तरङ्ग शास्त्रत्व को इस परिभाषा का लिङ्ग न मानकर अन्तरङ्गत्व को इस परिभाषा का लिङ्ग माना जाता तो जहाँ त्रैपादिक अन्तरङ्ग होता, वह इस परिभाषा की दृष्टि में 'पूर्वत्रासिद्धम्' से असिद्ध नहीं होता, क्योंकि 'पूर्वत्रासिद्धम्' से शास्त्र को असिद्ध किया जाता है न कि अन्तरङ्ग को। इसका परिणाम यह होता कि इस परिभाषा की प्रवृत्ति त्रैपादिक में होने लगती, जो कि अभिप्रेत नहीं है। इसलिये अन्तरङ्गशास्त्रत्व ही इस परिभाषा का लिङ्ग (प्रवृत्ति का चिह्न) है, ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

इयं च त्रिपाद्यां न प्रवर्त्तते, त्रिपाद्या असिद्धत्वात्। अस्याश्च 'वाह ऊठ्' सूत्रस्थमूङ्ग्रहणं ज्ञापकमित्येषा सपादसप्ताध्यायीस्था। अन्यथा सम्प्रसारणमात्रविधानेन लघूपधगुणे 'वृद्धिरेचि' (६-१-८८) इति वृद्धौ 'विश्वौह' इत्यादिसिद्धेस्तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। सत्यां ह्येतस्यां बहिरङ्गसम्प्रसारणस्यासिद्धत्वाल्लघूपधगुणो न स्यात्। न च 'पुगन्त' (७-३-८६) इति सूत्रं निमित्तमिको विशेषणमत एव 'भिनत्ती'त्यादौ न गुणः, एवञ्च 'नाजानन्तर्ये' (प० ५१) इति निषेधात्कथं परिभाषाप्रवृत्तिरिति वाच्यम्? प्रत्ययस्याङ्गांश उत्थिताकाङ्क्षत्वेन तत्रैवान्वयात्। पुगन्तेत्यादौ कर्मधारयाश्रयणेन प्रत्ययपराङ्गावयवलघूपधारूपेको गुण इति 'इको गुणवृद्धी' (१-१-३) इति सूत्रभाष्यसम्मतेऽर्थे भिनत्तीत्यादावदोषाच्च।

यह परिभाषा त्रिपादी सूत्रों में नहीं लगती, क्योंकि त्रिपादीसूत्र सपादसप्ताध्यायी इस परिभाषा की दृष्टि में असिद्ध हो जाते हैं। 'वाह ऊठ्' (६।४।१३२) सूत्र जो कि सापादिक है उसके ऊठ् ग्रहण से यह परिभाषा ज्ञापित है, इसलिये यह परिभाषा सपादसप्ताध्यायीस्था है।

ऊठ्ग्रहण से परिभाषा के ज्ञापन के प्रकार का उल्लेख करते हुए लिख रहे हैं— अन्यथा=अन्तरङ्ग परिभाषा के अभाव में 'वाहः' इतना मात्र ही सूत्र करके इसके द्वारा सम्प्रसारणमात्र का ही विधान करने से 'विश्ववाह्+अस्' इस स्थिति में सम्प्रसारण के द्वारा वकार को उकार करके, पूर्वरूप करने के बाद प्रत्ययलक्षण करके 'ण्वि' प्रत्ययनिमित्तक लघूपधगुण करने पर 'विश्व-ओ-ह्+अस्' इस स्थिति में 'वृद्धिरेचि' सूत्र से वृद्धि कर देने से 'विश्वौहः' इस प्रयोग की सिद्धि जब सम्भव है तो 'वाह ऊठ्' सूत्र में 'ऊठ्ग्रहण' की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार 'ऊठ्ग्रहण' व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है। इस परिभाषा के ज्ञापन के बाद अन्तरङ्ग लघूपधगुण की दृष्टि में बहिरङ्ग सम्प्रसारण के असिद्ध हो जाने के कारण लघूपधगुण नहीं हो सकता था, जिससे उक्तरूप की सिद्धि नहीं होती। इसलिये 'विश्वौहः' रूप की सिद्धि के लिये ऊठ्ग्रहण की सार्थकता होती है।

अब यहाँ यह शंका हो रही है कि 'ऊठ्ग्रहणपरिभाषा' का ज्ञापक होने पर भी स्वांश में चरितार्थ नहीं हो रहा है, क्योंकि—लघूपधगुणविधायक 'पुगन्तलघूपधस्य' इस सूत्र में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' यह निमित्तवाचकपद इक् का विशेषण है। ऐसा स्वीकार करने का फल यह होगा कि सार्वधातुकार्धधातुकाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट इक् को गुण हो, ऐसा सूत्रार्थ होगा। इसीलिये 'भिनत्ति' इस प्रयोग में 'भिनद्+ति' इस स्थिति में सार्वधातुकाव्यवहित-पूर्वत्वविशिष्ट इक् के न होने के कारण लघूपध-गुण नहीं होता है। इक् की जगह यदि निमित्त अङ्ग का विशेषण होता तो 'सार्वधातु-कार्धधातुकाव्यवहित-पूर्वत्वविशिष्ट अङ्ग के अवयव इक् को गुण हो' ऐसा सूत्रार्थ करने पर 'भिनत्ति' में लघूपधगुण होने लगता। इसलिये उक्त सूत्र में निमित्त इक् का ही विशेषण है, ऐसा मानना चाहिये। ऐसी स्थिति में जबकि निमित्त को इक् का विशेषण मान लिया गया तो 'सार्वधातुकार्धधातुकाव्यवहित-पूर्वत्वविशिष्ट इक् को गुणरूपी कार्य अच् निष्ठान्यानन्तर्य निमित्तक अन्तरङ्ग कार्य हो जाता है। इस कार्य की कर्त्तव्यता में 'नाजानन्तर्ये' इस परिभाषा के द्वारा निषेध हो जाने के कारण 'अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। फलस्वरूप सम्प्रसारण असिद्ध नहीं होगा और लघूपधगुण और वृद्धि होकर 'विश्वौहः' प्रयोग की सिद्धि हो जायेगी तो ऊठ् ग्रहण की क्या आवश्यकता रह जाती है ? इस शंका का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि प्रत्यय की अङ्ग अंश में उत्थिताकांक्षा रहती है, इसलिये निमित्त का अन्वय अङ्ग के साथ में ही होगा। इसका फल यह होगा कि 'नाजा-नन्तर्ये' इस परिभाषा की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होगी। इसलिये ऊठ्ग्रहण की सार्थकता हो जाती है।

प्रत्यय को अङ्ग का विशेषण करने में 'भिनत्ति' का दोष रह जाता है। इसका उत्तर ग्रन्थकार इस प्रकार देते हैं कि 'लघूपधा' शब्द में 'लघ्वी चासौ उपधा इति

लघूपधा' इस प्रकार का कर्मधारय समास है। इसलिये 'सार्वधातुकार्धधातुकाव्यवहित-पूर्वत्वविशिष्ट जो अंग तदवयवीभूत जो लघूपधा रूपी इक् उसे गुण होता है, ऐसा सूत्रार्थ होगा। इसका परिणाम यह होगा कि 'भिनत्ति' इस प्रयोग में उपधारूपी इक् के न होने के कारण दोष का वारण हो जायेगा।

अकारान्तोपसर्गेऽनकारान्ते चोपपदे वहेर्वाहेर्वा ण्विविचावनभिधानान्न स्त एव। वार्यूहेत्यादि तूहतेः क्विपि बोध्यम्। धातूनामनेकार्थत्वान्नार्थासङ्गतिः। 'प्रौह' इत्याद्यसाध्वेव, वृद्धेरप्राप्तेः। अस्योहस्यानर्थक्यात् न 'प्रादूहोढः' (६-१-८९ वा०-३) इत्यस्यापि प्रवृत्तिः।

यहाँ अब यह शंका हो रही है कि फलभेद होने के कारण सम्प्रसारण के द्वारा विश्वौहः' इस प्रयोग की सिद्धि का आश्रयण करके ऊठ् ग्रहण की व्यर्थता और उसके द्वारा प्रस्तुत परिभाषा का ज्ञापन करना ये दोनों बातें असंगत हैं, क्योंकि प्र पूर्वक वह् धातु से ण्वि प्रत्यय, उपधा वृद्धि करके प्रवाह् शब्द से शस् विभक्ति लाने पर 'प्रवाह+शस्' इस स्थिति में सम्प्रसारण, पूर्वरूप और लघूपधगुण करने पर 'प्र-ओह्-अस्' इस स्थिति में प्राप्त 'वृद्धिरेचि' के वृद्धि को बाधकर 'एङि पररूपम्' इस सूत्र से पररूप करने पर 'प्रोहः' यह रूप बन रहा है। यदि 'वाह ऊठ्' इस सूत्र में ऊठ् ग्रहण रहता है तो वृद्धि होकर 'प्रौहः' यह रूप बनता है। इसी प्रकार वारिपूर्वक वाहि धातु से विच् प्रत्यय करके 'वारिवाह्' शब्द से शस् विभक्ति लाने पर 'सम्प्रसारण' पक्ष में सम्प्रसारणपूर्वरूप और लघूपध गुण करके 'वारि-ओह्-अस्' इस स्थिति में यण् करके 'वार्योहः' रूप की सिद्धि हो रही है। दूसरी ओर ऊठ्ग्रहणपक्ष में 'वारि+ऊह्+अस्' इस स्थिति में यण् करने पर 'वार्यूहः' इस प्रयोग की सिद्धि हो रही है। इस प्रकार ऊठ्ग्रहणपक्ष और सम्प्रसारणपक्ष इन दोनों पक्षों में फलभेद स्पष्ट है। ऐसी स्थिति में ऊठ्ग्रहण को व्यर्थ करके परिभाषा का ज्ञापन किस प्रकार सम्भव है? इस शंका के उत्तर में मूल में लिख रहे हैं कि—अकारान्त उपसर्ग और अकारान्त भिन्न उपपद को पूर्व में रख कर वह् धातु अथवा वाह् धातु से ण्वि और विच् प्रत्यय अनभिधान के कारण नहीं होते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों स्थलों को लेकर जो फलभेद उपस्थित था, उसका समाधान हो जाता है। किन्तु अब एक दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि जब अकारान्तोपसर्ग वह् धातु से ण्वि प्रत्यय, तथा अनकारान्त पूर्वपद रहते हुए वाह् धातु से विच् प्रत्यय नहीं होता तो 'वार्यूहः' और 'प्रौहः' ये दोनों प्रयोग किस प्रकार सिद्ध होंगे? इस शंका के उत्तर में लिखा गया है कि 'वार्यूहः' प्रयोग तो 'ऊह्' धातु से क्विप् प्रत्यय करके 'वारि+ऊह्' इस स्थिति में यण् करके शस् विभक्ति में समझना चाहिये। यदि कहा जाय कि 'वारिवाह्' शब्द से बना हुआ जो 'वार्यूहः' रूप है उसका अर्थ है वारिवहन करने वालों

को, और 'ऊह् वितर्के' से बना हुआ ऊह् शब्द के संयोग से बने हुए 'वार्यूहः' का अर्थ इससे भिन्न होगा। ऐसी स्थिति में ऊह् वितर्के वाले ऊह् से किस प्रकार कार्य चलाया जा सकता है ? तो इस शंका के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि 'धातूनामनेकार्थत्वात्' अर्थात् धातु अनेकार्थक होते हैं, इसलिये अर्थ की असंगति नहीं होगी।

यदि कहा जाय कि इस प्रकार किसी तरह 'वार्यूहः' की सिद्धि हो जाने पर भी 'प्रौहः' प्रयोग की सिद्धि किस प्रकार होगी ? क्योंकि क्विप् प्रत्यय से निष्पन्न ऊह् शब्द तो हलन्त होता है। इस हलन्त ऊह् में तो 'प्रादूहोढ' इस वार्तिक की प्रवृत्ति होगी ही नहीं, क्योंकि वह सार्थक और घञ् प्रत्यय से निष्पन्न अकारान्त 'ऊह' शब्द को पर में मानकर प्रवृत्त होता है। यदि कहा जाय कि हलन्त ऊह् का जस्, शस् विभक्तियों में जो 'ऊहः' ऐसा रूप बनता है, उसे पर में मानकर 'प्रादूहोढ' इस वार्तिक की प्रवृत्ति हो सकती है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि 'ऊहः'घटक जो विसर्गरहित अकारान्त 'ऊह' है वह अनर्थक है और साथ ही कृदन्त भी नहीं है। इसलिये ऐसे अनर्थक ऊह् को पर में मानकर 'प्रादूहोढ' इस वार्तिक की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। इसलिये क्विप् प्रत्यय से निष्पन्न 'ऊह्' शब्द को पर में मानकर वृद्धि की प्राप्ति न होने के कारण 'प्रौहः' इत्यादि प्रयोग असाधु ही हैं।

न च कार्यकालपक्षे त्रिपाद्यामेतत्प्रवृत्तिर्दुर्वारेति वाच्यम्, पूर्वं प्रति परस्यासिद्धत्वादन्तरङ्गाभावेन पूर्वस्य तन्निरूपितबहिरङ्गत्वाभावात्तया तस्यासिद्धत्वप्रतिपादनासम्भवात्। न चानया पूर्वस्यासिद्धत्वादभावेन तं प्रति परासिद्धत्वं 'पूर्वत्र' (८–२–१) इत्यनेन वक्तुमशक्यमिति वाच्यम्, एवं हि विनिगमनाविरहादुभयोरप्यप्रवृत्त्यापत्तेः। किञ्च पूर्वत्रेत्यस्य प्रत्यक्षत्वेन तेनाऽऽनुमानिक्या अस्या बाध एवोचितः। अतः कार्यकालपक्षेऽपि त्रिपाद्यामस्या अनुपस्थितिरेव।

अब यहाँ यह विचार किया जा रहा है कि 'अन्तरङ्ग परिभाषा' 'वाह ऊठ्' के ऊठ् ग्रहण से ज्ञापित होने के कारण षाष्ठी अर्थात् सपादसप्ताध्यायीस्था है। इसलिये इसके प्रति त्रिपादी सूत्रों के असिद्ध हो जाने के कारण यथोद्देश पक्ष में यह परिभाषा त्रिपादी सूत्रों में नहीं लगती है। किन्तु कार्यकाल पक्ष में जब कि परिभाषाओं का विधिदेश ही देश हो जाता है, उस पक्ष में 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र के पूर्वशब्द से यह परिभाषा नहीं ली जायेगी। इस स्थिति में इस परिभाषा के प्रति त्रैपादिक सूत्र सिद्ध ही रहेंगे, इसलिये कार्यकालपक्ष में त्रिपादी सूत्रों में इस परिभाषा की प्रवृत्ति दुर्वार है, इस प्रकार प्राचीन मतानुसार शंका होने पर नागेशभट्ट का कहना है कि यथोद्देश पक्ष की भाँति कार्यकालपक्ष में भी अन्तरङ्ग परिभाषा त्रिपादी सूत्रों में नहीं लगती है। अपने इस कथन की सम्पुष्टि में युक्ति प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार

का कहना है कि पूर्व के प्रति पर के असिद्ध हो जाने के कारण अन्तरङ्ग के अभाव होने से पूर्वशास्त्र में तन्निरूपित बहिरङ्गत्व का भी अभाव हो जायेगा, इसलिये तया= इस परिभाषा के द्वारा बहिरङ्ग की असिद्धता का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। इस बात को उदाहरण के द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि जहाँ एक त्रैपादिक परशास्त्र अन्तरङ्ग है और उसके प्रति पूर्व त्रिपादी अथवा सपादसप्ताध्यायी सूत्र बहिरङ्ग है वहाँ 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र से पूर्वम् प्रति=अर्थात् सापादिक अथवा पूर्व त्रिपादी बहिरङ्ग के प्रति परस्य=परत्रिपादी रूप अन्तरङ्ग के असिद्ध हो जाने के कारण जब अन्तरङ्ग का ही अभाव हो गया तब पूर्वस्य=सापादिक अथवा पूर्व त्रैपादिकशास्त्र में तन्निरूपित बहिरङ्गत्व का भी अभाव हो गया, इसलिये कार्यकाल-पक्ष में विधिदेश में जाने पर भी इस परिभाषा से तस्य=सापादिक अथवा पूर्व त्रैपादिक बहिरङ्ग की असिद्धता का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। इसलिये कार्यकाल-पक्ष में भी इस परिभाषा की त्रिपादी सूत्रों में प्रवृत्ति नहीं होती है।

यदि कहा जाय कि उपर्युक्त स्थल में 'पूर्वत्रासिद्धम्' की प्रवृत्ति के पहले ही अन्तरङ्ग परिभाषा से त्रैपादिक अन्तरङ्गशास्त्र के प्रति पूर्वस्य=सापादिक अथवा पूर्व त्रिपादी बहिरङ्ग की असिद्धता हो जायेगी। ऐसी स्थिति में अभावेन=पूर्व (सापादिक अथवा पूर्वत्रिपादी बहिरङ्ग) के अभाव होने के कारण 'पूर्वत्रासिद्धम्' के पूर्व शब्द से इनका ग्रहण नहीं हो सकेगा, इसलिये इनके प्रति परशास्त्र (त्रैपादिक अन्तरङ्गशास्त्र) की असिद्धता 'पूर्वत्रासिद्धम्' के द्वारा नहीं कही जा सकती, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसे स्थल पर 'पूर्वत्रासिद्धम्' इस सूत्र से बहिरङ्ग पूर्वशास्त्र की दृष्टि में अन्तरङ्ग परशास्त्र को असिद्ध किया जाय; अथवा अन्तरङ्गपरिभाषा के द्वारा परत्रैपादिकअन्तरङ्ग के प्रति सापादिकबहिरंग और पूर्वत्रैपादिकबहिरङ्ग को असिद्ध किया जाय, इन दोनों विकल्पों के प्रस्तुत होने पर किसी विनिगमक के न होने के कारण उभयोरपि='पूर्वत्रासिद्धम्' और अन्तरङ्ग परिभाषा इन दोनों की ही अप्रवृत्ति की आपत्ति हो जायेगी। अर्थात् दोनों में कोई नहीं लगेगा। दूसरी बात यह है कि 'पूर्वत्रासिद्धम्' यह प्रत्यक्षश्रुत सूत्र है और अन्तरङ्गपरिभाषा ऊठ्-ग्रहणज्ञापित होने के कारण आनुमानिकी है। इसलिये प्रत्यक्ष से इस आनुमानिकी परिभाषा का ही बाध करना उचित है।

इस प्रकार जब 'पूर्वत्रासिद्धम्' के द्वारा इस परिभाषा का बाध हो जाता है तब त्रैपादिक अन्तरङ्ग का पूर्वशास्त्र (वह चाहे सापादिकबहिरङ्ग हो अथवा पूर्व-त्रैपादिक बहिरङ्ग) से बाध हो जाने के कारण कार्यकालपक्ष में भी त्रिपादीसूत्रों में इस परिभाषा की उपस्थिति नहीं होती है।

अत एव कार्यकालपक्षमेवोपक्रम्योक्तयुक्तीरुक्त्वा 'अतोऽयुक्तोऽयं परिहारो' न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्' इत्युक्तं विसर्जनीयसूत्रे भाष्ये सिद्धा-

न्तिना। त्रिपादीस्थेऽन्तरङ्गे कर्तव्येऽयं परिहारो न युक्त इति तदर्थः। किं तु वचनमेवाऽऽरब्धव्यमिति तदाशयः।

अत एव 'निगाल्यत' इत्यादौ लत्वार्थं 'तस्य दोषः' इति वचनमेवाऽऽरब्धम्। अन्यथान्तरङ्गत्वाण्णिलोपात्पूर्वं वैकल्पिक-लत्वे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव।

येऽपि लक्ष्यानुरोधात् आनुमानिक्याऽप्यन्तरङ्गपरिभाषया प्रत्यक्षसिद्धस्य 'पूर्वत्रे'त्यस्य बाधं वदन्ति, तेऽपि लक्षणैकचक्षुर्भिर्नाऽऽदर्तव्या इति दिक्।

अतएव=कार्यकालपक्ष में भी त्रिपादी में अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है इस बात को स्वीकार करने से ही 'विसर्जनीयस्य सः' इस सूत्र का भाष्य संगत होता है। भाष्यकार ने वहाँ विचार किया कि 'नृकुट्यां भवः नार्कुटः' 'नृपतेरपत्यं नार्पत्यः' इन प्रयोगों में पदान्तरेफ को विसर्ग होना चाहिये। इस प्रकार विसर्ग की आपत्ति की शंका करके 'विसर्जनीयोऽनुत्तरपदे' अर्थात् उत्तरपद पर में रहने पर विसर्ग नहीं होता, इस वार्तिक द्वारा उसका समाधान करके भाष्यकार ने कहा 'न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्' अर्थात् विसर्ग का वारण करने के लिये किसी वार्तिक की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अन्तरङ्ग विसर्ग की कर्त्तव्यता में बहिरङ्ग वृद्धि असिद्ध हो जायेगी, इसलिये रेफ के अभाव में वृद्धि होगी ही नहीं। इस प्रकार विसर्ग का वारण करके भाष्यकार ने कहा कि 'न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्' यह परिहार ठीक नहीं है, क्योंकि विसर्गविधायक अन्तरङ्गशास्त्र त्रिपादी है और वृद्धिविधायक 'तद्धितेष्वचामादेः' यह बहिरङ्गशास्त्र सपादसप्ताध्यायी है। ऐसी स्थिति में सापादिक-अन्तरङ्गपरिभाषा की दृष्टि में त्रिपादी-अन्तरङ्गशास्त्र असिद्ध हो जायेगा। इसीलिये अन्तरङ्गपरिभाषा से यहाँ कार्य नहीं चलेगा। यदि कहा जाय कि कार्यकालपक्ष मान लेने से सापादिक-अन्तरङ्ग परिभाषा की दृष्टि में त्रैपादिक-अन्तरङ्गशास्त्र असिद्ध नहीं होगा, तो यह भी कहना संगत नहीं है क्योंकि इस पक्ष में भी सापादिकबहिरङ्ग की दृष्टि अन्तरङ्गशास्त्र जो त्रिपादीसूत्र है वह 'पूर्वत्रासिद्धम्' इस सूत्र के द्वारा असिद्ध कर दिया जायेगा। इसलिये अन्तरङ्ग परिभाषा के द्वारा यहाँ कार्य नहीं चल सकता। इसी बात को ध्यान में रखकर भाष्यकार ने कहा कि त्रैपादिक-अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यता में 'न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्' यह परिहार अयुक्त है। इसलिये 'नार्कुटः' इत्यादि शब्दों में विसर्गापत्तिरूप दोष के वारण के लिये 'विसर्जनीयोऽनुत्तरपदे' इस वचन का आरम्भ करना ही चाहिये।

अतएव=त्रिपादी सूत्रों में अन्तरङ्गपरिभाषा की प्रवृत्ति कभी भी नहीं होती, इस बात को स्वीकार करने से ही 'निगाल्यते' इस प्रयोग में लत्व की सिद्धि के लिये 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' का बाधक 'तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु' इस वचन का आरम्भ किया गया। इसका तात्पर्य यह है कि निपूर्वक गृ धातु से णिच्

प्रत्यय वृद्धि कर निगारि धातु से कर्म में लडादि प्रत्यय करके 'निगारि+य+ते' इस स्थिति में णिलोप करने के बाद 'अचि विभाषा' से रकार को लकार करने के लिये जब णिलोप का स्थानिवद्भाव करने चलते हैं तब 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इस वचन से उसका निषेध प्राप्त होता है। इस निषेध को बाधने के लिये 'तस्य दोष' इस वचन का आरम्भ किया गया है। इसके द्वारा लुप्त-णि का स्थानिवद्भाव होकर उक्त प्रयोग में लत्व की सिद्धि होती है। यदि कार्यकालपक्ष में त्रिपादी में अन्तरङ्गपरिभाषा की प्रवृति होती तो त्रैपादिक-अन्तरङ्ग 'अचि विभाषा' (८-२-२१) के प्रति सापादिकबहिरङ्ग 'णेरनिटि' (६-४-५१) असिद्ध हो जाता, जिससे णिलोप होने के पहले ही वैकल्पिक लत्व हो जाता तो लत्व के लिये किये गये वचन की व्यर्थता स्पष्ट ही हो जाती। इससे यह बात निर्विवाद सिद्ध हो गई कि त्रैपादिक सूत्रों में अन्तरङ्गपरिभाषा नहीं लगती है।

जो लोग लक्ष्य के अनुरोध से इस आनुमानिकी परिभाषा के द्वारा प्रत्यक्षसिद्ध 'पूर्वत्रासिद्धम्' इस सूत्र का बाध करके त्रिपादी सूत्रों में अन्तरङ्गपरिभाषा की प्रवृत्ति करते हैं वे लोग लक्षणैकचक्षुष्क=लक्षण के द्वारा लक्ष्य का साधुत्व स्वीकार करने वालों के लिये आदरणीय नहीं हैं। अर्थात् उनके अनुसार त्रिपादी में अन्तरङ्गपरिभाषा की प्रवृत्ति नहीं करानी चाहिये।

अत एव 'ओमाङोश्च' (६-१-९५) इत्याङ्ग्रहणं चरितार्थम्। तद्धि 'खट्वा आ ऊढे'त्यत्र परमपि सवर्णदीर्घं बाधित्वा अन्तरङ्गत्वाद् गुणे कृते वृद्धिप्राप्तौ पररूपार्थम्। साधनबोधकप्रत्ययोत्पत्त्यनन्तरं पूर्वं धातोरुपसर्गयोगे पश्चात् खट्वाशब्दस्य समुदायेन योगाद् गुणस्यान्तरङ्गत्वमिति 'सम्प्रसारणाच्च' (६-१-१०८) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। 'एही'त्यनुकरणस्य शिवादिशब्दसम्बन्धे तु नास्य प्रवृत्तिः। ज्ञापकपर'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०८) इति सूत्रस्थभाष्यप्रामाण्येनानित्यं प्रकृतिवदनुकरणमित्यतिदेशमादाय लब्धाङ्त्वे एतदप्रवृत्तेः।

अत एव=समकालप्राप्तबहिरङ्ग का भी असिद्धत्व इस परिभाषा के द्वारा किया जाता है यह बात स्वीकार करने से ही 'ओमाङोश्च' इस सूत्र का आङ्ग्रहण चरितार्थ होता है। 'खट्वा+आ+ऊढ' इस स्थिति में सवर्ण दीर्घ और गुण ये दोनों साथ ही प्राप्त हैं। इन दोनों मे सवर्ण दीर्घ यद्यपि पर में है, इसलिए पहले उसे ही होना चाहिये, किन्तु गुण उसकी अपेक्षा अन्तरङ्ग है, इसलिये परत्वात् प्राप्त सवर्णदीर्घ को गुण अन्तरङ्गत्वात् बाध लेता है। इस प्रकार अन्तरङ्गत्वात् गुण कर देने पर 'खट्वा+ओढ' इस स्थिति में वृद्धि की प्राप्ति होती है, इस वृद्धि को बाध कर पररूप करने के लिये 'ओमाङोश्च' इस सूत्र में आङ्ग्रहण किया गया है। वह धातु

से कर्मवाच्य में साधन (कारक) बोधक क्त प्रत्यय करके 'ऊढ' यह रूप बनाने के बाद धातु का योग (सम्बन्ध) पहले उपसर्ग के साथ किया जाता है, इसलिये 'ऊढ' का योग पहले 'आ' इस उपसर्ग के साथ होता है। इसके बाद खट्वा शब्द का 'आ–ऊढ' इस समुदाय के साथ योग होने के कारण धातु और उपसर्ग के योग से होने वाला गुणरूपी कार्य अन्तरङ्ग होता है और उससे भिन्न दीर्घरूपी कार्य बहिरङ्ग होता है। ये अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों कार्य यहाँ समकाल में ही प्राप्त हैं। यहाँ समकालप्राप्त दीर्घरूपी बहिरङ्ग कार्य इस परिभाषा के द्वारा असिद्ध कर दिया जाता है, इसलिये अन्तरङ्ग गुण कार्य कर देने पर 'खट्वा + ओढ' इस स्थिति में प्राप्त वृद्धि को बाध कर पूर्वान्तवद्भाव से आङ्बुद्धचा पररूप करके 'आङ्' ग्रहण की सार्थकता होती है।

यदि समकालप्राप्त बहिरङ्ग को यह परिभाषा असिद्ध नहीं करती तो परत्वात् दीर्घ करके पीछे गुण कर देने से 'खट्वोढः' रूप की सिद्धि-स्वयमेव हो जाती, तो ऐसी स्थिति में आङ्ग्रहण व्यर्थ ही हो जाता। इसलिये समकालप्राप्त बहिरङ्ग की भी असिद्धि यह परिभाषा करती है ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

यदि कहा जाय कि 'खट्वा + आ + ऊढ' इस स्थिति में नित्यवात्। पहले गुण ही होगा और उसके बाद वृद्धि प्राप्त रहेगी, उस वृद्धि को बाधने के लिए 'आङ्'ग्रहण चरितार्थ है। ऐसी स्थिति में समकालप्राप्तबहिरङ्ग को असिद्ध करने में यह किस प्रकार ज्ञापक हो सकता है ? तो इस शंका का उत्तर यह है कि यद्यपि गुण नित्य है तथापि दीर्घ उसका अपवाद है, इसलिये यहाँ अपवादत्वात् दीर्घ गुण को बाध लेगा, इसके बाद गुण करके वाञ्छित रूप की सिद्धि हो ही सकती है तो आङ्ग्रहण की क्या आवश्यकता है इस प्रकार आङ्ग्रहण व्यर्थ होकर समकालप्राप्त बहिरङ्ग की असिद्धता का बोधन करता है। इस तथ्य के ज्ञापित हो जाने के बाद 'दैत्यारिः' इत्यादि प्रयोगों में सावकाश अपवाद (दीर्घविधायकशास्त्र) उपर्युक्त उदाहरण में अन्तरङ्ग के द्वारा बाधा जाता है। इसलिये अन्तरङ्गत्वात् गुण हो जाने के बाद प्राप्त वृद्धि को बाधने के लिये आङ्ग्रहण की स्वांश में चरितार्थता होती है। यह बात 'सम्प्रसारणाच्च' इस सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

अब यहाँ एक यह शंका हो रही है कि यह परिभाषा समकालप्राप्तबहिरङ्ग को भी असिद्ध करती है, इस बात में आङ्ग्रहण ज्ञापक नहीं हो सकता। आङ्ग्रहण की ज्ञापकता तभी सम्भव है जब वह व्यर्थ हो। किन्तु वह व्यर्थ न होकर चरितार्थ है। उसके चारितार्थ्यस्थल के रूप में एक यह उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है कि 'एहि' यह पद 'आ और इहि' के संयोग से पहले अलग बना लिया जायेगा। इस 'एहि' पद का अनुकरण 'एहि' इस पद को रख कर उसके साथ शिव

का सम्बन्ध करेंगे। उस समय 'शिव+एहि' इस स्थिति में दीर्घ की प्राप्ति नहीं है और 'ए' भी बना बनाया अनुकरण होने के कारण गुण की भी प्राप्ति नहीं है। ऐसे स्थल पर प्राप्त वृद्धि को बाधने के लिये आङ्ग्रहण चरितार्थ है। यदि कहा जाय कि इस अनुकरण 'ए' में आङ्त्व किस प्रकार सम्भव है? तो इसका उत्तर यह है कि 'एहि' यह जो अनुकार्य है इसके घटक एकार में पूर्वान्तिवद्भाव से आङ्त्व लाकर उसके अनुकरणघटक एकार में 'प्रकृतिवदनुकरणम्' इस न्याय से आङ्त्व का अतिदेश कर दिया जायेगा। इस प्रकार यहाँ आङ् को पर में मान कर 'ओमाङोश्च' वृद्धि का बाध करता है, इसलिये आङ्ग्रहण चरितार्थ है।

इस प्रकार की शंका के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि 'एहि' का अनुकरण करके शिवादि शब्दों के साथ सम्बन्ध करने पर तो अस्य='ओमाङोश्च' इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। क्योंकि 'सम्प्रसारणाच्च' इस सूत्रस्थ भाष्य से यही सिद्ध हुआ है कि आङ्ग्रहण समकालप्राप्त बहिरङ्ग की असिद्धता में ज्ञापक है। यदि उपर्युक्त अनुकरणस्थल में इसकी चरितार्थता हो जाती है तो इसके द्वारा भाष्यसम्मत ज्ञापकता नहीं हो रही है। इसलिये इस भाष्यप्रमाण से यही बात माननी चाहिये कि 'प्रकतिवदनुकरणम्' जो अनित्य अतिदेश है, इसके द्वारा आङ्त्व का लाभ करके 'ओमाङोश्च' यह सूत्र नहीं लगता है।

इस प्रकार आङ्ग्रहण की चरितार्थता संभव नहीं हो सकी। तस्मात् आङ्ग्रहण समकालप्राप्त बहिरङ्ग की असिद्धता का ज्ञापक निर्विवाद रूप में सिद्ध हो जाता है।

यत्तु—पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात्साधनेन। उपसर्गेण तत्संज्ञकशब्देन, साधनेन कारकेण तत्प्रयुक्तकार्येण च। अत एव 'अनुभूयते' इत्यादौ सकर्मकत्वात् कर्मणि लकारसिद्धिरिति। तन्न, क्रियायाः साध्यत्वेन बोधात्साध्यस्य च साधनाकाङ्क्षतया तत्सम्बन्धोत्तरमेव निश्चितक्रियाबोधेन साधनकार्यप्रवृत्युत्तरमेव क्रियायोगनिमित्तोपसर्गसंज्ञकस्य सम्बन्धौचित्यात्। अत एव 'सुट्कात् पूर्वः' (६-१-१३५) इति सूत्रे 'पूर्वं धातुरुपसर्गेणे'त्युक्त्वा नैतत् सारं 'पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपर्गेणे'त्युक्त्वोक्तयुक्त्याऽस्यैव युक्तत्वमुक्तं 'साधनं हि क्रियां निवर्त्तयती'त्यादिना भाष्ये। उपसर्गद्योत्यार्थान्तर्भावेण धातुनैवार्थाभिधानादुक्तेषु कर्मणि लकारादिसिद्धिः। पश्चाच्छ्रोतृबोधाय द्योतकोपसर्गसम्बन्धः।

एवं च अन्तरङ्गतरार्थकोपसर्गनिमित्तः सुट् संकृतीत्यवस्थायां द्वित्वादितः पूर्वं प्रवर्त्तते ततो द्वित्वादि।

'खट्वोढः' इस उदाहरण में धातु और उपसर्गनिमित्तिक कार्य को अन्तरङ्ग बतलाया गया है इसलिये धातु का योग पहले उपसर्ग के साथ होता है और साधन के साथ पीछे होता है, यह प्राचीनाभिमत बात नागेश को अभिमत है, इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुए लिख रहे हैं—यत्तु=जो लोग कहते हैं कि धातु का योग पहले उपसर्ग के साथ होता है, और साधन के साथ उसका योग पीछे से होता है। उपसर्ग के साथ का अर्थ है उपसर्ग संज्ञक शब्द 'प्र परा अनु' इत्यादि के साथ और साधन के साथ का अर्थ है कारक के साथ तथा कारक प्रयुक्त कार्य के साथ। अत एव=पहले धातु का योग उपसर्ग के साथ होता है यह स्वीकार करने से ही अकर्मक भू धातु 'अनु' उपसर्ग के योग में ज्ञानार्थक होने से सकर्मक हो जाता है जिससे कर्मवाच्य में लकार होकर 'अनुभूयते' इस प्रयोग की सिद्धि होती है इस बात का निराकरण करते हुए नागेशभट्ट कह रहे हैं—तन्न=अर्थात् धातु का योग पहले उपसर्ग के साथ होता है यह बात ठीक नहीं है क्योंकि—क्रिया का बोध साध्यत्वेन रूपेण होता है, अर्थात् साध्यत्व ही क्रिया का स्वरूप है और साध्य को साधन की आकाङ्क्षा होती है क्योंकि साधन (कारक) से ही क्रिया की उत्पत्ति होती है। इसलिये धातु का साधन के साथ सम्बन्ध करने के बाद ही निश्चित क्रिया का बोध संभव है। ऐसी स्थिति में धातु से पहले साधन कार्य (कर्त्ता आदि कारक प्रयुक्त तत्तत्प्रत्ययविधानरूपी कार्य) की प्रवृत्ति के बाद ही निश्चित क्रिया का बोध होता है और निश्चित क्रिया के बोध के बाद ही क्रियायोगनिमित्तक उपसर्ग संज्ञा होती है, इसलिये साधन के साथ धातु का योग करने के बाद ही धात्वर्थ और उपसर्ग के योग का औचित्य सिद्ध होता है।

अत एव=धातु का सम्बन्ध पहले साधन के साथ होता है यह बात स्वीकार करने से ही 'सुट्कात्पूर्वं' इस सूत्र का भाष्य संगत होता है। भाष्यकार ने वहाँ कहा कि 'पूर्वं धातुरूपसर्गेण' ऐसा कह कर भाष्यकार ने कहा कि—'नैतत्सारं पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण' अर्थात् धातु का योग पहले उपसर्ग से होता है यह बात ठीक नहीं है किन्तु धातु का योग पहले साधन के साथ होता है, उसके बाद उपसर्ग से उसका योग होता है। ऐसा कह कर उक्त युक्ति=क्रिया साध्य होती है और साध्य को साधन की आकांक्षा होती है, इस युक्ति के द्वारा इसी पक्ष को युक्त बताया, क्योंकि साधन ही क्रिया को सम्पन्न करता है।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि जब धातु का योग पहले उपसर्ग के साथ न होकर साधन के साथ होता है तब 'अनुभूयते' इस प्रयोग में कर्म वाच्य में 'लकार' किस प्रकार संभव हो सकेगा ?

इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार इस प्रकार दे रहे हैं कि उपसर्ग धातु के अर्थ का द्योतक होता है। अर्थात् उपसर्ग से द्योत्य अर्थ में धातु की शक्ति होती है।

उदाहरण के लिये 'अनुभवति' इस प्रयोग से जिस अनुभव अर्थ की प्रतीति होती है वह अनुभव अर्थ भू धातु का अपना अर्थ है। अनु उपसर्ग तो केवल मात्र उस अर्थ का द्योतक है। इसलिये 'अनुभूयते' इस प्रयोग में अनु इस उपसर्ग के योग के पहले ही उससे द्योत्य अनुभवरूपी अर्थ को धात्वर्थ के अन्तर्भूत करके भू धातु से ही अनुभव अर्थ का अभिधान मान कर अर्थात् भू धातु यहाँ अनुभव अर्थ का वाचक है ऐसा स्वीकार करके कर्मवाच्य में लकार और कृत्य आदि प्रत्ययों की सिद्धि हो जाती है। इसके बाद श्रोताओं के बोध के लिये तत्तद् अर्थों के द्योतक उपसर्ग का सम्बन्ध कर लिया जाता है।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि उपसर्ग का अर्थ धातुवाच्य होने के कारण शीघ्रोपस्थिति विषय होने से अन्तरङ्गतर होता है। इसलिये जिस कार्य में उपसर्ग और उसका अर्थ ये दोनों निमित्त हों, वह कार्य अन्तरङ्गतर होने के कारण पहले होता है। जैसे 'सम्परिभ्याम्' सूत्र से सुट् करने में सम् और परि उपसर्ग तथा भूषण और समवाय ये अर्थ दोनों निमित्त हैं, इसलिये 'संचस्कार' इस प्रयोग की सिद्ध के अवसर पर भूषणरूप अर्थनिमित्तक 'सुट्-सम्-कृ-ति' इस स्थिति में कर्तृबोधक लिट्निमित्तक द्वित्व से पहले ही हो जाता है। इसके बाद द्वित्वादि-कार्य होते हैं।

अत एव 'प्रणिदापयती'त्यादौ णत्वं 'यदागमाः' (प० ११) इति न्यायेन समाहितं भाष्ये।

अत एव प्रत्येति 'प्रत्ययः' इत्यादिसिद्धिः। अन्यथान्तरङ्गत्वात् सवर्ण-दीर्घे रूपासिद्धिः। यदुपसर्गनिमित्तकं कार्यमुपसर्गार्थाश्रितं विशिष्टोप-सर्गनिमित्तकत्वात्तदन्तरङ्गम्। यत्तु न तथा तत्र पूर्वागतसाधननिमित्तक-मेवान्तरङ्गम्। अत एव 'न धातु' (१-१-४) इति सूत्रे 'प्रेद्ध' इत्यत्र गुणो बहिरङ्ग इति भाष्य उक्तम्।

किञ्च पूर्वमुपसर्गयोगे धातूपसर्गयोः समास 'ऐकस्वर्याद्यापत्तिरि'ति 'उपपदमतिङ्' (२-२-१९) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

भावार्थप्रत्ययस्यापि पूर्वमेवोत्पत्तिः। अत एव 'णेरध्ययने' (७-२-२६) इति निर्देशः सङ्गच्छते। इदं च सामान्यापेक्षज्ञापकं, भावतिङोऽपि पूर्व-मुत्पत्तेः। अन्यथा तत्र समासापत्तिः। तिङि त्वतिङिति निषेधान्न तत्र दोषो यदि भावतिङ्युपसर्गयोगोऽस्तीत्यलम्।

अत एव = धातु का योग पहले साधन के साथ होता है यह बात स्वीकार करने से ही 'प्रणिदापयति' इत्यादि प्रयोगों में यदागमपरिभाषा के द्वारा णत्व की सिद्धि की गई है। अन्यथा यदि उपसर्ग के साथ धातु का योग पहले होता तो

जगदानन्द भारद्वाज

पुक् होने के पहले ही 'दा' धातु का उपसर्ग के साथ योग हो जाता और तत्प्रयुक्त णत्व की सिद्धि स्वयमेव हो जाती, ऐसी स्थिति में यहाँ यदागम परिभाषा का अनुत्थान ही हो जाता।

अत एव=धातु का योग पहले साधन अथवा तत्प्रयुक्त कार्य के द्वारा होता है यह तथ्य स्वीकार करने से ही, 'प्रत्येति, प्रत्ययः' इन रूपों की सिद्धि होती है। तात्पर्य यह है कि इण् धातु से कर्तृवाच्य में पहले लट् लकार और उसके स्थान पर तिप् प्रत्यय और सार्वधातुकनिमित्तक गुण करके 'एति' रूप बनाने के बाद 'एति' का प्रति इस उपसर्ग के साथ योग किया जाता है, जिससे असवर्णी अच् पर में रहने के कारण यण् होकर 'प्रत्येति' रूप बनता है। इसी प्रकार इण् धातु से अच्प्रत्यय पहले करके गुण अयादेश के बाद 'अय' ऐसा रूप बनाकर उसका प्रति के साथ योग करने पर 'यण्' करके 'प्रत्यय' यह रूप बनाया जाता है। यदि धातु का योग पहले उपसर्ग के साथ होता, तो 'प्रति+इ=प्रती' इस प्रकार का रूप बनने के बाद तिप् और अच् प्रत्यय करने पर गुण तथा अयादेश करके 'प्रतेति और प्रतय' ऐसे रूप बनने लगते। इसी बात को ग्रन्थकार कह रहे हैं कि अन्यथा=धातु का पहले साधन के साथ योग न करने पर और उपसर्ग के साथ योग करने पर 'प्रति+इ' इस स्थिति में अन्तरङ्गत्वात् सवर्ण दीर्घ हो जाने पर वाञ्छित रूप की सिद्धि नहीं होती।

जो कार्य उपसर्गनिमित्तक होते हुए उपसर्ग के अर्थ पर आश्रित रहता है अर्थात् उस कार्य में उपसर्ग और उपसर्ग का अर्थ ये दोनों निमित्त होते हैं, वह कार्य विशिष्ट-उपसर्गनिमित्तक होने के कारण अन्तरङ्ग होता है। जो कार्य ऐसा नहीं है वहाँ पूर्व में आगत जो साधनबोधकप्रत्यय तन्निमित्तक कार्य ही अन्तरङ्ग होता है।

अत एव=धातु का योग पहले साधन के साथ होता है, इस बात को मानने से ही 'न धातु लोप' इस सूत्र के भाष्य में 'प्रेद्धः' इस प्रयोग में गुण को बहिरङ्ग बताया गया है। तात्पर्य यह है कि प्रपूर्वक इन्ध धातु से साधनबोधक क्त प्रत्यय करने पर क्तप्रत्ययनिमित्तक-नकार का लोप हो जाने के बाद 'प्र+इद्ध' इस स्थिति में 'आद्गुणः' से जो गुण क्रियमाण है उसका भी 'न धातुलोपः' इस सूत्र से निषेध हो जाना चाहिये। ऐसी शंका करके भाष्यकार ने कहा कि 'न धातु-लोपः' इस निषेध की अपेक्षा उपसर्गसापेक्ष जो गुण है वह बहिरङ्ग है। इसलिये जब गुण ही नहीं दिखाई पड़ता तो निषेध किसका किया जाय। इसलिये यहाँ निषेध नहीं लगता। यदि धातु का योग पहले उपसर्ग के साथ होता तो उपसर्ग-सापेक्ष गुण की अपेक्षा क्त-प्रत्ययसापेक्ष गुण का निषेध ही बहिरङ्ग हो जाता। ऐसी स्थिति में गुण को बहिरङ्ग कहना भाष्यकार का असंगत हो जाता।

दूसरी बात यह है कि यदि धातु का उपसर्ग के साथ पहले योग होता तो 'प्रभवति' इस प्रयोग में साधनबोधक लकार से पहले उपसर्गसंज्ञक शब्द का धातु

के साथ योग करने पर 'प्र-भू' इस अवस्था में 'कुगति प्रादयः' इस सूत्र से समास होता और उपसर्गसहित धातु का समासिकस्वर ही होता, जिससे ऐकस्वर्य (एक स्वर) की आपत्ति हो जाती।

जिस प्रकार धातु का सम्बन्ध साधन से पहले होता है, यह बात स्वीकार करने के कारण साधनबोधक प्रत्यय पहले धातु से हो जाते हैं। उसके बाद धातु का उपसर्ग से योग होता है। उसी प्रकार भाव अर्थ वाले प्रत्ययों की उत्पत्ति भी धातु से पहले ही हो जाती है; उसके बाद धातु का उपसर्ग के साथ योग होता है। इसका कारण यह है कि उपसर्गसंज्ञा उसी की होती है जिसका योग क्रिया के साथ हो। क्रिया और भाव ये दोनों एक ही वस्तु हैं, इसलिये भावप्रत्यय भी उपसर्गसंज्ञा का प्रयोजक ही सिद्ध होता है। इसलिये उपसर्ग का योग होने से पहले ही भाव अर्थ वाले प्रत्यय धातु से हो जाते हैं। इसीलिये 'णेरध्ययने' यह पाणिनि का निर्देश संगत होता है। यहाँ अध्ययन शब्द विचारणीय है। इङ् धातु से भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करके उसे अनादेश करके धातु के इकार को गुण अयादेश करके 'अयन' ऐसा सारूप बनने के बाद 'अधि' इस उपसर्ग का अयन के साथ योग करने पर यणादेश करके 'अध्ययन' ऐसा रूप बनता है। यदि उपसर्ग का योग पहले होता तो 'अधि + इ' इस स्थिति में अन्तरङ्गत्वात् सवर्णदीर्घ हो जाता। इसके बाद 'ल्यु' प्रत्यय करने पर 'अधी' के ईकार को गुणादि कार्य करने पर 'अधयन' ऐसा अनभीष्ट रूप बनने लगता। इसलिये यही निष्कर्ष निकला कि साधनबोधकप्रत्ययों की भाँति भावार्थक-प्रत्यय भी धातु से पहले ही होता है।

'णेरध्ययने' इस सूत्र का 'अध्ययन' यह निर्देश जो भावप्रत्यय को धातु से पहले होने में ज्ञापक है, यह ज्ञापक भावप्रत्ययसामान्य के लिये अर्थात् तिङ् और कृत दोनों के लिये ज्ञापक है। ल्युट् प्रत्यय से बना हुआ यह निर्देश ल्युट् प्रत्यय के लिये ही ज्ञापक नहीं है, क्योंकि भाव अर्थ वाले तिङ् भी उपसर्ग के योग से पूर्व ही धातु से हो जाते हैं। अन्यथा=यदि ऐसी बात न मानी जाय तो उपसर्ग का योग पहले होने पर वहाँ 'कुगति प्रादयः' सूत्र से समास होने लग जायेगा। जब भावार्थक तिङ् की उत्पत्ति धातु से पहले हो जाती है तब वहाँ समास नहीं होता है क्योंकि 'कुगति प्रादयः' इस सूत्र में गति ग्रहण पृथक् करके उसमें 'अतिङ्' का सम्बन्ध किया गया है, इसलिये वहाँ 'अतिङ्' इस निषेध के कारण समास नहीं होता। यह बात तब संगत होती है जब भाव अर्थ में तिङ् होने वाले स्थल में उपसर्ग का योग होता हो।

यत्तु विशेषापेक्षात्सामान्यापेक्षमन्तरङ्गं विशेषापेक्षे विशेषधर्मस्याधिकस्य निमित्तत्वात्। यथा 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' (७-२-६६) इत्यत्र

रुदादित्वं सार्वधातुकत्वञ्च। तत्र सार्वधातुकत्वज्ञानाय प्रकृतेर्धातुत्वज्ञानं प्रत्ययस्य प्रत्ययत्वज्ञानं चाऽऽवश्यकमिति यासुडन्तरङ्गः। एतेन यद् 'अनुदात्तङितः, (१-३-१२) इति सूत्रे कैयटेनोक्तं 'लमात्रापेक्षयाऽन्तरङ्गास्तिबादयो 'लकारविशेषापेक्षत्वाद्बहिरङ्गाः स्यादय' इति तत्परास्तम्; विशेषापेक्षत्वेऽपि तस्य सामान्यधर्मनिमित्तकत्वाभावेन तत्त्वस्य दुरुपपादत्वात्, परनिमित्तकत्वेन स्यादीनां बहिरङ्गत्वाच्चेति। तन्न, विशेषस्य व्याप्यत्वेन व्यापकस्यानुमानेनोपस्थितावपि तस्य निमित्तत्वे मानाभावेनाधिकधर्मनिमित्तकत्वानुपपादनात्, भाष्ये एवंविधान्तरङ्गबहिरङ्गभावस्य क्वाप्यनुल्लेखाच्च।

अब सामान्य और विशेष धर्मों के आधार पर अन्तरङ्गबहिरङ्गभाव मानने वालों के मत का उल्लेख करते हुए लिख रहे हैं—यत्तु=कुल लोगों का कहना है कि विशेषापेक्ष कार्य की अपेक्षा सामान्यापेक्ष कार्य अन्तरङ्ग होता है। इसका कारण यह है कि जहाँ विशेष रहता है वहाँ सामान्य अवश्य रहता है, इसलिये विशेषापेक्ष कार्य में सामान्यधर्म के अतिरिक्त (उससे अधिक) विशेष धर्म की भी आवश्यकता रहती है। ऐसे विशेषापेक्ष कार्य की अपेक्षा जो कार्य सामान्यधर्मनिमित्तक होते हैं उनमें सामान्यधर्ममात्र की आवश्यकता होने के कारण अल्प की आवश्यकता होती है। इसी कारण से विशेषापेक्ष कार्य की अपेक्षा सामान्यापेक्ष कार्य अन्तरङ्ग होता है। जैसे—'रुद्यात्' इस प्रयोग में 'रुद्+ति' इस अवस्था में 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इस सूत्र से सार्वधातुक (तिप्) को इट् का आगम तथा 'यासुट् परस्मैपदेषु' इस सूत्र से उसी को यासुट् का आगम भी प्राप्त है। इन दोनों कार्यों में इट्विधायकसूत्र के लिये रुदादित्व और सार्वधातुकत्व इन दोनों के ज्ञान की आवश्यकता है। इनमें भी सार्वधातुकत्वज्ञान के लिये प्रकृति का धातुत्वज्ञान और प्रत्यय का प्रत्ययत्व ज्ञान ये दोनों आवश्यक हैं। इस प्रकार धातुत्व-प्रत्ययत्व का ज्ञानरूपी सामान्यज्ञान और सार्वधातुकत्वरूप विशेषधर्म का ज्ञान इट् में निमित्त होने के कारण इट् बहिरङ्ग है और यासुट् के लिये केवल धातु के ज्ञान की आवश्यकता है, क्योंकि वह धात्वधिकारीय आगम है। इसलिये अन्तरङ्ग होने के कारण यासुट् से बहिरङ्ग इट् का बाध कर दिया जाता है। एतेन=सामान्यापेक्ष अन्तरङ्ग और विशेषापेक्ष बहिरङ्ग होता है, ऐसा स्वीकार करने से 'अनुदात्तङित' इस सूत्र में कैयट ने अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था वह कथन भी अपास्त हो गया। कैयट ने वहाँ कहा था कि लट्लकार में पहले तिबादि प्रत्यय हों अथवा पहले 'स्य' विकरण हो? ऐसी आशंका करके उन्होंने कहा कि तिबादि प्रत्ययों के लिये केवल 'ल' मात्र की अपेक्षा है इसलिये तिबादि प्रत्यय अन्तरङ्ग हैं

और स्य आदि विकरणों के लिये 'लट्' आदि विशेषलकारों की आवश्यकता है, इसलिये 'स्यादि' विकरण बहिरङ्ग हैं। यह कैयटोक्ति इसलिये परास्त हो गई कि ऊपर विचार किया जा चुका है कि जिस कार्य में सामान्य और विशेष ये दोनों धर्म निमित्त होते हैं वह कार्य बहिरङ्ग होता है और जिस कार्य में केवल सामान्यधर्म निमित्त हो, वह अन्तरङ्ग होता है। स्य आदि विकरणस्थल में यह बात नहीं है क्योंकि यद्यपि स्य आदि विकरण को लडादि विशेषलकारों की आवश्यकता है तथापि उन्हें सामान्यधर्म लकारत्व के ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है। सामान्यधर्म के साथ विशेषधर्म सापेक्ष होने पर ही कोई बहिरङ्ग होता है। स्यादि स्थल में इस तरह की बात न होने के कारण स्यादि को बहिरङ्ग कहना ठीक नहीं है। किन्तु स्य आदि विकरण परनिमित्तक होने के कारण ही बहिरङ्ग हैं। इसलिये अन्तरङ्गत्वात् तिबादि होने के बाद ही स्यादि विकरण होते हैं।

इस प्रकार सामान्य और विशेष धर्मों पर आधारित अन्तरङ्गबहिरङ्गभाव के सम्बन्ध में किसी के मत का उल्लेख करके इससे अपनी असहमति व्यक्त करते हुए नागेशभट्ट कह रहे हैं—तन्न अर्थात् उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि जिस कार्य में विशेष की अपेक्षा होती है वहाँ विशेष से सामान्य का अनुमान तो हो सकता है, क्योंकि विशेष व्याप्य होता है और सामान्य व्यापक होता है, और व्याप्य से व्यापक का अनुमान स्वयंसिद्ध वस्तु है। इसलिये विशेषापेक्ष स्थल में व्यापक सामान्य की अनुमान से उपस्थिति होती है तो हो जाय, किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि विशेष की भाँति वह सामान्य भी उस कार्य के प्रति कारण है। इस प्रकार उस अनुमितसामान्य की निमित्तता में कोई प्रमाण न होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि विशेषापेक्ष कार्य में अधिकधर्म की आवश्यकता है। भाष्य में इस प्रकार के अन्तरङ्गबहिरङ्गभाव का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है।

यत्तु 'मतुप्' (५-२-९४) सूत्रे भाष्ये पञ्च गावो यस्य सन्ति स पञ्चगुरित्यत्र मतुप्प्राप्तिमाशङ्क्य प्रत्येकमसामर्थ्यात् समुदायादप्रातिपदिकत्वात् समासात् समासेनोक्तत्वादिति सिद्धान्तिनोक्ते 'नैतत्सारमुक्तेऽपि हि प्रत्ययार्थे उत्पद्यते द्विगोस्तद्धितो यथा-पाञ्चनापितिरि'ति पूर्वपक्ष्युक्तिर्भाष्ये। 'द्विगोर्लुगनपत्ये' (४-१-८८) इति लुग्विधानात्तद्धितार्थद्विगोस्तद्धितो भवति पञ्चगुशब्दश्च द्विगुरिति तदाशयं कैयटः। ततो 'द्वैमातुरः, पाञ्चनापितिः, पञ्चसु कपालेषु संस्कृत' इत्यादौ सावकाशद्विगोर्बहुव्रीहिणा प्रकृते परत्वाद्बाध इत्याशयेन नैष द्विगुः, कस्तर्हि ? बहुव्रीहिरिति सिद्धान्तिनोक्ते तमवकाशमजानानोऽपवादत्वाद् द्विगुः प्राप्नोतीति पूर्वपक्षी। अन्यपदार्थे, सुबन्तमात्रस्य विधीयमानबहुव्रीहेः संख्यायास्तद्धितार्थे विधीयमानो द्विगुर्विशेषविहितत्वाद् बाधकः

प्राप्नोतीति कैयटः। ततः सिद्धान्त्येकदेश्याह, अन्तरङ्गत्वाद् बहुव्रीहिः। काऽन्तरङ्गता ? अन्यपदार्थे बहुव्रीहिर्विशिष्टेऽन्यपदार्थे द्विगुस्तस्मिंश्चास्य तद्धितेऽस्तिग्रहणं क्रियत' इति। अधिकास्त्यर्थापेक्षमत्वर्थनिमित्तो द्विगुर्बहिरङ्ग इति कैयट इति। नैषा सिद्धान्त्युक्तिरेतावताप्यपवादत्वाहानेः। अच्सामान्यापेक्ष-यणो विशिष्टसवर्णाजपेक्षदीर्घेण बाधदर्शनात्। किञ्च उक्तरीत्या परत्वेनैव बाधसिद्धेः। किञ्च अत्राधिकापेक्षत्वेनैव बहिरङ्गत्वम्। न केवलविशेषापेक्षत्वेनेति नैतद्भाष्यारूढं विशेषापेक्षस्य बहिरङ्गत्वम्। अत एव सुबन्तसामान्यापेक्षो बहुव्रीहिस्तद्विशेषापेक्षो द्विगुरिति नोक्तं भाष्ये।

भाष्य में यदि कहीं विशेषापेक्ष को बहिरङ्ग कहा गया है तो वह एकदेशी भाष्य का कथन समझना चाहिये, इसी बात का उपपादन करते हुए लिख रहे हैं—यत्तु··· इत्यादि। 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इस मतुप्विधायकसूत्र के भाष्य में एक यह विचार चला कि 'पञ्च गावो यस्य सन्ति स पञ्चगु' यहाँ पर मतुप् प्रत्यय क्यों नहीं होता ? इस प्रकार की आशंका करके वहाँ उत्तर दिया गया कि मतुप् तद्धितीयप्रत्यय है, और तद्धितीयप्रत्यय सामर्थ्य में ही होते हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक से अर्थात् 'पञ्चन्+जस्' शब्द से और 'गो+जस्' शब्द से मतुप् नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्येक में सामर्थ्य नहीं है। इसका कारण यह है कि पञ्च पदार्थ का गोपदार्थ में अन्वय होने से सामर्थ्य उभयनिष्ठ है न कि प्रत्येक में। इस प्रकार मत्वर्थ में अन्वय न होने के कारण किसी से भी मतुप् प्रत्यय न हो सकेगा।

यदि कहा जाय कि प्रत्येक में सामर्थ्य के अभाव से मतुप् न होता है तो न हो, किन्तु समुदाय से उसके होने में क्या बाधा है ? तो इसके उत्तर में लिख रहे हैं कि समुदाय='पञ्चन्+जस्+गो+जस्' इस समुदाय से भी मतुप् नहीं होगा, क्योंकि यह समुदाय प्रातिपदिक नहीं है, और तद्धितीयप्रत्यय प्रातिपदिक होते हैं। इसलिये समुदाय से भी मतुप् नहीं होगा। यदि कहा जाय कि 'पञ्चन्+जस्+गो+जस्' यह समुदाय समास होने के कारण प्रातिपदिकसंज्ञक है। ऐसी स्थिति में समुदाय से मतुप् इसलिये नहीं होता कि वह प्रातिपदिक नहीं है यह कथन कहाँ तक ठीक है, तो इसका उत्तर यह समझना चाहिये कि समास करने से पूर्व विग्रहप्रदर्शन के समय ही मतुप् क्यों नहीं होता तो उसका यही उत्तर है कि उस समय समुदाय प्रातिपदिक नहीं है।

यदि कहा जाय कि समास हो जाने के बाद 'पञ्चगु' इस समास से मतुप् क्यों नहीं होता ? तो इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि मतुप् प्रत्यय होने से जिस 'च गोमान्' अर्थ की प्रतीति होती, वह अर्थ तो 'पञ्चगु' इस समास से ही उक्त

हो चुका है। क्योंकि 'पञ्चगु' का अर्थ भी पाँच गायों वाला ही है। इस प्रकार मतुप् प्रत्ययान्त से वाञ्छित अर्थ को समास से उक्त होने के कारण समास से भी मतुप् प्रत्यय नहीं होता। इस प्रकार मतुप् के सम्बन्ध में सिद्धान्ती के कहने पर 'पूर्वपक्षी ने कहा कि इस कथन में कोई सार नहीं है कि समास से उक्त होने के कारण मतुप् नहीं होता, क्योंकि प्रत्यय के अर्थ के उक्त होने पर भी द्विगु से तद्धित होता है। जैसे 'पञ्चानां नापितानाम् अपत्यम्' इस विग्रह में तद्धितार्थ की विषयता में द्विगु समास करने के बाद पञ्चनापित शब्द से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है। इस पूर्वपक्षी भाष्य की व्याख्या करते हुए कैयट ने कहा कि—'द्विगोर्लुगनपत्ये' इस सूत्र से द्विगुनिमित्तक-अनपत्यार्थक तद्धित का लुक् करने के कारण 'तद्धितार्थ द्विगु' से तद्धित होता है। अन्यथा लुक् का विधान ही व्यर्थ हो जायेगा। 'पञ्चगु' शब्द द्विगु है, इसलिये इससे तद्धित होना चाहिये।

इसके बाद विचार हुआ कि 'द्वैमातुरः' 'पाञ्चनापितिः' 'पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः' इत्यादि प्रयोगों में द्विगुसमास चरितार्थ है। अतः इन स्थलों में चरितार्थ द्विगु का 'पञ्चगु' में बहुव्रीहि से बाध हो जायेगा। उपर्यक्त तीन स्थलों में बहुव्रीहि की प्राप्ति नहीं है क्योंकि बहुव्रीहि के लिये समस्यमानपदों का प्रथमान्त होना जरूरी होता है साथ ही ये प्रथमान्त पद अन्यपदार्थ में वर्तमान होने चाहिये। उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में न तो प्रथमान्त पद हैं और न ये अन्यपदार्थ में वर्तमान हैं। इसलिये बहुव्रीहि को अप्राप्तिस्थल में द्विगु चरितार्थ है। अब प्रकृतस्थल 'पञ्चगु' में दोनों की साथ प्राप्ति होने पर द्विगु का बहुव्रीहि के द्वारा परत्वात् बाध होगा। इस प्रकार की आशंका होने पर सिद्धान्ती ने कहा कि यह द्विगु नहीं है। यदि द्विगु नहीं है तो क्या है ऐसी शंका करके कहा कि यह बहुव्रीहि है। किन्तु द्विगु समास 'द्वैमातुरः' इत्यादि प्रयोगों में सावकाश है, इसलिये बहुव्रीहि से इसका बाध होगा। इस प्रकार द्विगु की सावकाशता को न जानते हुए पूर्वपक्षी ने कहा कि 'पञ्चगु' इस प्रयोग में अपवादत्वात् द्विगु की प्राप्ति है। तात्पर्य यह है कि द्विगु समास अपवाद होने के कारण यहाँ बहुव्रीहि को बाधकर प्राप्त होता है। कैयट ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा कि द्विगु की बाधकता का कारण यह है कि बहुव्रीहि समास अन्यपदार्थ में वर्तमान सुबन्त मात्र को होता है। इसकी अपेक्षा तद्धितार्थ की विषयता में संख्यावाचक सुबन्तों का विधीयमान द्विगु विशेष विहित होने के कारण बहुव्रीहि को बाधकर प्राप्त होता है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि पहले कह आये हैं कि प्रत्ययार्थ के उक्त होने पर भी द्विगु से तद्धित होता है। अब यह विवाद चल रहा है कि 'पञ्चगु' में द्विगु है या बहुव्रीहि ? यदि द्विगु सिद्ध हो जाता है तब मतुप् होना चाहिये। यदि

बहुव्रीहि सिद्ध होता है तब मतुप् नहीं होगा। इस प्रसंग में अभी तक यही बात सामने आई है कि पञ्चगु में बहुव्रीहि को बाधकर द्विगु की ही प्राप्ति है।

इसके बाद सिद्धान्ती एकदेशी ने कहा कि यहाँ अन्तरङ्गत्वात् बहुव्रीहि होगा। फिर प्रश्न किया कि बहुव्रीहि में अन्तरङ्गता क्या है? ऐसी आशंका करके उत्तर दिया कि बहुव्रीहिसमास अन्यपदार्थ में होता है और द्विगुसमास विशिष्ट अन्यपदार्थ में होता है। विशिष्ट अन्यपदार्थ का तात्पर्य यह है कि वहाँ तद्धितार्थरूपी अन्यपदार्थ की आवश्यकता होती है। उसमें भी अस्य=द्विगु के निमित्तभूत तस्मिन् तद्धिते=मतुप् रूपी तद्धित में अस्तिग्रहण किया गया है। इस प्रकार अस्ति का अर्थ रूपी आधिक्य की अपेक्षा रखने वाला जो मतुप् प्रत्यय है, तन्निमित्तक द्विगु बहिरङ्ग है, ऐसा कैयट ने कहा। इस पर कहा गया कि यह सिद्धान्ती की उक्ति नहीं है क्योंकि बहुव्रीहि के अन्तरङ्ग होने पर भी द्विगु में अपवादत्व की हानि नहीं हुई है। अर्थात् द्विगु का अपवादत्व यथापूर्व है। जिस प्रकार अच् सामान्य की अपेक्षा से होने वाले यण् का विशिष्ट सवर्ण अच्निमित्तक दीर्घ से बाध हो जाता है। क्योंकि दीर्घ यण् का अपवाद होता है। उसी प्रकार बहुव्रीहि समास के अन्तरङ्ग होने पर भी अपवाद द्विगु से उसका ही बाध होगा।

इस प्रकार की भाष्योक्त उक्ति-प्रत्युक्ति के बाद यह विचार हुआ कि उक्तरीत्या= 'द्वैमातुरः' इत्यादि प्रयोगों में सावकाश होने के कारण द्विगु, बहुव्रीहि का अपवाद नहीं हो सकता। इसलिये परत्वात् बहुव्रीहि से द्विगु का बाध सिद्ध है। दूसरी बात यह है कि यहाँ द्विगु की बहिरङ्गता जो कही गई है वह अधिक की अपेक्षा करने के कारण ही कही गई है न कि केवल विशेष की अपेक्षा करने के कारण। इस प्रकार यह बात भाष्य सम्मत नहीं है कि जो विशेषापेक्ष होता है वह बहिरङ्ग होता है।

अत एव=सामान्यापेक्ष-अन्तरङ्ग और सामान्यविशेषोभयापेक्षबहिरङ्ग होता है इस बात के भाष्य सम्मत न होने के कारण ही भाष्यकार ने ऐसा नहीं कहा कि बहुव्रीहिसमास सुबन्तसामान्यापेक्ष है और द्विगुसमास सुबन्तविशेषापेक्ष है। सामान्यविशेषभाव के आधार पर अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग की स्थिति होने पर भाष्यकार को ऐसा कहना चाहिये था। किन्तु ऐसा न कहने से यह स्पष्ट हो गया कि सामान्यविशेषभाव के आधार पर अन्तरङ्ग-बहिरङ्गभाव भाष्यकार को अभीष्ट नहीं है।

न चार्थकृतबहिरङ्गत्वस्यानाश्रयणादिदमयुक्तम्, एकदेश्युक्तित्वेनादोषात्। अत एवास्तिग्रहणं नोपाध्यर्थं, किन्तु अस्तिशब्दान्मतुबर्थमिति त्वदभिमतं बहिरङ्गत्वमपि द्विगोर्नास्तीति प्रतिपाद्य सिद्धान्तिना 'मत्वर्थे द्विगोः प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति वचनेनैतत्सिद्धमित्युक्तम्। अत एव 'तदोः सः सौ' (७–२–१०६) इति सूत्रेऽनन्त्ययोरिति चरितार्थम्। अन्यथा

प्रत्ययसामान्यापेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वादन्त्यस्यात्वेऽनन्त्यस्यैव सत्वे सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव ।

'पादः पत्' (६–४–१३०) इति सूत्रे भाष्यकैयटयोरप्येतदन्तरङ्गत्वाभाव एव सूचित इति सुधियो विभावयन्तु ।

ऊपर विचार किया गया था कि द्विगु समास बहिरङ्ग है क्योंकि उसके लिये अधिक अस्त्यर्थ की अपेक्षा है । इस बात पर आशंका व्यक्त करते हुए लिख रहे हैं कि इस परिभाषा में अर्थकृतबहिरङ्ग का आश्रयण नहीं किया जाता, यह बात पहले प्रतिपादित की जा चुकी है । ऐसी स्थिति में 'पञ्चगु' में द्विगुसमास को अस्त्यर्थ प्रयुक्त बहिरङ्ग कहना ठीक नहीं है । इस प्रकार की शंका के उत्तर में लिखा गया है कि 'पञ्चगु' शब्द में जो अन्तरङ्गबहिरङ्गभाव का विचार हुआ है, वह एकदेशी भाष्य की उक्ति है । इसलिये कोई दोष नहीं है ।

अत एव=अस्त्यर्थ के आधार पर द्विगु को बहिरङ्ग बनाना एकदेशी भाष्य होने के कारण उचित नहीं है । इस बात को स्वीकार करने से ही यह बात संगत होती है कि मतुप्प्रत्ययविधायक सूत्र में जो अस्तिग्रहण है वह उपाधि के लिये अर्थात् प्रकृत्यर्थ का विशेषण अथवा मतुप् प्रत्यय के होने में निमित्त नहीं है, किन्तु अस्ति शब्द से मतुप् प्रत्यय करके 'अस्तिमान्' ऐसा प्रयोग बनाने के लिये है । ऐसी स्थिति में जब मतुप् प्रत्यय के लिये अस्त्यर्थ की आवश्यकता नहीं है तब मतुप् निमित्तक द्विगु की त्वदभिमत बहिरङ्गता भी नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करके सिद्धान्ती ने कहा कि तब तो 'पञ्चगु' इस प्रयोग में द्विगु होने लगेगा । क्योंकि वह बहिरङ्ग नहीं है, ऐसा सोचकर उसने कहा कि 'मत्वर्थे द्विगोः प्रतिषेधो वक्तव्यः' इस वचन से यहाँ द्विगु का निषेध सिद्ध है ।

अत एव=सामान्यापेक्ष अन्तरङ्ग और विशेषापेक्ष बहिरङ्ग होता है इस बात को न मानने से ही 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इस सूत्र में 'अनन्त्ययोः' यह पद चरितार्थ होता है । 'सः' 'एषः' इत्यादि प्रयोगों में अन्त्य दकार और तकार को सकार न हो जाय, यही उसका प्रयोजन है । यदि सामान्यपेक्ष अन्तरङ्ग और विशेषापेक्ष बहिरङ्ग होता तो 'तद्+सु' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' इस सूत्र से प्राप्त अन्त्य के स्थान पर अकारादेश प्रत्यय सामान्य की अपेक्षा रखने के कारण अन्तरङ्ग होता और 'सु' रूप विशेष प्रत्यय की अपेक्षा से तकार दकार को होने वाला सकारादेश बहिरङ्ग होता, ऐसी स्थिति में अन्तरङ्गत्वात् अन्त्य दकार को अकार और पररूप करने के बाद परिशेषात् अनन्त्य तकार को ही सकार सिद्ध है तो ऐसी स्थिति में 'अनन्त्ययोः' इस पद की आवश्यकता न रहने के कारण व्यर्थता स्पष्ट ही है ।

जब सामान्यापेक्ष और विशेषापेक्ष के आधार पर अन्तरङ्गबहिरङ्गभाव नहीं माना गया तब अकारादेश की दृष्टि में सकारादेश असिद्ध नहीं होगा । इसलिये

अन्त्य को सकारादेश न होने लगे, इसलिये 'अनन्त्ययोः' इस पद की सार्थकता होती है।

'पादः पत्' इस सूत्र के भाष्य और कैयट में इस प्रकार के अन्तरङ्गत्व का अभाव ही सूचित किया गया है। वहाँ 'अरुदितम्' इस प्रयोग में इट् की अपेक्षा 'तम्' आदेश को अन्तरङ्ग बताया गया है।

यदि सामान्यापेक्ष अन्तरङ्ग और विशेषापेक्ष बहिरङ्ग होता तो तमादिक आदेश विशेषापेक्ष होने के कारण बहिरङ्ग हो जाते। ऐसी स्थिति में उनका अन्तरङ्गत्व प्रतिपादन करना असंगत हो जाता। ऐसा विद्वानों को समझना चाहिये।

नन्वेवम् 'असुस्रुवदि'त्यत्र लघूपधगुणादुवङोऽल्पनिमित्तत्वाभावादुवङ् न स्यादिति चेत्, न। तत्रान्तःकार्यत्वरूपान्तरङ्गत्वसत्त्वात्। अन्तः-कार्यत्वञ्च पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वमङ्गशब्दस्य निमित्तपरत्वात्।

नन्वेवम् = 'अन्तर्भूतनिमित्तकत्वमन्तरङ्गत्वम्' इस प्रकार अन्तरङ्ग का लक्षण स्वीकार करने पर उसमें न्यूनता दिखाते हुए लिख रहे हैं—नन्वेवम्। तात्पर्य यह है कि 'स्रु'धातु से णिच् प्रत्यय करके लुङ्लकार लाने पर अडागम और च्लि प्रत्यय तथा उसे चङादेश करने के बाद धातु को द्वित्वादि करके 'अ सु स्रु अ त्' इस स्थिति में सार्वधातुकनिमित्तक लघूपधगुण और चङ्निमित्तक उवङ् ये दोनों साथ ही प्राप्त हैं। इन दोनों में अन्तरङ्गत्वात् उवङ् करके 'असुस्रुवत्' यह प्रयोग बनाया जाता है। किन्तु उवङ् में वाञ्छित अन्तरङ्गता सिद्ध नहीं हो रही है, क्योंकि बहिरङ्गत्वेन विवक्षित शास्त्रीयसप्तम्यन्त पद से आश्रीयमाण जो शब्दसमुदाय उसका घटक यदि किसी शास्त्र के सप्तम्यन्तपद से गृहीत होता है तो वह अन्तरङ्ग कहा जाता है। प्रकृत में बहिरङ्गत्वेन अभिमतशास्त्र 'पुगन्तलघूपधस्य च' यह शास्त्र है। इसमें सप्तम्यन्तपद से (सार्वधातुकार्धधातुकयोः) आश्रीयमाण शब्दसमुदाय 'ति' यह प्रत्यय है, इस ति प्रत्यय का कोई घटक (अवयव) उवङ्विधायक-शास्त्रीय सप्तम्यन्त पद से यहाँ गृहीत नहीं है, क्योंकि उवङ् में निमित्त चङ् का अकार है और यह ति प्रत्यय का घटक नहीं है। इस प्रकार इस परिभाषा में स्वीकृत अन्तरङ्गत्व का उवङ् में अभाव होने के कारण 'असुस्रुवत्' इस प्रयोग में उवङ् नहीं होगा। इस प्रकार की शंका के उत्तर में लिख रहे हैं कि इस परिभाषा में न केवल पूर्वोक्त अन्तरङ्गत्व ही लिया जाता है, अपितु 'अन्तःकार्यत्वरूप अन्तरङ्गत्व' भी इस परिभाषा में ग्राह्य है। अन्तःकार्यत्व का अर्थ है पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्व। अर्थात् जिसका निमित्त पहले उपस्थित हो वह अन्तरङ्ग कहा जाता है। उवङ्-विधायकशास्त्र का निमित्त अकार (चङ्) पहले उपस्थित होता है, इसलिये उवङ् अन्तरङ्ग होता है। अन्तःकार्यत्व का अर्थ पूर्वोपस्थितिनिमित्तकत्व इसलिये

किया जाता है कि अन्तरङ्ग शब्द के भीतर आया हुआ जो अङ्ग शब्द है उसका अर्थ निमित्त है। उसके निमित्तपरक होने के कारण, पूर्वोपस्थिति निमित्तकत्वरूप अन्तरङ्गत्व इस परिभाषा में लिया गया, जिससे 'असुस्रुवत्' का दोष दूर हो गया।

इदमन्तरङ्गत्वं लोकन्यायसिद्धमिति मनुष्योऽयं प्रातरुत्थाय शरीरकार्याणि करोति, ततः सुहृदां, ततः सम्बन्धिनाम्। अर्थानामपि जातिव्यक्तिलिङ्गसंख्याकारकाणां बोधक्रमः शास्त्रकृतकल्पितस्तत्क्रमेणैव च तद्बोधकशब्दप्रादुर्भावः कल्पित इति तत्क्रमेणैव तत्कार्याणीति 'पट्व्ये'त्यादावन्तरङ्गत्वात् पूर्वं पूर्वयणादेशः परयणादेशस्य बहिरङ्गतया असिद्धत्वादित्यनेन 'अचः परस्मिन्' (१–१–५७) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

तदपि युगपत्प्राप्तौ पूर्वप्रवृत्तिनियामकमेव। यथा 'पट्व्ये'त्यत्र पदस्य विभज्यान्वाख्याने न तु जातस्य बहिरङ्गस्य तादृशेऽन्तरङ्गेऽसिद्धतानियामकं प्रागुक्तलोकन्यायेन तथैव लाभादिति 'वाह ऊठ्' (६–४–१३२) सूत्रे कैयटे स्पष्टम्। अत एव 'वाय्वो'रित्यादौ वलिलोपो यणः स्थानिवत्त्वेन वारितः 'अचः परस्मिन्' इत्यत्र भाष्यकृता। क्रमेणान्वाख्याने तु उक्तोदाहरणे पूर्वप्रवृत्तिकत्वमप्यन्तरङ्गत्वं बहिरङ्गस्यासिद्धत्वमपि निमित्ताभावादप्राप्तिरूपं बोध्यम्।

इदमन्तरङ्गत्वम्=अन्तःकार्यत्वरूप अर्थात् पूर्वोपस्थितनिमित्तिकत्वरूप अन्तरङ्गत्व लोकन्यायसिद्ध है। लोक में देखा जाता है कि यह मनुष्य प्रातःकाल उठ कर अपने शरीर का कार्य करता है क्योंकि मनुष्य के लिये सबकी अपेक्षा उसका शरीर पहले उपस्थित होता है। इसके बाद अपने मित्रों का और उसके बाद अपने सम्बन्धियों का कार्य करता है। इसी प्रकार शब्दशास्त्र में शब्द सुनने के बाद सर्वप्रथम जाति का बोध होता है। इसके बाद जातिपुरस्कृतव्यक्ति का भान होता है। इसके बाद जातिविशिष्टव्यक्ति में लिङ्गसंख्या और कारक का सम्बन्ध होता है। यह सारा बोध शास्त्रकार से कल्पित है। जिस क्रम से जाति, व्यक्ति आदि अर्थों की उपस्थिति होती है, उसी क्रम से तद्बोधक शब्दों का भी प्रादुर्भाव होता है। जिस क्रम से ये उपस्थित होते हैं उसी क्रम से उनके कार्य भी होते हैं। इसलिये पटु शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् और उससे तृतीया का एकवचन टाविभक्ति लाने पर 'पटु+इ+आ' इस स्थिति में उकार और इकार दोनों को समकाल में यण् की प्राप्ति होने पर पहले उपस्थित निमित्त वाला पूर्वयण् अन्तरङ्गत्वात् पीछे से उपस्थित है निमित्त जिसका ऐसे पर यण् को (बहिरङ्ग को) बाध लेता है। इसके बाद परयणादेश करके 'पट्व्या' यह रूप सिद्ध होता है। यह बात 'अचः परस्मिन्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

तदपि=अन्तःकार्यत्वरूप अन्तरङ्गत्व भी अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग के युगपत् प्राप्ति में पूर्व की प्रवृत्ति का नियामक होता है। जैसा कि 'पट्व्या' इस प्रयोग में पद के विभज्यान्वाख्यान पक्ष में अर्थात् पदसंस्कारपक्ष में 'पटु+इ+आ' इस स्थिति में दोनों यण् समकाल में प्राप्त हैं, यहाँ पूर्वोपस्थितनिमित्तक पूर्वयण् अन्तरङ्ग होने के कारण बहिरङ्ग परयण को बाध लेता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अन्तः-कार्यत्वरूप अन्तरङ्गत्व समकालप्राप्तबहिरङ्ग को असिद्ध करता है, न कि जात-बहिरङ्ग को पूर्वोपस्थितनिमित्तक अन्तरङ्ग की अपेक्षा असिद्ध करता है। प्रागुक्त लोकन्याय से इसी प्रकार के तथ्य का लाभ हुआ है। यह बात 'वाह ऊठ्' सूत्र के कैयट में स्पष्ट है। अत एव=अन्तःकार्यत्वरूप अन्तरङ्ग समकालप्राप्त बहिरङ्ग को असिद्ध करता है न कि जातबहिरङ्ग को, इस बात को स्वीकार करने से ही 'वाय्वोः' इस प्रयोग में उकार के स्थान पर वकारयणादेश करने पर 'लोपो व्यो-र्वलि' इस सूत्र से प्राप्त यकार का लोप 'अचः परस्मिन्' सूत्र से यण् के स्थानि-वद्भाव के द्वारा वारण किया गया। स्थानिवद्भाव से उकार के आ जाने के कारण वल् परत्वाभाव होने से यकार का लोप नहीं होता है।

यदि अन्तःकार्यत्व रूप अन्तरङ्गत्व जातबहिरङ्ग को भी असिद्ध करे तो 'वाय्वोः' इस प्रयोग में यकार का लोप अन्तःकार्यत्वरूप अन्तरङ्ग होने के कारण जात-बहिरङ्ग यणादेश को असिद्ध कर देता तो यलोप की प्राप्ति ही नहीं होती। ऐसी स्थिति में स्थानिवद्भाव के द्वारा यलोप का वारण करना असंगत हो जाता।

भाष्य में 'पट्व्या' 'मृद्व्या' इत्यादि उदाहरणों में पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वरूप अन्तरङ्गत्व का जो आश्रयण किया गया है वह पदावधिक अन्वाख्यान पक्ष में किया गया है। तात्पर्य यह है कि पद का विभाग करके जब अन्वाख्यान करते हैं तभी पूर्व और पर दोनों यण् समकाल में प्राप्त होते हैं। यदि क्रमेण अन्वाख्यान किया जाय तो ङीषन्त 'पट्वी' का प्रथम अन्वाख्यान होगा। उस समय दोनों यण् की समकाल में प्राप्ति न होने के कारण परिभाषा का कोई उपयोग नहीं है। वहाँ बिना परिभाषा के ही पहला यण् स्वतःप्रवृत्त होगा। उसकी स्वतःपूर्वप्रवृत्ति ही उसकी अन्तरङ्गता होगी। उस समय 'आ' रूप निमित्त के अभाव के कारण दूसरे यण की प्राप्ति ही नहीं है। दूसरे यण की यह अप्राप्ति ही उस बहिरङ्ग की असिद्धता समझनी चाहिये।

यत्तु एवंरीत्या पूर्वस्थानिकमप्यन्तरङ्गमिति। तच्चिन्त्यम्, 'त्रजिष्ठ' इत्यादौ विन्मतोर्लुकि टिलोपस्यापवादविन्मतोर्लुक्प्रवृत्त्या जातिपक्षाश्रयणेन वारणप्रयासस्य 'प्रकृत्यैकाच्' (६-४-१६३) इति सूत्रप्रयोजनखण्डनावसरे भाष्यकृत्कृतस्य नैष्फल्यापत्तेः। त्वदुक्तरीत्या विन्मतोर्लुको बहिरङ्गासिद्ध-

त्वेन अनायासतस्तद्वारणात्। भाष्य ईदृशरीत्या बहिरङ्गासिद्धत्वस्य क्वाप्यनाश्रयणाच्च। परिभाषायामङ्गशब्दस्य निमित्तपरत्वाच्च।

अब यहाँ यह विचार किया जा रहा है कि जिस प्रकार 'पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वमन्तरङ्गत्वम्' इस प्रकार का अन्तरङ्गत्व स्वीकार किया जा चुका है, उसी रीति से 'पूर्वस्थानिकत्वमन्तरङ्गत्वम्' इस प्रकार का भी अन्तरङ्गत्व स्वीकार किया जाना चाहिये। किन्तु पूर्वस्थानिक कार्य की अन्तरङ्गता ग्रन्थकार को अभीष्ट नहीं है। इसलिये लिख रहे हैं कि 'तच्चिन्त्यम्'—अर्थात् 'पूर्वस्थानिकत्वमन्तरङ्गत्वम्' ऐसा कहना चिन्त्य है, क्योंकि 'स्रग्विन्' शब्द से इष्ठन् प्रत्यय करने पर पहले 'इन्' रूपी टि का लोप प्राप्त होता है, उसे बाध कर 'विन्मतोर्लुक्' इस सूत्र से 'विन्' का लोप कर दिया है। इसके बाद 'स्रज्-इष्ठ' इस स्थिति में फिर 'अज्' रूपी 'टि' का लोप प्राप्त होने पर 'प्रकृत्यैकाच्' इस सूत्र से प्रकृतिभाव हो जाने के कारण टिलोप का वारण किया जाता है। इस 'प्रकृत्यैकाच्' सूत्र से दूसरी बार प्राप्त टिलोप का वारण किया गया है। भाष्यकार ने जातिपक्ष का आश्रयण करके 'प्रकृत्यैकाच्' सूत्र के प्रयोजनों का खण्डन किया है। उसका तात्पर्य यह है 'स्रजिष्ठः' इस प्रयोग में विन्लोप के पहले और उसके बाद भी जो टिलोप प्राप्त होते हैं, उन सभी टिलोपत्व जात्यवच्छिन्न का 'विन्मतोर्लुक' सूत्र है। इस प्रकार टिलोप के सम्बन्ध में भाष्यकार ने जातिपक्ष का आश्रयण करके 'स्रजिष्ठः' इत्यादि प्रयोगों में टिलोप के वारण का प्रयास किया है। 'पूर्वस्थानिकत्वमन्तरङ्गत्वम्' ऐसा अन्तरङ्ग मानने पर 'स्रज्+इष्ठः' इस स्थिति में पूर्वस्थानिक होने के कारण 'अज्' का टिलोप अन्तरङ्ग हो जायेगा और इसकी दृष्टि में बहिरङ्ग 'विन्' का लोप असिद्ध हो जायेगा। ऐसी स्थिति में 'अज्' का लोप स्वयमेव प्राप्त नहीं होगा तो जातिपक्ष के आश्रयण के द्वारा उसके लोप के वारण का प्रयास व्यर्थ हो जायेगा। इससे सिद्ध होता है कि पूर्वस्थानिकत्वरूप अन्तरङ्गत्व मान्य नहीं है। भाष्य में इस प्रकार से बहिरङ्गासिद्धत्व का आश्रयण कहीं भी नहीं किया गया है। दूसरी बात यह है कि परिभाषा में अङ्ग शब्द का अर्थ निमित्त है, न कि स्थानी। इसलिये पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वरूप अन्तरङ्गत्व तो मान्य है, किन्तु पूर्वस्थानिकत्वरूप अन्तरङ्गत्व मान्य नहीं है।

इयं चोत्तरपदाधिकारस्थबहिरङ्गस्य नासिद्धत्वबोधिकेति च 'एकाचोऽम्' (६-३-६८) इति सूत्रे भाष्ये पूर्वपक्ष्युक्तिरिति सा नादर्तव्या। 'परन्तप' इत्यादावनुस्वारे नासिद्धत्वं मुमस्त्रिपाद्यां तदप्रवृत्तेः।

नव्यमतेऽपि यथोद्देशपक्षाश्रयणेनान्यथासिद्धोदाहरणदानेन तस्य तदुक्तित्वमावश्यकमित्याहुः। आभीयेऽन्तरङ्गे आभीयस्य बहिरङ्गस्य समान्या-

श्रयस्य नानेनासिद्धत्वमसिद्धत्वादित्यसिद्धवत्सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। एवं सिचिवृद्धेर्येन नाप्राप्तिन्यायेनान्तरङ्गबाधकत्वमूलकं न सिच्यन्तरङ्गमस्तीति 'इको गुण' (१-१-३) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ॥ ५० ॥

यहाँ अब यह विचार किया जा रहा है कि यह परिभाषा उत्तरपदाधिकारस्थ बहिरङ्ग को अन्तरङ्ग के प्रति असिद्ध करती है या नहीं ? इस प्रसंग में 'इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च' ६।३।६८ सूत्र के भाष्य में कहा गया कि 'श्रियमात्मानं मन्यते यत् कुलं तत्—श्रियंमन्यम्' इस प्रयोग में उत्तरपदनिमित्तक अम् बहिरङ्ग होने के कारण असिद्ध हो जायेगा तो 'स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र से लुक् नहीं होगा। इसी प्रकार 'द्विषन्तपः' 'परन्तपः' इन प्रयोगों में यदि मुम् बहिरङ्ग होने के कारण असिद्ध हो जाय तो 'द्विषन्तपः' में संयोगान्ततकार का लोप नहीं होगा और 'परन्तपः' इस प्रयोग में अनुस्वार परसवर्ण नहीं होगा। इसलिये वहाँ कहा गया कि यह परिभाषा उत्तरपदाधिकारस्थ बहिरङ्ग का असिद्धत्वबोधन नहीं करती। किन्तु यह कथन पूर्वपक्षी की उक्ति है, इसलिये यह आदणीय नहीं है।

इस कथन के अस्वीकार की स्थिति में 'परन्तप' इत्यादि प्रयोगों में दोषों का वारण किस प्रकार होगा ? इस शंका को ध्यान में रखकर लिखा गया है कि 'परन्तपः' इत्यादि प्रयोगों में अनुस्वार आदि कार्यों की कर्त्तव्यता में मुम् असिद्ध नहीं होगा, क्योंकि अनुस्वार परसवर्ण आदि जो अन्तरङ्ग कार्य हैं, वे त्रिपादी हैं और त्रिपादी अन्तरङ्ग में यह परिभाषा लगती नहीं है। इसका कारण यह है कि यह परिभाषा सपादसप्ताध्यायस्था है इसलिये त्रिपादी अन्तरङ्ग इसके प्रति स्वयमेव असिद्ध हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में इस परिभाषा के द्वारा त्रिपादी अन्तरङ्ग के प्रति बहिरङ्ग की असिद्धि नहीं होती है। इस प्रकार उपर्युक्त स्थलों में मुम् के असिद्ध न होने से वाञ्छित कार्य की सिद्धि हो जाती है।

यदि कहा जाय कि, नवीन वैयाकरण दीक्षितादि के मतानुसार यह परिभाषा कार्यकालपक्ष में त्रिपादी में लग जायेगी तो मुम् की असिद्धि के कारण उपर्युक्त दोष तदवस्थ ही है तो इसके उत्तर में लिखा गया है कि नव्यमत में यथोद्देशपक्ष का आश्रयण करने से त्रिपादी में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। दूसरी बात यह है कि उपर्युक्त सारे उदाहरण अन्यथा=प्रकारान्तर से सिद्ध है। वह प्रकारान्तर यही है कि त्रैपादिक अन्तरङ्ग में यह परिभाषा नहीं लगेगी तो बहिरङ्ग मुमादि असिद्ध नहीं होंगे। इस प्रकार अन्यथा सिद्ध उदाहरण देने से भी यही बात सिद्ध होती है कि उत्तरपदाधिकारस्थ बहिरङ्ग की असिद्धता का बोधन यह परिभाषा नहीं करती है यह वचन पूर्वपक्षी की उक्ति है।

अब यहाँ यह शंका हो रही है कि पा धातु से लिट् के स्थान पर क्वसुप्रत्यय करने पर 'पा+वस्' इस स्थिति में द्वित्वादि कार्य करके शस् विभक्ति लाने पर 'पा-पा-

वस् + शस्' इस स्थिति में व को सम्प्रसारण उकार करने पर जो 'आतो लोप इटि च' इस सूत्र से आकार का लोप होता है, वह अब नहीं होगा। क्योंकि इस परिभाषा के द्वारा अन्तरङ्ग लोप की कर्त्तव्यता में बहिरङ्ग सम्प्रसारण असिद्ध हो जायेगा तो आकार का लोप नहीं होगा, जिससे 'पपुषः' इस प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इस शंका के उत्तर में नागेशभट्ट का कहना है कि यह परिभाषा 'वाह ऊठ्' सूत्र के ऊठ् ग्रहण से ज्ञापित होने के कारण तद्देशीय है, अतएव आभीय है। इसलिये परिभाषारूप आभीय के प्रति 'आतो लोप' यह आभीय सूत्र 'असिद्धवदत्राभात्' इससे असिद्ध कर दिया जायेगा। इस स्थिति में अन्तरङ्गशास्त्र के रूप में 'आतोलोप' इस सूत्र का यहाँ ज्ञान नहीं रहेगा। इसलिये उसके प्रति बहिरङ्ग का असिद्धत्व बोधन यह परिभाषा नहीं करेगी।

यहाँ आभीय अन्तरङ्ग 'आतो लोप इटि च' यह सूत्र है और आभीय बहिरङ्ग 'वसोः सम्प्रसारणम्' यह सूत्र है। समानाश्रय बहिरङ्ग यह आभीय इस परिभाषा के द्वारा असिद्ध नहीं किया जाता क्योंकि परिभाषारूपी आभीय की दृष्टि में अन्तरङ्ग आभीय ही असिद्ध है, तब किसके प्रति बहिरङ्ग को असिद्ध किया जाय।

इसी प्रकार 'इको गुणवृद्धी' इस सूत्र के भाष्य में यह जो विचार किया गया है कि ण्यन्त धातुओं से तथा 'श्वि' धातु से लुङ् लकार लाने पर गुण अयादेश करने से यान्त हो जाने के कारण यान्तत्वात् ही वृद्धि का निषेध 'ह्म्यन्तक्षण' इत्यादि सूत्र से सिद्ध है तो वृद्धि निषेधक इस सूत्र में 'णि और श्वि' ग्रहण क्यों किया गया ? यही व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'न सिच्यन्तरङ्गमस्तीति' अर्थात् सिच् पर में रहने पर अन्तरङ्ग गुण नहीं होगा। इसलिये वृद्धि बाधन के लिये 'णि' और 'श्वि' ग्रहण आवश्यक है। यह जो विचार है यह कोई नई बात नहीं है किन्तु सिच् प्रत्यय पर में रहने पर जो वृद्धि होती है वह गुण का अपवाद है अतः 'येन नाप्राप्ति' न्याय से अन्तरङ्ग गुण को अपवादत्वात् बाधकर वृद्धि होने लगेगी। इसी बात को 'न सिच्यन्तरङ्गम्' इस शब्द के द्वारा कहा गया है। यह बात 'इको गुणवृद्धी' इस सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है ॥ ५० ॥

नन्वेवम् 'अक्षद्यूरि'त्यादौ बहिरङ्गस्योठोऽसिद्धत्वादन्तरङ्गो यण् न स्यादत आह—

ननु एवम् = इस प्रकार 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इस परिभाषा को स्वीकार करने पर 'अक्षद्यूः' इस प्रयोग में बहिरङ्ग ऊठ् के असिद्ध हो जाने के कारण अन्तरङ्ग यण् नहीं होगा, जिससे उक्त प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

यहाँ ऊठ् की बहिरङ्गता और यण् की अन्तरङ्गता के ज्ञान के लिये 'अक्षद्यूः' इस प्रयोग की सिद्धि पर विचार करना आवश्यक है। यहाँ अक्ष पूर्वक दिव् धातु से

'अक्षैर्दीव्यति' इस विग्रह में कर्त्ता अर्थ में क्विप् प्रत्यय होता है। इसके बाद 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इस सूत्र से वकार को ऊठ् होता है। क्विप् का सर्वापहारी लोप करके के बाद 'अक्ष-दि-ऊ' इस स्थिति में यण् करके उक्त प्रयोग को बनाया जाता है। यहाँ ऊठ् का निमित्त क्विप् प्रत्यय है, और यण् का निमित्त ऊठ् का ऊकार है। इस प्रकार ऊठ् के निमित्त के अन्तर्भूत निमित्तक होने के कारण यण् अन्तरङ्ग है और ऊठ् उसकी अपेक्षा बहिरङ्ग है। 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इस परिभाषा के द्वारा अन्तरङ्ग यण् के प्रति जातबहिरङ्ग ऊठ् जब असिद्ध हो जायेगा, तो वाञ्छित यण् यहाँ नहीं हो सकेगा, इसलिये यह परिभाषा आवश्यक हुई—

नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः ॥ ५१ ॥

इस परिभाषा में बहिष् शब्द बहिरङ्ग का बोधक है। बहिष् का भाव=बहिष्ट्व कहा जाता है। लक्षण के द्वारा 'बहिष्ट्व' शब्द का अर्थ बहिरङ्गप्रयुक्तासिद्धत्व होता है, इसलिये इस प्रकार परिभाषा का अर्थ होता है कि—अच् निष्ठ अन्यानन्तर्य (अन्यकृतव्यवधानराहित्य) निमित्तक अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यता में जातबहिरङ्ग-शास्त्र असिद्ध नहीं होता है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि 'अक्षद्यूः' इस प्रयोग में अच्निष्ठ अन्यानन्तर्यनिमित्तक अन्तरङ्गकार्य यण् की कर्त्तव्यता में जातबहिरङ्ग ऊठ् असिद्ध नहीं हुआ। इसलिये यहाँ यण् हो गया, जिससे उक्त प्रयोग की सिद्धि हो गई।

अब इस परिभाषा में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए लिख रहे हैं—

अत्र 'षत्वतुकोः' (६-१-८६) इति सूत्रस्थतुग्ग्रहणं ज्ञापकम्। अन्यथा 'अधीत्य' 'प्रेत्ये'त्यादौ समासोत्तरं ल्यप्प्रवृत्त्या पूर्वं समासे जाते तत्र संहिताया नित्यत्वाद्ल्यबुत्पत्तिपर्यन्तमप्यसंहितयाऽवस्थानासम्भवेनैकादेशे ल्यपि तुग-पेक्षया पदद्वयसम्बन्धिवर्णद्वयापेक्षैकादेशस्य बहिरङ्गतयाऽसिद्धत्वेन तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। पदद्वयसम्बन्धिवर्णद्वयापेक्षं बहिरङ्गमिति 'प्रेद्ध' इत्यादौ गुणो बहिरङ्ग इति ग्रन्थेन 'न धातुलोपः' (१-१-४) इति सूत्रे 'संयोगान्तस्य लोपः' (८-२-२३) इति सूत्रे च भाष्ये स्पष्टम्।

'षत्वतुकोरसिद्धः' इस सूत्र में किया गया तुक् का ग्रहण इस परिभाषा में ज्ञापक है। अधि पूर्वक 'इङ्' धातु से क्त्वा प्रत्यय करने पर 'अधि-इ-त्वा' इस स्थिति में पहले समास होता है। समास में संहिता नित्य होती है। इसलिये जब तक समास प्रयुक्त ल्यप् नहीं होता, तब तक संहिताप्रयुक्तसन्धिकार्य न हो, इसमें कोई प्रमाण न होने के कारण 'क्त्वा' के स्थान पर ल्यप् और दीर्घ एकादेश ये दोनों कार्य साथ ही हो जाते हैं। इस प्रकार 'अधीय' ऐसा रूप बन जाने पर ह्रस्व के अभाव में यहाँ

तुक् किस प्रकार हो ? इसलिये उक्त सूत्र में किया गया तुग्-ग्रहण सार्थक होता है, क्योंकि इसके द्वारा तुक् की कर्त्तव्यता में एकादेश असिद्ध हो जाता है, जिससे ह्रस्वइकार की उपलब्धि होने से तुक् की सिद्धि होती है। यही तुक्-ग्रहण का प्रयोजन है।

यदि यह परिभाषा नहीं होती तो तुक्-ग्रहण व्यर्थ ही होता, क्योंकि 'अधीत्य' इस रूप की सिद्धि करने में एक पदाश्रित तुक् की अपेक्षा पदद्वयसम्बन्धी वर्णद्वय-निमित्तक दीर्घ एकादेश बहिरङ्ग होने के कारण 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इस परिभाषा के द्वारा असिद्ध हो जायेगा, जिससे ह्रस्व इकार की उपलब्धि और तत्प्रयुक्त तुक् स्वयं सिद्ध है। ऐसी स्थिति में तुक् ग्रहण की व्यर्थता स्पष्ट ही है। यही तुग्-ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है।

परिभाषा के ज्ञापित होने पर ह्रस्वरूप अच्निष्ठ अन्यानन्तर्यनिमित्तक अन्तरङ्ग कार्य तुक् की कर्त्तव्यता में जातबहिरङ्ग दीर्घ एकादेश असिद्ध नहीं होता है, इसलिये उसे असिद्ध करने के लिये तुग्-ग्रहण सार्थक होता है।

पदद्वयसम्बन्धी और वर्णद्वयनिमित्तक कार्य बहिरङ्ग होता है, यह बात 'न धातुलोप' तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' इन सूत्रों के भाष्य में स्पष्ट है। वहाँ प्र पूर्वक इन्ध् धातु से क्त प्रत्यय 'अनिदिताम्' सूत्र से नकार का लोप करके 'प्रेद्धः' इस प्रयोग को बनाते समय यह विचार किया गया कि 'प्र+इद्धः' इस स्थिति में धात्वंश नकार के लोप का निमित्त क्त प्रत्ययरूप आर्धधातुक के पर में रहने के कारण 'आदगुणः' सूत्र से गुण नहीं होना चाहिये। ऐसी आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि यहाँ होने वाला गुण पदद्वय सम्बन्धी वर्णद्वयनिमित्तक होने के कारण बहिरङ्ग है और 'न धातुलोपः' सूत्र से किया जाने वाला निषेध इसकी अपेक्षा अन्तरङ्ग है। इसलिये अन्तरङ्ग निषेध की दृष्टि में बहिरङ्ग गुण असिद्ध है, इसलिये निषेधशास्त्र गुण को देखता ही नहीं है। तस्मात् यहाँ गुण हो जाता है। इस भाष्य से पदद्वय-सम्बन्धी वर्णद्वयनिमित्तक कार्य की बहिरङ्गता स्पष्ट होती है।

यत्तु षत्वग्रहणमपि ज्ञापकम्, अन्यथा 'कोऽसिचदि'त्यादौ पदद्वयसम्बन्धि-वर्णद्वयापेक्षत्वेन बहिरङ्गस्यैकादेशस्यासिद्धत्वेन षत्वाप्रवृत्तौ किं तेनेति। तन्न, इणः पूर्वपदसम्बन्धित्वेन षत्वस्यापि पदद्वयसम्बन्धिवर्णद्वयापेक्षत्वेन उभयोः समत्वात्। एकादेशस्य परादित्त्वेनौसिचदित्यस्य पदत्वेन सस्य पदादित्वाभावान्न 'सात्पदाद्योः' (८-३-१११) इत्यनेन निषेधः। त्रैपादिकेऽन्तरङ्गे कार्यकालपक्षेऽपि बहिरङ्गपरिभाषाया अप्रवृत्तेः पूर्वमुपपादितत्वाच्च।

कुछ लोगों का कहना है कि जिस प्रकार 'षत्वतुकोरसिद्धः' इस सूत्र का तुक्-ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है उसी प्रकार उस सूत्र का षत्वग्रहण भी इस परि-

भाषा का ज्ञापक है। अन्यथा=इस परिभाषा के अभाव में 'कोऽसिचत्' इस प्रयोग में 'एङः पदान्तादति' इस सूत्र से किया गया पूर्वरूप एकादेश पदद्वयसम्बन्धी वर्ण-द्वयापेक्ष होने के कारण बहिरङ्ग होने से अन्तरङ्ग षत्व की दृष्टि से असिद्ध हो जाता तो सकार इण् में पर में नहीं मिलता क्योंकि इण् और सकार के मध्य आकार का व्यवधान हो जाता। इस प्रकार इण् से पर में न होने के कारण सकार को षत्व की प्राप्ति स्वयमेव नहीं है तो उसके लिये षत्वग्रहण की क्या आवश्यकता है। इस प्रकार षत्वग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार पदद्वयसम्बन्धिवर्णद्वयनिमित्तकता पूर्वरूप में है, उसी प्रकार षत्वविधि में इण् जो है वह पूर्वपदसम्बन्धी है, तथा सकार उत्तरपद-सम्बन्धी है। इस प्रकार षत्व और पूर्वरूप दोनों एक समान हो जाते हैं, इसलिये यहाँ अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भाव नहीं है। इसलिये षत्वग्रहण को परिभाषा का ज्ञापक न मानकर तुक् ग्रहण को ही परिभाषा का ज्ञापक मानना उचित है।

यदि कहा जाय कि 'कोऽसिचत्' इस प्रयोग में 'सिचत्' यह अंश एकदेशविकृत-न्याय से पद है, इसलिये सकार पदादि है। इस पदादि सकार को षत्व का निषेध 'सात्पदाद्योः' इस सूत्र से सिद्ध है। ऐसी स्थिति में षत्वग्रहण व्यर्थ होकर परिभाषा का ज्ञापक हो सकता है तो इसके उत्तर में कहा गया है कि उक्त प्रयोग में 'ओसि-चत्' यह रूप परादिवद्भाव से पद है, इसलिये पद के आदि में ओकार है न कि सकार। इस प्रकार सकार के पदादि न होने के कारण 'सात्पदाद्योः' सूत्र से षत्व का निषेध सिद्ध नहीं है, इसलिये षत्वग्रहण चरितार्थ है। वह परिभाषा का ज्ञापक नहीं हो सकता।

यदि कहा जाय कि जब 'ओसिचत्' यह पद है तो षत्वविधि पदद्वयसम्बन्धी न होकर एकपद सम्बन्धी हुई। इसलिये एकादेश की अपेक्षा षत्व अन्तरङ्ग हुआ। इस अन्तरङ्ग षत्व की कर्त्तव्यता में बहिरङ्ग एकादेश असिद्ध हो जायेगा, जिससे षत्व की प्राप्ति ही नहीं होगी, इसलिये षत्वग्रहण व्यर्थ होकर परिभाषा का ज्ञापक हो सकता है। इस प्रकार की शंका के उत्तर में लिखा गया है कि त्रैपादिक अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यता में कार्यकालपक्ष में भी अन्तरङ्ग परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती। यह बात पहले उपपादित की जा चुकी है।

कार्यकालपक्ष में भी अन्तरङ्ग परिभाषा त्रैपादिक अन्तरङ्ग में प्रवृत्त नहीं होती इस कथन से यह स्पष्ट है कि यथोद्देशपक्ष में तो त्रैपादिक अन्तरङ्ग में बहिरङ्ग परिभाषा के लगने का कोई प्रश्न ही नहीं है। यहाँ 'आदेश प्रत्यययोः' (८।३।५७) यह त्रैपादिक सूत्र है।

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'षत्वतुकोरसिद्धः' इस सूत्र का षत्वग्रहण व्यर्थ नहीं है, इसलिये वह इस परिभाषा में ज्ञापक नहीं हो सकता।

परिभाषार्थस्तु—अचोऽन्यानन्तर्यनिमित्तकेऽन्तरङ्गे कर्त्तव्ये जातस्य बहिरङ्गस्य बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः। बहिष्पदेन बहिरङ्गम्, तस्य भावो बहिष्ट्वम् (बहिरङ्गत्वम्), तत्प्रयुक्तासिद्धत्वस्य न प्रक्लृप्तिः, न प्राप्तिरिति। 'असिद्धं बहिरङ्गमित्युक्त्वा नाजानन्तर्ये इति वक्ष्यामी'ति भाष्योक्त्या तत्रत्यस्यान्तरङ्ग इत्यस्यानुवृत्तिसूचनात्। तेन 'पचावेदमि'त्यादौ न दोषः। अन्तरङ्गस्याच्स्थानिककार्यस्यैत्वस्यान्यानन्तर्यनिमित्तकत्वाभावात्।

परिभाषा का अर्थ तो इस प्रकार है—यहाँ 'अजानन्तर्य' शब्द में 'अचः आनन्तर्यम्=अजानन्तर्यम्' इस प्रकार षष्ठी समास है। यहाँ षष्ठी का अर्थ निष्ठत्व है। आनन्तर्य का अर्थ होता है अन्यनिरूपित व्यवधानराहित्य। वह अन्य वर्ण अच् हो या हल् इस बात पर कोई आग्रह नहीं है। जैसे 'इको यणचि' इस सूत्र से अच् से अव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट इक् के स्थान पर यण् किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि इक् और अच् के मध्य किसी वर्ण का व्यवधान नहीं होना चाहिये। इस प्रकार इक् के अच् होने के कारण यह यण् रूपी कार्य अच्निष्ठ अन्यानन्तर्यनिमित्तक कार्य कहा जाता है। यहाँ अच् का अच् के साथ आनन्तर्य है। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इस सूत्र से पित् प्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्व-विशिष्ट ह्रस्व को तुक् करने के कारण यह तुग्विधि ह्रस्वरूप अच्निष्ठ-अन्यानन्तर्यनिमित्तक विधि कही जाती है। यहाँ अच् और हल् का आनन्तर्य होता है। यह आनन्तर्य उद्देश्यभूत जो अच् तन्निष्ठ ही यहाँ ग्राह्य है। इसलिये 'अच्निष्ठ-अन्यानन्तर्यनिमित्तक अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यता में जातबहिरङ्गप्रयुक्त असिद्धत्व की प्राप्ति नहीं होती है' यह इस परिभाषा का अर्थ होता है। यहाँ बहिष् पद से बहिरङ्ग लिया जाता है। उसके भाव को बहिष्ट्व अर्थात् बहिरङ्गत्व कहते हैं। यहाँ 'बहिष्ट्व' पद लक्षणा के द्वारा तत्प्रयुक्त असिद्धत्व का बोधक होता है। प्रक्लृप्तिः=इस शब्द का अर्थ प्राप्ति होता है। इस प्रकार इस परिभाषा का उपर्युक्त अर्थ सम्पन्न होता है।

इस उपर्युक्त व्याख्यान से यह स्पष्ट है कि अजानन्तर्य अन्तरङ्गशास्त्र में ही होना चाहिये, न कि बहिरङ्ग शास्त्र में 'असिद्धं बहिरङ्गम्' ऐसा कहकर 'नाजानन्तर्ये' ऐसा कहूँगा, इस भाष्योक्ति से यह विदित होता है कि प्रस्तुत परिभाषा में 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इस परिभाषा के 'अन्तरङ्गे' इस पद की अनुवृत्ति होती है।

परिभाषा का इस प्रकार अर्थ करने का फल यह होता है कि 'पचावेदम्' इस प्रयोग में पूर्वान्तवद्भाव से उत्तमपुरुषत्व लाकर 'एत ऐ' सूत्र से एकार को ऐकार नहीं होता है। इसका कारण यह है कि यहाँ अन्तरङ्गकार्य जो 'एत ऐ' से विधेय ऐकार है वह अजानन्तर्यनिमित्तक नहीं है। क्योंकि आनन्तर्य शब्द से सप्तम्यन्त या पञ्चम्यन्त अन्यतरबोध्य आनन्तर्य लिया जाता है। 'एत ऐ' सूत्र में न तो कोई

सप्तम्यन्त पद है और न कोई पञ्चम्यन्त पद। इस प्रकार अन्तरङ्ग अच्स्थानिक कार्य ऐत्वविधान अन्यानन्तर्य निमित्तक नहीं होती है, इसलिये प्रस्तुत परिभाषा की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिये ऐत्व की कर्त्तव्यता में बहिरङ्ग गुण असिद्ध हो जाता है, जिससे एकार को ऐत्वापत्तिरूप दोष नहीं होता है।

हरदत्त के मत से अन्तरङ्ग या बहिरङ्ग किसी में भी अजानन्तर्य होने पर बहिरङ्ग की असिद्धि नहीं होती है।

इसी मत के आधार पर 'सुद्ध्युपास्यः' इस प्रयोग में जब अन्तरङ्ग संयोगान्तलोप की दृष्टि में बहिरङ्ग यण् की असिद्धि की आशंका होती है तब 'नाजानन्तर्ये' इस परिभाषा के द्वारा बहिरङ्ग की असिद्धि नहीं होगी, ऐसा कहा गया है।

यहाँ अन्तरङ्ग, संयोगान्तलोप अजान्तर्य नहीं है किन्तु बहिरङ्ग 'यण्' में ही अजानन्तर्य है। किन्तु हरदत्त का यह मत इसलिये ठीक नहीं है कि ऐसा मानने पर 'पचावेदम्' का दोष वज्रलेपायित हो जायेगा।

जातस्य बहिरङ्गस्येत्युक्त्या 'अयजे इन्द्रं धियती'त्यादौ बहिरङ्गदीर्घगुणादेरसिद्धत्वं सिद्धम्। अत एव 'इण्ङिशीनामाद्गुणः सवर्णदीर्घत्वाच्छचङन्तस्यान्तरङ्गलक्षणत्वादि'त्यादि सङ्गच्छते। अत एव 'ओमाङोश्च' (६-१-९५) इत्याङ्ग्रहणं चरितार्थम्। तद्धि 'शिव आ इही'ति स्थिते परमपि सवर्णदीर्घं बाधित्वा धातूपसर्गकार्यत्वेनान्तरङ्गत्वाद् गुणे वृद्धिबाधनार्थम्।

अच्निष्ठ अन्यानन्तर्यनिमित्तक अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यता में जातबहिरङ्ग असिद्ध नहीं होता है इस वाक्य में जात शब्द का उल्लेख करने से यह फलितार्थ होता है कि समकाल-प्राप्त बहिरङ्ग तो अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यता में असिद्ध होता ही है। इसलिये 'अयज + इ + इन्द्रम्' इस स्थिति में जब गुण और सवर्णदीर्घ ये दोनों समकाल में प्राप्त होते हैं तो अन्तरङ्ग गुण की कर्त्तव्यता में बहिरङ्ग दीर्घ असिद्ध हो जाता है, जिससे उक्तरूप की सिद्धि होती है। यहाँ गुण की अन्तरङ्गता अन्तर्भूत निमित्तकत्वेन होती है। इसी प्रकार 'धि + अ + ति' इस स्थिति में 'इयङ्' और लघूपधगुण इन दोनों की समकाल में प्राप्ति होने पर अन्तरङ्ग इयङ् की कर्त्तव्यता में बहिरङ्ग लघूपध गुण असिद्ध हो जाता है जिससे 'धियति' प्रयोग की सिद्धि होती है।

अत एव = जातबहिरङ्ग ही असिद्ध नहीं होता, यह बात स्वीकार करने से ही विप्रतिषेध सूत्र के भाष्य की यह उक्ति कि 'इण्ङिशीनामाद्गुणः सवर्णदीर्घत्वात्' सार्थक होती है। इसका तात्पर्य यह है कि 'अयज-इ-इन्द्रम्' 'ग्राम-इ-इत्थम्' 'सर्व-इ-इत्थम्' इन प्रयोगों में गुण और सवर्ण दीर्घ इन दोनों की समकालप्राप्ति होने पर सवर्ण दीर्घ को बाधकर 'आद्गुणः' इस सूत्र से गुण हो जाता है। गुण की यह बाधकता समकालप्राप्त बहिरङ्ग की असिद्धि से ही होती है। प्रस्तुत परिभाषा के

अर्थ में 'जातस्य' इस पद का प्रयोग नहीं किया गया होता तो यह बात सिद्ध नहीं होती। क्योंकि उस स्थिति में बहिरङ्गमात्र असिद्ध नहीं होता।

इसी प्रकार 'क्ङिति च' इस सूत्र के भाष्य में 'शचङन्तस्यान्तरङ्गलक्षणत्वात्' यह भाष्यकथन संगत होता है। इसका तात्पर्य यह है 'धि-अ-ति' इस स्थिति में तथा 'अ-सु-स्नु-अत्' इस स्थिति में 'इयङ्' और लघूपधगुण तथा उवङ् और लघूपध-गुण की समकालप्राप्ति होने पर शकार और चङ्निमित्तक अन्तरङ्ग इयङ् और उवङ् के प्रति बहिरङ्ग लघूपधगुण असिद्ध हो जाता है। इससे 'धियति' और 'असुस्नुवत्' इन प्रयोगों की सिद्धि होती है।

अत एव=अच्निष्ठ अन्यानन्तर्यनिमित्तक अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यता में जातबहि-रङ्ग ही असिद्ध नहीं होता, समकालप्राप्त बहिरङ्ग तो असिद्ध होता ही है। यह बात स्वीकार करने से ही 'ओमाङोश्च' इस सूत्र में आङ्ग्रहण की सार्थकता होती है। उस सूत्र में आङ् ग्रहण इसलिये किया गया है कि 'शिव+आ+इहि' इस स्थिति में सवर्णदीर्घ और गुण की एक साथ प्राप्ति होने पर दीर्घ कार्य जो गुण की अपेक्षा पर है उस परत्वात् प्राप्त दीर्घ को बाधकर धातु और उपसर्ग का कार्य होने के कारण अन्तरङ्गत्वात् जब गुण कर दिया जाता है तब 'शिव+एहि' इस स्थिति में 'एत्येधत्यूठ्सु' इस सूत्र से वृद्धि प्राप्त होती है। यह वृद्धि यहाँ न होने लग जाय इसलिये 'ओमाङोश्च' सूत्र का आङ्ग्रहण है। इस आङ्ग्रहण के कारण वृद्धि को बाधकर यहाँ पररूप किया जाता है जिससे 'शिवेहि' रूप की सिद्धि होती है।

यदि यह कहा जाता कि अजानन्तर्यनिमित्तक अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यता में जात-बहिरङ्ग ही नहीं, अपितु बहिरङ्गमात्र असिद्ध नहीं होता है तो 'शिव+आ+इहि' इस स्थिति में गुण के साथ प्राप्त दीर्घरूपी समकाल प्राप्त बहिरङ्ग भी असिद्ध नहीं होता। इसका परिणाम यह होता कि यहाँ पहले दीर्घ कर दिया और उसके बाद गुण करके 'शिवेहि' इस प्रयोग की सिद्धि हो सकती थी तो ऐसी स्थिति में 'आङ्' ग्रहण की क्या आवश्यकता रह जाती? इसलिये यही स्वीकार करना चाहिये कि जात बहिरङ्ग ही असिद्ध नहीं होता किन्तु समकालप्राप्त बहिरङ्ग तो असिद्ध होता ही है। ऐसी स्थिति में 'शिवेहि' इस प्रयोग में समकालप्राप्त बहिरङ्ग दीर्घ, गुण के प्रति असिद्ध हो जाता है। इसलिये पहले गुण करने पर वृद्धि प्राप्त होती है जिसके वारण के लिये आङ्ग्रहण की सार्थकता होती है।

न च 'अक्षद्यूरि'त्यत्र यणि कृते ऊठोऽसिद्धत्वाद्वलि लोपापत्तिरिति वाच्यम्, अचोऽन्यानन्तर्यनिमित्तकेऽन्तरङ्गे कर्त्तव्ये कृते च तस्मिन् यदन्तरङ्गं प्राप्नोति तत्र च कर्त्तव्ये नासिद्धत्वमिति तदर्थात्। असिद्धपरिभाषाया अनित्यत्वेन तद्वारणे त्वस्या वैयर्थ्यम्, तेनैव सिद्धेः।

यहाँ अब यह शंका हो रही है कि 'अक्षच्यूः' इस प्रयोग में अन्तरङ्ग यण् की कर्त्तव्यता में बहिरङ्ग ऊठ् की असिद्धता का निषेध करके यण् की सिद्धि करने पर भी अन्तरङ्ग वलि लोप की कर्त्तव्यता में बहिरङ्ग ऊठ् असिद्ध हो जायेगा, जिससे वहाँ वकार दिखाई पड़ेगा। इसलिये उस वकार रूप वल् को पर में मान कर यहाँ 'लोपो व्योर्वलि' इस सूत्र से यकार का लोप होना चाहिये।

इस प्रकार की शंका होने पर परिभाषा का ऐसा अर्थ कर रहे हैं कि—अच्-निष्ठ अन्यानन्तर्यनिमित्तक अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यता में तथा उस अन्तरङ्ग के कर देने के बाद जो अन्तरङ्ग प्राप्त होता है, उस अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यता में भी जातबहिरङ्ग असिद्ध नहीं होता है। प्रस्तुत स्थल में जातबहिरङ्ग ऊठ् है यह ऊठ् अच्निष्ठ अन्यानन्तर्यनिमित्तक अन्तरङ्ग यण् की कर्त्तव्यता में असिद्ध नहीं हुआ, इसलिये यण् हो गया। यण् हो जाने के बाद 'लोपो व्योर्वलि' इस सूत्र से वलिलोप प्राप्त होता है। यह वलिलोप भी ऊठ् की अपेक्षा अन्तरङ्ग है। यदि इसकी कर्त्तव्यता में बहिरङ्ग असिद्ध हो जाय तो वकार को पर में मान कर लोप होने लग जायेगा। इसलिये कहा गया है कि इस अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यता में भी जातबहिरङ्ग असिद्ध नहीं होता है। इसलिये ऊठ् के असिद्ध न होने के कारण वकार पर में नहीं मिलता है, तस्मात्, वलिलोप नहीं होता है।

यदि कहा जाय कि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' यह परिभाषा अनित्य है। इस-लिये इसकी अनित्यता से ही उक्त स्थल में दोष का वारण हो सकता है क्योंकि अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यता में बहिरङ्ग असिद्ध होगा ही नहीं। इस प्रकार अन्तरङ्ग परिभाषा की अनित्यता से यदि उक्त स्थल में दोष का वारण किया जाय तो 'अस्याः=नाजानन्तर्ये' इस प्रस्तुत परिभाषा की व्यर्थता ही है क्योंकि जब 'तेन एव' अन्तरङ्ग परिभाषा के अनित्यत्व से ही कार्य चल रहा है, तब 'नाजानन्तर्ये' इस परिभाषा की क्या आवश्यकता है।

अत एव 'नलोपः सुप्' (८–२–२) इति सूत्रे कृति तुग्ग्रहणं चरितार्थम्। अन्यथा 'वृत्रहभ्यामि'त्यादौ बहिर्भूतभ्याम्निमित्तकपदत्वाश्रयत्वेन बहिरङ्ग-तया नलोपस्यासिद्धत्वेन सिद्धेस्तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। मम तु तुक्यजानन्तर्य-सत्त्वान्न दोषः।

अत एव='नाजानन्तर्ये' इस परिभाषा को स्वीकार करने से ही 'न लोपः सुप्स्वर' इत्यादि सूत्र में किया 'कृति तुग्ग्रहण' चरितार्थ होता है। कृत् प्रत्यय के पर में रहने पर जहाँ तुक् की विधि हो, वहाँ नलोप असिद्ध होता है, यही उसका तात्पर्य है। इसका फल वृत्रहन् शब्द से भ्याम् विभक्ति लाने पर होता है कि जब यहाँ नकार का लोप कर दिया जाता है तब 'वृत्रह' यह स्वरूप ह्रस्वान्त हो जाता

है। यहाँ लुप् क्विप् प्रत्यय को पर में मानकर ह्रस्व को तुक् की प्राप्ति होती है। कृति तुग्ग्रहण के द्वारा जब नलोप असिद्ध हो जाता है, तब यहाँ तुक् नहीं होता। यही कृतितुग्ग्रहण का फल है। यदि यह परिभाषा नहीं होती तो 'वृत्रहभ्याम्' इस प्रयोग में बहिर्भूत भ्याम् प्रत्यय को निमित्त मानकर पदसंज्ञा के द्वारा किया गया नलोप बहिरङ्ग होने के कारण अन्तर्भूतनिमित्तकअन्तरङ्ग तुक् की कर्त्तव्यता में असिद्ध हो जाता तो तुक् की प्राप्ति स्वयमेव नहीं होती। ऐसी स्थिति में कृति-तुग्ग्रहण की व्यर्थता स्पष्ट ही हो जाती।

जब यह परिभाषा स्वीकृत कर ली जाती है तो तुक्रूपी कार्य के अजानन्तर्य-निमित्तक अन्तरङ्ग होने के कारण उसके प्रति जातबहिरङ्ग नलोप असिद्ध नहीं होता है। ऐसी स्थिति में तुक् की प्राप्ति होती है जिसके वारण के लिये कृति तुग्ग्रहण की सार्थकता होती है।

न चैवं सति 'ह्रस्वस्य पिति' (६–१–७१) इति सूत्रस्थभाष्यविरोधः। तत्र हि 'ग्रामणिपुत्र' इत्यत्र 'इको ह्रस्वोऽङ्यो' (६–३–६१) इति ह्रस्वे कृते तुकमाशङ्क्य ह्रस्वस्य बहिरङ्गासिद्धत्वेन समाहितम्। 'नाजानन्तर्ये' इत्यस्य सत्त्वे तत्र तदप्राप्तेरसङ्गतिः स्पष्टैवेति वाच्यम्। तेन भाष्येणास्या अनावश्यकत्वबोधनात्। एतज्ज्ञापकेनान्तरङ्गपरिभाषाया अनित्यत्व-बोधनस्यैव न्याय्यत्वात्।

यहाँ अब यह शंका हो रही है कि एवं सति='नाजानन्तर्ये' इस परिभाषा को स्वीकार करने पर 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इस सूत्र के भाष्य से विरोध हो रहा है। उक्त सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने ग्रामणी शब्द का पुत्र शब्द के साथ समास करने पर पुत्रशब्दरूपी उत्तरपद को पर में मान कर 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' इस सूत्र से 'ग्रामणी' शब्द के ईकार को ह्रस्व कर देने पर क्विप्निमित्तक तुक् की शंका की। तुक् की शंका करके भाष्यकार ने अन्तरङ्ग तुक् की कर्त्तव्यता में बहिर्भूत पुत्रशब्दनिमित्तक बहिरङ्ग ह्रस्व को असिद्ध करके तुक् का वारण किया है। यदि 'नाजानन्तर्ये' यह परिभाषा रहती है तो अन्तरङ्ग तुक् की कर्त्तव्यता में बहिरङ्ग ह्रस्व असिद्ध ही नहीं होगा तो भाष्यकार ने यहाँ ह्रस्व को किस प्रकार असिद्ध किया है। इस प्रकार इस परिभाषा को स्वीकार करने पर भाष्य की असंगति स्पष्ट ही है।

इस प्रकार की शंका होने पर लिखा गया है कि इस भाष्य के द्वारा 'अस्याः= नाजानन्तर्ये' इस परिभाषा का अनित्यत्व बोधन करने से यह दोष नहीं रह जाता है। क्योंकि जब परिभाषा अनित्य हो जाती है तब 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इस परिभाषा का निषेध नहीं करेगी। इसलिये भाष्यकार ने बहिरङ्ग परिभाषा के द्वारा 'ग्रामणि पुत्रः' इस प्रयोग का जो दोष वारण किया है वह उचित ही है।

विजयाटीकोपेत परिभाषेन्दुशेखर में 'अस्या अनित्यत्वबोधनात्' इस पाठ की जगह पर 'अस्या अनावश्यकत्वबोधनात्' ऐसा पाठ है। अनित्यत्व बोधनात् की अपेक्षा यही पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि आगे चलकर ग्रन्थकार स्वयं इस परिभाषा की अनावश्यकता प्रतिपादित करने वाले हैं। इस प्रकार 'ग्रामणिपुत्रः' इस प्रयोग से सम्बन्धित भाष्य के द्वारा जब 'नाजानन्तर्ये' इस परिभाषा की अनावश्यकता बोधित कर दी गई, तब उक्त प्रयोग में बहिरङ्ग परिभाषा के द्वारा किया गया तुक् का वारण भी असंगत नहीं होता है।

एतज्ज्ञापकेन=इस परिभाषा के ज्ञापक 'षत्वतुकोरसिद्धः' इस सूत्र के तुक् ग्रहण से 'नाजानन्तर्ये' इस परिभाषा का ज्ञापन करने की अपेक्षा अन्तरङ्गपरिभाषा की अनित्यता का बोधन करना ही न्याय्य है। अन्तरङ्गपरिभाषा के अनित्य होने से 'अधीत्य' प्रयोग में बहिरङ्गदीर्घ असिद्ध नहीं होगा, इसलिये उसे असिद्ध करके तुक् करने के लिये तुक् ग्रहण की सार्थकता होती है। इसी प्रकार 'न लोपः सुप्' सूत्र में 'कृति तुक् ग्रहण' भी अन्तरङ्गपरिभाषा की अनित्यता स्वीकार करने पर चरितार्थ हो जाता है, क्योंकि अब भ्याम्निमित्तकपदत्वाश्रयबहिरङ्ग नलोप असिद्ध नहीं होगा। इसलिये 'वृत्रहभ्याम्' इस प्रयोग में तुक् होने लग जायेगा। इस तुक् के वारण के लिये कृति तुक्ग्रहण सार्थक होता है। क्योंकि कृत् परक तुग्विधि में नलोप असिद्ध हो जाता है। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि नाजानन्तर्ये इस परिभाषा की आवश्यकता नहीं है। इस परिभाषा के जितने प्रयोजन हैं जैसे—'अक्षद्यूः' प्रयोग में यण् की सिद्धि तथा वल् पर में रहने पर इसी प्रयोग में यकार के लोप का अभाव, तथा 'रामेण' इस प्रयोग में गुण करने की स्थिति में इन आदेश का असिद्ध न होना इत्यादि, में सारे प्रयोजन अन्तरङ्ग परिभाषा की अनित्यता को स्वीकार करके सिद्ध किये जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि 'नाजानन्तर्ये' इस परिभाषा को स्वीकार करके जातबहिरङ्ग को असिद्ध न करना, अथवा 'अन्तरङ्ग परिभाषा को अनित्य मानकर बहिरङ्ग को असिद्ध न करना—ये दोनों चीजें एक ही है। ऐसी स्थिति में एक दूसरी परिभाषा को स्वीकार करने की अपेक्षा अधिक उपयोगी और पहले से स्वीकृत अन्तरङ्ग परिभाषा की अनित्यता को स्वीकार करना ही न्याय्य है।

अत एव 'अचः परिस्मिन्' (१–१–५७) इति सूत्रे भाष्ये 'पटु ई आ' इत्यत्र परयणादेशस्यानयासिद्धत्वात्पूर्वयणादेशः साधितः। अत एवैषा परिभाषा भाष्ये पुनः क्वापि नोल्लिखिता। अत एवान्तरङ्गपरिभाषामुपक्रम्य विप्रतिषेधसूत्रेऽस्या बहूनि प्रयोजनानि सन्ति तदर्थमेषा परिभाषा कर्त्तव्या प्रतिविधेयं च दोषेष्वित्युक्तं 'सम्प्रसारणाच्च' (६–१–१०८)

इति सूत्रे भाष्ये। प्रतिविधानञ्च परिभाषाविषयेऽनित्यत्वाश्रयणमेवेति ध्वनितमित्यलम् ॥ ५१ ॥

अतएव='नाजानन्तर्ये' इस परिभाषा के अस्तित्व को स्वीकार न करने से ही 'पटु' शब्द से स्त्रीलिंग में ङीष् करके उसके आगे तृतीया विभक्ति लाकर 'पटु+इ+आ' इस स्थिति में जब उकार और इकार इन दोनों के स्थान पर एक साथ यण् प्राप्त होता है तब परयणादेश की अपेक्षा अन्तर्भूतनिमित्तक होने के कारण अन्तरङ्ग-पूर्वयण् की कर्त्तव्यता में परयणादेश को, 'अनया=अन्तरङ्ग परिभाषा के द्वारा असिद्ध करके पूर्व यणादेश की सिद्धि की गई है। यदि 'नाजानन्तर्ये' यह परिभाषा होती तो भाष्यकार ऐसा कहते कि अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यता में जातबहिरङ्ग असिद्ध नहीं होता, किन्तु समकालप्राप्त तो असिद्ध होता ही है। प्रस्तुत स्थल में तो समकाल-प्राप्त बहिरङ्ग परयणादेश है जो अन्तरङ्गपूर्वयण् की कर्त्तव्यता में असिद्ध हो जायेगा, जिससे पूर्वयण् की सिद्धि हो सकती है। किन्तु भाष्यकार ने इस प्रकार न कहकर 'अन्तरङ्गपरिभाषा से परयणादेश की असिद्धि की बात कही है। इससे विदित होता है कि 'नाजानन्तर्ये' यह परिभाषा नहीं है।

अत एव='नाजानन्तर्ये' इस परिभाषा के न होने के कारण ही यह परिभाषा भाष्य में फिर कहीं भी उल्लिखित नहीं हुई।

अत एव='नाजानन्तर्ये' इस परिभाषा के न होने के कारण ही अन्तरङ्ग परि-भाषा का उपक्रम करके विप्रतिषेधसूत्र में इस अन्तरङ्ग परिभाषा के बहुत प्रयोजन हैं, इसलिये यह परिभाषा करनी चाहिये, ऐसा कहा गया है। इस परिभाषा को मानने पर जो दोष आ जाते हैं उनके लिये प्रतिविधान करना चाहिये यह बात 'सम्प्रसारणाच्च' सूत्र के भाष्य में कही गई है। परिभाषा के विषय में यह प्रति-विधान इसके अनित्यत्व का आश्रयण ही है ऐसा ध्वनित किया गया है ॥ ५१ ॥

नन्वेवं 'गोमत्प्रिय' इत्यादौ पदद्वयनिमित्तकसमासाश्रितत्वेन बहिरङ्गं लुकं बाधित्वान्तरङ्गत्वाद्धल्ङ्यादिलोपे नुमादयः स्युरत आह—

नन्वेवम्=इस प्रकार अन्तरङ्गपरिभाषा को स्वीकार करने पर, 'गोमान् प्रियो यस्य' इस अर्थ में 'गोमत्+सु—प्रिय+सु' इस स्थिति में 'गोमत्' शब्द के आगे सु विभक्ति का हल्ङ्यादि सूत्र से लोप प्राप्त है और उस अलौकिक विग्रह वाक्य की समास संज्ञा, और प्रातिपदिक संज्ञा करके 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' सूत्र से विभक्ति का लुक् प्राप्त होता है। इस दोनों कार्यों में लोप अन्तरङ्ग है और दो पदों को निमित्त मानकर जायमान समास के कारण जो लुक् प्राप्त होता है, वह बहिरङ्ग है। अन्तरङ्ग परिभाषा के द्वारा यदि बहिरङ्ग लुक् को बाध कर अन्तरङ्गत्वात् 'हल्ङ्याब्भ्यः' सूत्र से गोमत् शब्द के आगे सु विभक्ति का लोप कर दिया जाता है

तो लोपस्थल में प्रत्ययलक्षण होने के कारण यहाँ प्रत्ययलक्षण से सु बुद्धि करके 'उगिदचाम्' इस सूत्र से नुम् और उपधा को दीर्घ होने लगेगा, जिससे अनिष्टरूप की आपत्ति हो जायेगी।

यदि कहा जाय कि अन्तरङ्ग परिभाषा से जात और समकालप्राप्त बहिरङ्ग को असिद्ध किया जाता है। प्रकृतस्थल में लुक् न तो जात है और न तो लोप के साथ उसकी प्राप्त ही है। ऐसी स्थिति में यह अवतरण असंगत हो जाता है कि बहिरङ्ग लुक् को बाधकर अन्तरङ्ग लोप हो जायेगा? इस शंका का उत्तर यह समझना चाहिये कि यहाँ लुक् पद स्वप्रयोजकीभूत समास का उपलक्षण है। लोप और समास दोनों साथ ही प्राप्त हैं। इनमें समास बहिरङ्ग है अतः अन्तरङ्गत्वात् उसे बाधकर लोप हो जायेगा और लोप के बाद नुमादि की प्राप्ति होती है, जो अन्तरङ्ग परिभाषा स्वीकार करने पर दोषरूप में प्रस्तुत है। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग् बाधते ॥ ५२ ॥

अन्तरङ्गविधि को भी बहिरङ्ग लुक् बाध लेता है। लुक् का अर्थ यहाँ लुक् प्रयोजकीभूत समासादि से है।

परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि 'गोमत्प्रिय' इस प्रयोग में लुक् (तत्प्रयोजक समासादि) के द्वारा लोप का बाध कर देने के कारण नुमादि की प्राप्ति नहीं होती। यही इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल है।

परिभाषा में 'अपि' शब्द आया है। इस अपि शब्द से पर और नित्य का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जो अन्तरङ्ग का बाधक हो रहा है, वह पर और नित्य का तो बाधक अवश्यमेव होगा ही। इसका फल यह होता है कि 'हयः' 'श्वः' इत्यादि प्रयोगों में परत्वात् प्राप्त 'अत्वसन्तस्य' सूत्र से विधेय दीर्घ को बाध कर 'अव्ययादाप्सुपः' सूत्र से विभक्ति का लुक् हो जाता है। इसी प्रकार 'शोभना आपो यस्मिन् तत् स्वप् कुलम्' इस प्रयोग में प्रतिपदोक्त और शीघ्रोपस्थितिकत्वरूप अन्तरङ्गत्व के द्वारा 'अप्तृन्तृच्' सूत्र से प्राप्त दीर्घ का 'स्वमोर्नपुंसकात्' के लुक् द्वारा बाध कर लिया जाता है।

यहाँ शंका हो सकती है कि ऐसी स्थिति में 'तत् कुलम्' इस प्रयोग में भी 'अतोऽम्' सूत्र से विधेय अम् का 'स्वमोर्नपुंसकात्' के लुक् से बाध क्यों नहीं होता। इसी प्रकार 'त्वं कुलम्' इस प्रयोग में 'ङे प्रथमयोरम्' सूत्र से विधेय अम् का भी उक्त सूत्र से बाध होना चाहिये।

इस प्रकार की शंका का उत्तर यह है कि परनित्य और अन्तरङ्ग की अपेक्षा लुक् यद्यपि बलवान् होता है, किन्तु वह अपवाद के प्रति बलवान् नहीं होता।

'स्वमोर्नपुंसकात्' यह उत्सर्ग सूत्र है और 'अतोऽम्' उसका अपवाद है। इसलिये 'उपसञ्जनिष्यमाण' न्यायेन यहाँ 'अतोऽम्' से लुक् का बाध हो जाता है। यदि यहाँ लुक् न हो तो 'अतोऽम्' सूत्र से सु के स्थान पर अम् आदेश हो सकता है, इस प्रकार की संभावना होने के कारण यहाँ 'उपसञ्जनिष्यमाण' न्याय की विषयता स्पष्ट है। 'त्वं कुलम्' इस प्रयोग में युष्मद् शब्द के आगे सु का लुक् इसलिये नहीं होता कि 'शिशीलुङ्नुम्भिर्नपुंसकविहितैस्त्वाहादियुष्मदादादेशा विप्रतिषेधेन' इस नियम से यहाँ लुक् का बाध हो जाता है। दूसरी बात यह है कि 'अलिङ्गे युष्मदस्मदी' इस वचन के अनुसार लिङ्गरहित 'युष्मद्' शब्द में 'लिङ्प्रयुक्त कार्य 'सु' प्रत्यय का लुक् नहीं होता।

अत्र च 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (७-२-९८) इति सूत्रं ज्ञापकम्। त्वत्कृतमित्यादौ लुगपेक्षयान्तरङ्गत्वाद्विभक्तिनिमित्तकेन 'त्वमावेकवचने' (७-२-९७) इत्यनेन सिद्धे इदं व्यर्थं सत्तज्ज्ञापकम्।

ननु 'तव पुत्रस्त्वत्पुत्रः' इत्यादौ तवममादिबाधनार्थं तदावश्यकमिति चेत्, एवं तर्हि अत्रत्यमपर्यन्तग्रहणानुवृत्तिस्तज्ज्ञापिकेति भाष्यकृतः।

अब इस परिभाषा में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए लिख रहे हैं कि 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" यह सूत्र इस परिभाषा में ज्ञापक है। एकत्ववाची युष्मद् और अस्मद् शब्द के मपर्यन्त को प्रत्यय और उत्तरपद पर में रहने पर यह सूत्र त्व और म आदेश करता है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि 'त्वया कृतम्=त्वत्कृतम्' इस प्रयोग में समास की अपेक्षा रखने वाले लुक् की अपेक्षा, प्रथमोपस्थित और पूर्वपदमात्र की अपेक्षा रखने वाले 'त्वमावेकवचने' सूत्र से विधेय त्व और म आदेश अन्तरङ्ग होने के कारण पहले ही हो जायेंगे, जिससे 'त्वत्कृतम्' 'मत्कृतम्' की सिद्धि 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इस सूत्र के बिना भी हो सकती है तो फिर इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार यह सूत्र व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है।

परिभाषा के ज्ञापित होने पर 'युष्मद्+टा, कृत+सु' इस स्थिति में अन्तरङ्गत्वात् प्राप्त 'त्वमावेकवचने' इस सूत्र को बाधकर लुक् हो जायेगा। लुक् होने के बाद प्रत्ययलक्षण का अभाव होने के कारण एकवचन पर में न मिलने से 'त्वमावेकवचने' इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। इसलिये 'त्वत्कृतम्' इत्यादि प्रयोगों में त्व आदि आदेश के लिये 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' यह सूत्र सार्थक होता है। यहाँ अब यह शंका होती है कि 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' यह सूत्र व्यर्थ नहीं है कि इस परिभाषा का ज्ञापक होगा। क्योंकि—'तव पुत्रः' 'मम पुत्रः' इन विग्रहों में 'त्वत्पुत्रः' 'मत्पुत्रः' इन प्रयोगों की सिद्धि के लिये इस सूत्र की आवश्यकता है। यहाँ पर 'युष्मद्+

ङस्–पुत्र + सु' 'अस्मद् + ङस्–पुत्र + सु' इस स्थिति में 'त्वमावेकवचने' इस सूत्र को बाध कर 'तवममौ ङसि' इस सूत्र से तव और मम आदेश प्राप्त रहेगा। इन आदेशों को बाधने के लिये 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' यह सूत्र सार्थक है। यदि कहा जाय कि उपर्युक्त अलौकिकविग्रहवाक्य में विभक्ति से व्यवधान होने के कारण 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इस सूत्र की प्राप्ति ही नहीं है; इसलिये उक्त स्थल में तव और मम आदेश की प्रवृत्ति अव्याहत है। ङस् विभक्ति भी प्रत्यय ही है। इसलिये उसे पर में मान कर 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' की प्रवृत्ति संभव है। ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उत्तरपद के साहचर्य से ऐसे प्रत्यय का यहाँ ग्रहण किया जाता है जो वृत्ति का चरमावयव हो। यहाँ ङस् प्रत्यय वृत्तिचरमावयव नहीं है, इसलिये उसके आधार पर इस सूत्र की प्रवृत्ति यहाँ नहीं हो सकती। यदि इस प्रकार का प्रत्यय यहाँ नहीं लिया जाय तो 'त्वया, मया' इत्यादि प्रयोगों में भी विभक्तिरूप प्रत्यय के पर में रहने पर 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इस सूत्र से ही कार्य चल जाता तो 'त्वमावेकवचने' सूत्र का वैयर्थ्य ही हो जाता। निष्कर्ष यह है कि 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' यह सूत्र 'तव, मम' आदेशों को बाधने के लिये सावकाश नहीं हो रहा है, क्योंकि उपर्युक्त प्रयोगों में विभक्ति-व्यवधान के कारण इसकी प्राप्ति नहीं है और तव मम आदेश की प्रवृत्ति वहाँ अव्याहत है। इस प्रकार की शंका होने पर यह उत्तर दिया जाता है कि 'युष्मद् + ङस्–पुत्र + सु' इस स्थिति में उपसर्जनिष्यमाणन्याय से तव, मम आदेशों को बाध कर 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' यह सूत्र सावकाश होता है। यहाँ ऐसी संभावना होती है कि यदि उक्त स्थल में तव मम विधायकशास्त्र न लगे तो समास होने पर सुब् लुक् करके 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' यह सूत्र प्रवृत्त हो सकता है।

इस प्रकार 'त्वत्पुत्रः' इत्यादि प्रयोगों में 'तव मम' आदि आदेशों को बाधने के लिये जब 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' यह सूत्र सावकाश है। तब प्रस्तुत परिभाषा का ज्ञापक यह किस प्रकार हो सकता है? इस प्रकार की शंका होने पर लिख रहे हैं कि यदि ऐसी बात है तो इस सूत्र में आई हुई मपर्यन्त की अनुवृत्ति इस परिभाषा की ज्ञापिका है, ऐसा भाष्यकार का कहना है।

अब यहाँ यह विचार करना आवश्यक है कि मपर्यन्त की अनुवृत्ति इस परिभाषा की ज्ञापिका कैसे होती है? तो इस बात को यों समझना चाहिये कि 'अन्तरङ्गानपि' इस परिभाषा के अभाव में 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' यह सूत्र 'तव-ममौ ङसि' इस सूत्र का अपवाद होगा और जो अपवाद होते हैं वे 'उत्सर्गसमानदेशा अपवादाः' इस नियम के आधार पर उत्सर्ग समानदेश वाले होते हैं। ऐसी स्थिति में उत्सर्ग 'तवममौ ङसि' जब मपर्यन्त को आदेश करता है तब उसका अपवाद 'प्रत्ययोत्तर-

पदयोश्च' यह सूत्र भी मपर्यन्त को ही आदेश करेगा। इस प्रकार मपर्यन्त को जब स्वयमेव कार्य हो रहा है तब उसकी अनुवृत्ति की क्या आवश्यकता है ? वही अनुवृत्ति व्यर्थ होकर इस परिभाषा की ज्ञापिका होती है।

जब परिभाषा ज्ञापित हो जाती है तो 'त्वत्पुत्रः' इत्यादि प्रयोगों के लिये अलौकिकविग्रह वाक्य में पहले सामासिक लुक् ही होगा। लुक् होने के कारण प्रत्ययलक्षण नहीं होगा और इसके अभाव में 'तव मम' आदेश की प्राप्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' यह सूत्र 'तव मम' का अपवाद भी नहीं होगा और अपवाद न होने की स्थिति में 'उत्सर्गसमानदेश अपवाद होते हैं', यह नियम भी यहाँ नहीं लगेगा। इसका परिणाम यह होगा कि 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इस सूत्र से सम्पूर्ण युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर त्व और म आदेश होने लगेगा। इसके वारण के लिये मपर्यन्त की अनुवृत्ति स्वांश में चरितार्थ होती है।

युष्मदादिभ्य आचारक्विप् तु न, सम्पूर्णसूत्रस्य ज्ञापकतापरभाष्यप्रामाण्यात्; 'ह्रस्वनद्यापः' (७-१-५४) इति नुड्विधायकसूत्रस्थभाष्यप्रामाण्येन हलन्तेभ्य आचारक्विबभावाच्च। एवमेवैकार्थकाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां प्रातिपदिकणिचोप्यनभिधानं बोध्यम्। एतेन तत्रादेशार्थं प्रत्ययग्रहणं चरितार्थमित्यपास्तम्।

अब यहाँ यह कहना चाहते हैं कि प्रस्तुत परिभाषा के अभाव में भी मपर्यन्त की अनुवृत्ति सार्थक है, इसलिये वह इस परिभाषा की ज्ञापिका नहीं हो सकती है। इस पूर्वपक्ष का तात्पर्य यह है कि युष्मद् और अस्मद् शब्द से आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय किया जायेगा। यह क्विप् प्रत्यय प्रातिपदिक से ही होता है, इसलिये वहाँ विभक्ति पर में नहीं होती है। विभक्ति के पर में न रहने का परिणाम यह होगा कि वहाँ 'त्वमावेकवचने' सूत्र की प्राप्ति नहीं होगी। ऐसे स्थल त्वम् इवाचरति अहम् इव आचरति 'त्वदति' 'मदति' इत्यादि प्रयोगों में सम्पूर्ण के स्थान पर 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इस सूत्र से त्व और म आदेश न होने लग जाय, इसलिये मपर्यन्तानुवृत्ति चरितार्थ है। ऐसी स्थिति में यह परिभाषा की ज्ञापिका नहीं हो सकती। 'उत्सर्गसमानदेशा अपवादाः' यह न्याय यहाँ प्रवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि 'त्वदति' इत्यादि प्रयोगों में 'त्वमावेकवचने' की अप्राप्ति होने पर प्रत्यय को पर में मान कर 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' यह सूत्र सावकाश हो रहा है। इसलिये यह 'तवममौ ङसि' का अपवाद नहीं हो सकता और अपवादत्व के अभाव में 'उत्सर्गसमानदेशाः' यह नियम यहाँ लग नहीं सकता। इसलिये 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इस सूत्र से उक्त प्रयोग में सर्वादेश वारण के लिये मपर्यन्तानुवृत्ति सार्थक हो रही है। अतः इसके द्वारा परिभाषा का ज्ञापन असंभव है।

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में ग्रन्थकार कह रहे हैं कि भाष्यकार ने 'प्रत्ययोत्तर-पदयोश्च' इस सम्पूर्ण सूत्र से इस परिभाषा को ज्ञापित किया है। इस भाष्य-प्रामाण्य से तथा 'ह्रस्वनद्यापः' इस नुट्विधायकसूत्रस्थ भाष्य के प्रामाण्य से यह निश्चय किया गया है कि हलन्त शब्दों से आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय नहीं होता है। इसका फल यह होता है कि हलन्तप्रकृतिक क्विप् प्रत्ययस्थल में 'प्रत्ययोत्तर-पदयोश्च' यह सूत्र सार्थक नहीं होता है, अत एव यह 'तवममौ ङसि' का अपवाद होता है और अपवाद होने के कारण उत्सर्गसमानदेशवाला होता है, जिससे 'मपर्यन्ता-नुवृत्ति' सर्वादेश वारण के लिये यहाँ सार्थक होती है।

यहाँ एक बात यह विचारणीय है कि 'तव पुत्रः=त्वत्पुत्रः' इस प्रयोग में 'त्वमा-वेकवचने' इस सूत्र को बाध कर 'तवममौ ङसि' यह सूत्र प्राप्त रहता है, इसे बाधने के लिये 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' यह सूत्र है। ऐसा पहले ग्रन्थकार ने लिखा है। तात्पर्य यह है कि यह सूत्र बाधकाबाधनार्थ है न कि इस परिभाषा के ज्ञापनार्थ है। यहाँ ग्रन्थकार लिख रख रहे हैं कि सम्पूर्ण सूत्र की ज्ञापकता इस परिभाषा के लिये होती है। ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। इसलिये इसका समन्वय इस प्रकार करना चाहिये कि जिस प्रकरण में भाष्यकार ने पहले सम्पूर्ण सूत्र (प्रत्ययोत्तर-पदयोश्च) को इस परिभाषा का ज्ञापक बनाया था, उस भाष्यघटित मपर्यन्त की अनुवृत्ति से इस परिभाषा का जो ज्ञापन किया है उस ज्ञापकता पर भाष्य-प्रामाण्य से हलन्त शब्दों से क्विप् का अनभिधान समझना चाहिये।

नुट्विधायक सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने विचार किया कि 'कास् प्रत्ययात्' इस सूत्र से विहित आम को नुट् क्यों नहीं होता ? ऐसा प्रश्न करके उत्तर दिया कि यह आम सानुबन्धक अर्थात् अकारान्त है। फिर कहा कि यहाँ अनुबन्ध की आव-श्यकता नहीं है। अनुबन्ध के अभाव में यहाँ मकार की इत्संज्ञा होगी, जिसका फल 'अन्त्य अच् से पर में होना' हो जायेगा तो इस बात के सन्दर्भ में भाष्यकार ने कहा कि आम के मित् होने या न होने में कोई विशेषता नहीं है। अब यहाँ विचार करना है कि यदि हलन्त शब्दों से आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय होता तो युष्मद् शब्द से क्विप् प्रत्यय करके यदि आम् किया जाता है तब मित् पक्ष में दकार से पहले आम् होगा और यदि 'प्रत्ययः परश्च' का प्रयोग किया जाता है तब यह दकार के आगे होगा। इस प्रकार की विशेषता के रहते हुए 'यहाँ कोई विशेषता नहीं है' ऐसा भाष्यकार ने क्यों कहा ? इससे भी स्पष्ट होता है कि हलन्त शब्दों से आचार अर्थ क्विप् नहीं होता है।

इसी प्रकार एकत्व विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादक 'युष्मद् और अस्मद्' इन दोनों प्रातिपदिकों से प्रातिपादिक णिच् का भी अनभिधान समझना चाहिये। अन्यथा ऐसे

स्थलों पर विभक्ति पर में न रहने के कारण 'त्वमावेकवचने' की अप्राप्ति में प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' सूत्र का प्रत्ययग्रहण त्व आदि आदेश करने के लिये सार्थक होने लगता। इसलिये युष्मद् अस्मद् से प्रातिपदिक णिच् का भी अनभिधान ही समझना चाहिये।

इस प्रकार जब यह बात स्पष्ट हो गई कि युष्मद् शब्द से न तो आचार अर्थ का क्विप् प्रत्यय होता है और न णिच् प्रत्यय हो होता है तो ऐसी स्थिति में जो लोग कह रहे थे कि ऐसे स्थलों पर 'त्व' 'म' आदेश करने के लिये 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' सूत्र का प्रत्ययग्रहण चरितार्थ है, वे परास्त हो गये।

ननु मपर्यन्तानुवृत्तिरपि सर्वादेशत्ववारणाय चरितार्था। न च 'उत्सर्गसमानदेशा अपवादाः' इति न्यायेनासिद्धवत्सूत्रस्थभाष्यसम्मतेन मपर्यन्तस्यैवादेशे सिद्धे तदनुवृत्तिर्व्यर्थेति वाच्यम्, तस्य श्नमकजादौ व्यभिचारादिति चेत्, न। श्नमि मित्त्वेन बहुचि पुरस्ताद्ग्रहणेनाकचि प्राक्टेर्ग्रहणेन तस्य बाधेऽप्यत्रोत्सर्गस्य त्यागे मानाभावात्।

अत एव 'तस्मिन्नणि च' (४-३-२) इत्यनेन युष्माकाद्यादेशविधानं चरितार्थम्। अन्यथा आकाङादेशमेव विदध्यात्। आकङि तवकाद्यादेशयोरेतदपवादयोरुक्तन्यायेनान्त्यादेशत्वापत्तिः, अतस्तद्विधानम्, इदमेव च तज्ज्ञापकम्।

पहले विवेचित तथ्यों का स्पष्टीकरण करते हुए लिख रहे हैं कि 'तव+पुत्रः' त्वत्पुत्रः' इत्यादि प्रयोगों में 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इस सूत्र से विधेय त्व आदेश सम्पूर्ण के स्थान पर न होने लगे, इसलिये मपर्यन्त की अनुवृत्ति चरितार्थ है। इसलिए वह परिभाषा का ज्ञापन नहीं कर सकती। यदि कहा जाय कि 'असिद्धवत्' सूत्रस्थभाष्यसम्मत न्याय 'उत्सर्गसमानदेशा अपवादाः' के द्वारा मपर्यन्त के स्थान पर आदेश सिद्ध है इसलिये 'मपर्यन्त' की अनुवृत्ति व्यर्थ है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अपवाद उत्सर्ग के समानदेश ही होते हैं यह कोई आवश्यक नहीं है। देखा जाता है कि शप् का अपवाद श्नम् अन्त्य अच् से पर में होता है। इसी प्रकार क प्रत्यय का अपवाद 'अकच् टि' से पहले होता है, किन्तु यह कहना संगत नहीं है क्योंकि शप् का अपवाद श्नम् इसलिये अन्त्य अच् से पर में होता है कि वहाँ मित्करण है। इसी प्रकार बहुच् प्रत्यय प्रकृति से पूर्व में इसलिए होता है कि वहाँ पुरस्तात् ग्रहण किया गया है तथा अकच् विधि में 'टेः प्राक्' ग्रहण किया गया है, इसलिये यह टि से पहले है। इसलिये उत्सर्ग समानदेशा अपवादाः' इस नियम का तत्तद् स्थलों में विशेष अनुशासन के कारण बाध होने पर भी यहाँ मपर्यन्त की अनुवृत्तिस्थल में त्याग करने में कोई प्रमाण नहीं है।

अतएव='उत्सर्गसमानदेशा अपवादाः' इस न्याय को स्वीकार करने से ही 'तस्मिन्नणि च' इस सूत्र से युष्मद् शब्द के स्थान पर युष्माक आदेश का विधान सार्थक होता है। अन्यथा='उत्सर्गसमानदेशा अपवादाः' इस नियम के न रहने पर युष्माक आदेश न करके युष्मद् शब्द को आकङ् का ही विधान किये होते। आकङ् आदेश ङित् होने के कारण अन्त्यदकार के स्थान पर होता, जिससे 'यौष्माकम्' इस प्रयोग की सिद्धि हो जाती तो फिर युष्माक आदेश करना व्यर्थ ही हो जाता। किन्तु 'उत्सर्गसमानदेशाः' यह नियम सूत्रकार को अभिप्रेत है। उन्होंने देखा कि यदि आकङ् विधान करते हैं तो इसका अपवाद 'तवकममकावेकवचने' इस सूत्र से विधेय तवक ममक भी अपने उत्सर्ग आकङ् की भाँति अन्त्य के स्थान पर होने लगेंगे, जिससे अनिष्ट रूप बनने लगेगा। इसलिये तद्विधानम्=युष्माक अस्माक का विधान किया। यही युष्माक अस्माक का विधान ही 'उत्सर्गसमानदेशाः' इस नियम का ज्ञापक होता है।

यद्यपि विरोधे बाधकत्वमिति वार्तिकमतेऽयं न्यायो भाष्यकारस्तु विनापि विरोधं सत्यपि सम्भवे बाधकत्वमिच्छतीत्यनभिहितसूत्रस्थकेयटरीत्या नायं नियमः, तथापि युष्माकाद्यादेशविधानज्ञापित उत्सर्गः स्वीक्रियत एवेति प्रकृते न दोषः। एतद्भाष्यमपि तत्स्वीकारे मानम्।

एवं च मपर्यन्तानुवृत्तिः 'त्वत्कृतमि'त्यादौ मपर्यन्तस्यादेशविधानार्था। तत्र चान्तरङ्गत्वात् 'त्वमौ' (७–२–९७) इत्येव सिद्धे व्यर्था सैतज्ज्ञापिका। ज्ञापिते त्वस्मिन्नेतद्विषये तवादीनामप्राप्त्या तदपवादत्वाभावेन मपर्यन्तस्यैवादेशार्थं सा चरितार्थेति तदाशयः।

यत्तु हरदत्तेनान्तरङ्गप्रवृत्तौ प्रत्यय उत्तरपदे च मपर्यन्तासम्भवेन तदनुवृत्तिर्व्यर्था सती ज्ञापिकेत्युक्तं तन्न। अन्तरङ्गाणामप्यवादबाध्यत्वेन तद्विषये तदप्रवृत्तेः।

वस्तुतस्तु इदं ज्ञापकं वार्तिकरीत्यैव, भाष्यरीत्या तु वाचनिक एवायमर्थं इत्याहुः।

यद्यपि 'उत्सर्गसमानदेशा अपवादाः' यह न्याय वार्तिककार के मत के अनुसार है, क्योंकि वार्तिककार का मत है कि विरोध होने पर ही कोई किसी का बाधक होता है। विरोध का तात्पर्य असम्भव से है। असम्भव वहीं होता है जहाँ उत्सर्ग और अपवाद का देश समान हो। इस प्रकार वार्तिककार के मतानुसार ही यह न्याय सिद्ध होता है। भाष्यकार का तो मत है कि जहाँ तक्रन्याय से बाध होता है वहीं अपवाद की स्थिति होती है। तात्पर्य यह कि 'उत्सर्गशास्त्र की अप्राप्ति में अपवाद शास्त्र की प्रवृत्ति सम्भव हो तो भी 'सत्यपि सम्भवे बाधकत्वम्' के अनुसार बाध्यबाधक-भाव होता है। इस मत के अनुसार उत्सर्ग और अपवाद का समानदेश होना जरूरी नहीं है।

इसीलिये अजादि धातुओं में द्वितीय एकाच् के द्वित्व के द्वारा प्रथम एकाच् के द्वित्व का बाध होता है। इस प्रकार भाष्यकार के मतानुसार यह न्याय नहीं है। यह बात 'अनभिहिते' इस सूत्र के कैयट में स्पष्ट है। तथापि 'युष्माक' आदि आदेश के विधान से ज्ञापित 'उत्सर्गसमानदेशा' यह न्याय स्वीकार किया ही जाता है। इसलिये प्रकृत में=मपर्यन्तानुवृत्ति के ज्ञापकत्व में कोई दोष नहीं है। एतद्भाष्यमपि =मपर्यन्तानुवृत्तिज्ञापकतापर भाष्य भी तत्स्वीकारे='उत्सर्गसमानदेशा अपवादाः' इस न्याय को स्वीकार करने में प्रमाण है।

इस प्रकार 'मपर्यन्त' की अनुवृत्ति 'त्वत्कृतम्' इत्यादि प्रयोगों में मपर्यन्त को आदेश विधान के लिये 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इस सूत्र में की जाती है। किन्तु वहाँ 'युष्मद्+टा—कृत+सु' इस स्थिति में अन्तरङ्गत्वात् 'त्वमावेकवचने' सूत्र से ही त्व आदेश सिद्ध है। ऐसी स्थिति में मपर्यन्तानुवृत्ति व्यर्थ होकर इस परिभाषा की ज्ञापिका होती है।

जब इस परिभाषा का ज्ञापन हो जाता है, तब 'तव पुत्रः=त्वत् पुत्रः' इस प्रयोग में अन्तरङ्गत्वात् प्राप्त तवादेश को बाधकर सामासिक लुक् हो जायेगा। लुक् होने के कारण प्रत्यय लक्षण नहीं हो सकेगा, इसलिये तव आदेश की प्राप्ति नहीं होगी।

इसलिये 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' यह सूत्र 'तवममौ ङसि' का अपवाद नहीं होगा। और अपवादत्व के अभाव में 'उत्सर्गसमानदेशाः' यह नियम यहाँ प्रवृत्त नहीं होगा। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण के स्थान पर त्व आदेश 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इस सूत्र से न होने लग जाय इसलिये यहाँ मपर्यन्त की अनुवृत्ति स्वांश में चरितार्थ होती है यही उस स्थल का आशय है।

हरदत्त ने जो यहाँ कहा था कि 'युष्मत्+ङस्—पुत्र+सु' इस स्थिति में यदि अन्तरङ्गशास्त्र 'तवममौ ङसि' प्रवृत्त हो जाय तो प्रत्यय और उत्तरपद पर में रहने पर मपर्यन्त का मिलना असम्भव हो जायगा, इसलिये मपर्यन्त की अनुवृत्ति व्यर्थ होकर इस परिभाषा की ज्ञापिका होती है' यह हरदत्त का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तरङ्ग शास्त्र भी अपवाद के द्वारा बाधे जाते हैं, इसलिये अपवाद के विषय में उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। प्रस्तुत स्थल में तव आदेश करने वाला अन्तरङ्गशास्त्र पहले ही प्रवृत्त नहीं होगा, इसलिये मपर्यन्त का मिलना असम्भव नहीं होगा।

वस्तुतस्तु—मपर्यन्त की अनुवृत्ति के द्वारा इस परिभाषा का ज्ञापन वार्तिककार की रीति से है। वार्तिककार ही 'असम्भवे बाधकत्वम्' ऐसा नियम मानते हैं। असम्भव वहीं होता है जहाँ उत्सर्ग और अपवाद का देश समान हो। फलतः 'उत्सर्गसमानदेशाः' यह न्याय वार्तिककार के मतानुसार ही होता है, और इसी न्याय के आधार पर मपर्यन्त की अनुवृत्ति को व्यर्थ करके इस परिभाषा का ज्ञापन

किया जाता है। इसलिये यह ज्ञापन वार्तिककार के रीति से ही है। भाष्यकार तो 'सत्यपि संभवे बाधनं भवति' ऐसा स्वीकार करते हैं। इसलिये इनके मत में 'उत्सर्ग-समानदेशाः' यह नियम भी नहीं है। इसलिये इस परिभाषा का ज्ञापन इस मत के अनुसार सम्भव भी नहीं है। तस्मात् भाष्यमत के अनुसार यह परिभाषा वाचनिक है, ऐसा कहते हैं।

इयं 'सुपो धातु' (२-४-७१) इति लुग्विषयैवेति केचित्। 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' (६-१-६९) 'न यासयोः' (७-३-४५) इति सूत्रस्थाकरप्रामाण्येन लुग्मात्रविषया। आद्ये 'हे त्रपु' इत्यादावनेन न्यायेन लोपं बाधित्वा लुग्भवतीति भाष्ये उक्तम्। अन्त्येऽन्तरङ्गांश्च विधीन् सर्वोऽपि लुग्बाधते न तु सुब्लुगेव। अत एव 'सनीस्रंस' इत्यादौ नलोपो न भवति। पञ्चभिः खट्वाभिः क्रीतः पञ्चखट्व इत्यादावेकादेशात् प्रागेव टापो लुक्। अन्यथा कृतैकादेशस्य लुक्यकारश्रवणं न स्यादिति कैयटे उक्तम्। एतद्विरोधाद्यत् 'तद्राजस्य' (२-४-६२) इति सूत्रे कैयटेनोक्तम् 'अङ्गानतिक्रान्तोऽत्यङ्गः' इत्यत्र सुपो लुकि बहुवचनपरत्वाभावात् 'तद्राजस्य' इति लुग् न स्यादिति शङ्कापरभाष्यव्याख्यावसरेऽन्तरङ्गानपीति न्यायेनायं लुक् सुब्लुको बाधकः स्यादित्याशङ्क्य सुब्लुक एवानेन बलवत्त्वं बोध्यत इति तत्प्रौढ्येति द्रष्टव्यम्। लुगपेक्षया लुको बलवत्त्वस्य वक्तुमशक्यत्वादिति तदाशङ्कासमाधानं वक्तुं युक्तम्। अनेन न्यायेनान्तरङ्गनिमित्तविनाशकलुकस्तत्प्रयोजकसमासादीनां च प्राबल्यं बोध्यत इत्यन्यत्र विस्तरः॥ ५२॥

कुछ लोगों का कहना है कि यह परिभाषा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इस सूत्र से विधेय लुक्विषया ही है। अर्थात् अन्तरङ्गविधि के प्रति केवल इसी लुक् को यह बलवान् बोधित करती है। 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' और 'न यासयोः' इन सूत्रों के आकर=कैयट ग्रन्थ के प्रमाण से यह लुक् मात्र अर्थात् सारे लुक् को बलवान् बोधित करती है।

इसे 'सुपो धातु' की लुग् विषया मानने वालों का यह तात्पर्य है कि 'मपर्यन्त' की अनुवृत्ति 'त्वत्पुत्रः' आदि प्रयोगों में 'सुपो धातु' के लुक् को ही बलवान् बोधित किया है अतः ज्ञापकसाजात्य से यह परिभाषा इसी लुक् में लगती है। किन्तु यह मत 'एङ्ह्रस्वात्' और 'न यासयोः' इन दोनों सूत्रों के भाष्य कैयट से विरुद्ध होने के कारण युक्त नहीं है। उनमें आद्ये='एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया कि 'त्रपु' शब्द से सम्बोधन की सु विभक्ति लाने पर 'हे त्रपु+सु' इस स्थिति में प्राप्त 'एङ्ह्रस्वात्' सूत्र से सम्बुद्धिलोप के वारण के लिये 'अपृक्त-सम्बुद्धिलोपाभ्यां लुक्' ऐसा नियम (वार्तिक) करना चाहिये या नहीं ? इस प्रकार

की आशङ्का करके भाष्यकार ने कहा कि इस वार्तिक की आवश्यकता नहीं है क्योंकि 'अन्तरङ्गानपि विधीन्' इस परिभाषा से 'स्वमोर्नपुंसकात्' का लुक् 'एङ्ह्रस्वात्' से क्रियमाणलोप का बाधक हो जायेगा। इस प्रकार 'सुपो धातु' के लुक् से भिन्न 'स्वमोर्नपुंसकात्' के लुक् की बलवत्ता इस परिभाषा के द्वारा बोधित करने से स्पष्ट हो जाता है कि यह परिभाषा लुक्मात्रविषया है।

अन्त्ये='न यास्योः' इस सूत्र में कैयट ने कहा है कि अन्तरङ्गविधि को न केवल 'सुपो धातु' का लुक् ही बाधता है, अपितु सारे लुक् अन्तरङ्गविधि को बाधते हैं। इसीलिये 'सनीस्रंसः' इस प्रयोग में नकार का लोप नहीं होता है। 'सनीस्रंस' यह रूप 'स्रंसु' धातु से यङ् प्रत्यय करके 'पचादित्वात्' अच् प्रत्यय और 'यङोऽचि च' इस सूत्र से यङ् का लुक् करने पर प्रथमा के एकवचन में बना हुआ है। यहाँ 'सनीस्रंस्-य-अ' इस स्थिति में यङ् का लुक ही होता है। लुक् होने के कारण प्रत्यय-लक्षण नहीं होता है इसलिये पीछे भी 'अनिदिताम्' सूत्र से नलोप नहीं होता है। यहाँ नलोप की अपेक्षा यङ् लुक् की बलवत्ता बोध न करने से भी यह स्पष्ट होता है कि यह परिभाषा लुक्मात्र में लगती है।

इसी प्रकार 'पञ्चभिः खट्वाभिः क्रीतः' इस अर्थ में क्रीतार्थक ठक् प्रत्यय करने पर 'पञ्चन्-खट्व-आ—ठक्' इस स्थिति में सवर्णदीर्घ यद्यपि अन्तरङ्ग है इसलिये उसे ही पहले होना चाहिये किन्तु इस परिभाषा के द्वारा जब अन्तरङ्गविधि के प्रति लुक्मात्र की बलवत्ता का प्रतिपादन कर दिया गया है, तब यहाँ पहले 'अध्यर्ध-पूर्व' सूत्र से ठक् का लुक् और उसके बाद 'लुक्तद्धितलुकि' इस सूत्र से टाप् का लुक् होता है। इस प्रकार 'पञ्चखट्वः' इस प्रयोग की सिद्धि होती है।

अन्यथा—यदि इस परिभाषा से 'सुपो धातु' से विहित लुक्मात्र की बलवत्ता बोधित की जाती तो 'पञ्चखट्वः' इस प्रयोग में लुक् बलवान् नहीं होता। इसका परिणाम यह होता कि 'अन्तरङ्गत्वात्' पहले सवर्णदीर्घ हो जाता। इसके बाद लुक् करने पर एकादेशविशिष्ट आकार का लुक् हो जाता, जिससे 'पञ्चखट्वः' इस प्रयोग में अकार का श्रवण नहीं होता।

एतद्विरोधात्='पञ्चखट्वः' इस प्रयोग में प्रदर्शित टाप् के लुक् की बलवत्ता बोधन करने वाले कैयट से विरोध होने के कारण 'अत्यङ्गः' प्रयोगविषयक कैयट की उक्ति प्रौढिवाद है ऐसा समझना चाहिये। यहाँ की स्थिति का स्पष्टीकरण इस प्रकार होता है—'अङ्गानां राजा' इस विग्रह में अङ्ग शब्द से 'द्वञ्मगध' इस सूत्र में अण् प्रत्यय करके 'आङ्गः' ऐसा रूप बनता है। इस तद्राजसंज्ञक अण् प्रत्यय का बहु-वचन पर में रहने पर 'तद्राजस्य बहुषु' इस सूत्र से लुक् होता है।

इस सन्दर्भ में 'अति' के साथ समास करने के लिये जब 'अङ्गान् अतिक्रान्तः' ऐसा विग्रह करते हैं तब पदावधिक अन्वाख्यान पक्ष में 'अङ्ग-अ (अण्)—अङ्-

अति' इस अलौकिक विग्रह में तद्राज अण् प्रत्यय का लुक् बहुवचन शस् को पर में मान कर प्राप्त है यद्यपि प्रकृति गत बहुत्व में तद्राज प्रत्यय का लुक् होता है तथापि लुक् विधायक सूत्र में 'बहुषु' का अर्थ जब बहुवचन करते हैं तब शस् को पर में मान कर अण् का लुक् भी प्राप्त है तथा शस् का सामासिक लुक् भी प्राप्त है। इन दोनों लुकों में तद्राज लुक् 'अङ्ग+अ+अस्' इस एक पद की अपेक्षा रखने के कारण अन्तरङ्ग है, और सामासिक लुक् भी अपरनिमित्तक होने के कारण अन्तरङ्ग है। इस प्रकार दोनों लुकों की अन्तरङ्गता समान होने पर परत्वात् सामासिक लुक् यदि कर दिया जाता है तब 'न लुमता' सूत्र से निषेध के कारण प्रत्ययलक्षण न हो सकेगा। इसलिये बहुवचन परत्वाभाव के कारण तद्राजलुक् नहीं होगा, इस प्रकार की शंकापरक-भाष्य के व्याख्यान के अवसर पर कैयट ने कहा कि 'अन्तरङ्गानपि' इस परिभाषा के द्वारा 'अयं लुक्'='तद्राज लुक्' 'सुप् लुक्' का बाधक होगा, अर्थात् 'सुप् लुक्' को नहीं होने देगा। इस प्रकार बहुवचन पर में मिल जायेगा, जिससे तद्राज लुक् हो सकता है। ऐसी आशंका करके कैयट ने फिर कहा कि यह परिभाषा 'सुब्लुक्' को ही बलवान् बोधित करती है। अर्थात् ज्ञापकसाजात्य से यह परिभाषा सुबलुक् में ही प्रवृत्त होकर उसे बलवान् बोधित करती है।

कैयट का यह कथन 'पञ्चखट्वः' स्थलवाले कैयट से विरुद्ध है। क्योंकि वहाँ कैयट ने अन्तरङ्ग सवर्ण दीर्घ की अपेक्षा 'लुक्तद्धितलुकि' सूत्र के लुक् को इस परिभाषा से बलबान् बनाया है। यहाँ पर सुब्लुक्मात्र को ही बलवान् कह रहे हैं। इसलिये कैयट का यह कथन प्रौढ़िवाद है।

वस्तुतस्तु ज्ञापकसाजात्य से यह परिभाषा लुक् से भिन्न कार्य की अपेक्षा लुक् की की बलवत्ता का बोधन करती है। इसलिये 'अङ्ग+अ+अस्+अति' इस स्थिति में जब तद्राजलुक् और सामासिकलुक् दोनों की साथ प्राप्त हुई, तब अन्तरङ्गत्वात् तद्राजलुक् सामासिकलुक् का बाधक होगा, ऐसी शंका होने पर कैयट को शंका का यह समाधान करना चाहिये था कि लुक् की अपेक्षा लुक् की बलवत्ता वक्तुम् अशक्य है। किन्तु ऐसा न कहकर उन्होंने सुब्लुक् की बलवत्ता जो इस परिभाषा से बतायी, वह प्रौढ़ि से कही गई है।

इस परिभाषा से अन्तरङ्गनिमित्तविनाशक लुक् और तत्प्रयोजकसमास आदि का प्राबल्य बोधित किया जाता है। यह बात अन्यत्र विस्तार से कही गई है।

इस दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो 'अत्यङ्गः' इस प्रयोग में यदि तद्राजलुक् हो जाता है तो भी सामासिक लुक् के निमित्त का विनाश नहीं होता, किन्तु यदि पहले सामासिक लुक् हो जाता है तब शस् विभक्ति का लुक् हो जाने के कारण बहु-वचनपरत्वाभाव के कारण तद्राज लुक् नहीं हो सकता। इस प्रकार इस परिभाषा से अन्तरङ्गनिमित्तविनाशक सामासिक लुक् का ही प्राबल्य बोधित होगा।

वस्तुतस्तु–'तद्राजस्य बहुषु' इस सूत्र में 'बहुषु' यह पद बहुवचन का वाचक न होकर तद्राज प्रत्यय की प्रकृतिगत बहुत्व का वाचक है।

'अत्यङ्गः' इस प्रयोग में अङ्गगत बहुत्व यहाँ है ही, इसलिये तद्राज प्रत्यय का लुक् और उसके बाद सामासिक लुक् करके उक्त प्रयोग बनाया जाता है, यही यहाँ के ग्रन्थ का रहस्य है ॥ ५२ ॥

नन्वेवं सौमेन्द्रेऽन्तरङ्गत्वाद् आद्गुणे पूर्वपदात् परेन्द्रशब्दाभावेन 'नेन्द्रस्य परस्य' (७–३–२२) इति वृद्धिनिषेधो व्यर्थः, अन्तादिवद्भावस्तूभयत आश्रयणे निषिद्धः। किञ्च वृद्धिरप्यत्र न प्राप्नोत्यन्तादिवत्त्वोभयाभावेऽपि पूर्वान्तवत्त्वेनैकादेशविशिष्टे पूर्वपदत्वेन 'इन्द्र'शब्दस्यैकदेशविकृतन्यायेन 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवदि'त्यस्याभावेन तदाश्रयणेन वोत्तरपदत्वेऽपि तस्यानच्कत्वादेकस्यैकादेशेन परस्य नित्येन 'यस्येति' (६–४–१४८) लोपेनापहारात्।

न च परादिवद्भावेनैकादेशविशिष्टस्योत्तरपदत्वमेकास्तिवति तत्सम्भव इति वाच्यम्, उत्तरपदाद्यच्स्थानिकत्वाद् वृद्धेस्तदभावेनाप्राप्तेस्ताद्रूप्यानतिदेशात्। अन्यथा 'खट्वाभिरि'त्यादावपि पूर्वान्तवत्त्वेनादन्तत्वे भिस ऐसापत्तिरिति भाष्ये स्पष्टम्।

अत एव 'पूर्वेषुकामशम' इत्यादावन्तरङ्गत्वादाद् गुणे वृद्धिर्न स्यादित्याशङ्कितम्। तदेकदेशमात्रस्य विकाराभावाच्च।

तदुक्तं भाष्ये—'इन्द्रे द्वावचावेको यस्येति लोपेनापहृतोऽपर एकादेशेन ततोऽनच्क इन्द्रशब्दः सम्पन्नस्तत्र कः प्रसङ्गो वृद्धेरि'ति। मरुद्भिरिन्द्रस्य द्वन्द्वे इन्द्रस्यैव पूर्वनिपातोऽत आह—

नन्वेवम्=इस प्रकार 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इस परिभाषा को स्वीकार करने पर 'सौमेन्द्रः' इस प्रयोग की सिद्धि के लिये 'सोमश्च इन्द्रश्च' इस विग्रह में जब द्वन्द्वसमास कर लिया जाता है तब 'सोम+इन्द्र' इस स्थिति में अन्तरङ्गत्वात् 'आद् गुणः' से गुण कर देने पर 'सोमेन्द्रौ देवते अस्य' इस अर्थ में 'सास्य देवता' सूत्र से अण् प्रत्यय किया जाता है। उस समय 'सोमेन्द्र+अ (अण्)' इस स्थिति में 'देवता द्वन्द्वे च' इस सूत्र से उभय पदं के आदि अच् को वृद्धि प्राप्त होती है, उसमें 'नेन्द्रस्य परस्य' इस सूत्र से उत्तरपद इन्द्र शब्दावयव आदि अच् को वृद्धि का निषेध कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में पूर्वपद के आदि अच् को वृद्धि करके 'सौमेन्द्रः' इस प्रकार रूप की सिद्धि की जाती है। अन्तरङ्ग परिभाषा को स्वीकार करने पर यहाँ यह दोष उपस्थित होता है कि देवतार्थक तद्धित प्रत्यय अण् करने के बाद उभयपद के आदि अच् को वृद्धि प्राप्त होती है। इसके पहले ही अन्तरङ्गत्वात्

'आद्गुणः' सूत्र से गुण हो चुका है। गुण हो जाने के बाद पूर्वपद से पर में इन्द्र शब्द के न होने के कारण 'नेन्द्रस्य परस्य' इस सूत्र की प्राप्ति ही नहीं है तो फिर इससे निषेध करने की क्या आवश्यकता रह जाती है। इस प्रकार यहाँ वृद्धि का निषेध करना व्यर्थ हो जाता है।

यदि कहा जाय कि एकादेशविशिष्ट 'सोमे' इस अंश में 'अन्तादिवच्च' इस सूत्र से पूर्वान्तिवद्भाव के द्वारा पूर्वपदत्व तथा 'एन्द्र' इस अंश में परादिवद्भाव से इन्द्रशब्दत्व लाकर पूर्वपद से पर में इन्द्र शब्द की उपलब्धि होने के कारण 'नेन्द्रस्य परस्य' की प्रवृत्ति हो सकती है, तो इस प्रकार की शंका के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि 'उभयत आश्रयण' में अन्तादिवत् भाव होता ही नहीं है। इसलिये पूर्वपद से पर में इन्द्र शब्द नहीं मिलेगा, तस्मात् वृद्धि का निषेध करना व्यर्थ ही है।

वस्तुतस्तु—'सोमे' इस एकारान्त में पूर्वपदत्व तथा एकारादि 'एन्द्र' इस अंश में इन्द्र शब्दत्व लाने पर भी पौर्वापर्यभाव जो दोनों की पृथक्-पृथक् स्थिति में ही सम्भव होता है, उसका यहाँ सर्वथा अभाव होने के कारण वृद्धि का निषेध करना व्यर्थ है, क्योंकि पूर्वपद से पर में इन्द्र शब्द का अस्तित्व यहाँ नहीं है।

यदि कहा जाय कि यहाँ उभयत आश्रयण नहीं किया जा रहा है, किन्तु केवल पूर्वान्तिवद्भाव से एकारान्त 'सोमे' इस अंश में पूर्वपदत्व लाया जा रहा है तथा एकदेशविकृतन्याय से 'न्द्र' इतने अंश को ही 'इन्द्र' शब्द तथा उत्तरपद माना जा रहा है। इस प्रकार पूर्वपद से पर में उत्तरपदरूप इन्द्र शब्द के मिलने के कारण वृद्धि का निषेध करना चरितार्थ हो सकता है। इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि 'किञ्च वृद्धिरप्यत्र न प्राप्नोति' अर्थात् 'सोमेन्द्र' में वृद्धि की प्राप्ति भी नहीं है। क्योंकि यद्यपि यहाँ अन्तादिवत्त्व उभय का अतिदेश नहीं किया जा रहा है किन्तु केवल पूर्वान्तिवद्भाव से एकादेश विशिष्ट 'सोमे' इस अंश में पूर्वपदत्व तथा 'न्द्र' शब्द में एकदेशविकृतन्याय से उत्तरपदत्व लाया जा रहा है तथापि उत्तरपद जो 'न्द्र' है वह अनच्क अर्थात् अच् रहित है, क्योंकि 'इन्द्र' शब्द का एक अच् इकार गुण एकादेश के द्वारा अपहृत हो चुका है और दूसरा अच् अन्त्य अकार 'अण्' प्रत्यय को पर में मान कर 'यस्येति च' इस सूत्र से लोप के द्वारा अपहृत हो चुका है। ऐसी स्थिति में 'अच्' के अभाव में यहाँ जब वृद्धि की प्राप्ति ही नहीं है तब उसका निषेध करना व्यर्थ ही है। यहाँ एक बात यह विशेष रूप से ध्यान देने की है कि परिभाषेन्दु मूल का 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत् इत्यस्याभावेन तदाश्रयणेन वा' इतना पाठ असंगत प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ उसकी कोई संगति बैठ नहीं रही है। इसलिये इतने अंश को छोड़ कर ही यहाँ व्याख्या की गई है।

अब दूसरे प्रकार से वृद्धि की प्राप्ति की आशंका करके उसका निराकरण करते हुए कह रहे हैं कि यदि परादिवद्भाव से एकादेशविशिष्ट 'एन्द्र' शब्द में उत्तरपदत्व तथा मकारान्त 'सोम्' इस अंश में 'एकदेशविकृतन्याय' से पूर्वपदत्व ला दिया जाय, तो तत्सम्भवः=वृद्धि की प्राप्ति सम्भव है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ परादिवद्भाव से 'एन्द्र' इस अंश में केवल उत्तरपदत्व लाया जा रहा है। यह उत्तरपदत्व अशास्त्रीयधर्म है, इसलिये 'अन्तादिवच्च' सूत्र से इसका आनयन नहीं हो सकता है। यहाँ जिस वृद्धि की प्राप्ति की सम्भावना की गई है वह उत्तरपद के आदि अच् को होती है। इस प्रकार शास्त्रीय धर्म अच्त्व से घटित होने के कारण 'उत्तरपदाद्यच्त्व' का आनयन यहाँ किया जा सकता है, किन्तु 'अन्तादिवच्च' सूत्र से तादूप्य का अर्थात् वर्णवृत्तिधर्मघटित धर्म का अतिदेश नहीं होता, इसलिये उत्तरपदाद्यच्त्व के न आने के कारण यहाँ वृद्धि की प्राप्ति नहीं है।

अन्यथा='अन्तादिवच्च' इस सूत्र से यदि तादूरूप्य का भी अतिदेश किया जाय तो—'खट्वाभिः' इस प्रयोग में 'खट्वा' इस आकारान्त में पूर्वान्तवद्भाव से वर्णवृत्तिधर्मघटितधर्म 'अदन्तत्व' का अतिदेश हो जायेगा। इसका परिणाम यह होगा कि 'खट्वाभिः' इस प्रयोग में भिस् के स्थान पर ऐस् की आपत्ति होने लगेगी। यह बात भाष्य में स्पष्ट है।

अत एव=अन्तादिवच्च सूत्र से तादूरूप्य का अतिदेश नहीं होता, इस बात को स्वीकार करने से ही 'पूर्वेषुकामशमः' इत्यादि प्रयोगों में अन्तरङ्ग होने के कारण जब पहले गुण कर दिया जाता है तब वृद्धि नहीं होगी, इस प्रकार की शंका की गई है। इसका तात्पर्य यह है कि 'पूर्वा चासाविषुकामशमी च, तस्यां भवः' इस विग्रह में विभक्ति करने पर 'पूर्वा+इषुकामशमी+अ' इस स्थिति में 'प्राचां ग्रामनगराणाम्' इस सूत्र से क्रियमाण-वृद्धि के बहिरङ्ग होने के कारण, उसकी अपेक्षा अन्तरङ्ग कार्य 'आद्गुणः' सूत्र से विधेयगुण पहले हो जायेगा। इसके बाद जो एकार निष्पन्न होता है वह उत्तरपद का आदि अच् नहीं है। इसलिये यहाँ वृद्धि किस प्रकार होगी ? ऐसी शंका की गई है।

यदि तादूरूप्य का भी अतिदेश होता तो गुण करने के बाद 'एषुकामशमी' के एकार में उत्तरपदादि अच्त्व का अतिदेश हो जाता। ऐसी स्थिति में वृद्धि जब सिद्ध ही थी तब वृद्धि के अभाव की शंका क्यों की गई। इससे स्पष्ट है कि तादूरूप्य का अतिदेश नहीं होता है।

ऐसी स्थिति में 'पूर्वेषुकामशमः' यह प्रयोग किस प्रकार बनेगा, तो इस शंका का उत्तर है कि 'पूर्वोत्तरपदनिमित्त' इत्यादि जो वक्ष्यमाण परिभाषा है, इस परिभाषा के द्वारा अन्तरङ्ग कार्य गुण का यहाँ निषेध कर दिया जायेगा, जिससे उत्तरपदाद्यच् इकार को वृद्धि करके उक्त रूप की सिद्धि हो जायेगी।

अब यहाँ यह शंका हो रही है कि 'सौमेन्द्रः' इस प्रयोग में 'अन्तादिवच्च' सूत्र से तादृरूप्य का अतिदेश न होने से भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार एकदेशविकृतन्याय से 'सोम्' इस मकारान्त में पूर्वपदत्व लाया जा रहा है, उसी प्रकार 'एन्द्र' शब्द में इसी न्याय से उत्तरपदत्व लाया जा सकता है। इस प्रकार 'एन्द्र' शब्द का एकार उत्तरपद का आदि अच् हो जाता है। यह एकार 'सोम्'रूपी पूर्वपद से पर में है, अतः इसे वृद्धि की प्राप्ति है। इसे निषेध करने के लिये 'नेन्द्रस्य परस्य' यह सूत्र चरितार्थ है।

इस प्रकार की शंका के उत्तर में लिखा गया है—'तदेकदेशमात्रस्य विकाराभावाच्च' अर्थात् एकाररूपी जो यहाँ गुण एकादेश हुआ है, वह पूर्व और पर (सोम का अकार और इन्द्र का इकार) दोनों के स्थान पर हुआ है। वह केवल तदेकदेश उत्तरपद का एकदेश इन्द्र शब्द के इकार मात्र का विकार नहीं है। इसलिये उसमें उत्तरपदाद्यच्त्व धर्म नहीं आ सकता। यदि वह केवल इकार के स्थान पर हुआ होता, तो एकदेशविकृतन्याय से एन्द्र शब्द को उत्तरपद मानने पर एकार उत्तरपद का आदि अच् कहा जाता। किन्तु ऐसी बात तो यहाँ है नहीं। इसलिये 'एकदेशविकृतन्याय' से भी यहाँ वृद्धि की प्राप्ति नहीं कराई जा सकती। इस प्रकार 'नेन्द्रस्य परस्य' सूत्र से वृद्धि का निषेध करना यहाँ व्यर्थ ही है।

यह बात भाष्य में इस प्रकार कही गई है—इन्द्र शब्द में दो अच् हैं। 'सौमेन्द्रः' इस प्रयोग में इन्द्र शब्द का एक अच् अन्त्य अकार 'यस्येति च' के लोप के द्वारा अपहृत हो जाता है और दूसरा अच् इकार गुण एकादेश के द्वारा अपहृत हो जाता है। इस प्रकार इन्द्र शब्द यहाँ अच्रहित हो जाता है। ऐसी स्थिति में यहाँ वृद्धि का क्या प्रसंग रहता है। अर्थात् वृद्धि की प्राप्ति ही नहीं है, इसलिये उसका निषेध करना व्यर्थ है।

यदि कहा जाय कि मरुत् शब्द का इन्द्र शब्द के साथ जहाँ द्वन्द्वसमास किया जायेगा, वहाँ मरुत् शब्द के हलन्त होने के कारण गुण एकादेश नहीं होगा। ऐसे 'मरुदिन्द्र' शब्द से तद्धित करने पर उत्तरपद 'इन्द्र' शब्द के इकार को वृद्धि का निषेध के लिये 'नेन्द्रस्य परस्य' यह सूत्र सार्थक है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि मरुत् और इन्द्र इन दोनों शब्दों में इन्द्र शब्द अभ्यर्हित तथा अजादि और अदन्त है। इन कारणों से इन्द्र शब्द का ही पूर्वप्रयोग होगा न कि मरुत् का। इस प्रकार इन्द्र शब्द के उत्तरपद में न रहने के कारण उसे वृद्धि के निषेध के लिये 'नेन्द्रस्य परस्य' का निषेध व्यर्थ ही है। यही निषेध व्यर्थ होकर इस परिभाषा को बोधित करता है—

पूर्वोत्तरपदनिमित्तकार्यात् पूर्वमन्तरङ्गोऽप्येकादेशो न ॥ ५३ ॥

अन्तरङ्ग भी एकादेशपूर्वोत्तरपदनिमित्तक कार्य से पहले नहीं होता।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि 'सौमेन्द्रः' इस प्रयोग में गुण पहले नहीं होता है, किन्तु 'सोम+इन्द्र+अ' इस स्थिति में उत्तरपद के आदि अच् इकार को भी 'देवता द्वन्द्वे च' इस सूत्र से वृद्धि प्राप्त रहती है। इसका निषेध करने के लिये 'नेन्द्रस्य परस्य' यह सूत्र चरितार्थ होता है।

जहाँ पूर्वपद और उत्तरपद का नाम लेकर उल्लेख किया गया हो, वहीं यह परिभाषा लगती है, ऐसा कोई आग्रह नहीं है। इसलिये 'परमश्चासौ अहश्च' इस विग्रह में 'परम+अस्मद्+सु' इस स्थिति में अन्तरङ्ग सवर्णदीर्घ से पहले इस परिभाषा के द्वारा मपर्यन्त को अह आदेश करके 'परमाहम्' इस प्रयोग की सिद्धि की जाती है। यहाँ 'त्वाहौ सौ' इस सूत्र में पूर्वोत्तरपद का उल्लेख न होने पर भी वस्तुतः उत्तरपद 'अस्मद्+सु' निमित्तक अह आदेश को पहले करने से यह बात स्पष्ट होती है।

यहाँ यदि पहले सवर्णदीर्घ हो जाता तो 'परमास्मद्' घटक आस्मद् को परादिवद्भाव से अस्मद् मानकर अह आदेश करने पर 'परमहम्' ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगता।

अत्र च 'नेन्द्रस्य' (७-३-२२) इति निषेध इव ज्ञापक इति 'अन्तादिवच्च' (६-१-८५), 'विप्रतिषेधे परम्' (१-४-२) इति सूत्रयोर्भाष्ये स्पष्टम् ॥ ५३ ॥

'नेन्द्रस्य परस्य' इस सूत्र से किया जाने वाला निषेध ही इस परिभाषा में ज्ञापक है। परिभाषा के अवतरण में इस बात की विस्तृत चर्चा कर दी गई है। यह बात अन्तादिवच्च और 'विप्रतिषेधे परम्' इन सूत्रों के भाष्य में स्पष्ट है ॥५३॥

नन्वेवमपि 'प्रधाय' 'प्रस्थाये'त्यादावन्तरङ्गत्वात् हित्वादिषु कृतेषु ल्यप् स्यादत आह—

एवम् अपि=इस प्रकार अन्तरङ्गपरिभाषा को स्वीकार करने पर आये हुए तीनों दोषों को दूर करने के लिये पूर्वोक्त तीन परिभाषाओं को स्वीकार करने पर भी अन्तरङ्ग परिभाषा के कारण 'प्रधाय' और 'प्रस्थाय' इत्यादि प्रयोगों में दोष रह जाता है।

प्रपूर्वक धा धातु और स्था धातु से क्त्वा प्रत्यय करने पर 'प्र+धा+क्त्वा' इस स्थिति में क्त्वा के स्थान पर जो ल्यप् होगा, उसमें दो पदों की अपेक्षा रखने वाला समास निमित्त है। इसकी अपेक्षा 'दधातेर्हिः' तथा 'ष्ठितिस्यतिमास्थाम्' इन सूत्रों से क्रमशः धा धातु के स्थान पर क्रियमाण 'हि' तथा 'स्था' धातु के आकार को किया जाने वाला इकार, ये दोनों कार्य धातु और प्रत्ययमात्रनिमित्तक होने के

कारण समास से पहले ही प्राप्त होते हैं, इसलिये ल्यप् की अपेक्षा अन्तरङ्ग होने के कारण अन्तरङ्ग परिभाषा से पहले ये ही दोनों कार्य हो जायेंगे। इसके बाद यदि ल्यप् किया जाता है तब उक्त दोनों रूपों की सिद्धि नहीं होती है। इस प्रकार अन्तरङ्गपरिभाषा को स्वीकार करने पर उपर्युक्त दोष आ रहा है, इसलिये यह परिभाषा बनी—

अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यप् बाधते ॥ ५४ ॥

अन्तरङ्ग-विधि को भी बहिरङ्ग ल्यप् बाध लेता है।

ल्यप् की यह बाधकता स्वप्रयोजकीभूतसमासादि के द्वारा होती है।

'अदो जग्धिः' (२-४-३६) इति सूत्रे कितीत्येव सिद्धे ल्यब्ग्रहणमस्या ज्ञापकमिति 'अदो जग्धिः' इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् ॥ ५४ ॥

इस परिभाषा में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि 'अदो जग्धिर्ल्यपिकिति' इस सूत्र के स्थान पर 'अदो जग्धिस्तिकिति' ऐसा सूत्र करने से भी कार्य चल सकता है, क्योंकि क्त्वा प्रत्यय तकारादि कित् प्रत्यय है। इसलिये क्त्वा प्रत्यय वाले उदाहरण में (प्रजग्ध्य में) ल्यप् होने से पहले ही तादि कित् प्रत्यय 'क्त्वा' को पर में मानकर अन्तरङ्गत्वात् 'जग्धि' आदेश हो सकता है। ऐसी स्थिति में उक्त सूत्र में ल्यप् ग्रहण की क्या आवश्यकता रह जाती है। वही ल्यप्-ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है। जब परिभाषा ज्ञापित हो जाती है तब अन्तरङ्ग जग्धि आदेश को बाधकर पहले ल्यप् हो जायेगा। ल्यप् होने के बाद तादि कित् प्रत्यय पर में न होने के कारण जग्धि आदेश नहीं हो सकता, इसलिये ल्यप्-ग्रहण की सार्थकता होती है।

यह बात 'अदो जग्धिर्ल्यप्तिकिति' इस सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है ॥ ५४ ॥

नन्वेवमपीयायेत्यादौ द्वित्वे कृतेऽन्तरङ्गत्वात् सवर्णदीर्घत्वेन तदसिद्धिरत आह—

नन्वेवम् अपि=इस प्रकार अन्तरङ्गपरिभाषा को स्वीकार करने पर आये हुये दोषों का वारण करने पर भी इण् धातु से लिट्लकार लाने पर 'इयाय' इस प्रयोग को सिद्ध करते समय द्वित्व कर देने पर 'इ+इ+अ' इस स्थिति में जो 'अचो ञ्णिति' सूत्र से वृद्धि विवक्षित है, वह णल् (अ) प्रत्यय-निमित्तक होने के कारण बहिरङ्ग है। इसकी अपेक्षा दोनों इकारों के आश्रय से होने वाला सवर्णदीर्घकार्य अन्तरङ्ग है। ऐसी स्थिति में अन्तरङ्ग सवर्णदीर्घ से बहिरङ्ग-वृद्धि का बाध अन्तरङ्ग परिभाषा से हो जायेगा। परिणाम इसका यह होगा कि 'इयाय' इस प्रयोग की सिद्धि नहीं होगी। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि दीर्घ की कर्त्तव्यता में बहिरङ्ग द्वित्व असिद्ध हो जायेगा, जिससे दीर्घ नहीं हो सकेगा, क्योंकि

नाजानन्तर्य परिभाषा से निषेध करने के कारण जातबहिरङ्ग द्वित्व असिद्ध नहीं होगा, इसलिये दीर्घ हो जायेगा। फलस्वरूप उक्त रूप की असिद्धि हो जायेगी। इसलिये यह परिभाषा बनाई गई—

वार्णादाङ्गं बलीयो भवति ॥ ५५ ॥

वर्णसम्बन्धी कार्य से अङ्गसम्बन्धी कार्य बलवान् होता है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि 'इयाय' इस प्रयोग के लिये 'इ–इ+अ' इस स्थिति में वार्णकार्य सवर्णदीर्घ को बाधकर आङ्गकार्य 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि हो गई। इसके बाद 'ऐ' के स्थान पर 'आय्' और अभ्यास के इकार को इयङ् करके 'इयाय' प्रयोग की सिद्धि होती है।

इसी बात को ग्रन्थकार इस प्रकार कह रहे हैं—

तेनान्तरङ्गमपि सवर्णदीर्घं बाधित्वा वृद्धिरिति तत्सिद्धिः।

तेन=इस परिभाषा को स्वीकार करने से अन्तरङ्ग सवर्णदीर्घ को बाधकर वृद्धि हो जाती है जिससे 'इयाय' प्रयोग की सिद्धि होती है।

'अभ्यासस्यासवर्णे' (६-४-७८) इतीयङ्विधायकसूत्रस्थमसवर्णग्रहणमस्या ज्ञापकम्। तद्धि 'ईषतुरि'त्यादावियङादिव्यावृत्त्यर्थम्। एतत्परिभाषाभावे तु ईषतुरित्यादावन्तरङ्गेण सवर्णदीर्घेण बाधात्तद्व्यर्थम्। इयङुवङौ ह्यभ्याससम्बन्धनिमित्तकत्वाद् बहिरङ्गौ। न चेयङादिरपवादो 'येन नाप्राप्ति'न्यायेन 'इयर्ती'त्यादिसकललक्ष्यप्राप्तयणपवादत्वस्यैव निर्णयादिति प्राञ्चः।

'अभ्यासस्यासवर्णे' इस इयङ्विधायक सूत्र में किया गया असवर्णग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। इष् धातु से लिट् लकार और उसके स्थान पर अतुस् करके द्वित्व और हलादि शेष करने पर 'इ–इष्+अतुस्' इस स्थिति में सवर्ण अच् इकार के पर में रहने पर अभ्यास के इकार को इयङ् न होने लग जाय, इसलिये उक्त सूत्र में असवर्ण ग्रहण किया गया है। यदि यह परिभाषा नहीं रहती तो 'ईषतुः' इस प्रयोग में बहिरङ्ग इयङ् को बाधकर अन्तरङ्ग सवर्णदीर्घ हो जाता, जिससे 'ईषतुः' प्रयोग की सिद्धि स्वयमेव हो जाती। ऐसी स्थिति में असवर्ण-ग्रहण की व्यर्थता स्पष्ट है। यही असवर्ण-ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है। जब परिभाषा ज्ञापित हो जाती है तब अन्तरङ्ग वार्णकार्य दीर्घ को बाधकर 'ईषतुः' प्रयोग में आङ्ग कार्य इयङ् सवर्ण अच् के पर में रहने पर न होने लग जाय, इसलिये असवर्ण-ग्रहण की स्वांश में चरितार्थता होती है।

'इषतुः' इस प्रयोग में इयङ् इसलिये बहिरङ्ग है कि 'अभ्यासस्यासवर्णे' इस सूत्र से विधेय इयङ् और उवङ् अभ्याससम्बन्धनिमित्तक है। यदि कहा जाय कि

संज्ञाकृत बहिरङ्गत्व का आश्रयण नहीं किया जाता, इसलिये अभ्याससंज्ञानिमित्तक होने के कारण इयङ्-उवङ् को बहिरङ्ग कहना उचित नहीं है तो इसका तात्पर्य यह समझना चाहिये कि इयङ् को अभ्याससंज्ञाकृतबहिरङ्ग कहने में इस पंक्ति का तात्पर्य नहीं है, किन्तु अभ्यास के अवयव इकार-उकार को इयङादि विधान करने से यह स्पष्ट है कि अभ्याससंज्ञा की प्रवृत्ति के बाद ही इयङ् आदि आदेश होंगे, जब कि सवर्णदीर्घ की प्राप्ति इससे पहले ही हो जाती है। इस प्रकार इयङ् बहिरङ्ग और दीर्घ अन्तरङ्ग होता है। अथवा अभ्यासकार्य, अभ्याससंज्ञानिमित्तनिमित्तक होते हैं, इसलिये इयङ् में प्रत्ययनिमित्त होता है और दीर्घ में केवल इकारद्वय ही निमित्त हैं। इसलिये भी दीर्घ अन्तरङ्ग है और इयङ् बहिरङ्ग है।

यदि कहा जाय कि 'ईषतुः' प्रयोग में इयङ् की अपेक्षा दीर्घ के अन्तरङ्ग होने पर भी इयङ् दीर्घ का अपवाद होकर उसका बाधक हो जायेगा, जिससे इस प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इसलिये यहाँ इयङ् आदेश के वारण के लिये असवर्ण-ग्रहण चरितार्थ है, तो यह इस परिभाषा का ज्ञापक कैसे होगा? इस प्रकार की शंका के उत्तर में कहा गया है कि 'अभ्यासस्यासवर्णे' यह सूत्र 'येन नाप्राप्ति'न्याय से 'इर्यर्ति' इत्यादि अपने सारे लक्ष्यों में अवश्यप्राप्त यण् का ही बाधक (अपवाद) होता है न कि कतिपय लक्ष्यों में प्राप्त दीर्घविधि का बाधक होता है। देखा जाता है कि जहाँ-जहाँ इयङ् की प्राप्ति है वहाँ-वहाँ सब जगह दीर्घ की प्राप्ति नहीं है, किन्तु यण् की प्राप्ति तो सब जगह ही है। जैसे—इण् धातु के लिट् लकार में 'इयाय' इस प्रयोग में 'इ–इ + अ' इस स्थिति में पहले यण् प्राप्त होता है, इसे अपवादत्वात् बाधकर दीर्घ प्राप्त होता है। यहाँ इयङ् के लक्ष्य में दीर्घ प्राप्त है, किन्तु 'इर्यर्ति' इस प्रयोग के लिये जौहोत्यादिक ऋ धातु से लट्–तिप् शप्-श्लु और द्वित्व करके जब 'ऋ—ऋ + ति' यह स्थिति बनाई जाती है, उस समय उरदत्व को बाधकर 'अर्तिपिपर्त्योश्च' इस सूत्र से अभ्यास के ऋकार को इत्व, रपरत्व, हलादि शेष तथा उत्तरखण्ड के ऋकार को गुण और रपर करने के बाद 'इ–अर् + ति' इस स्थिति में सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति न होने पर भी यण् की तो प्राप्ति है ही। इस प्रकार स्पष्ट है कि जहाँ-जहाँ इयङ् की प्राप्ति है वहाँ यण् की प्राप्ति अवश्य है। इसलिये इयङ् यण् का ही बाधक होता है न कि दीर्घ का।

इस प्रकार जब इयङ् दीर्घ का अपवाद नहीं होता है तो 'ईषतुः' इस प्रयोग में अन्तरङ्ग सवर्णदीर्घ से उसका बाध होकर 'ईषतुः' प्रयोग की सिद्धि जब स्वयमेव हो रही है तो यहाँ इयङ् की व्यावृत्ति के लिये किया गया 'असवर्ण'ग्रहण सर्वथा व्यर्थ ही है। इस प्रकार वह इस परिभाषा का ज्ञापक होता है। यह प्राचीन वैयाकरणों का कहना है।

परे तु एतत्परिभाषाभावे 'अभ्यासस्य' इति सूत्रमेव व्यर्थम्। न च 'इयाय' 'इयेषे'त्यादौ चरितार्थम्, तयोरपि पूर्वप्रवृत्तगुणस्य पूर्वप्रवृत्तवृद्धेश्च 'द्विर्वचनेऽचि' (१-१-५९) इति रूपातिदेशेनापहारे द्वित्वे कृते पुनः प्राप्ते गुण-वृद्धीबाधित्वाऽन्तरङ्गत्वात्सवर्णदीर्घापत्तेः। न च 'इयर्ती'त्यादौ तच्चरितार्थम्, तावन्मात्रप्रयोजनकत्वे उरित्येव ब्रूयात्। य्वोरित्यनुवर्त्तते। 'इणो यण्' (६-४-८१) इति साहचर्याद् व्याख्यानाच्च ऋधातोरेव ग्रहणम्। अर्तेरिवर्णस्येयङित्यर्थः। अभ्यासस्यार्ताविति अभ्यासस्यार्तेरिति वा गुरुत्वान्न युक्तम्।

अब 'परे तु' शब्द से नवीन वैयाकरणों का मत प्रदर्शित किया जा रहा है कि इस परिभाषा के अभाव में 'अभ्यासस्यासवर्णे' यह सूत्र ही व्यर्थ है। यदि कहा जाय कि 'इयाय' 'इयेष' इत्यादि प्रयोगों में इयङ् विधान करने के लिये सूत्र चरितार्थ है तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इन प्रयोगों के लिये 'इ+अ' तथा 'इष्+अ' इस स्थिति में लघूपधगुण और 'अचो ञ्णिति' सूत्र से वृद्धि इन दोनों के पहले प्रवृत्त हो जाने पर 'ऐ+अ' 'एष्+अ' इस स्थिति में 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र से स्थानिवद्भाव-पक्ष में जब रूपातिदेश कर दिया जायेगा, तब गुण और वृद्धि का अपहार होकर वहाँ पुनः इकार की स्थिति हो जायेगी। इसके बाद द्वित्व करने पर 'इ+इ+अ' तथा 'इ-इष्+अ' इस स्थिति में पुनः गुण-वृद्धि की प्राप्ति होती है, जिसे अन्तरङ्गत्वात् बाधकर सवर्णदीर्घ की आपत्ति होती है। और यदि दीर्घ हो जाता है तब यह सूत्र सर्वथा व्यर्थ हो जाता है। इसलिये इयाय और इयेष प्रयोगों में इसकी चरितार्थता सम्भव नहीं है।

यदि कहा जाय कि 'इयर्ति' इस प्रयोग में 'अभ्यासस्य' यह सूत्र चरितार्थ है, क्योंकि 'ऋ-ऋ+ति' इस स्थिति में 'अतिपिपर्त्योश्च' इस सूत्र से अभ्यास के ऋकार को इत्व करने पर 'इ-ऋ+ति' इस स्थिति में सवर्णदीर्घ की प्राप्ति नहीं है। इसलिये यहाँ इयङ् करके उक्त सूत्र चरितार्थ है। किन्तु यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि यदि इतना मात्र (इयर्ति) ही इसका प्रयोजन है तब 'अभ्यासस्या-सवर्णे' की जगह 'लाघवात्' 'उः' ऐसा सूत्र कर देना चाहिये था। इस 'उः' सूत्र में 'अचिश्नु' सूत्र से 'य्वोः' इस पद की अनुवृत्ति होगी। अथवा ऋ धातु में उकार की अनुवृत्ति अनावश्यक होने से 'य्वोः' पद के एकदेश में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा करके केवल इकार की अनुवृत्ति की जायेगी। 'इणो यण्' सूत्र के साहचर्य और व्याख्यान से यहाँ 'ऋ' धातु का ही ग्रहण होगा। इस प्रकार 'ऋ धातु के इकार को इयङ् हो' ऐसा अर्थ करने से अभीष्टसिद्धि हो सकती है।

यहाँ 'अभ्यासस्यार्तौ' अथवा 'अभ्यासस्यार्तेः' ऐसा सूत्र करना उचित नहीं है

क्योंकि यह गुरुभूतन्यास है। इस प्रकार इस परिभाषा के अभाव में 'अभ्यासस्यासवर्णे' यह सम्पूर्ण सूत्र व्यर्थ है।

न च 'ए ऐ ओ औ' शब्देभ्य आचारक्विबन्तेभ्यो लिटीयङाद्यर्थं तत्सूत्रमावश्यकं तथा ओणूधातोर्ण्वुलन्तादिच्छाक्यजन्तात्सनि 'उवोणकीयिषती'त्याद्यर्थमावश्यकमिति वाच्यम्, षाष्ठप्रथमाह्निकान्तस्थभाष्यप्रामाण्येन तेषामनभिधानात्। अन्त्ये द्वितीयद्विर्वचनस्यैव सत्त्वेन त्वदुक्तप्रयोगस्यैव दुर्लभत्वात्! एवञ्च सम्पूर्णसूत्रस्य ज्ञापकता युक्ता।

यदि कहा जाय कि 'ए ऐ ओ औ' शब्दों से आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय करके इन्हें धातु बनाकर लिट् लकार लाने पर द्वित्व और अभ्यास को ह्रस्व करने पर 'इ–ए–अ' इत्यादि स्थिति में असवर्ण अच् पर में रहने के कारण दीर्घ की जहाँ प्राप्त नहीं है, ऐसे स्थल पर इयङ् करने के लिये 'अभ्यासस्यासवर्णे' यह सूत्र आवश्यक है। इसके अतिरिक्त 'ओण्' धातु से ण्वुल् प्रत्यय करके 'ओणक' शब्द बनाकर उससे इच्छा अर्थ में क्यच् प्रत्यय करके 'ओणकीय' ऐसा क्यजन्तरूप जब बनेगा, तब इसे धातु संज्ञा करके 'सन्' प्रत्यय इट् का आगम द्वित्व तथा अभ्यास को ह्रस्व करने पर 'उ–ओणकीयिषति' इस स्थिति में असवर्ण अच् पर में रहने पर 'उवङ्' करके 'उवोणकीयिषति' इस प्रयोग को सिद्ध करने के लिये यह सूत्र आवश्यक है। ऐसी स्थिति में यह परिभाषा का ज्ञापक कैसे होगा? इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि–छठे अध्याय के प्रथम आह्निक के सूत्र 'दाश्वान् साह्वान्' (६।१।१२) के भाष्य के प्रामाण्य से यह निश्चय किया जाता है कि 'ए ऐ' आदि शब्दों से आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय का अनभिधान है। अर्थात् इन शब्दों से आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय नहीं होता है। क्योंकि उक्त स्थल में इस परिभाषा के के ज्ञापन के अवसर पर भाष्यकार ने असवर्णग्रहण को 'ऋ' धातु के लिये बताकर कहा कि एक उदाहरण योगारम्भ का प्रयोजक नहीं होता। यदि एकारादि शब्दों से आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय होता तो अनेक उदाहरणों के रहने पर भाष्यकार का यह कहना कि 'एक उदाहरण योगारम्भ का प्रयोजक नहीं होता' असंगत हो जाता। इससे स्पष्ट है कि एकारादि शब्दों से आचारक्विप् का अनभिधान है।

अन्त्ये='उवोणकीयिषति' इस प्रयोग में धातु के अजादि होने के कारण द्वितीय एकाच् को ही द्वित्व होगा। इसलिये त्वदुक्त प्रयोग 'उवोणकीयिषति' यह सर्वथा दुर्लभ (असम्भव) है। इस प्रकार इन प्रयोगों के लिये जब सूत्र आवश्यक नहीं हुआ तो सम्पूर्ण सूत्र की ज्ञापकता युक्त ही है।

यद्यपि भाष्ये 'यदयमभ्यासस्यासवर्ण इत्यसवर्णग्रहणं करोति' इति ग्रन्थेनासवर्णग्रहणस्यैव ज्ञापकता लभ्यते, तथापि 'न ह्यन्तरेण गुणवृद्धी

असवर्णपराभ्यासो भवति' इति तदुपपादनग्रन्थेन सम्पूर्णसूत्रस्यैव ज्ञापकता लभ्यते। अग्रेऽपि नैतदस्ति ज्ञापकमत्यर्थमेतत्स्यादित्यनेन सूत्रसार्थक्यमेव दर्शितम्। असवर्णग्रहणस्यैव ज्ञापकत्वे तु तद्व्यावर्त्यप्रदर्शनेन तत्सार्थक्यमेव दर्शितं स्यात्।

यद्यपि भाष्य में कहा गया है कि 'अभ्यासस्यासवर्णे' इस सूत्र में जो असवर्ण-ग्रहण किया गया है यही 'वार्णादाङ्गं बलीयः' इस परिभाषा का ज्ञापन करता है। इस ग्रन्थ के द्वारा असवर्ण-ग्रहण की ही ज्ञापकता प्रतीत होती है, तथापि गुणवृद्धि के बिना असवर्णपरक अभ्यास नहीं होता है, इस प्रकार उक्त भाष्य के उपपादन करने वाले ग्रन्थ से सम्पूर्ण सूत्र की ही ज्ञापकता सिद्ध होती है। आगे भी जाकर भाष्यकार ने कहा कि यह सूत्र इस परिभाषा का ज्ञापक नहीं है क्योंकि यह तो ऋ धातु में इयङ् करने के लिये है। इस कथन के द्वारा भाष्यकार ने सम्पूर्ण सूत्र की सार्थकता ही दिखाई है। यदि असवर्णग्रहण ही इस परिभाषा का ज्ञापक होता तो उसी के व्यावर्त्य का प्रदर्शन करके उसकी (असवर्णग्रहण की) सार्थकता ही दिखाई गई होती।

न च 'अकृतव्यूह'परिभाषया 'इयेषे'त्यादौ सवर्णदीर्घाप्राप्तिर्यदि दीर्घो न स्यात्तर्हि गुणः स्यादिति सम्भावनायाः सत्त्वेन परिभाषाप्रवृत्तेः सूपपादत्वादिति कथं सम्पूर्णसूत्रस्य ज्ञापकतेति वाच्यम्, तस्या असत्त्वात्। सत्त्वे वैतद्भाष्यप्रामाण्येन यत्रान्तरङ्गकार्यप्रवृत्तियोग्यकालोत्तरमेव तन्निमित्तविनाशकबहिरङ्गविधेः प्राप्तिस्तत्रैव तत्परिभाषाप्रवृत्तिस्वीकाराच्च।

अब यहाँ यह शंका कर रहे हैं कि 'इयेष' प्रयोग के लिये 'इ–इष्–अ' इस स्थिति में अन्तरङ्ग सवर्णदीर्घ की प्राप्ति नहीं है, क्योंकि 'अकृतव्यूहपरिभाषा' के द्वारा उसका निवारण हो जायेगा। यहाँ अन्तरङ्ग का निमित्त विनाशोन्मुख रहता है वहाँ तत्प्रयुक्त कार्य पहले ही नहीं होता। यहाँ भी ऐसी सम्भावना होती है कि उपर्युक्त स्थिति में यदि दीर्घ न हो तो यहाँ लघूपधगुण हो सकता है जो सवर्णदीर्घ के निमित्त का विनाशक होगा। इस प्रकार बहिरङ्ग के द्वारा अन्तरङ्ग के निमित्त के विनाश की सम्भावना के कारण 'अकृतव्यूह' परिभाषा से दीर्घ को पहले ही रोक दिया जायेगा। परिणाम इसका यह होगा कि लघूपधगुण होकर असवर्ण अच् पर में मिलेगा। इसलिये यहाँ 'इयङ्' करने के लिये 'अभ्यासस्यासवर्णे' यह सूत्र सार्थक है तो यह इस परिभाषा का ज्ञापक किस प्रकार होता है? इस शंका के उत्तर में कहा गया है कि अकृतव्यूह-परिभाषा है ही नहीं। अथवा—यदि यह परिभाषा है भी तो इसकी प्रवृत्ति वहीं पर होती है जहाँ अन्तरङ्गकार्य की प्रवृत्ति के योग्यकाल के बाद ही उसके निमित्त के विनाशक बहिरङ्ग-विधि की प्राप्ति होती हो। जैसे 'सेदुषः'

इस प्रयोग में अन्तरङ्ग इट् के आगम की प्रवृत्ति के बाद प्राप्त सम्प्रसारण वलादित्व के विनाश के द्वारा अन्तरङ्ग इडागम के निमित्त का विनाशक होता है। इसलिये यहाँ अकृतव्यूह परिभाषा की प्रवृत्ति होती है और इडागम पहले ही नहीं होता। किन्तु 'इयेष' की स्थिति इससे भिन्न है। यहाँ अन्तरङ्ग कार्य सवर्णदीर्घ की प्रवृत्ति के योग्यकाल धातु को द्वित्व करना है, क्योंकि बिना द्वित्व और हलादिशेष किये दीर्घ की प्राप्ति ही नहीं होती है। इस कार्य के बाद में ही यहाँ लघूपधगुण की प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु द्वित्व करने से पहले भी प्राप्त होती है। इसलिये अकृतव्यूह परिभाषा की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होगी। इस परिभाषा के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पना करने में एतद्भाष्य='अभ्यासस्यासवर्णे' इस सूत्र से 'वार्णादाङ्गं बलीयः' इस परिभाषा का ज्ञापक परभाष्य ही प्रमाण है।

न चान्तरङ्गत्वाद्दीर्घेऽपि 'इयाये'त्यादौ पूर्वान्तवत्त्वेनाभ्यासत्वादिवर्णत्वाच्च णल्यसवर्ण इयङ्विधानेन सूत्रं चरितार्थम्। न च 'अचि श्नु' (६-४-७७) इत्यनेन सिद्धिः, वृद्धिबाधनार्थत्वादिति वाच्यम्, प्रत्यासत्त्याऽसवर्णपदेनाभ्यासोत्तरखण्डसम्बन्ध्यसवर्णाच एव ग्रहणाच्छास्त्रबाधकल्पनापेक्षया परिभाषाज्ञापकत्वस्यैवौचित्याच्चेत्याहुः।

अब प्रकारान्तर से 'अभ्यासस्यासवर्णे' इस सूत्र के चारितार्थ्य की शंका करते हुए कह रहे हैं कि 'इयाय' आदि प्रयोगों में 'इ—इ+अ' इस स्थिति में अन्तरङ्गत्वात् पहले दीर्घ कर देने पर भी उस दीर्घ इकार को पूर्वान्तवद्भाव से अभ्यास मान लिया जायेगा, और इकार वह स्वयं है ही। ऐसी स्थिति में 'णल्' के अकार को असवर्ण अच् पर में मान कर इस दीर्घ इकार को इयङ् विधान करने के लिये 'अभ्यासस्य' यह सूत्र चरितार्थ है।

यदि कहा जाय कि 'अचि श्नु' सूत्र से यहाँ इयङ् सिद्ध है तो यह कहना संगत नहीं है क्योंकि 'ई+अ' इस स्थिति में 'अचिश्नु' सूत्र से जो इयङ् प्राप्त होगा, इसे बाध कर 'अचो ञ्णिति' सूत्र से वृद्धि प्राप्त रहेगी; इस वृद्धि को बाध कर इयङ् करने के लिये 'अभ्यासस्य' सूत्र आवश्यक है। ऐसी स्थिति में यह प्रस्तुत परिभाषा का ज्ञापक कैसे हो सकेगा? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि यहाँ असवर्ण अच् से, अभ्यास के आगे जो उत्तरखण्ड होता है, तदवयव असवर्ण अच् का ही ग्रहण किया जाता है। ऐसा यहाँ इसलिये किया जाता है कि यहाँ अभ्यास के इकार को इयङ् करना है और अभ्याससंज्ञा द्वित्व किये हुए धातु के पूर्वभाग को होती है। इसलिये प्रत्यासत्या=उपस्थितत्वात् असवर्ण अच् भी अभ्यासोत्तरखण्ड का ही लिया जायेगा। इस प्रकार णल् के अकार को पर में मान कर इयङ् करने के लिये

'अभ्यासस्य' सूत्र की चरितार्थता नहीं कही जा सकती। इसलिये सूत्र व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है।

दूसरी बात यह है कि यदि 'अभ्यासस्य' सूत्र की व्याख्या उपर्युक्त प्रकार से न करके णल् के अकार के यहाँ इयङ् करने के लिये इसे सार्थक मान लिया जाय तो इस प्रकार 'अचो ञ्णिति' सूत्र का साक्षात् बाध करना पड़ता है। इससे अच्छा तो यही है कि णल् के अकार के यहाँ इसकी चरितार्थता न मानकर इसके द्वारा परिभाषा का ज्ञापन कर लिया जाय। ऐसा नवीन वैयाकरण कहते हैं।

सा चेयं धर्मिग्राहकमानादाङ्गवार्णयोः समानकार्यित्व एव। यत्तुसमाननिमित्तकत्वरूपसमानाश्रयत्व एवैषेति। तन्न, ज्ञापितेऽपि 'इयायेयेषे'त्याद्यसिद्धेः, सूत्रवैयर्थ्यस्य तदवस्थत्वाच्च। 'स्योन' इत्यत्र तु वक्ष्यमाणरीत्याऽस्या अनित्यत्वादप्रवृत्तौ गुणादन्तरङ्गत्वाद्यणादेशः।

सा च इयम्='अभ्यासस्यासवर्णे' इस सम्पूर्ण सूत्र से जिसका ज्ञापन किया गया है, वह यह प्रस्तुत परिभाषा धर्मी के ग्राहक प्रमाण के आधार पर वहीं प्रवृत्त होती है, जहाँ आङ्ग और वार्ण दोनों कार्यों का कार्यी (स्थानी) समान हो। अर्थात् वार्णकार्य का जो कार्यी है। वही यदि आङ्गकार्य का भी कार्यी हो तो दोनों कार्य समानकार्यी कहे जा सकते हैं। ऐसे समानकार्यी के स्थल में ही इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। जैसे—'इयाय' इस प्रयोग में 'इ–इ+अ' इस स्थिति में वार्णकार्य जो 'अकः सवर्णे' सूत्र से विधेय दीर्घ है उसकी कार्यिता जिस प्रकार पूर्वइकार में है उसी प्रकार परइकार में भी है। इसलिये यहाँ पर इकारनिष्ठ वार्णकार्य की स्थानिता ली गई। उसी पर इकार में आङ्गकार्य 'अचो ञ्णिति' के द्वारा की जाने वाली वृद्धि की भी कार्यिता है क्योंकि णल् (अकार) को पर में मान कर उसी को वृद्धि प्राप्त रहती है। इस प्रकार यहाँ आङ्ग और वार्ण दोनों कार्य यहाँ समान स्थानिक हैं। इसलिये प्रस्तुत परिभाषा यहाँ प्रवृत्त होती है।

अब थोड़ा विचार यहाँ 'धर्मिग्राहकमानात्' इस पद पर भी कर लेना चाहिये। यहाँ धर्म शब्द से वार्णकार्य की अपेक्षा आङ्गकार्य का बलवत्वरूप धर्म लिया जाता है। इस धर्म से युक्त धर्मी 'प्रस्तुत परिभाषा' है। इसका ग्राहक=ज्ञापक मान=प्रमाण 'अभ्यासस्य' यह सूत्र है। इस प्रमाण के आधार पर ही उपर्यक्त बात कही गई है क्योंकि इस सूत्र के लक्ष्य स्थल में ऐसा ही देखा जाता है कि वार्ण और आङ्ग दोनों कार्य यहाँ समानस्थानिक हैं।

जो लोग कहते हैं कि समाननिमित्तकत्वरूप समानाश्रयत्व में यह परिभाषा लगती है, वह उनका कथन संगत नहीं है क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो इस परिभाषा के ज्ञापन करने पर भी 'इयाय' और 'इयेष' इन प्रयोगों की सिद्धि

नहीं हो सकेगी। इसका कारण यह है कि 'इयाय' इस प्रयोग में दीर्घ का निमित्त पर इकार है और वृद्धि का निमित्त णल् प्रत्यय है। इसी प्रकार 'इयेष' इस प्रयोग में भी दीर्घ का निमित्त परइकार और लघूपधगुण का निमित्त प्रत्यय है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन प्रयोगों में आङ्ग और वार्णकार्य के निमित्त समान नहीं हैं। ऐसी स्थिति में यह परिभाषा यहाँ प्रवृत्त नहीं होगी। फलस्वरूप उपर्युक्त दोनों प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे। दूसरी बात यह है कि जिन 'इयाय' आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिये 'आभ्यासस्यासवर्णे' इस सूत्र से यह परिभाषा ज्ञापित की गई, वे प्रयोग जब इस परिभाषा से नहीं सिद्ध हो रहे हैं तो उक्त सूत्र की व्यर्थता भी तदवस्थ ही रह जाती है। इसलिये समान निमित्तकत्वरूप समानाश्रयत्व में इस परिभाषा की प्रवृत्ति को स्वीकार नहीं करना चाहिये।

यहाँ अब यह शंका हो रही है कि सिव् धातु से न प्रत्यय करने पर नित्यत्वात् गुण को बाध कर ऊठ् करके 'सि—ऊ+न' इस स्थिति में 'सार्वधातुक' सूत्र से गुण और 'इको यणचि' से यण् ये दोनों कार्य साथ ही प्राप्त होते हैं। यहाँ अन्तरङ्गत्वात् गुण को बाधकर पहले यण् होता है। यह बात अब नहीं हो सकती, क्योंकि इस परिभाषा से वार्णकार्य यण् को बाधकर आङ्गकार्य गुण ही पहले होगा। इस प्रकार की शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि 'स्यो नः' इस प्रयोग में गुण को बाधकर अन्तरङ्ग कार्य यण् ही होता है। यहाँ यह परिभाषा इसलिये प्रवृत्त नहीं होती, कि यह परिभाषा वक्ष्यमाणरीति से अनित्य है।

न चैवमपि 'इयाये'त्यादावियङ् दुर्लभः, तत्र कर्त्तव्ये वृद्ध्यादेः स्थानिवत्त्वेन असवर्ण इति प्रतिषेधादिति वाच्यम्, सूत्रारम्भसामर्थ्यादेव स्थानिवत्त्वाप्रवृत्तेः। तच्च सामान्यापेक्षमभ्यासकार्ये तदुत्तरखण्डादेशस्य तत्कार्यप्रतिबन्धकीभूतस्थानिवत्त्वं नेति। अत एव 'आरती'त्यादौ यणादेशस्य स्थानिवत्त्वादभ्यासस्य 'ढ्रलोप' इति दीर्घो दुर्लभ इत्यपास्तम्। दीर्घविधौ तन्निषेधाच्च। अरियि्यादित्यत्र तु स्थानिवत्त्वेनेयङ् भवत्येव, तस्य स्थानिवत्त्वस्याभ्यासकार्यप्रतिबन्धकत्वाभावात्।

न च एवम् अपि='इयाय' इत्यादि प्रयोगों में प्रस्तुत परिभाषा से दीर्घ एकादेश से पहले गुण वृद्धि कर लेने पर भी 'इयाय' यह प्रयोग दुर्लभ है क्योंकि यहाँ वृद्धि के बाद जो 'ऐ' को 'आय्' करके असवर्ण अच् को पर में मानकर इयङ् किया जाता है उस इयङ् की कर्त्तव्यता में 'अचः परस्मिन्' सूत्र से स्थानिवद्भाव करके आयादेश में इकारबुद्धि हो जायेगी। इकारबुद्धि होने पर असवर्ण अच् पर में नहीं मिलेगा, इसलिये यहाँ इयङ् दुर्लभ है। यदि कहा जाय कि आयादेश में स्थानिवद्भाव से 'ऐ बुद्धि' ही हो सकती है न कि 'इकारबुद्धि', तो यहाँ दोष कैसे है? यहाँ यह भी

नहीं कह सकते कि स्थानिवद्भाव से ऐकार में पहले इकारबुद्धि करके वह इकार-बुद्धि पुनः स्थानिवद्भाव से आय् में लायी जायेगी, क्योंकि लक्ष्य में लक्षण एक ही बार लगता है। इस प्रकार जब आदेश में इकारबुद्धि हो ही नहीं रही है तो यहाँ इयङ् दुर्लभ कैसे है ? इस शंका का उत्तर यह समझना चाहिये कि आदेश न केवल स्थानी के तुल्य ही होता है, अपितु अपने स्थानी का जो स्थानी उसके तुल्य भी आदेश होता है। इसलिये 'आय्' अपने स्थानी के स्थानी इकार के धर्मवाला हो जायेगा, जिससे यहाँ इयङ् दुर्लभ है।

इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि 'आभ्यास-स्यासवर्णे' इस सूत्र के उदाहरणों में यदि इसी प्रकार स्थानिवद्भाव करके सवर्ण अच् को ला दिया जाय तो इसका उदाहरण कहीं मिलेगा ही नहीं। ऐसी स्थिति में यह सूत्र व्यर्थ हो जायेगा। इसलिये सूत्र के आरम्भ सामर्थ्य से ज्ञापन करते हैं कि यहाँ स्थानिवद्भाव की प्रवृत्ति नहीं होती है। यद्यपि इयङ् आदेश के लिये विशेषा-पेक्ष ज्ञापन ऐसा होना चाहिये कि अभ्याम् को इयङ् और उवङ् की कर्त्तव्यता में उसके उत्तरखण्ड वाले आदेश को स्थानिवद्भाव नहीं होता है, तथापि बहुत लक्ष्यों के संग्रह के उद्देश्य से यहाँ विशेषापेक्ष ज्ञापन न करके सामान्यापेक्ष ज्ञापन किया गया है जो इस प्रकार है—

अभ्यास को यदि कोई कार्य कर्त्तव्य हो तो उसके उत्तरखण्ड वाले आदेश का स्थानिवद्भाव जो उस कार्य का प्रतिबन्धक हो, वह स्थानिवद्भाव नहीं होता है। इसलिये 'इयाय' प्रयोग में इयङ् को रोकने वाला स्थानिवद्भाव नहीं हुआ, जिससे यहाँ इयङ् की सिद्धि हो जाती है।

अत एव=सामान्यापेक्षज्ञापक स्वीकार करने से ही 'आरति' प्रयोग की सिद्धि होती है। यह प्रयोग 'ऋ' धातु से यङ् लुक् करके लट् लकार और उसके स्थान पर झि प्रत्यय उसको अत् आदेश, धातु को द्वित्व, अभ्यास के ऋकार को अकार और रपर करने बाद हलादिशेष तथा अभ्यास को रुक् का आगम करके 'अर्—ऋ + अति' इस स्थिति में ऋकार को यण् रकार करने के बाद 'रो रि' सूत्र से लोप तथा 'ढ्रलोपे' सूत्र से दीर्घ करके बनाया जाता है।

यदि यहाँ यण् का स्थानिवद्भाव हो जाता तो वहाँ ऋकारबुद्धि होने के कारण 'ढ्रलोपे' सूत्र से अभ्यास के अकार को दीर्घ नहीं होता। किन्तु यह स्थानिवद्-भाव अभ्यासकार्य दीर्घ का प्रतिबन्धक है, इसलिये 'अभ्यासस्यासवर्णे' के द्वारा किये गये सामान्यापेक्ष ज्ञापन के द्वारा इस स्थानिवद्भाव का निषेध कर दिया जाता है। जिससे उक्त रूप 'आरति' की सिद्धि हो जाती है। ऐसी स्थिति में जो लोग कहते थे कि यहाँ यणादेश का स्थानिवद्भाव हो जाने से ऋकार के आ जाने

के कारण 'ढ्रलोपे' सूत्र से दीर्घ नहीं हो सकेगा, 'वे परास्त हो गये, क्योंकि ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि यहाँ दीर्घ होता है।

दूसरी बात यह है कि दीर्घविधि में 'न पदान्त' सूत्र से स्थानिवद्भाव का निषेध कर दिया जाता है, इसलिये 'आरति' प्रयोग में स्थानिवद्भाव का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। उपर्युक्त सामान्यापेक्ष ज्ञापन का दूसरा फल यह होता है कि 'अरियृयात्' प्रयोग में स्थानिवद् करके 'इयङ्' कर लिया जाता है। यहाँ का स्थानिवद्भाव अभ्यासकार्य 'इयङ्' का सम्पादक है न कि उसका प्रतिबन्धक। इसलिये यहाँ उसका निषेध नहीं होता है। अरियृयात्' प्रयोग की सिद्धि इस प्रकार होती है—यङ्लुङन्त ऋ धातु से आशिष् लिङ् लाकर, धातु को द्वित्व, अभ्यास के ऋकार को अकार, रपर और हलादिशेष तथा अभ्यास को रिक् का आगम करके 'अ-रि-ऋ+यात्' इस स्थिति में उत्तरखण्ड के ऋकार रूपी असवर्ण अच् को पर में मान कर अभ्यास के इकार को इयङ् प्राप्त होता है, तथा उसी ऋकार के स्थान पर 'रिङ् शयक्' इत्यादि सूत्र से रिङ् प्राप्त होता है। इन दोनों में परत्वात् रिङ् आदेश कर दिया जाता है। इसके बाद रिङ् को स्थानिवद्भाव से ऋकार मान कर अभ्यास के इकार को इयङ् करके 'अरियृयात्' प्रयोग की सिद्धि की जाती है। यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं किया जाता है, क्योंकि यहाँ का स्थानिवद्भाव अभ्यास के कार्य का प्रतिबन्धक न होकर इसका सम्पादक है।

इयं चाङ्गसम्बन्धिन्याङ्ग एवेति 'स्वरितो वा' (८–२–६) इति सूत्रे भाष्ये। तत्र हि–कुमार्यै इत्यादौ यणुत्तरमाडुक्तः। इयं चानित्या 'च्छ्वोः' (१–४–१९) इति सतुग्निर्देशात्। अन्यथा अन्तरङ्गत्वात् पूर्वं तुकः शादेशे तुकोऽप्राप्त्या तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेत्यन्यत्र विस्तरः॥ ५५॥

यह परिभाषा अङ्गसम्बन्धी आङ्गकार्य में लगती है। यह बात 'स्वरितो वा' सूत्र के भाष्य में कही गई है। यहाँ अङ्ग सम्बन्धी शब्द से अङ्ग को उद्देश्य करके किया जाने वाला कार्य लिया जाता है। आङ्ग शब्द से अङ्गाधिकारी का बोध होता है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट होती है कि जो कार्य अङ्गाधिकारी हो तथा अङ्गोद्देश्यक हो वहीं यह परिभाषा लगती है। 'स्वरितो वा' सूत्र के भाष्य में 'कुमार्यै' प्रयोग में यण् के बाद में आट् को कहा है। यहाँ 'कुमारी+ए' इस स्थित में 'आण्नद्याः' सूत्र से आट् तथा 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इस सूत्र से इकार को यण् ये दोनों कार्य साथ ही प्राप्त होते हैं। इन दोनों में 'आट्' जो है वह यद्यपि अङ्गाधिकारी कार्य है तथापि वह अङ्गोद्देश्यक न होकर प्रत्ययोद्देश्यक है। इसलिये यह परिभाषा यहाँ प्रवृत्त नहीं हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि यहाँ वार्णकार्य यण् पहले हुआ, इसके बाद आट् होता है, ऐसा भाष्यकार ने कहा है।

'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इस सूत्र में 'च्छ्वोः' यह तुक् सहित निर्देश करने से यह परिभाषा अनित्य है। सतुक्निर्देश का प्रयोजन 'प्रष्टा' इस प्रयोग में छकार को शकार करने के बाद तुक् का श्रवण न होना है। यदि यह परिभाषा नित्य होती तो 'प्रच्छ्+ता' इस स्थिति में आङ्गकार्य छकार को शकार पहले ही हो जाता तो छकार न मिलने के कारण तुक् का आगम प्राप्त ही नहीं होता तो उसकी निवृत्ति के लिये सतुक्निर्देश की क्या आवश्यकता है। यही निर्देश व्यर्थ होकर इस परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापन करता है। परिभाषा के अनित्य हो जाने पर आङ्गकार्य शकारादेश पहले नहीं होगा, इसलिये छकार को जो तुक् होगा उसका श्रवण न होने लग जाय, इसलिये सतुक्निर्देश सार्थक होता है। मूल में 'अन्तरङ्गत्वात्' यह पद आया हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि अन्तरङ्गत्वात् प्राप्त तुक् को वार्णपरिभाषा से बाधकर शकार हो जायेगा। इसके बाद तुक् की प्राप्ति ही नहीं होगी।

यदि कहा जाय कि यह बात पहले कही जा चुकी है कि आङ्ग और वार्ण दोनों कार्य जहाँ समानस्थानी वाले होते हैं वहीं यह परिभाषा लगती है। 'प्रष्टा' इत्यादि स्थलों में यह बात नहीं है। क्योंकि तुक् तो ह्रस्व को होता है और छकार के स्थान पर शकार होता है। इस प्रकार दोनों के स्थानी समान नहीं हैं। ऐसी स्थिति में यह परिभाषा यहाँ प्रवृत्त ही नहीं होगी तो तुक् का श्रवण न होने लग जाय, इसलिये 'सतुक्' निर्देश सार्थक है तो वह इसकी अनित्यता का ज्ञापन किस प्रकार करेगा ?

इस शंका का उत्तर यह समझना चाहिये कि समानस्थानिक स्थल में इस परिभाषा की प्रवृत्ति इसके अनित्यत्व के आधार पर ही होती है। अर्थात् यह परिभाषा अनित्य है, इसलिये समानस्थानिक स्थल में तो लगती है किन्तु भिन्नस्थानी वाले स्थल में नहीं लगती है। इस प्रकार इस परिभाषा की अनित्यता सिद्ध है। यह बात अन्यत्र विस्तार से कही गई है ॥ ५५ ॥

नन्वेवं सेदुष इत्यादौ क्वसोरन्तरङ्गत्वादिटि ततः सम्प्रसारणेऽपीटः श्रवणापत्तिरिति चेत् ? अत्र केचित्—

नन्वेवम्=इस प्रकार अन्तरङ्गपरिभाषा को स्वीकार करने पर 'सद्' धातु से लिट्-लकार और उसके स्थान पर क्वसु प्रत्यय करके द्वित्व और अभ्यासकार्य करने पर 'सेद्–वस्' इस अवस्था में ही 'वस्वेकाचात्' सूत्र से 'वस्' को इट् की प्राप्ति है और 'सेद्–वस्' से शस् विभक्ति लाने पर भसंज्ञा करने के बाद 'वसोः सम्प्रसारणम्' सूत्र से वस् को सम्प्रसारण प्राप्त होता है। इन दोनों कार्यों में पूर्वोपस्थिति तथा अन्तर्भूत-

निमित्तक होने के कारण इट् अन्तरङ्गकार्य है और सम्प्रसारण बहिरङ्ग है। इस लिये अन्तरङ्गत्वात् इट् यदि पहले हो जाता है तब पीछे से सम्प्रसारण कर देने पर भी इट् का श्रवण होने लगेगा। श्रवण का तात्पर्य यह समझना चाहिये कि इट् के इकार को यण् होकर अनिष्ट रूप बनने लगेगा। ऐसी आशंका होने पर कुछ लोगों का कहना है—

अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः ॥ ५६ ॥

पाणिनीय वैयाकरण अकृतव्यूह होते हैं।

अकृतव्यूह का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिख रहे हैं—

न कृतो विशिष्ट ऊहो=निश्चयः शास्त्रप्रवृत्तिविषयो यैरित्यर्थः। भावि-निमित्तविनाश इत्यध्याहारः। बहिरङ्गेणान्तरङ्गस्य निमित्तविनाशे पश्चात् सम्भावितेऽन्तरङ्गं नेति यावत्। अत्र च ज्ञापकं 'समर्थानां प्रथमात्' (४-१-८२) इति सूत्रे समर्थानामिति। तद्धि सूत्थितादिभ्यः कृतदीर्घेभ्यः प्रत्ययोत्पत्त्यर्थम्। अन्यथाऽन्तरङ्गत्वाद्दीर्घे कृत एव प्रत्ययप्राप्त्या तद्व्यर्थता स्पष्टैव। तत्र हि भाविन्यादिवृद्ध्या सवर्णाच्त्वविनाशः स्पष्ट एव।

नहीं किया है विशिष्ट ऊह अर्थात् निश्चय जिन लोगों ने उन्हें अकृतव्यूह कहते हैं। निश्चय शब्द से यहाँ शास्त्रप्रवृत्ति-विषयक निश्चय लिया जाता है। इस प्रकार इस परिभाषा का अर्थ इस प्रकार होना चाहिये कि पाणिनीय लोग शास्त्रप्रवृत्ति विषयक निश्चय नहीं करते हैं। किन्तु इस प्रकार का परिभाषार्थ करके शास्त्र की प्रवृत्ति यदि विलकुल न की जाय तो शास्त्र का प्रणयन ही व्यर्थ हो जायेगा। इस लिये यहाँ 'भाविनिमित्तविनाशे' इस पद का अध्याहार किया जाता है। निमित्त का यह भावी विनाश, बहिरङ्गशास्त्र के द्वारा अन्तरङ्ग के भावी विनाश का सूचक है। इस प्रकार की व्याख्या के द्वारा परिभाषा का अर्थ ऐसा किया जाता है कि—बहिरङ्गशास्त्र के द्वारा अन्तरङ्गशास्त्र के निमित्त का विनाश यदि पीछे सम्भावित हो तो पाणिनीय लोग अन्तरङ्गशास्त्र की प्रवृत्ति पहले ही नहीं करते हैं। जैसे—'सेदुषः' इस प्रयोग में अन्तरङ्ग इट् का निमित्त जो 'वस्' यह आनुपूर्वी है इसका बहिरङ्ग सम्प्रसारण के द्वारा विनाश सम्भावित है इसलिये यहाँ अन्तरङ्ग शास्त्र की प्रवृत्ति पहले ही नहीं की जाती है। इसका फल यह होता है कि 'सेदुषः' प्रयोग की सिद्धि होती है।

'समर्थानां प्रथमाद् वा' इस सूत्र में जो 'समर्थानाम्' यह पद है यही इस परि-भाषा का ज्ञापक है। समर्थ पद से यहाँ ऐसे शब्दस्वरूप का ग्रहण किया जाता है जहाँ सन्धिकार्य करके उसे परिनिष्ठित रूप बना दिया गया है। ऐसे कृतसन्धिकार्य

परिनिष्ठित शब्द से प्रत्ययविधान करने के लिये उक्त सूत्र में समर्थग्रहण किया गया है। इसलिये 'सु+उत्थित' इस स्थिति में सवर्णदीर्घ करने के बाद परिनिष्ठत 'सूत्थित' शब्द से ही अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है, जिससे आदिवृद्धि करके 'सौत्थितिः' इस प्रयोग की सिद्धि की जाती है। अन्यथा=इस परिभाषा के अभाव में 'सूत्थितस्यापत्यम्' इस विग्रह में अपत्यार्थक इञ् प्रत्यय की अपेक्षा अन्तरङ्ग-दीर्घ करने के बाद ही इञ् प्रत्यय की प्राप्ति होने के कारण 'सौत्थितः' प्रयोग की सिद्धि जब स्वयमेव हो रही है तब इसकी सिद्धि के लिये 'समर्थानाम्' इस पद की क्या आवश्यकता रह जाती है? इसलिये 'समर्थानाम्' यह पद व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है। जब परिभाषा ज्ञापित हो जाती है तब भाविनी=आगे होने वाली आदिवृद्धि से दीर्घ का निमित्त सवर्ण अच् का विनाश सम्भावित होने के कारण दीर्घ पहले ही नहीं होगा। इसका परिणाम यह होगा कि 'सु+उत्थित' इसी स्थिति में इञ् प्रत्यय हो जायेगा और इसके बाद आदिवृद्धि और 'औ' के स्थान पर आव् आदेश होगा, जिससे 'सावुत्थितिः' ऐसा रूप बनने लगेगा। ऐसा रूप न बने इसलिये 'समर्थानाम् इस पद की सार्थकता होती है कि परिनिष्ठित रूप बनाकर ही तद्धित प्रत्यय हो न कि उससे पहले। इस प्रकार 'समर्थानाम्' इस पद की स्वांश में चरितार्थता होती है।

न चात्रैकादेशप्रवृत्तिसमये वृद्धयप्राप्त्यैकादेशे कृत आदेशे वृद्धेः प्राप्तावपि तन्निमित्तविनाशाभाव इति वाच्यम्। तद्द्वारैव तन्निमित्तविनाशसत्त्वेनाक्षतेः। न च 'सौत्थितौ' बहिरङ्गतया वृद्धेरसिद्धत्वान्न तन्निमित्तविनाश इति वाच्यम्। समर्थग्रहणेनैतद्विषये तस्या अप्रवृत्तेरपि ज्ञापनात्।

यहाँ अब यह शंका कर रहे हैं कि यहाँ आदिवृद्धि के द्वारा अन्तरङ्ग के निमित्त के विनाश की जो बात कही गई है वह ठीक नहीं है, क्योंकि 'सौत्थितिः' इस प्रयोग में जब सवर्णदीर्घ किया गया था, उसी समय सवर्णदीर्घ के द्वारा ही उसके निमित्त का विनाश हो चुका है। इस प्रकार सवर्णदीर्घ के समय वृद्धि के प्राप्त न होने के कारण, तथा सवर्णदीर्घ एकादेश कर देने के बाद एकादेशविशिष्ट दीर्घ ऊकार में वृद्धि की प्राप्ति होने के कारण वृद्धि के द्वारा सवर्णदीर्घ के निमित्त का विनाश नहीं हो रहा है, क्योंकि वह तो दीर्घ के द्वारा ही पहले हो चुका है। इसलिये उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है।

इस प्रकार की शंका के उत्तर में कहा गया है कि तद्द्वारा=वृद्धि के द्वारा दीर्घ एकादेश का विनाश हो रहा है, इसलिये एकादेशविनाशप्रयुक्तसवर्णदीर्घ के निमित्त-का भी औपचारिकविनाश वृद्धि के द्वारा हो रहा है। तात्पर्य यह है कि निमित्त स्थानिक आदेश का विनाश भी 'निमित्त के विनाश' शब्द से गृहीत किया जाता है।

इसलिये दीर्घ का निमित्त उकारद्वय स्थानिक आदेश दीर्घ ऊकार का विनाश करने वाली वृद्धि दीर्घ निमित्त सवर्णाच् की विनाशिका मानी जायेगी। इसलिये वृद्धि के द्वारा अन्तरङ्ग के निमित्त के विनाश की जो बात कही गई है वह ठीक ही है।

यदि कहा जाय कि 'अकृतव्यूह' परिभाषारूपी अन्तरङ्गकार्य की दृष्टि में बहिरङ्गवृद्धि के असिद्ध हो जाने के कारण 'सौत्थिति' प्रयोग में अन्तरङ्ग (दीर्घ) के निमित्त का विनाश नहीं हो रहा है। अकृतव्यूहपरिभाषा की अन्तरङ्गता इस प्रकार है कि 'सु + उत्थित' इस स्थिति में सवर्णदीर्घ का निमित्त जो उकारद्वय हैं वही अकृतव्यूह परिभाषा का भी निमित्त है। इस प्रकार अन्तरङ्ग सवर्णदीर्घ निमित्त-निमित्तक होने के कारण अकृतव्यूहपरिभाषा भी अन्तरङ्ग हो जाती है। इस प्रकार इस परिभाषा की दृष्टि में जब वृद्धि असिद्ध हो जायेगी तब अन्तरङ्ग के निमित्त का विनाश रहेगा ही नहीं तो इस परिभाषा की प्रवृत्ति यहाँ किस प्रकार होगी ? इस प्रकार की शंका होने पर कह रहे हैं कि यदि इस प्रकार अकृतव्यूह-परिभाषा के विषय में अन्तरङ्गपरिभाषा लग जाय तो कहीं भी अन्तरङ्ग का निमित्त विनाशोन्मुख रहेगा ही नहीं। ऐसी स्थिति में 'समर्थानाम्' इस सूत्र में समर्थ-ग्रहण की क्या आवश्यकता रह जायेगी। इसलिये समर्थग्रहण व्यर्थ होकर 'यावता न चारितार्थ्यं' इस नियम के आधार पर ज्ञापन करता है कि एतद्विषये=अकृतव्यूह-परिभाषा के विषय में तस्याः=अन्तरङ्गपरिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। इस प्रकार समर्थग्रहण इस परिभाषा का तथा इस परिभाषा के विषय में अन्तरङ्ग परिभाषा नहीं लगती, इन दोनों बातों का ज्ञापन करता है।

यत्तु समर्थग्रहणेनान्तरङ्गपरिभाषाया अनित्यत्वमेव ज्ञाप्यत इति। तन्न, असिद्धपरिभाषया समकालप्राप्तबहिरङ्गस्य पूर्वं जातबहिरङ्गस्य चान्तरङ्गे कर्त्तव्येऽसिद्धत्वं बोध्यते न तु जातेऽन्तरङ्गे तस्य तत्त्वं बोध्यते, मानाभावात् फलाभावाच्च। एवञ्च सूत्थितादावेकादेशस्य परिभाषासाध्यत्वाभावेन तदनित्यत्वज्ञापनासम्भवात्।

जो लोग कहते हैं कि समर्थग्रहण से 'अकृतव्यूह' परिभाषा का ज्ञापन न करके अन्तरङ्ग परिभाषा की अनित्यता का ही ज्ञापन करना चाहिये। इस प्रकार का ज्ञापन करके भी समर्थग्रहण स्वांश में चरितार्थ हो सकता है क्योंकि अन्तरङ्ग-परिभाषा की अनित्यता के कारण सूत्थित शब्द में दीर्घ पहले हो नहीं सकता। इस लिये अकृतसन्धि 'सु + उत्थित' इस आनुपूर्वी से प्रत्यय होकर अनिष्ट रूप न बनने लगे, इसलिये समर्थग्रहण स्वांश में चरितार्थ हो जाता है।

किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि—'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' यह परिभाषा अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यता में 'समकालप्राप्त बहिरङ्ग तथा जातबहिरङ्ग' इन दो प्रकार के बहिरङ्गों का ही असिद्धत्व बोधन करती है न कि अन्तरङ्गशास्त्र के कर देने के

बाद प्राप्त होने वाले तस्य=बहिरङ्गशास्त्र के असिद्धत्व का बोधन करती है। क्योंकि ऐसा करने में न तो कोई प्रमाण है और न कोई इसका अनन्यथासिद्ध फल ही है।

सूत्थित शब्द में जो दीर्घएकादेश है वह अन्तरङ्ग परिभाषा से साध्य नहीं है क्योंकि जिस समय दीर्घ की प्राप्ति है उस समय वृद्धि की प्राप्ति है ही नहीं। इसलिये यहाँ दीर्घ स्वयं सिद्ध है। यदि अन्तरङ्ग परिभाषा के अधीन दीर्घ की सिद्धि होती तो उसे अनित्य ज्ञापन करके उसकी अप्रवृत्ति के कारण अप्राप्त दीर्घ की सिद्धि के लिये समर्थग्रहण आवश्यक होता। किन्तु यहाँ जब दीर्घ स्वयमेव हो रहा है तब समर्थ-ग्रहण से अन्तरङ्गपरिभाषा का अनित्यत्व ज्ञापन करना असम्भव है।

'अन्तरङ्गानपि विधीन्' इत्यादेरप्यस्यामेवान्तर्भावः। एतत्प्रवृत्तौ च निमित्तविनाशसम्भावनापि निमित्तम्। अत एव 'गोमद्दण्डी'त्यादौ हल्ङ्यादिलोपो न। अन्यथा हल्ङ्यादिलोपकाले सामासिकलुकोऽप्राप्त्या तदुत्तरं चापहार्याभावादप्राप्त्या लोपस्यैवापत्तेः। अस्ति चात्रापि यदि लोपो न स्यात्तर्हि लुक् स्यादिति सम्भावना। 'अल्लोपोऽनः' (६–४–१३४) इति सूत्रस्थतपरकरणन्तु परिभाषाऽनित्यत्वज्ञापनेन चरितार्थम्। तद्धि 'आ न' इत्यादौ लोपवारणाय। अन्यथा दीर्घाभावे लोपसम्भावनयैतत्परि-भाषाबलाद्दीर्घाप्तौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेत्याहुः।

अकृतव्यूहपरिभाषा को स्वीकार करने में लाघव भी है इस बात को सूचित करते हुए लिख रहे हैं कि 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुक् बाधते' तथा 'अन्त-रङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यप् बाधते' इन दोनों परिभाषाओं का भी अन्तर्भाव इसी 'अकृतव्यूह' परिभाषा में ही हो जाता है। क्योंकि 'गोमत्प्रियः' इस प्रयोग के अलौकिक विग्रहवाक्य 'गोमत्+सु—प्रिय+सु' इस अवस्था में अन्तरङ्ग हल्ङ्यादि-लोप का निमित्त 'सु' जब सामासिक लुक् से विनष्ट होने वाला है तो हल्ङ्यादि-लोप पहले ही नहीं होगा। इसलिये नुम् की प्राप्ति यहाँ नहीं होगी। अथवा अन्तरङ्ग-नुम् का निमित्त सु प्रत्यय जब सामासिक लुक् के द्वारा विनष्ट होने वाला है तब अन्तरङ्ग नुम् पहले ही नहीं होगा। इसी प्रकार 'प्रधाय' इस प्रयोग में अन्तरङ्ग-कार्य 'हि' आदेश का निमित्त तादि-कित्त्व जब ल्यप् के द्वारा विनष्ट होने वाला है तब अन्तरङ्ग हित्व आदेश पहले ही नहीं होगा। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि उक्त दोनों परिभाषाओं से जो कार्य सिद्ध होते हैं, वे सभी कार्य प्रस्तुत परिभाषा से सिद्ध हो रहे हैं। इसलिये उक्त दोनों परिभाषाओं का अन्तर्भाव इसी में मानना चाहिये।

अब इस परिभाषा की प्रवृत्ति के निमित्त का स्पष्टीकरण करते हुए विचार किया जा रहा है कि 'सेदुषः' इस प्रयोग में जहाँ अन्तरङ्ग इट् के निमित्त वस् का

विनाश सम्प्रसारण के द्वारा होता है वहाँ तो बहिरङ्ग के द्वारा अन्तरङ्ग के निमित्त का साक्षात् विनाश हो रहा है। ऐसे स्थल पर चरितार्थ यह परिभाषा 'सौत्थितिः' इस प्रयोग में नहीं लगेगी, क्योंकि यहाँ अन्तरङ्गदीर्घ के निमित्त सवर्ण अच् का साक्षात् विनाश आदिवृद्धि के द्वारा नहीं हो रहा है किन्तु वृद्धि के द्वारा दीर्घ का तथा दीर्घ के द्वारा सवर्ण अच् का विनाश होता है। इस प्रकार यहाँ साक्षात् निमित्त का विनाशक बहिरङ्ग न होने के कारण 'सौत्थितिः' प्रयोग में यह परिभाषा नहीं लगेगी तो स्वांश में चरितार्थ न होने के कारण 'समर्थग्रहण' इस परिभाषा का ज्ञापक किस प्रकार होगा ? ऐसी आशंका होने पर ग्रन्थकार का कहना है कि इस अकृत-व्यूहपरिभाषा की प्रवृत्ति में न केवल अन्तरङ्ग के निमित्त का भावी विनाश ही कारण है अपितु अन्तरङ्ग के निमित्त के विनाश की सम्भावना भी कारण है। वह सम्भावना इस प्रकार होती है कि 'यदि अन्तरङ्गशास्त्र पहले न लगे तो बहिरङ्ग-शास्त्र के द्वारा उसके निमित्त का विनाश हो सकता है'। इस प्रकार निमित्तविनाश की सम्भावनामात्र से भी यह परिभाषा प्रवृत्त होती है। 'सौत्थितिः' प्रयोग में यदि अन्तरङ्ग दीर्घ पहले प्रवृत्त न होता तो उसके निमित्त सवर्ण अच् का विनाश भावी आदिवृद्धि के द्वारा निश्चय रूप से हो जाता। इसलिये यहाँ भी परिभाषा की प्रवृत्ति हो जाती है।

अतएव=सम्भावना भी इसकी प्रवृत्ति में कारण है ऐसा स्वीकार करने से ही 'गोमद्दण्डी' इस प्रयोग में 'गोमत्+सु—दण्डिन्+सु' इस स्थिति में हल्ङ्यादिलोप नहीं होता है। क्योंकि यदि हल्ङ्यादिलोप पहले न हो तो सामासिक लुक् के द्वारा इसके निमित्त सु विभक्ति के विनाश की सम्भावना है इसलिये हल्ङ्यादि लोप यहाँ नहीं होता है। अन्यथा=सम्भावना को इस परिभाषा की प्रवृत्ति में कारण न मानने पर 'गोमत्+सु—दण्डिन्+सु' इस स्थिति में 'हल्ङ्यादि लोप' की प्राप्ति के समय सामासिकलुक् की प्राप्ति न होने के कारण, तथा हल्ङ्यादिलोप के बाद अपहार्य (लुक् करनें के योग्य) का अभाव होने के कारण पीछे भी लुक् की प्राप्ति न होने के कारण उक्त स्थल में हल्ङ्यादिलोप की ही आपत्ति हो जाती। इसका परिणाम यह होता कि प्रत्ययलक्षण के द्वारा यहाँ नुम् होने लग जाता।

यहाँ भी ऐसी सम्भावना है कि यदि लोप न हो तो लुक् हो सकता है। अब यहाँ यह शंका हो रही है कि 'अकृतव्यूह' परिभाषा को स्वीकार करने पर 'अल्लो-पोऽनः' इस सूत्र में तपरकरण व्यर्थ है। 'आनः' इस प्रयोग में दीर्घ आकार का लोप वारण करने के लिये तपरकरण किया गया है। 'अन्' धातु से क्विप् प्रत्यय करके 'अनुनासिकस्य' सूत्र से दीर्घ करने बाद शस् विभक्ति में 'आनः' जो यह रूप बनता है यहाँ ऐसी सम्भावना होती है कि यदि यहाँ दीर्घ न हो तो भसंज्ञा करके अन् के

अकार का लोप हो सकता है। इस सम्भावना के अनुसार दीर्घ पहले ही नहीं होगा। परिणाम यह होगा कि 'अन्' के आकार का लोप होने लग जायेगा। इस प्रकार जिस लोप के वारण के लिये तपरकरण किया गया है वह लोप तो तपरकरण करने पर भी हो रहा है इसलिये तपरकरण व्यर्थ है।

इस आशंका का उत्तर देते हुए कहा गया है कि 'अल्लोपोऽनः' इस सूत्र का तपरकरण इस परिभाषा का आनित्यत्वज्ञापन करके चरितार्थ है। जब परिभाषा अनित्य हो जाती है तो 'आनः' इस प्रयोग में पहले दीर्घ हो जायेगा। अब उस दीर्घ आकार का लोप न होने लग जाय, इसलिये तपरकरण स्वांश में चरितार्थ होता है। अन्यथा=परिभाषा को अनित्य न मानने पर 'आनः' प्रयोग में उपर्युक्त विवेचन के अनुसार दीर्घ के अभाव में लोप की सम्भावना होने के कारण इस परिभाषा के बल से दीर्घ की अप्राप्ति में अकार का लोप हो जाता, जिससे तपरकरण का वैयर्थ्य स्पष्ट ही हो जाता। ऐसा दीक्षित प्रभृति विद्वान् कहते हैं।

'समर्थानाम्' इति सूत्रे कैयटस्तु समर्थवचनेनेयं परिभाषा ज्ञाप्यते 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' इति। तेन 'पपुष' इत्यादावन्तरङ्गत्वात्पूर्वं कृतोऽपीडागमो निवर्त्तत इति वदन् 'न कृतो व्यूहो विशिष्टस्तर्को निमित्तकारणविनाशेऽपि कार्यस्थितिरूपो यैरि'त्यर्थमभिप्रैति। 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इति यावत्। सूत्थितादिजि वृद्धौ दीर्घनिवृत्तौ सावुत्थितिर्मा भूदिति समर्थानामिति।

'समर्थानाम्' इस सूत्र में कैयट ने कहा है कि 'इस सूत्र में किये गये समर्थग्रहण से 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' यह परिभाषा ज्ञापित की जाती है। इसलिये पा धातु से लिट् लकार लाकर उसके स्थान पर क्वसु, धातु को द्वित्व, अभ्यास को ह्रस्व करने पर 'प—पा+वस्' इस स्थिति में अन्तरङ्गत्वात् पहले इट् हो जाता है। इसके बाद शस् विभक्ति लाकर भसंज्ञा करके सम्प्रसारण करने पर इट् का निमित्त विनष्ट हो जाता है। इसलिये निमित्त के नष्ट हो जाने पर अन्तरङ्गत्वात् पहले से किया हुआ भी इडागम निवृत्त हो जाता है, जिससे 'पपुषः' इस रूप की सिद्धि होती है, ऐसा कहते हुए कैयट इस परिभाषा का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि—नहीं किया है व्यूह अर्थात् निमित्तकारण के नष्ट हो जाने पर कार्य की स्थितिरूपी विशिष्ट तर्क जिन्होंने वे अकृतव्यूह कहे जाते हैं। 'पाणिनीय लोग अकृतव्यूह होते हैं', इस कथन का तात्पर्य यह है कि ये लोग निमित्त कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य की भी स्थिति समाप्त कर देते हैं। तात्पर्य यह है कि निमित्त के नष्ट होने पर नैमित्तिक (कार्य) का भी नाश हो जाता है।

सूत्थित शब्द से इञ् प्रत्यय करके वृद्धि करने पर जब दीर्घ की निवृत्ति हो जायेगी, तब 'सावुत्थितिः' ऐसा रूप न बनने लगे इसलिये 'समर्थानाम्' इस पद की आवश्यकता है।

यह शंका होती है कि यहाँ वृद्धि के द्वारा दीर्घ की निवृत्ति की बात कही गई है, किन्तु यह बात असंगत लगती है, क्योंकि 'सूत्थित' शब्द से इञ् प्रत्यय करने पर यद्यपि दीर्घ ऊकार को वृद्धि होती है—तथापि उस वृद्धि के द्वारा दीर्घ के निमित्त उकारद्वय का विनाश तो होता नहीं, क्योंकि वह विनाश तो स्वयं दीर्घ ने पहले ही कर दिया है। इसलिये जब दीर्घ के निमित्त का नाश वृद्धि के द्वारा नहीं हो रहा है तब नैमित्तिक दीर्घ का अपाय किस प्रकार होगा? दूसरी बात यह है कि देवदत्त-हन्तृहनन न्याय के अनुसार वृद्धि के द्वारा दीर्घ को मार देने पर भी उकारद्वय का आना तो असम्भव ही है। ऐसी स्थिति में 'सावुत्थितिः' प्रयोग की आशंका किस प्रकार की गई है?

इस शंका का उत्तर यह है कि यहाँ निमित्त शब्द से सवर्णदीर्घ का तथा नैमित्तिक शब्द से उकारद्वयरूपी स्थानी की निवृत्ति का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि सवर्णदीर्घ-रूपी निमित्त के द्वारा अपने स्थानी की निवृत्ति रूपी कार्य किया जाता है। सौत्थिति प्रयोग में इञ् करके जब उकारद्वय के निवृत्ति के निमित्त सवर्णदीर्घ का वृद्धि के द्वारा अपाय किया जाता है तब निमित्त के नाश होने पर उकारद्वय की निवृत्तिरूप नैमित्तिक (कार्य) की भी निवृत्ति हो जाती है। इसका तात्पर्य यह होता है कि जब उकारद्वय की निवृत्ति की निवृत्ति हो जाती है तो उकारद्वय की सत्ता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार 'सु+उत्थित+इ' इस स्थिति में वृद्धि आदेश की स्थिति के लिये दूसरी बार प्रथम उकाररूप स्थानी की निवृत्तिपूर्वक औकारविधान करने पर 'सौ+उत्थित+इ' इस स्थिति में आव् आदेश करके 'सावुत्थितिः' प्रयोग न बनने लगे, इसलिये समर्थग्रहण की आवश्यकता है। जब समर्थग्रहण कर दिया जाता है तब उसके कारण निमित्त (दीर्घ) के नष्ट हो जाने पर भी उकारद्वय की निवृत्ति-रूपी नैमित्तिक की निवृत्ति नहीं हुई। इसलिये दीर्घ ऊकार को वृद्धि होकर 'सौत्थितिः' प्रयोग बनता है।

लोकन्यायसिद्धश्चायमर्थः। तथा हि लोके निमित्तं द्विविधं दृष्टम्—कार्यस्थितौ नियामकं तदनियामकञ्च। आद्यं यथा न्यायनयेऽपेक्षाबुद्धिः, तन्नाशे द्वित्वनाशाभ्युपगमात्। वेदान्तिनये प्रारब्धस्य विक्षेपस्थितिनियामकत्वं च प्रसिद्धमेव। द्वितीयं यथा—दण्डादि, तन्नाशेऽपि घटनाशादर्शनात्। शास्त्रे लक्ष्यानुरोधाद् व्यवस्था।

भाविनिमित्तविनाशे पूर्वमनुत्पत्तौ तु न कश्चिन्न्यायो नापि सम्प्रतिपन्नो

दृष्टान्तः। समर्थानामित्यस्यापि लोकसिद्धार्थज्ञापनेन चारितार्थ्यसम्भवे लोकासिद्धापूर्वतादृशार्थज्ञापकत्वे मानाभाव इति तदाशय इति बोध्यम्।

कैयट के द्वारा किया गया यह परिभाषार्थ लोकन्यायसिद्ध है। जैसे—लोक में दो प्रकार के कारण देखे जाते हैं। एक तो कारण, कार्य की स्थिति का नियामक होता है, अर्थात् जब तक कारण रहता है तभी तक कार्य रहता है। दूसरा कारण ऐसा होता है जो कार्य की स्थिति का नियामक नहीं होता है, अर्थात् कारण के न रहने पर भी कार्य की स्थिति बनी रहती है।

इनमें पहले कारण का उदाहरण न्यायसिद्धान्त के अनुसार अपेक्षाबुद्धि है। 'अयमेकः, अयमेकः' इस प्रकार नाना एकत्व का अवगाहन करने वाली बुद्धि अपेक्षा-बुद्धि कही जाती है। यह अपेक्षाबुद्धि द्वित्व आदि संख्याओं का निमित्तकारण है। जब तक अपेक्षाबुद्धि रहती है तभी तक द्वित्व आदि संख्याएँ भी रहती हैं। जब अपेक्षाबुद्धि का नाश हो जाता है तब द्वित्वादि संख्याएँ भी नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार अपेक्षाबुद्धि कार्य स्थिति की नियामिका होती है। इसी प्रकार वेदान्तशास्त्र के अनुसार प्रारब्धकर्म विक्षेप संसार की स्थिति का नियामक होता है।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं—क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध। इनमें क्रियमाण कर्म वे हैं जो वर्तमान जीवन में किये जाते हैं। संचित कर्म उन्हें कहा जाता है जो अभी फल देने के लिये उन्मुख न होकर केवल एकत्रित रहते हैं। फल देने के लिये उन्मुख कर्म को प्रारब्ध कर्म कहते हैं। इसका नाश तो भोग के द्वारा ही होता है, इसलिये इसके भोग के लिये संसार की स्थिति होती है। इस प्रकार प्रारब्ध कर्म की संसारस्थिति की नियामकता स्पष्ट है।

दूसरे प्रकार की निमित्त का उदाहरण दण्ड आदि हैं। दण्ड के नष्ट हो जाने पर भी घट का नाश नहीं होता! इस प्रकार दण्ड अपने कार्य घट की स्थिति का नियामक नहीं होता है।

शास्त्र में लक्ष्य के अनुरोध से व्यवस्था करनी चाहिये। कहीं तो कारण के निवृत्त होने पर कार्य की निवृत्ति कर देनी चाहिये। जैसे 'सेदुषः' इस प्रयोग में इट् की निवृत्ति होती है। कहीं कारण के निवृत्त होने पर भी कार्य की निवृत्ति नहीं की जाती। जैसे 'पट्व्या, मृद्व्या' इन प्रयोगों में उकार के यण् का निमित्त इकार जब स्वयं यण् के द्वारा नष्ट हो गया तो भी उकार स्थानिक यण् की निवृत्ति नहीं होती है।

निमित्त का विनाश जहाँ भावी हो वहाँ पहले ही कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है इसमें कोई न्याय नहीं है और न ही उभयपक्षसम्मत कोई दृष्टान्त ही है। यदि कहा जाय कि 'समर्थानाम्' इस पद के द्वारा ऐसा ज्ञापन किया जाता है कि भावी निमित्त के विनाश की स्थिति में कार्य पहले ही नहीं होता, तो यह कहना भी ठीक

नहीं है, क्योंकि जब लोकसिद्ध अर्थ के अनुसार ज्ञापन करके 'समर्थानाम्' यह पद चरितार्थ हो सकता है तब लोक से असिद्ध उस प्रकार का अपूर्व अर्थ (कार्य पहले ही नहीं होता) के ज्ञापन में कोई प्रमाण नहीं है। यह कैयट का अभिप्राय समझना चाहिये।

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि दीक्षित और कैयट दोनों के मत के अनुसार यद्यपि इस परिभाषा का ज्ञापक एक ही 'समर्थानाम्' यह पद है तथापि दोनों की व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न हैं। कैयट जहाँ भावी निमित्त के विनाश होने पर किये हुए कार्य की निवृत्ति करते हैं, वहाँ दीक्षित निमित्त को विनाशोन्मुख देखकर तत्प्रयुक्त कार्य पहले ही नहीं करते हैं। इनमें 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इस न्याय के अनुसार दीक्षित का मत ही युक्त प्रतीत होता है।

परे तु 'सेदुष' इत्यादौ पदावधिकेऽन्वाख्याने 'सेद् वस् अस्' इति स्थिते इट्सम्प्रसारणयोः प्राप्तौ प्रतिपदविधित्वात्पूर्वं सम्प्रसारणे वलादित्वाभावादिटः प्राप्तिरेव नेति तत्सिद्धिरिति 'समर्थानाम्' इति। सूत्रे कैयटे 'असिद्धवत्' सूत्रे कैयटे च स्पष्टमेतत्। यद्यपि प्रतिपदविधित्वमनवकाशत्वे सत्येव बाधकत्वे बीजम्, तथापि पूर्वप्रवृत्तौ सावकाशत्वेऽपि नियामकं भवत्येवेति तदाशयः। निरूपितं चैतद्बहुशः शब्देन्दुशेखरादौ।

अब 'परे तु' शब्द से नागेशभट्ट अपना मत कह रहे हैं। इनके मत के अनुसार इस परिभाषा की आवश्यकता नहीं है। इनका है कि लक्ष्य के अनुसार इस परिभाषा के विषय में पदावधिक अन्वाख्यान पक्ष ही स्वीकृत है। इसका तात्पर्य यह है कि पद की विभागपूर्वक स्थापना करके तब उसका अन्वाख्यान किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार 'सेद्+वस्+अस्' इस स्थिति में इट् और सम्प्रसारण दोनों की साथ प्राप्ति होने पर प्रतिपदविधि अर्थात् प्रतिपदोक्त विधि होने के कारण पहले सम्प्रसारण कर देने पर वस् के वलादित्व का अभाव हो जाता है, इसलिये यहाँ इट् की प्राप्ति ही नहीं होती है। इस प्रकार 'सेदुषः' प्रयोग की सिद्धि हो जाती है। यह बात 'समर्थानाम्' सूत्र के कैयट में स्पष्ट है। 'असिद्धवत्' सूत्र के कैयट में भी यह बात स्पष्ट है।

यहाँ सम्प्रसारण के बाद वलादित्व के अभाव के कारण जो इट् की अप्राप्ति की बात कही गई है, उससे संकेत मिलता है कि इट् के विधायक सूत्र 'वस्वेकाचात्' में वलादि पद की अनुवृत्ति को स्वीकार किया गया है।

यहाँ कहा जा सकता है कि जिस प्रकार वसु शब्द का उच्चारण रूपी प्रतिपदविधित्व सम्प्रसारण में है, ठीक वैसा ही प्रतिपदविधित्व 'वस्वेकाचात्' इस इट्-विधायक सूत्र में भी है। ऐसी स्थिति में प्रतिपदविधित्वात् पहले इट् ही क्यों न

हो जावे ? इस शंका का उत्तर यह है कि वसु शब्द का उच्चारणरूपी प्रतिपद-विधित्व समान होने पर भी इट् विधि में इतनी विशेषता है कि वह कृत द्विर्वचन एकाच् से पर में रहने वाले वसु को होता है। 'सद्+वस्+अस्' इस स्थिति में कृतद्विर्वचन एकाच् नहीं है, इसलिये इस स्थिति में 'इट्' की प्राप्ति ही नहीं है। सम्प्रसारण के लिये तो इस बात की आवश्यकता नहीं है। इसलिये द्वित्व से पहले ही प्रतिपदविधित्वात् सम्प्रसारण हो जाता है। इसके बाद इट् की प्राप्ति ही नहीं होती है, इसलिये यह परिभाषा अनावश्यक है। यही इस ग्रन्थ का रहस्य है। यद्यपि प्रतिपदविधित्व के कारण कोई सूत्र किसी सूत्र को तभी बाधता है यदि वह अनवकाश हो। प्रस्तुत स्थल में सम्प्रसारण अनवकाश तो नहीं है, इसलिये सम्प्रसारण के द्वारा इट् का बाध नहीं होना चाहिये, तथापि सावकाश होने पर भी प्रतिपद-विधित्व किसी शास्त्र के पहले प्रवृत्त होने में नियामक होता ही है, यही तदाशय= कैयट का आशय है। यह बात शब्देन्दुशेखर में बहुशः निरूपित है।

'समर्थानाम्' इति सूत्रस्थसमर्थग्रहणन्तु 'विषुण' इत्यादावकृतसन्धेः प्रत्ययदर्शनेन सर्वत्र तथा भ्रमवारणाय न्यायसिद्धार्थानुवाद एव। ध्वनितं चेदं 'विप्रतिषेध'सूत्रे भाष्ये। तत्र हि 'वैक्षमाणिरि'त्यन्तरङ्गपरिभाषोदाहरणमुक्तम्। किञ्च विभज्यान्वाख्याने 'सु उत्थित अस् इ' इति स्थिते 'वार्णादाङ्गं बलीय' इति प्राप्तवृद्धिवारणाय समर्थग्रहणमित्यत्रैव कैयटे स्पष्टम्।

अब यहाँ यह शंका हो रही है कि जब यह परिभाषा नहीं है तब तो 'सौत्थितिः' इस प्रयोग में अन्तरङ्गत्वात् दीर्घसन्धि करने के बाद ही तद्धित प्रत्यय होगा। ऐसी स्थिति में 'समर्थानाम्' इस पद की क्या आवश्यकता है ? इस शंका के उत्तर में लिख रहे हैं कि 'समर्थानाम्' इस सूत्र में समर्थग्रहण इसलिये आवश्यक है कि, 'विषुणः' प्रयोग में अकृतसन्धि से प्रत्यय का होना देखकर सब जगह ऐसे ही अकृत-सन्धि से प्रत्यय न होने लगे, इस भ्रम के वारण के लिये उसकी आवश्यकता है। इस प्रकार अन्तरङ्गत्वात् जो कार्य सिद्ध है उस न्यायसिद्ध अर्थ का यह 'समर्थ'-ग्रहण अनुवाद रूप ही है।

'विषुणः' प्रयोग की सिद्धि इस प्रकार होती है—विषु पूर्वक अञ्च धातु से क्विप् प्रत्यय करके नलोप करने पर 'विषु+अच्' इस स्थिति में 'विष्वगित्युत्तरपद-लोपश्चाकृतसन्धेः' इस वार्तिक से सन्धिकार्य से पहले उत्तरपद का लोप करके न प्रत्यय करने से यह रूप बनता है। 'विषु अञ्चति इति विष्वङ्, विष्वङ् अस्ति अस्य इति विषुणः'='सर्वतः गामी' यह इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। यदि यहाँ सन्धि-कार्य करने के बाद उत्तरपद का लोप और प्रत्यय होता तो 'विष्वक्' शब्द के

उत्तरपद का लोप तथा 'लोपो व्योर्वलि' से वकार का लोप करने पर 'विष्णः' ऐसा रूप बनने लगता। इसलिये यहाँ अकृतसन्धि से ही प्रत्यय होता है। ऐसा ही सब जगह न होने लगे, इसलिये समर्थग्रहण है। इदम् समर्थग्रहण, न्यायसिद्ध अर्थ का अनुवादक है यह बात 'विप्रतिषेध' सूत्र के भाष्य में ध्वनित है। वहाँ 'वैक्षमाणिः' इस प्रयोग को अन्तरङ्गपरिभाषा का उदाहरण कहा गया है। इस प्रयोग की स्थिति यह है कि 'वि + ईक्षमाण + इ' इस स्थिति में वृद्धि और दीर्घ एकादेश दोनों की प्राप्ति होने पर भाष्यकार ने कहा कि यहाँ अन्तरङ्गत्वात् दीर्घ होता है। यदि कृत-सन्धिकार्य से प्रत्यय की उत्पत्ति के लिये समर्थग्रहण होता तो अन्तरङ्गत्व के अभाव में भी सन्धिकार्य पहले ही हो जाता। ऐसी स्थिति में अन्तरङ्गत्वात् यहाँ दीर्घ एकादेश होता है ऐसा भाष्यकार का कहना असंगत हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि समर्थग्रहण कोई अपूर्व कार्य करने के लिये नहीं है, किन्तु वह तो अन्तरङ्गपरिभाषा से लभ्य अर्थ का अनुवादक मात्र है। इसलिये उसके द्वारा 'अकृतव्यूह' परिभाषा का ज्ञापन करना ठीक नहीं है। यदि कहा जाय कि 'समर्थ-ग्रहण' अकृतव्यूह परिभाषा का ज्ञापन करके यह परिभाषा तद्धित में नहीं लगती है' ऐसा ज्ञापन करता है। इसलिये 'वैक्षमाणिः' इस प्रयोग में अन्तरङ्गत्वात् जो दीर्घ कहा गया है वह ठीक ही है। तो इसी अरुचि से यहाँ 'किञ्च' लिखा गया है। पद का विभज्य अन्वाख्यान अर्थात् पदसंस्कारपक्ष में 'सु + उत्थित + अस् + इ' इस स्थिति में 'वार्णादाङ्गं बलीयः' इस परिभाषा के द्वारा वार्णकार्य सवर्ण दीर्घ को बाध कर आङ्गकार्य आदिवृद्धि प्राप्त रहती है, इसके वारण के लिये 'समर्थ'-ग्रहण है, यह बात अत्रैव = समर्थानाम् इस सूत्र के ही कैयट में स्पष्ट है। इस प्रकार जब समर्थग्रहण सावकाश है तब उसके द्वारा 'अकृतव्यूह' परिभाषा का ज्ञापन करना असंगत ही है। यही इस स्थल का सारांश है।

अत एव असिद्धवत्सूत्रे "वसुसम्प्रसारणमज्विधौ सिद्धं वक्तव्यं 'पपुष' इत्यादौ वसोः सम्प्रसारणे कृते आतो लोपो यथा स्यात्" इति भाष्ये उक्तम्। पदस्य विभज्यान्वाख्याने पूर्वोक्तकैयटरीत्या पूर्वं सम्प्रसारणे इटोऽप्राप्तावुस्-निमित्तक एवाऽऽतो लोप इति तदाशयः। अन्यथाऽन्तरङ्गत्वादिटि तन्नि-मित्तक एवाऽऽतो लोप इति तदसङ्गतिः।

अकृतव्यूहपरिभाषा के समर्थकों द्वारा जब यह कहा जाता है कि हम समर्थ-ग्रहण से 'अकृतव्यूह' परिभाषा का ज्ञापन करते हैं। इसके बाद 'वैक्षमाणिः' प्रयोग में दीर्घ की प्राप्ति न होने पर आदिवृद्धि प्राप्त रहेगी, इसके वारण के लिये 'समर्थ-ग्रहण' चरितार्थ होता है। 'वार्णादाङ्गं बलीयः' यह परिभाषा अकृतव्यूह परिभाषा से पृथक् कोई दूसरी चीज नहीं है क्योंकि अकृतव्यूह परिभाषा से दीर्घ को पहले

रोक देने पर आदिवृद्धि प्राप्त होती है। वार्णपरिभाषा से भी यही कार्य प्राप्त रहता है। इसलिये दोनों परिभाषाएँ एक रूप ही हैं। ऐसी स्थिति में समर्थग्रहण से अकृतव्यूह परिभाषा का ज्ञापन करना ठीक ही है। इस प्रकार परिभाषावादियों की ओर से कहे जाने पर पूर्वसमाधान में अरुचि के कारण नागेशभट्ट लिख रहे हैं—अत एव=अकृतव्यूहपरिभाषा के न होने के कारण ही 'असिद्धवत्' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा है कि—'वसु' प्रत्यय को जो सम्प्रसारण होता है वह, अच् विधि अर्थात् अच् के स्थान पर किसी कार्य को करने के समय सिद्ध रहता है। 'पपुषः' इस प्रयोग में वसु को सम्प्रसारण करने पर आकार का लोप हो सके, इसलिये ऐसा कहना चाहिये।

भाष्य का यह कथन तभी संगत होता है जब कि अकृतव्यूहपरिभाषा को न माना जाय। क्योंकि पदसंस्कार पक्ष में 'प—पा+वस्+शस्' इस स्थिति में कैयट के पूर्व कथनानुसार जब इट् और सम्प्रसारण दोनों साथ ही प्राप्त होंगे, तब प्रतिपदविधि होने के कारण पहले सम्प्रसारण हो जायेगा। इसके बाद वलादित्व के अभाव के कारण इट् की प्राप्ति ही नहीं रहेगी। उस समय 'प—पा+उस्+अस्' इस स्थिति में उस् को पर में मान कर ही पा के आकार का लोप 'आतो लोपः' इस सूत्र से कर्त्तव्य है। किन्तु 'आतो लोपः' इस आभीय सूत्र की कर्त्तव्यता में 'वसोः सम्प्रसारणम्' यह आभीय सूत्र असिद्ध न हो जाय इसलिये वसुसम्प्रसारण को सिद्ध रखने वाला वार्तिक आवश्यक होता है।

अब यहाँ यह विचार करना है कि 'अकृतव्यूह' परिभाषा के न रहने पर ही यह भाष्योक्ति कैसे संगत होती है। भाष्यकार ने आकारलोप की कर्त्तव्यता में सम्प्रसारण की सिद्धि की बात कही है। उन्होंने इट् की सिद्धि की बात नहीं कही है। इससे स्पष्ट होता है कि भाष्यकार यहाँ इट् का होना मानते ही नहीं हैं। और इट् का न होना कब होता है, जब कि प्रतिपदविधित्वात् पहले सम्प्रसारण हो जाता है। इस प्रकार 'पपुषः' प्रयोग में जब इट् की स्वयं प्राप्ति नहीं है तब उसे रोकने में लिये इस परिभाषा की कोई आवश्यकता नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पहले सम्प्रसारण हो जाने के कारण इट् नहीं होता, तब उस्-निमित्तक आकारलोप की कर्त्तव्यता में सम्प्रसारण की असिद्धि को रोकने के लिये उसकी सिद्धिहेतु वार्तिक किया गया। यही उस भाष्य का आशय है।

अन्यथा='पपुषः' इत्यादि प्रयोगों में प्रतिपदविधित्वात् पहले सम्प्रसारण होता है। यह कैयट की बात न मानी जाय तब इस प्रयोग में अन्तरङ्गत्वात् पहले इट् का आगम ही होगा और तन्निमित्तक ही आकार का लोप भी होगा। ऐसी स्थिति में उस्-निमित्तक आकार लोप के न होने के कारण 'वसुसम्प्रसारणमज्विधौ' यह

वार्तिक और तत्सम्बन्धी भाष्य इन दोनों की असंगति हो जायेगी। इससे स्पष्ट है कि अकृतव्यूह परिभाषा नहीं है।

इस विवेचन के ऊपर परिभाषावादी दीक्षित और कैयट की ओर से यदि कहा जाय कि परिभाषा के रहते हुए भी उक्त भाष्य की संगति हो सकती है। क्योंकि दीक्षित के मतानुसार 'पपुषः' इस प्रयोग में सम्प्रसारण के द्वारा वलादित्व के विनाश की संभावना में पहले ही इट् नहीं होगा। कैयट के मतानुसार तो यद्यपि इट् पहले हो जायेगा तथापि सम्प्रसारण हो जाने के बाद निमित्त के नष्ट हो जाने पर इट् भी निवृत्त हो जायेगा। इस प्रकार दोनों मतों के अनुसार इट् का अस्तित्व न होने के कारण उस् निमित्तक ही आकार का लोप कर्त्तव्य होता है। यह आकार का लोप उस् की असिद्धि के कारण असंभव न हो जाय। इसलिये वार्तिक की आवश्यकता प्रस्तुत परिभाषा के रहने पर भी हो रही है और भाष्य की असंगति भी नहीं हो रही है। इस प्रकार के कथन से परिभाषा के विरोध में प्रस्तुत किये वचनों एवं तर्कों में अरुचि आने पर नागेश भट्ट कह रहे हैं—

अत एव 'चौ प्रत्यङ्गस्य प्रतिषेध' इति वचनं वार्त्तिककृतारब्धं भाष्यकृता च न प्रत्याख्यातम्। प्रत्यङ्गमन्तरङ्गम्। अस्यां परिभाषायां सत्यां तु तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव।

अत एव 'च्छ्वोः' (६–४–१९) इति सूत्रे 'अवश्यमत्र तुगभावार्थो यत्नः कार्योऽन्तरङ्गत्वाद्धि तुक् प्राप्नोती'ति भाष्ये उक्तम्। एतत्सत्त्वे तु तुकोऽप्राप्त्या यत्नावश्यकत्वकथनमसङ्गतमिति स्पष्टमेव। न चैतदनित्यत्वज्ञापनार्थमेव तदिति तदाशयः, अवश्यमत्रेत्यक्षरस्वारस्यभङ्गापत्तेः।

किञ्चानयैव 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' 'अदो जग्धिर्ल्यब्तिकिती'त्यनयोश्चारितार्थ्येन तज्ज्ञापकवशाल्लुक्ल्यपोरन्तरङ्गबाधकता भाष्योक्ता भज्येत।

किञ्चैषा भाष्ये न दृश्यते। तदुक्तम् 'असिद्धवत्' सूत्रे कैयटेन 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय इति परिभाषाया भाष्यकृताऽनाश्रयणादि'ति।

अत एव=अकृतव्यूहपरिभाषा के न होने के कारण ही वार्तिककार ने 'प्रतीचः' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि के लिये 'चौ प्रत्यङ्गस्य प्रतिषेधः' इस वचन का आरम्भ किया है। इसका अर्थ यह है कि अञ्च् धातु पर में रहने पर अन्तरङ्गकार्य का निषेध हो जाता है। उदाहरण के लिये 'प्रतीचः' प्रयोग को लिया जा सकता है। यहाँ 'प्रति+अच्+अस्' इस स्थिति में अन्तरङ्गत्वात् यण् प्राप्त रहता है, उसका इस वार्तिक से निषेध कर दिया जाता है। इसके बाद अकार का लोप और दीर्घ करने पर 'प्रतीचः' यह प्रयोग सिद्ध होता है। इस प्रकार 'प्रतीचः' इत्यादि प्रयोगों

की सिद्धि के लिये वार्तिककार ने जिस वचन का आरम्भ किया है, भाष्यकार ने उसका प्रत्याख्यान नहीं किया। यदि यह परिभाषा होती तो 'प्रतीचः' प्रयोग में भावी अकार के लोप के कारण अन्तरङ्ग यण् का निमित्त विनाशोन्मुख है। ऐसी स्थिति में यण् स्वयमेव नहीं होता तो उसके निषेध के लिये वार्तिक की क्या आवश्यकता रह जाती। अर्थात् उक्त वार्तिक का कार्य परिभाषा से ही चल जाता तो इस वार्तिक का प्रत्याख्यान भाष्यकार को कर देना चाहिये था। किन्तु भाष्यकार ने प्रत्याख्यान नहीं किया है, इससे स्पष्ट होता है कि यह परिभाषा नहीं है। इस परिभाषा के रहने पर वार्तिक की व्यर्थता स्पष्ट ही है। प्रत्यङ्ग शब्द का अर्थ अन्तरङ्ग है।

यदि कहा जाय कि 'चौ प्रत्यङ्गस्य प्रतिषेधः' यह वचन कोई अपूर्व वचन नहीं है किन्तु 'अकृतव्यूहपरिभाषा का फलितार्थ मात्र है। इसलिये भाष्यकार ने उसका प्रत्याख्यान नहीं किया। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि अकृतव्यूहपरिभाषा नहीं है। इस अरुचि से लिख रहे हैं—अत एव=अकृतव्यूहपरिभाषा के न होने के कारण ही 'च्छ्वोः शुडनुनासिके च' इस सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि 'प्रष्टा प्रष्टुम्' इत्यादि प्रयोगों में तुक् का श्रवण न होने लगे इसलिये यत्न अवश्य करना चाहिये। 'प्रच्छ्' धातु के इस मूल रूप में 'छे च' सूत्र से तुक् पहले ही हो जायेगा, क्योंकि वह अन्तरङ्ग है। इसलिये तुक् सहित छकार को शकार करने के लिये 'च्छ्वोः' इस प्रकार का सतुक् निर्देशरूपी यत्न अवश्यमेव करना चाहिये। अन्यथा केवल छकार को शकार करने पर अन्तरङ्गत्वात् किये गये तुक् का श्रवण 'प्रष्टा' इत्यादि प्रयोगों में होने लगेगा।

अब यहाँ विचार करना है कि यदि यह परिभाषा होती तो इस परिभाषा के द्वारा विधीयमान शकार के द्वारा तुक् के निमित्त छकार का विनाश होने के कारण पहले ही तुक् नहीं होता, अथवा होने पर भी अपने निमित्त के नष्ट होने पर स्वयमेव निवृत्त हो जाता। ऐसी स्थिति में यहाँ तुक् के अभाव के लिये यत्न अवश्य करना चाहिये, यह कहने की क्या आवश्यकता है। इससे सिद्ध होता है कि यह परिभाषा नहीं है। यदि कहा जाय कि इस परिभाषा के अनित्यत्व ज्ञापन के लिये यह भाष्य है। क्योंकि जब परिभाषा अनित्य हो जायेगी तो तुक् निवृत्ति स्वयं नहीं हो सकती थी, इसलिये यत्न करने बात संगत हो सकती है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भाष्यकार ने 'अवश्यमत्र' अर्थात् यहाँ अवश्य यत्न करना चाहिये, ऐसा कह कर 'अवश्य' शब्द पर जोर देकर यह सिद्ध कर दिया है कि यह परिभाषा नहीं है। इसलिये तुक् की निवृत्ति के लिये कोई दूसरा उपाय नहीं है अतः यत्न अवश्य होना ही चाहिये। इस परिभाषा के रहने पर अवश्य पद का स्वारस्य भङ्ग हो जायेगा।

किञ्च=और दूसरी बात यह है कि इस परिभाषा को स्वीकार करने पर एक यह भी दोष आ जाता है कि 'त्वत् कृतम्' इत्यादि प्रयोगों में सामासिक लुक् के द्वारा अन्तरङ्ग 'त्वमावेकवचने' का निमित्त विनाशोन्मुख है तो उससे 'त्व' आदि आदेशों की सिद्धि न हो सकने के कारण 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' यह सूत्र चरितार्थ हो सकता है। इसी प्रकार 'प्रजग्ध्य' इस प्रयोग में जग्धि आदेश का निमित्त 'तादि कित्' जब ल्यप् आदेश के द्वारा विनाशोन्मुख है तब तन्निमित्तक जग्धि आदेश पहले ही नहीं होगा। इसलिये ल्यप् को पर में मानकर 'जग्धि' आदेश करने के लिये 'अदो जग्धिर्ल्यप्' इस सूत्र का ल्यप् ग्रहण भी चरितार्थ हो रहा है। ऐसी स्थिति में 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इस सूत्र से लुक् के द्वारा तथा ल्यप् ग्रहण से ल्यप् के द्वारा अन्तरङ्गविधि की बाधकता का जो ज्ञापन भाष्यकार ने किया है वह बाधकता इस परिभाषा के स्वीकार करने पर भंग हो जायेगी। इसलिये यही मानना चाहिये कि यह परिभाषा नहीं है।

यदि कहा जाय कि 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' यह सूत्र तथा 'अदो जग्धिः' सूत्र का ल्यप् ग्रहण इन दोनों के द्वारा 'अकृतव्यूह' परिभाषा का ही ज्ञापन किया जाता है। इसी के फलितार्थ रूप में लुक् और ल्यप् की बलवत्ता बोधक दोनों परिभाषाएँ हैं। इस प्रकार सब संगति बैठ जाने पर इस परिभाषा को मानने में क्या बाधा है? ऐसी आशंका होने पर लिख रहे हैं—

किञ्च—यह परिभाषा भाष्य में देखी नहीं जाती है। अर्थात् यही नहीं है। यह बात 'असिद्धवत्' सूत्र के कैयट में कही गई है कि 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इस परिभाषा का भाष्यकार ने आश्रयण नहीं किया है।

पदसंस्कारपक्षे 'हरिरि'त्यादौ विसर्गे कृते ततो गच्छतीत्यादिसम्बन्धे 'हरिः गच्छती'त्याद्येव साधु। तद्विषये पदसंस्कारपक्षानाश्रयणं वेति दिक्॥ ५६॥

यदि कहा जाय कि 'हरिः' यह पद बनाकर जब गच्छति पद के साथ इसका सम्बन्ध करते हैं तब यदि यह परिभाषा रहती है तब इसके द्वारा विसर्ग के निमित्त अवसान का विनाश होने के कारण या तो विसर्ग पहले ही नहीं होता, अथवा किया हुआ भी विसर्ग निवृत्त हो जाता है, इसलिये 'हरिर्गच्छति' यह प्रयोग बनता है। यदि यह परिभाषा नहीं रहती है तब वाक्यसंस्कारपक्ष में 'हरिर्गच्छति' प्रयोग के सिद्ध होने पर भी पदसंस्कारपक्ष में तो यह प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा। इसलिये इस परिभाषा को स्वीकार करना चाहिये। इस प्रकार का पक्ष प्रस्तुत करने के उत्तर में लिख रहे हैं कि पदसंस्कारपक्ष में 'हरिः' इत्यादि पदों में विसर्ग करके 'गच्छति' इत्यादि पदों से सम्बन्ध करने पर 'हरिः गच्छति' इत्यादि विसर्गयुक्त रूप

ही साधु हैं। अथवा ऐसे रूपों के विषय में पदसंस्कारपक्ष का आश्रयण नहीं किया जाता है। इस प्रकार ऐसे स्थलों पर वाक्यसंस्कारपक्ष का आश्रयण करने से 'हरिर्गच्छति' यही रूप सिद्ध होता है ॥ ५६ ॥

विशेष—दीक्षित जी इस परिभाषा को स्वीकार करके जहाँ निमित्त का विनाश भावी होता है वहाँ इस परिभाषा के द्वारा विनश्यमान-निमित्तप्रयुक्त कार्य को पहले ही नहीं करते हैं। इस परिभाषा को स्वीकार करने पर 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुक् बाधते' इस परिभाषा का तथा 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यप् बाधते' इस परिभाषा का अन्तर्भाव इसी प्रस्तुत परिभाषा में कर लेते हैं।

कैयट के मतानुसार भी यह परिभाषा स्वीकृत है, किन्तु इनके अनुसार पहले कार्य हो जाता है। इसके बाद कारण के नष्ट होने पर कार्य भी नष्ट हो जाता है। दीक्षित के मत से कैयट का मत गौरवग्रस्त है, यह बात स्पष्ट है। क्योंकि यहाँ कार्य को करने के बाद उसे हटाया जाता है। नागेशभट्ट—इस परिभाषा को नहीं मानते, किन्तु इसको अपेक्षा लुक् और ल्यप् की बलवत्ताबोधन करने वाली उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार इनका मत कैयट के मत की अपेक्षा अधिक गौरवग्रस्त है।

अन्तरङ्गादप्यपवादो बलवान् ॥ ५७ ॥

अन्तरङ्ग से भी अपवादशास्त्र बलवान् होता है।

परिभाषा में अपि शब्द आया है। इसके द्वारा पर और नित्य का समुच्चय किया जाता है। इस प्रकार 'पर, नित्य और अन्तरङ्ग' से अपवादशास्त्र बलवान् होता है ॥ ५७ ॥

तत्रापवादपदार्थमाह—

'अन्तरङ्गादप्यपवादो बलवान्' इस संग्राहक वाक्य में जो अपवाद शब्द आया है उसका अर्थ कह रहे हैं—

तेन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति ॥ ५८ ॥

जिस विधि की अवश्य प्राप्ति रहने पर जिस विधि का आरम्भ किया जाता है, वह आरभ्यमाण विधि उस अवश्यप्राप्त विधि की बाधिका होती है।

प्राप्त इति भावे क्तः। येन नाप्राप्त इत्यस्य यत्कर्तृकावश्यप्राप्तावित्यर्थः, नञ्द्वयस्य प्रकृतार्थदार्ढ्यबोधकत्वात्। एवञ्च विशेषशास्त्रोद्देश्यविशेषधर्मावच्छिन्नवृत्तिसामान्यधर्मावच्छिन्नोद्देश्यकशास्त्रस्य विशेषशास्त्रेण बाधः।

परिभाषा में जो प्राप्त शब्द आया है उसमें क्त प्रत्यय भाव अर्थ में हुआ है। इसलिये प्राप्त का अर्थ प्राप्ति होता है। 'नाप्राप्त' शब्द में पहले प्राप्त का नञ् समास और नलोप करके 'अप्राप्तशब्द' बनाया जाता है। इसके बाद अप्राप्त शब्द का निषेधार्थक न शब्द के साथ 'सुप्सुपा' से समास किया जाता है। इसलिये नञ् समास न होने के कारण यहाँ नकार का लोप नहीं होता है। इस प्रकार 'नैकधा' की भाँति 'नाप्राप्त' शब्द की सिद्धि होती है। इस 'नाप्राप्त' शब्द में दो न शब्द आये हैं जो प्रकृत अर्थ प्राप्ति की दृढ़ता को बोधित करते हैं। इस प्रकार 'येन नाप्राप्ते' इतने अंश का अर्थ होता है कि यत्कर्तृक अवश्य प्राप्ति रहने पर। दो नञों के द्वारा प्रकृतार्थ प्राप्ति की दृढ़ता अवश्य प्राप्ति के रूप में की गई है। इसलिये इस परिभाषा का अर्थ इस प्रकार होता है कि यत्कर्तृक अवश्य प्राप्ति रहने पर जिस विधि का आरम्भ किया जाता है, वह आरम्भ की गई विधि उस अवश्यप्राप्त विधि की बाधिका होती है। उदाहरण के लिये 'हो ढः' और दादेर्धातोर्घः' इन दो सूत्रों को लिया जा सकता है। इनमें 'दादेर्धातोर्घः' इस सूत्र से 'हो ढः' सूत्र का बाध किया जाता है। 'हो ढः' सूत्र की प्राप्ति धात्ववयवहत्वावच्छिन्न सभी हकारों में है और 'दादेर्धातोर्घः' की प्राप्ति केवल दकारादि धातु के अवयव हकार में ही होती है। इससे स्पष्ट है कि जहाँ 'दादेर्धातोर्घः' सूत्र की प्राप्ति है वहाँ 'हो ढः' सूत्र की अवश्य प्राप्ति रहती है। इसलिये 'हो ढः' कर्त्तृक अवश्य प्राप्ति में 'दादेर्धातोर्घः' सूत्र का आरम्भ करने के कारण 'दादेर्धातोर्घः' सूत्र से 'हो ढः' सूत्र का बाध होता है। क्योंकि यदि इसके प्राप्ति स्थल में भी 'हो ढः' सूत्र प्रवृत्त हो जाय तो इस सूत्र (दादेर्धातोर्घः) का वैयर्थ्य ही हो जायेगा। इसलिये निरवकाश सूत्र 'दादेर्धातोर्घः' से सर्वत्र प्राप्त सूत्र 'हो ढः' का बाध कर दिया जाता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आगे लिख रहे हैं कि विशेष शास्त्र के द्वारा सामान्यधर्मावच्छिन्न शास्त्र का बाध होता है। यहाँ सामान्यधर्म में विशेषशास्त्रोद्देश्य विशेषधर्मावच्छिन्नवृत्तित्व यह विशेषण लगाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि सामान्यधर्म ऐसा हो जो विशेषशास्त्रोद्देश्यविशेषधर्मावच्छिन्न वृत्ति हो। सामान्यधर्म से व्यापकधर्म तथा विशेषधर्म से व्याप्यधर्म लिया जाता है। प्रस्तुत स्थल में हकारमात्र में घत्वविधान करने वाला 'हो ढः' यह सूत्र सामान्य या व्यापक है। इसका उद्देश्य धात्ववयव हकार भी सामान्य या व्यापक कहा जाता है। इसकी अपेक्षा दकारादिधात्ववयव हकार को घकार करने वाला 'दादेर्धातोर्घः' यह सूत्र व्याप्य है। इस विशेषसूत्र का उद्देश्य दादिधात्ववयव हकार है जो दादिधात्ववयव हकारत्व इस विशेषधर्म से अवच्छिन्न है। इस प्रकार विशेषशास्त्रोद्देश्य और विशेषधर्मावच्छिन्न; दादिधात्ववयव हकार होता है। ऐसे हकार में रहने वाला सामान्यधर्म; धात्ववयव हकारत्व होता है। क्योंकि जहाँ-जहाँ दादिधात्ववयव हकार है वहाँ-वहाँ धात्ववयव हकारत्व अवश्य ही

है। इसलिये धात्ववयव हकारत्व यह धर्म, विशेषशास्त्रोद्देश्य विशेषधर्मावच्छिन्न वृत्ति धर्म हुआ। एतादृशधर्म से अवच्छिन्न है उद्देश्यता जिसकी ऐसे सामान्यधर्म धात्ववयव हत्वावच्छिन्नोद्देश्यताक शास्त्र 'हो ढः' सूत्र का विशेषशास्त्र से अर्थात् 'दादेर्धातोर्घः' इस सूत्र से बाध होता है।

यहाँ एक यह बात अवश्य विचारणीय प्रस्तुत है कि सामान्यधर्म का विशेषण जो 'विशेषशास्त्रोद्देश्य विशेषधर्मावच्छिन्नवृत्ति' इस रूप में दिया गया है वह अनावश्यक है, क्योंकि यदि सामान्यधर्म विशेषशास्त्रोद्देश्यविशेषधर्मावच्छिन्न वृत्ति नहीं है तो वह सामान्यधर्म ही नहीं है। सामान्य अर्थात् व्यापकधर्म वही है जो विशेषधर्म के अधिकरण में भी रहे, साथ ही उससे अन्यत्र भी रहे। ऐसी स्थिति में सामान्य शब्द से ही जब उसकी विशेषधर्मावच्छिन्नवृत्तिता सिद्ध है तब उक्त विशेषण की क्या आवश्यकता है? इस शंका का उत्तर यह है कि—उद्देश्यतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध का ही व्यापकतावच्छेदकसम्बन्ध के रूप में ग्रहण करना चाहिये ऐसे भ्रम के वारण के लिये ही सामान्यधर्म में उपर्युक्त विशेषण लगाया गया है। देखा जाता है कि उद्देश्यतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध ही व्याप्यता तथा व्यापकतावच्छेदक सम्बन्ध होता है। जैसे—'दादेर्धातोर्घः' इस सूत्र का उद्देश्यतावच्छेदक दादिधात्ववयव हकारत्व, दादिधात्ववयव हकार में स्वरूपसम्बन्ध से रहता है। इसलिये यहाँ स्वरूपसम्बन्ध उद्देश्यतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध है। इसी दादिधात्ववयव हकार में केवल धात्ववयवहकारत्व रूप सामान्यधर्म (व्यापकधर्म) भी स्वरूपसम्बन्ध से रहता है। इससे स्पष्ट होता है जो सम्बन्ध उद्देश्यतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध यहाँ व्याप्यता और व्यापकतावच्छेदक सम्बन्ध भी है। इस प्रकार जहाँ उद्देश्यतावच्छेच्दकतावच्छेदक सम्बन्ध और व्याप्यता तथा व्यापकतावच्छेदक सम्बन्ध एक ही हों, वहीं बाध्यबाधक होता है, इस प्रकार के भ्रम को दूर करने के लिये ही सामान्यधर्म में विशेषशास्त्रोद्देश्य विशेषधर्मावच्छिन्न वृत्तित्व यह विशेषण लगाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि विशेषधर्मावच्छिन्न में सामान्यधर्मावच्छिन्न की वृत्तिता जिस किसी सम्बन्ध से होनी चाहिये न कि उद्देश्यतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध से ही।

इसीलिये 'अजादेर्द्वितीयस्य' इस सूत्र से 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इस सूत्र का बाध होता है। यहाँ 'अजादेर्द्वितीयस्य' का उद्देश्यतावच्छेदक अजादिधात्ववयव द्वितीय एकाच्त्व 'ऊर्णु' धातु के णकारोत्तरवर्त्ती उकार में स्वरूपसम्बन्ध से है। इस द्वितीय एकाच् में उद्देश्यतावच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्ध-स्वरूप सम्बन्ध में प्रथम एकाच्त्व नहीं है। वह तो स्वरूपसम्बन्ध से प्रथम एकाच् ऊकार में है। इस प्रकार स्पष्ट है कि यहाँ उद्देश्यतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध जो स्वरूप सम्बन्ध है वह व्याप्यता

तथा व्यापकतावच्छेदक सम्बन्ध नहीं बन सकता। ऐसी स्थिति में यहाँ द्वितीय एकाच् के द्वित्व से प्रथम एकाच् के द्वित्व का बाध कैसे होता ? इसलिये जिस किसी भी सम्बन्ध से यहाँ व्याप्य-व्यापक भाव का ग्रहण किया जाता है। इसका फल यह होता है कि यद्यपि यहाँ उद्देश्यतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध से प्रथम और द्वितीय एकाच् का व्याप्यव्यापकभाव नहीं है तथापि 'स्वाश्रयोत्तरत्व' सम्बन्ध से प्रथम एकाच्त्व, द्वितीय एकाच् में रहता है। इसलिये जहाँ-जहाँ द्वितीय एकाच् रहेगा वहाँ-वहाँ स्वाश्रयोत्तरत्वसम्बन्ध से प्रथम एकाच् के रहने के कारण प्रथम एकाच् व्यापक और द्वितीय एकाच् व्याप्य होता है। इसलिये व्याप्य धर्मावच्छिन्न उद्देश्यताकशास्त्र 'अजादेर्द्वितीयस्य' से व्यापक धर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकशास्त्र 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' का बाध होता है।

'हो ढः' और 'दादेर्धातोर्घः' इन दोनों सूत्रों के सम्बन्ध में जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वहाँ उद्देश्यतावच्छेदकतावच्छेदक सम्बन्ध ही व्याप्यता तथा व्यापकतावच्छेदक सम्बन्ध हो जाता है। इसी सम्बन्ध से यहाँ सामान्यधर्म विशेषधर्मावच्छिन्न वृत्ति हो जाता है। इसलिये यहाँ इसी आधार पर व्याप्यधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकशास्त्र 'दादेर्धातोर्घः' से व्यापकधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकशास्त्र 'हो ढः' सूत्र का बाध होता है।

तदप्राप्तियोग्येऽचरितार्थ्यं ह्येतस्य बाधकत्वे बीजम्।

पहले बता आये हैं कि सामान्यधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताक शास्त्रत्व ही बाध्यत्व का बीज है। प्रस्तुत पङ्क्ति से यह बता रहे हैं विशेषधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताक शास्त्र में जो बाधकत्व है उसका बीज क्या है ? इसी तात्पर्य से उपर्युक्त पङ्क्ति लिखी गई है। इसमें तद् शब्द से बाधे जाने वाले सामान्यशास्त्र का ग्रहण किया जाता है तथा 'अस्य' पद से विशेषधर्मावच्छिन्न बाधकशास्त्र का ग्रहण होता है। इस प्रकार उक्त पङ्क्ति का अर्थ ऐसा होता है—

तदप्राप्तियोग्ये=बाध्यशास्त्र के अप्राप्तियोग्य स्थल में बाधकशास्त्र की अचरितार्थता ही उसके बाधकत्व का बीज है। तात्पर्य यह है कि ऐसा कोई स्थल नहीं मिलता है जहाँ बाधे जाने वाले शास्त्र की प्राप्ति न रहे और वहाँ बाधकशास्त्र चरितार्थ हो चुका हो। प्रत्युत् इसके विपरीत देखा जाता है कि जहाँ जहाँ बाधक सूत्र की प्राप्ति रहती है, वहाँ सब जगह बाध्यसूत्र (सामान्यधर्मोद्देश्यताकसूत्र) ही प्रवृत्त हो जाय तो बाधकसूत्र सर्वथा निरवकाश (अचरितार्थ) हो जायेगा। उसकी यह अचरितार्थता ही उसके बाधकत्व में बीज है। उदाहरण के लिये 'हो ढः' और 'दादेर्धातोर्घः' इन्हीं सूत्रों को लिया जा सकता है। 'हो ढः' सूत्र की जहाँ प्राप्ति नहीं है वहाँ 'दादेर्धातोर्घः' सूत्र चरितार्थ नहीं है, किन्तु जहाँ-जहाँ 'दादेर्धातोर्घः' सूत्र

की प्राप्ति है वहाँ-वहाँ सब जगह 'हो ढः' सूत्र की प्राप्ति है। इस प्रकार 'हो ढः' सूत्र यदि सब जगह लग जाय तो 'दादेर्धातोर्घः' सूत्र सर्वथा अचरितार्थ हो जायेगा। इसलिये इससे 'हो ढः' सूत्र का बाध कर दिया जाता है।

अब यहाँ प्रसङ्गवश बाधकत्वबीज के ऊपर थोड़ा विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। बाधकत्व के ये बीज चार प्रकार के होते हैं। (१) तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्यम् (२) तदप्राप्ति योग्येऽचारितार्थ्ये सति कृते चारितार्थ्यम् (३) तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्ये सति कृतेऽचारितार्थ्यम्। (४) तदप्राप्तियोग्येऽचरितार्थ्ये सति अपवादशास्त्रप्रवृत्त्युत्तरमुत्सर्गशास्त्रप्रवृत्तौ अपवादशास्त्रप्रणयनवैयर्थ्यसम्भावना।

इनमें प्रथम बाधबीज के द्वारा अपवादशास्त्र उत्सर्गशास्त्र के उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्न में स्वप्रवृत्तियोग्यातिरिक्तत्वेन संकोच कराता है। जैसे—'हे रमे' इस प्रयोग के साधुत्व अवस्था में 'रमा+सु' इस स्थिति में 'हल्ङ्यादिलोप' तथा 'सम्बुद्धौ च' इस सूत्र से आप् को एकार, ये दोनों कार्य जब साथ ही प्राप्त होते हैं, तब इन दोनों में 'सम्बुद्धौ च' सूत्र 'हल्ङ्यादिलोप' का अपवाद होता है। 'हल्ङ्यादिलोप' के अप्राप्ति स्थल में कहीं भी 'सम्बुद्धौ च' सूत्र की चरितार्थता नहीं है। इसलिये 'तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्य'रूप बाधबीज के द्वारा 'सम्बुद्धौ च' यह सूत्र अपने प्रवृत्तियोग्य सम्बुद्धचव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट आबन्तअङ्गातिरिक्तत्वेन 'हल्ङ्याब्भ्यः' सूत्र के उद्देश्य में संकोच कर देता है। परिणाम यह होता है कि 'हल्ङ्याब्भ्यः' सूत्र वहाँ नहीं प्रवृत्त हो सकता, जहाँ आबन्त अङ्ग से पर में सम्बुद्धि का सु प्रत्यय रहता है। इसलिये 'रमा+सु' इस स्थिति में 'हल्ङ्यादिलोप' न होने के कारण 'सम्बुद्धौ च' सूत्र से आप् को एकार कर दिया जाता है। इसके बाद 'एङ्ह्रस्वात्' सूत्र से सुलोप करके 'हे रमे' इस प्रयोग की सिद्धि की जाती है।

द्वितीय बाधबीज का उदाहरण 'सर्वेषाम्' यह प्रयोग है। यहाँ 'सर्व+आम्' इस स्थिति में 'सुट्' और 'नुट्' दोनों की साथ प्राप्ति होती है। इन दोनों में सुट् ऐसा है जो नुट के अप्राप्तियोग्यस्थल में अचरितार्थ है, और यदि नुट् पहले कर भी दिया जाय तो 'यदागम' न्याय से नुट्विशिष्ट को ही आम् मानकर सुट् चरितार्थ हो सकता है। इस प्रकार द्वितीय बाधबीज की पूरी संगति होने के कारण इसी बाधबीज के के द्वारा सुट् से नुट् का बाध किया जाता है। इस बाधबीज से जहाँ बाध होता है वहाँ उत्सर्ग शास्त्र के उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्न में अपवादशास्त्र के प्रवृत्तियोग्यातिरिक्तत्वेन, तथा स्वविधेयघटितातिरिक्तत्वेन उभयथा संकोच किया जाता है। अर्थात् ऐसे स्थल में अपवादशास्त्र के प्रवृत्तियोग्य लक्ष्य में उत्सर्गसूत्र पहले नहीं लगता है। इसके बाद जब अपवादशास्त्र का विधेय वहाँ हो जाता है तब उस

विधेययुक्त स्थल में उत्सर्गसूत्र पीछे से भी प्रवृत्त नहीं होता। प्रस्तुत स्थल में सुट् की प्रवृत्ति के योग्य अदन्तसर्वनामाव्यवहितोत्तरत्व विशिष्ट आम् से अतिरिक्तत्वेन संकोच करने के कारण सुट् से पहले नुट् नहीं होता है। जब सुट् हो जाता है तब 'सुट्-घटितातिरिक्तत्वेन संकोच करने के कारण 'सुट् के बाद भी नुट् नहीं होता है। इस प्रकार के बाध को ही तक्रकौण्डिन्यन्याय से बाध कहा जाता है। जिस प्रकार वहाँ कौण्डिन्य को न तो तक्रदान से पहले और न पीछे ही दधि दिया जाता है उसी प्रकार द्वितीय बाधबीजस्थल में उत्सर्गसूत्र न तो अपवाद से पहले प्रवृत्त होता है और न पीछे ही प्रवृत्त होता है।

जहाँ तृतीय बाधबीज से बाध्यबाधकभाव होता है वहाँ उत्सर्ग (बाध्य) शास्त्र के उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्न (उद्देश्य) में स्वीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्न जो स्वप्रवृत्ति के योग्य तदतिरिक्तत्वेन संकोच किया जाता है। जैसे—रमा शब्द से ङि विभक्ति लाने पर 'रमा + ङि' इस स्थिति में 'याडापः' सूत्र से याट् का आगम तथा 'ङेराम्नद्या' सूत्र से ङि विभक्ति को आम् प्राप्त होता है। यहाँ 'ङेराम्' सूत्र 'याडापः' सूत्र की अप्राप्ति स्थल में अचरितार्थ है और यदि पहले 'याट्' कर दिया जाय तो निर्दिश्यमान 'ङि' आबन्तअङ्ग से पर में नहीं मिलेगा, इसलिये पीछे भी आम् नहीं हो सकेगा। इस प्रकार 'तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्ये सति कृते अचारितार्थ्यम्' इस तृतीय बाधबीज के द्वारा 'ङेराम्' सूत्र से 'याडापः' सूत्र के उद्देश्य में स्वीय (अपवाद-शास्त्रीय) उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्न आबन्ताङ्गाव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टङित्वा-वच्छिन्न, तथा स्वप्रवृत्ति के योग्य जो 'रमा + ङि' यह स्थिति, इससे अतिरिक्तत्वेन संकोच कर दिया जाता है, जिससे पहले याट् न होकर पहले 'आम्' होता है। आम् करने के बाद स्थानिवद्भाव से ङित्वबुद्धि के द्वारा पुनः याट् की प्राप्ति होने पर याट् भी हो जाता है जिससे 'रमायाम्' इस प्रयोग की सिद्धि होती है। यद्यपि यह कार्य प्रथम बाधबीज से भी हो सकता था, तथापि 'अयजे इन्द्रम्' प्रयोग की सिद्धि के लिये यह तृतीय बाधबीज आवश्यक है। यह बात अन्यत्र विस्तार से कही गई है।

चतुर्थ बाधबीज का उदाहरण 'कुलम्' यह प्रयोग है। 'कुल + सु' इस स्थिति में 'अतोऽम्' सूत्र से सु को अम् तथा 'स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र से सु का लुक्, ये दोनों कार्य साथ ही प्राप्त होते हैं। इनमें अम्-विधान लुक् की अप्राप्ति में अचरितार्थ है, और यदि अम् भाव करने के बाद उस अम् का ही 'स्वमोर्नपुंसकात्' से लुक् हो जाय तो अपवादशास्त्र 'अतोऽम्' का प्रणयन ही व्यर्थ हो जायेगा। इसलिये यहाँ चतुर्थ बाध-बीज से अपवादशास्त्र स्वविहितकार्याश्रयातिरिक्तत्वेन उत्सर्गशास्त्र के उद्देश्य में संकोच कर देता है। इसलिये अम् करने के बाद उसका लुक् नहीं होता है। इसके साथ ही प्रथम बाधबीज से भी यहाँ बाध किया जाता है, जिससे अम् होने से पहले भी 'सु' का लुक् नहीं होता है।

इन्हीं बातों का स्पष्टीकरण करते हुए ग्रन्थकार आगे लिख रहे हैं—

अत एव 'आयादयः' (३–१–३१) इति सूत्रे गोपायिष्यतीत्यादावायादीन् बाधित्वा परत्वात् स्यादयः प्राप्नुवन्तीत्याशङ्क्य "अनवकाशा आयादयः। 'गोपायती'त्यादावपि शप्स्यादिः प्राप्नोति। न च सति शप्यसति वा न विशेषः, अन्यदिदानीमिदमुच्यते नास्ति विशेष इति। यदुक्तमायादीनां स्यादिभिरव्याप्तोऽवकाश इति स नास्त्यवकाश" इति भाष्ये उक्तम्। एवमत्र तत्प्रवृत्युत्तरं चारितार्थ्येऽपि तदव्याप्तोऽवकाशो नास्तीति सममेव।

अत एव=तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्यरूप प्रथम बाधबीज को स्वीकार करने से ही 'आयादय आर्धधातुके वा' इस सूत्रस्थ भाष्य की संगति होती है। भाष्यकार ने वहाँ विचार किया कि 'गोपायिष्यति' इत्यादि प्रयोगों में आय् आदि को परत्वात् बाधकर स्य आदि प्राप्त होते हैं, क्योंकि 'गोपायति' प्रयोग में आय् चरितार्थ है जहाँ स्य की प्राप्ति नहीं है। इसी प्रकार 'भविष्यति' प्रयोग में 'स्य' विकरण चरितार्थ है जहाँ आय् आदि की प्राप्ति नहीं है। इस प्रकार अन्यत्र, अन्यत्र लब्धावकाश 'आय् और स्य' ये दोनों जब 'गोपायिष्यति' प्रयोग में साथ ही प्राप्त होते हैं तब परत्वात् 'स्य' विकरण ही होना चाहिये। इस प्रकार की आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि 'आय्' आदि अनवकाश है। तात्पर्य यह कि अनवकाश आयादि का स्य आदि के द्वारा परत्वात् बाध नहीं होगा। यदि कहा जाय कि 'गोपायति' प्रयोग में चरितार्थ होने के कारण आय् अनवकाश नहीं है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'गोपायति' इत्यादि प्रयोगों में भी जहाँ आय् की प्राप्ति होती है वहाँ शप्, स्य आदि विकरणों की प्राप्ति रहता ही है। यदि कहा जाय कि शप् के होने या न होने में कोई विशेषता नहीं है, क्योंकि शप् हो या न हो आय् आदि पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता। उसे तो दोनों ही स्थितियों में होने में कोई बाधा तो है नहीं। ऐसी स्थिति में आय् आदि को अनवकाश कहना उचित नहीं है। ऐसी आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि यह दूसरी बात है कि शप् के होने या न होने से आय् के सम्बन्ध में कोई विशेषता नहीं होती है, किन्तु आय् आदि के अनवकाशता की जो बात कही गई है उसका तात्पर्य यह है स्य आदि से अव्याप्त आय् आदि का अवकाश जो वाञ्छित है वह अवकाश नहीं है। अर्थात् ऐसा कोई स्थल नहीं है जहाँ स्य आदि में से किसी की प्राप्ति न हो और वहाँ आय् हो रहा हो। यदि आय् की ऐसी स्थिति रहती तो कहा जा सकता था कि आय् आदि सावकाश हैं। किन्तु ऐसी स्थिति नहीं है क्योंकि जहाँ जहाँ भी आयादि की प्राप्ति है वहाँ वहाँ शप्, स्य, तास् आदि में से कोई न कोई अवश्य ही प्राप्त है। इसलिये स्यादि से अव्याप्त अवकाश न होने के कारण 'अनवकाशा आयादयः' ऐसा कहा गया है।

यदि कहा जाय कि शबादि की प्रवृत्ति के बाद आयादि के चरितार्थ होने के कारण उन्हें अनवकाश कहना ठीक नहीं है तो इसके उत्तर में कहा गया है कि इसी प्रकार शबादि की प्रवृत्ति के बाद यद्यपि आयादि चरितार्थ हैं तथापि शबादि से अव्याप्त अवकाश तो आयादि का नहीं ही होता है। शप् आदि न होते और केवल आयादि हुए होते तो कहा जा सकता था कि शबादि से अव्याप्त आयादि का अवकाश है। किन्तु ऐसी स्थिति न होने के कारण 'तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्यं' इस प्रथम बाधबीज से आयादि के द्वारा स्यादि का बाध किया जाता है। आय् हो जाने के बाद पुनः स्य आदि की प्राप्ति रहने के कारण पीछे से वे भी हो जाते हैं। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ प्रथम बाधबीज से बाध होता है वहाँ बाधकशास्त्र की प्रवृत्ति के बाद यदि उत्सर्गशास्त्र की प्राप्ति हो तो वह वहाँ पीछे से प्रवृत्त हो जाता है। जैसे 'गोपायिष्यति' इत्यादि प्रयोगों में आय् के बाद स्य होता है।

किञ्चानेन न्यायेन तत्प्रवृत्त्युत्तरमपि चारितार्थ्येऽपि तद्बाधबोधनम्। अन्यथानवकाशत्वेनैव बाधे सिद्धे एतत्कथनवैयर्थ्यापत्तेस्तक्रकौण्डिन्य-न्यायप्रदर्शनस्यापि वैयर्थ्यापत्तेश्च। यथा प्रथमद्विर्वचनस्य तदुत्तरं सावकाशे-नापि द्वितीयद्विर्वचनेन बाधः। यथा वा आदेरपि प्रवृत्त्या चरितार्थेन 'आदेः परस्य' (१-१-५४) इत्यनेन 'अलोऽन्त्यस्य' (१-१-५२) इत्यस्य बाधः। तदुक्तं 'मिदचोऽन्त्यात्' (१-१-४७) इति सूत्रे भाष्ये 'सत्यपि सम्भवे बाधनं भवती'ति। अन्यथा 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याये'त्यत्र तक्रदानेन दधिदानस्य बाधो न स्यात्। तद्दानोत्तरं तत्पूर्वं वा तद्दानस्य चारितार्थ्यसम्भवात्।

अब 'तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्ये सति कृते चारितार्थ्यम्' इस द्वितीय बाधबीज का निरूपण करते हुए लिख रहे हैं—किञ्च अनेन न्यायेन=इस 'येन नाप्राप्ति' न्याय से तत् प्रवृत्त्युत्तरम्=उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति के बाद यदि अपवादशास्त्र चरितार्थ हो रहा है, तब भी उस अपवाद से उस उत्सर्ग का बाध किया जाता है। तात्पर्य यह है कि उत्सर्ग की अप्राप्ति में अपवादशास्त्र अचरितार्थ है और यदि उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति हो जाती है तब उसके बाद भी लग कर अपवादशास्त्र चरितार्थ हो रहा है, ऐसे अपवादशास्त्र से भी अपने उत्सर्ग का बाध किया जाता है। इसका उदाहरण 'सर्वेषाम्' यह प्रयोग है जिसका व्याख्यान पहले किया जा चुका है।

अन्यथा=उत्सर्ग की प्रवृत्ति के बाद चरितार्थ होने पर भी बाध्यबाधकभाव होता है, इस बात को स्वीकार न करने पर एतत्कथन=भाष्य में अपवादत्वेन बाधकत्व का कथन व्यर्थ ही हो जाता, क्योंकि ऐसे स्थल में तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्य-रूप जो अनवकाशत्व है इस अनवकाशत्व से ही बाध हो जाता। ऐसी स्थिति में अपवादत्व का कथन और उसके द्वारा बाध का कथन व्यर्थ हो जाता।

यदि कहा जाय कि इस न्याय से अनवकाशमूलक ही बाध्यबाधकभाव बोधित किया जाता है, तो इस कथन के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि यदि ऐसी बात स्वीकार की जाय तो भाष्यकार के द्वारा किया गया तक्रकौण्डिन्य-न्याय का प्रदर्शन व्यर्थ हो जायेगा।

जैसे—'ऊर्णुनाव' इस प्रयोग में 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इस सूत्र से प्राप्त प्रथम एकाच् के द्वित्व का बाध द्वितीय एकाच् के द्वित्व से हो जाता है। यहाँ की स्थिति यह है कि जहाँ जहाँ द्वितीय एकाच् को 'अजादेर्द्वितीयस्य' सूत्र से द्वित्व प्राप्त रहता है। वहाँ वहाँ सब जगह प्रथम एकाच् को भी द्वित्व प्राप्त रहता है। साथ ही ऐसा कोई स्थल नहीं है जहाँ प्रथम एकाच् को द्वित्व की प्राप्ति न हो और वहाँ द्वितीय एकाच् को द्वित्व हो चुका हो। इस प्रकार द्वितीय एकाच् का द्वित्व, प्रथम एकाच् के द्वित्व के अप्राप्तियोग्यस्थल में अचरितार्थ है, और यदि प्रथम एकाच् को द्वित्व कर दिया जाय तो भी उसके बाद द्वितीय एकाच् को द्वित्व होकर वह चरितार्थ हो सकता है। इस प्रकार द्वितीय बाधबीज का पूर्ण समन्वय होने के कारण, इसी बाधबीज से द्वितीय द्विर्वचन से प्रथम द्विर्वचन का बाध किया जाता है।

द्वितीय द्विर्वचन के बाद प्रथम द्विर्वचन नहीं होता, क्योंकि द्वितीय बाधबीज से जहाँ बाध होता है वहाँ अपवाद की प्रवृत्ति के बाद उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं होती है, यह बात पहले कही जा चुकी है।

'यथा वा' इस शब्द से इसी का दूसरा उदाहरण दे रहे हैं—कि 'उत्थानम्' इस प्रयोग में 'अलोऽन्त्यस्य' और 'आदेः परस्य' इन दोनों की प्राप्ति होती है। इनमें 'अलोऽन्त्यस्य' अन्त्य के स्थान पर प्राप्त है और 'आदेः परस्य' आदि के स्थान पर प्राप्त होता है। इनमें यदि 'अलोऽन्त्यस्य' अन्त्य के स्थान पर प्रवृत्त हो जाता है तब उसके बाद या पहले 'आदि' के स्थान पर प्रवृत्त होकर 'आदेः परस्य' यह सूत्र चरितार्थ हो सकता है, तथापि 'आदेः परस्य' सूत्र से 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र का बाध होता है। यह बात 'मिदचोऽन्त्यात्' सूत्र के भाष्य में कही गई है कि सत्यपि सम्भवे=अपवादशास्त्र का चारितार्थ्य सम्भव होने पर भी उससे उत्सर्ग का बाध होता है।

अन्यथा='सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति' इस बात को स्वीकार न किया जाय तो 'सभी ब्राह्मणों को दधि दीजिये और कौण्डिन्य को तक्र दीजिये' इस वाक्य में तक्र-दान से दधिदान का जो बाध होता है वह नहीं हो सकेगा। क्योंकि तक्रदान से बाद में अथवा उससे पहले ही ब्राह्मणत्वेन कौण्डिन्य में दधिदान चरितार्थ हो सकता है और जिसकी चरितार्थता सम्भव हो, उससे बाध होता है यह बात स्वीकार की नहीं जा रही है। इसलिये यह स्वीकार करना चाहिये कि 'सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति'।

अत एव विषयभेदेऽप्यपवादत्वम्। अत एवाचिरादेशेन नुटोऽप्यपवाद-

त्वाद्बाधमाशङ्क्य 'न तिसृ' (६–४–४) इति ज्ञापकेन समाहितं तृज्वत्सूत्रे भाष्ये। तेन विषयभेदेऽपवादत्वाभाव एव बोध्यत इति कश्चित्, तन्न। विन्मतोर्लुका टिलोपमात्रस्य बाधानापत्तेः।

यत्तु 'दयतेर्दिगि' (७–४–९) इति सूत्रे द्वित्वोत्तरं दिग्यादेशस्य चारितार्थ्यं कैयटेनोक्तं तत् प्रौढ्या। ध्वनितं च तेनापि तस्य तथात्वं तदुत्तरग्रन्थेन।

'असम्भव एव बाधकत्वं विरोधस्य तद्बीजत्वात्' इति वार्तिकमतं तु भाष्यकृता दूषितत्वान्न लक्ष्यसिद्ध्युपयोगि।

तक्रकौण्डिन्यन्यायोऽपि तदप्राप्तियोग्येऽचरितार्थविषयो विधेयविषय एव चेति 'तद्धितेष्वचामादेः' (७–२–११७), 'धातोरेकाचः' (३–१–२२) इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये स्पष्टम्।

अत एव='सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति' इस नियम को स्वीकार करने से ही विषयभिन्न होने पर भी अपवादत्व होता है। अर्थात् उत्सर्ग और अपवाद के विषय भिन्न होने पर भी बाध्य-बाधकभाव होता है। जैसे—प्रथम द्विर्वचन का विषय प्रथम एकाच् और द्वितीय द्विर्वचन का विषय द्वितीय एकाच् होता है। यहाँ दोनों द्विर्वचनों का विषय भिन्न-भिन्न है, तथापि द्वितीय द्विर्वचन, प्रथम द्विर्वचन का अपवाद होता है।

अत एव=विषयभेद में भी बाधकत्व स्वीकार करने से ही 'तिसृणाम्' इस प्रयोग में 'अचि र ऋतः' सूत्र से विधीयमान रादेश बाध्यसामान्यचिन्तापक्ष में जिस प्रकार गुण, दीर्घ और उत्वादि का बाधक होता है उसी प्रकार नुट् का भी बाधक हो जाय। इस प्रकार अपवादत्वात् रादेश से नुट् के बाध की आशंका करके 'न तिसृचतसृ' इसके ज्ञापक के द्वारा भाष्यकार ने 'तृज्वत्' सूत्र के भाष्य में इसका समाधान किया। अर्थात् यदि रादेश से नुट् का बाध कर दिया जाता है तब 'न तिसृचतसृ' यह सूत्र ही व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि नुट् के अभाव में नाम् पर में न रहने के कारण दीर्घ की प्राप्ति नहीं हो रही है तब निषेध की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार भाष्यकार ने रादेश और नुट् के बीच बाध्यबाधकभाव की शंका करके उसका समाधान किया है। यहाँ प्रकृति को रादेश और आम् को नुट् प्राप्त होता है, जिनका विषयभेद स्पष्ट ही है। इससे सिद्ध होता है कि विषयभेद में भी अपवादत्व होता है।

कुछ लोगों का कहना है कि 'न तिसृचतसृ' सूत्र के आरम्भसामर्थ्यात् भाष्यकार ने 'तिसृणाम्' प्रयोग का जो समाधान किया है उससे यही समझना चाहिये कि विषयभेद में अपवादत्व नहीं होता। इसलिये रादश से नुट् का बाध नहीं होता। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर 'विन्मतोर्लुक्' से टिलोप

मात्र का बाध नहीं हो सकेगा। 'अतिशयेन स्रग्वी' इस विग्रह में 'स्रग्विन्' शब्द से इष्ठन् प्रत्यय करने पर 'स्रग्विन्+इष्ठ' इस स्थिति में 'विन्मतोर्लुक्' सूत्र से विन् का लुक् करने पर 'टेः' सूत्र से 'स्रज्' इस टि का लोप प्राप्त होता है; यह टिलोप न होने लगे इसलिये भाष्यकार ने कहा कि टिलोप की अवश्य प्राप्ति में 'विन्मतोर्लुक्' का आरम्भ किया गया है, क्योंकि विन्लुक् के पहले उक्त प्रयोग में 'नस्तद्धिते' से टिलोप की प्राप्ति होती है और विन् लुक् करने के बाद 'टेः' सूत्र से टिलोप की प्राप्ति होती है। इस प्रकार टिलोप की अवश्य प्राप्ति में आरभ्यमाण 'विन्मतोर्लुक्' टिलोप मात्र का बाधक होता है। यहाँ विचारणीय यह है कि 'टेः' सूत्र से जो टिलोप प्राप्त है वह तो 'स्रज्' को प्राप्त है, और लुक् विन् को होता है। इस प्रकार विषयभेद रहते हुए भी भाष्यकार ने जो 'विन्मतोर्लुक्' को टिलोपमात्र का बाधक बताया है, वह बात विषयभेद में अपवादत्वाभाव मानने से कैसे संगत होगी? इसलिये विषयभेद में भी अपवादत्व होता है यह बात स्वीकार करनी चाहिये।

ऐसी स्थिति में 'दयतेर्दिगि लिटि' सूत्र में द्वित्व के बाद दिगि आदेश चरितार्थ है, ऐसा जो कैयट ने कहा है वह प्रौढ़ि से कहा है। वहाँ की स्थिति यह है कि देङ् धातु से लिट् लकार लाने पर प्रस्तुत सूत्र से धातु के स्थान पर दिगि आदेश कर देने के बाद द्वित्व की प्राप्ति होती है, इसलिये वहाँ 'साभ्यासस्य' ऐसा कहना चाहिये, ऐसा भाष्यकार ने कहा। फिर भाष्यकार ने कहा कि द्वित्व करने के बाद अभ्यास-विशिष्ट में धातुत्व रहने के कारण अभ्यासहित सम्पूर्ण के स्थान पर दिगि आदेश हो जायेगा, इसलिये साभ्यासस्य कहने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा कहकर भाष्यकार ने फिर कहा कि यह बात नहीं हो सकती, क्योंकि द्वित्व और दिग्यादेश ये दोनों साथ ही प्राप्त रहेंगे तो इनमें परत्वात् दिग्यादेश ही पहले होगा, और उसके बाद द्वित्व होने लगेगा। यहाँ भाष्यकार के परत्वात् शब्द के उपपादन के समय कैयट ने कहा कि द्वित्व तो 'पपाच' इस प्रयोग में चरितार्थ है और देङ् धातु को द्वित्व करने के बाद द्वित्व विशिष्ट में धातुत्व रहने के कारण दिग्यादेश द्वित्व के बाद चरितार्थ है। इसलिये परत्वात् दिग्यादेश हो जायेगा। किन्तु भाष्यकार का 'परत्वात्' यह कथन एकदेशी है। और कैयट के द्वारा 'परत्वात्' का उपपादन करना प्रौढि के कारण है, क्योंकि जब यह बात स्वीकृत हो चुकी है कि 'सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति' तो प्रस्तुत स्थल में यदि द्वित्व पहले हो जाता है तब भी दिग्यादेश चरितार्थ है, इसलिये यह तो द्वित्व का अपवादत्वात् बाधक होगा न कि परत्वात्। परत्वात् बाध्यबाधकभाव तो वहाँ होता है जहाँ दोनों सूत्र लब्धावकाश हों। यहाँ तो दिग्यादेश द्वित्व की अप्राप्तिस्थल में अचरितार्थ तथा करने पर चरितार्थ हो रहा है। इसलिये यह द्वितीय बाधबीज से ही द्वित्व का बाधक होता है।

स्वयं कैयट ने इसके आगे वाले भाष्य से तस्य=दिग्यादेश के तथात्वम्=अपवादत्व को ध्वनित किया है। अग्रिम भाष्य में कहा गया है कि द्वित्व और दिग्यादेश इन दोनों का सामान्यविशेषभाव सम्बन्ध है। द्वित्व की अवश्यप्राप्ति में दिग्यादेश का आरम्भ किया गया है इसलिये दिग्यादेश अवश्यप्राप्त द्वित्वविधि का अपवाद होता है।

अब यहाँ यह शंका हो रही है कि वार्तिककार का मत है कि जहाँ असम्भव होता है, वहीं पर बाधकत्व होता है, क्योंकि विरोध ही उसका (बाधकत्व का) बीज है। विरोध होने पर ही बलवान् के द्वारा दुर्बल का बाध किया जाता है। इस प्रकार वार्तिककार के मत का सारांश यह है कि जहाँ विरोध होगा वहाँ असम्भव होगा। उस असम्भव वाले स्थल में ही बाध्यबाधकभाव होता है। इस स्थिति में यदि देखा जाय तो प्रथम एकाच् के द्वित्व का बाध द्वितीय एकाच् के द्वित्व से नहीं होना चाहिये, क्योंकि दोनों का देश भिन्न-भिन्न होने से न तो यहाँ असम्भव है और न किसी प्रकार का विरोध।

इस शंका का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि—असम्भव में ही बाध्यबाधकभाव होता है क्योंकि विरोध उसका बीज है यह जो वार्तिककार का मत है वह भाष्यकार के द्वारा दूषित है क्योंकि वह लक्ष्य की सिद्धि में उपयोगी नहीं है। यदि वार्तिककार के मतानुसार व्यवस्था की जाय तो 'ऊर्णुनाव' इत्यादि प्रयोगों में प्रथम एकाच् के द्वित्व का बाध न होने के कारण अनभीष्ट प्रयोग बनने लगेगा। इसलिये वार्तिककार का मत लक्ष्य की सिद्धि में उपयोगी नहीं है।

तक्रकौण्डिन्यन्याय भी तदप्राप्तियोग्ये अचरितार्थं विषय और विधेयविषय ही है। तदप्राप्ति से उत्सर्गशास्त्र की अप्राप्ति ली जाती है। इस प्रकार उत्सर्गशास्त्र की अप्राप्तियोग्य स्थल में अपवादशास्त्र की अचरितार्थता होने पर दोनों शास्त्रों (उत्सर्ग और अपवाद) की विधेयता के विषय में यह न्याय प्रवृत्त होता है, न कि उद्देश्यता के सम्बन्ध में इसकी प्रवृत्ति होती है। जैसे—तक्रदान से दधिदान का बाध किया जाता है। यहाँ तक्रदान और दधिदान ये दोनों विधेय हैं। इसीलिये कहा कहा जाता है कि विशेषविहित से सामान्यविहित बाधा जाता है।

यह बात 'तद्धितेष्वचामादेः' इस सूत्र के तथा 'धातोरेकाच' इत्यादि सूत्रों के भाष्य में स्पष्ट है। इनमें अनवकाश विषयत्व का स्पष्टीकरण 'तद्धितेष्वचामादेः' इस सूत्र के भाष्य में है। 'धातोरेकाच' इत्यादि सूत्रों के भाष्य में विधेयविषयत्व का स्पष्टीकरण है। विशेष जानकारी के लिये वहाँ का भाष्य द्रष्टव्य है।

क्वचित्तु सर्वथानवकाशत्वादेव बाधकत्वम्, यथा—ङेरामो याडादिबाधकत्वम्। न हि याडादिषु कृतेषु ङेराम् प्राप्नोति, निर्दिश्यमानस्य व्यव-

धानात्। तत्र स्वस्य पूर्वं प्रवृत्तिरित्येव तेषां बाधः। तत्र बाधके प्रवृत्ते यद्युत्सर्गप्राप्तिर्भवति तदा भवत्येव। यथा तत्रैव याडादयः। अप्राप्तौ तु न। यथा पचेयुरित्यादौ दीर्घबाधके निरवकाश इयादेशे दीर्घाभावः ॥५८॥

अब तृतीय बाधबीज का निरूपण करते हुए लिख रहे हैं कि कहीं तो सर्वथा अनवकाश होने के कारण बाधकत्व होता है। जैसे—'ङे राम् नद्याम्नीभ्यः' इस सूत्र से विधेय आम्, याट् आदि का बाधक होता है। ऐसा कोई स्थल नहीं है जहाँ याट् आदि की प्राप्ति न हो और ङि के स्थान पर आम् होता हो। यदि याट् आदि को कर दिया जाय तो उनको करने के बाद ङि को आम् की प्राप्ति भी नहीं होती है, क्योंकि 'ङे राम्' इस सूत्र में 'ङि' यह निर्दिश्यमान है। याट् करने के बाद 'रमा-या ङि' इस स्थिति में निर्दिश्यमान 'ङि' आवन्त अङ्ग से पर में नहीं रहता है, क्योंकि बीच में याट् का व्यवधान हो जाता है। यदि कहा जाय कि 'यदागम' परिभाषा से याट् विशिष्ट 'ङि' को 'ङि' मान लिया जाय और उसे आम् कर दिया जाय, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'यदागम' परिभाषा से उपस्थाप्य में निर्दिश्यमानता नहीं रहती है। इस प्रकार ङि के स्थान पर विधेय आम् निरवकाश होता है और वह अनवकाशत्वात् ही याट् का बाधक होता है।

अनवकाशत्वात् जो यह बाध है वह बाधक की पहले प्रवृत्ति रूप ही है। अर्थात् बाध्यशास्त्र की अपेक्षा बाधकशास्त्र का वहाँ पहले प्रवृत्त हो जाना ही बाधक-शास्त्र के द्वारा बाध्यशास्त्र का बाधा जाना है। वहाँ बाधकशास्त्र की प्रवृत्ति के बाद यदि उत्सर्ग(बाध्य)शास्त्र की प्राप्ति होती है तो पीछे से वह भी वहाँ प्रवृत्त होता ही है। जैसे 'रमायाम्' इस प्रयोग में आम् करने के बाद उसी को ङिद्वचन मानकर पीछे याट् भी होता ही है।

बाधक की प्रवृत्ति के बाद यदि उत्सर्ग की प्राप्ति नहीं होती है तो पीछे से उसकी प्रवृत्ति वहाँ नहीं की जाती है। जैसे 'पचेयुः' इस प्रयोग के 'पच-यास्-उस्' इस स्थिति में 'अतो दीर्घो यञि' इस दीर्घ के बाधक निरवकाश इयादेश के कर देने के बाद यञादि प्रत्यय पर में न रहने के कारण दीर्घ की प्राप्ति न होने से वहाँ दीर्घ नहीं होता है।

चतुर्थ बाधबीज का मूल मे उल्लेख नहीं किया गया है, क्योंकि इसके उदाहरण-स्थल 'कुलम्' इत्यादि प्रयोगों में यदि अपवादशास्त्र की प्रवृत्ति न हो तो उसका प्रणयन ही व्यर्थ हो जाता है। इसलिये जिस प्रकार तृतीय बाधबीज में सूत्रारम्भ-सामर्थ्यात् बाध होता है उसी प्रकार यहाँ भी होने के कारण दोनों (तृतीय और चतुर्थ) की समानरूपता हो जाती है। इसलिये इसका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया है।

उपर्युक्त चार प्रकार के बाधबीजों में जहाँ प्रथम और तृतीय बाधबीज से बाध होता है वहाँ उत्सर्गशास्त्र के उद्देश्यतावच्छेदक में अपवादशास्त्र के प्रवृत्ति-योग्यातिरिक्तत्वेन संकोच करने के कारण अपवादशास्त्र की प्रवृत्ति के बाद यदि उत्सर्गशास्त्र की प्राप्ति होती है तो पीछे वह भी प्रवृत्त हो जाता है।

द्वितीय और चतुर्थ बाधबीज से जहाँ बाध होता है वहाँ उत्सर्गशास्त्र के उद्देश्यतावच्छेदक में; स्वप्रवृत्तियोग्यातिरिक्तत्वेन, तथा स्वविधेयघटितातिरिक्तत्वेन उभयथा संकोच किया जाता है। इसलिये यहाँ अपवादशास्त्र की प्रवृत्ति के पहले तथा बाद में कभी भी उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। प्रथम और तृतीय स्थल में अनवकाशत्वेन बाध होता है और द्वितीय चतुर्थस्थल में अपवादत्वेन बाध होता है। यही यहाँ का स्पष्टीकरण है ॥ ५८ ॥

तदेतत् पठ्यते—

'तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्ये सति कृतेऽचारितार्थ्यम्' यह जो तृतीय बाधबीज है इसके अनुसार जहाँ बाध होता है वहाँ अपवादशास्त्र के द्वारा उत्सर्गशास्त्र के उद्देश्यतावच्छेदक में स्वप्रवृत्तियोग्यातिरिक्तत्वेन संकोच किया जाता है न कि स्व-विहित कार्याश्रयातिरिक्तत्वेन। यह बात पहले कह आये हैं। इसलिये ऐसे स्थल में बाधकशास्त्र की प्रवृत्ति की बाद यदि उपसर्ग की प्राप्ति होती है तो वह भी पीछे प्रवृत्त हो जाता है। जैसे 'रमायाम्' में 'याट्' होता है। यदि पीछे उत्सर्ग की प्राप्ति नहीं है तो वह प्रवृत्त नहीं होती। जैसे 'पचेयुः' प्रयोग में इयादेश हो जाने के बाद प्राप्ति न होने के कारण 'अतो दीर्घः' सूत्र से दीर्घ नहीं होता है।

तदेतत्=यही बात कि बाधक की प्रवृत्ति के बाद उत्सर्ग की भी प्रवृत्ति होती है इस रूप में पढ़ी जाती है—

क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशत इति ॥ ५९ ॥

कहीं अपवाद के विषय में भी उत्सर्गशास्त्र प्रवृत्त होता है।

यहाँ 'क्वचित्' शब्द के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्राप्ति सब जगह नहीं होती, किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—'तदप्राप्ति-योग्येऽचारितार्थ्ये सति कृतेऽचारितार्थ्य'रूप निरवकाशत्व जहाँ रहता है, वह अपवाद की प्रवृत्ति के बाद उत्सर्ग प्रवृत्त होता है।

यहाँ अब यह शंका होती है कि उत्सर्गशास्त्र की अप्राप्ति के योग्यस्थल में अचरितार्थ होते हुए जो शास्त्र उत्सर्ग के कर देने के बाद चरितार्थ होता हो, उसको ही अपवाद कहते हैं। जहाँ इस प्रकार के अपवाद की प्रवृत्ति होती है वहाँ पीछे उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं होती है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त कथन, कि अपवाद के

विषय में कहीं उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति होती है, कहाँ तक ठीक है ? इस शंका के उत्तर में ग्रन्थकार लिख रहे हैं—

अपवादशब्दोऽत्र बाधकपरः । तदुक्तं 'गुणो यङ्लुकोः' (७-४-८२) इत्यत्र भाष्ये—अभ्यासविकारेष्वपवादा उत्सर्गान्न बाधन्ते । अजीगणत् । अत्र गणेरीत्वमपवादत्वाद् हलादिः शेषं बाधते । न गणेरीत्वमपवादत्वाद् हलादिःशेषं बाधते । किं तर्हि ? अनवकाशत्वादिति ग्रन्थेन ।

अत्र=इस प्रस्तुत परिभाषा में जो अपवाद शब्द आया है, वह बाधकपरक है । अपवाद का अर्थ बाधक भी होता है, यह बात 'गुणो यङ्लुकोः' इस सूत्र के भाष्य में कही गई है । भाष्यकार ने वहाँ 'अभ्यासविकारेष्वपवादा उत्सर्गान्न बाधन्ते' इस परिभाषा का प्रयोजन बताते हुए कहा कि 'अजीगणत्' इस प्रयोग में 'ई च गणः' इस सूत्र से क्रियमाण ईत्व, हलादिशेष का अपवादत्वात् बाधक होता है । ऐसा कह कर भाष्यकार ने फिर कहा कि 'गण्' धातु को विधीयमान ईत्व अपवादत्वात् हलादिशेष का बाध नहीं करता है । तो फिर किस प्रकार बाध करता है ? ऐसी शंका करके कहा कि 'अनवकाशत्वात' गण् धातु को विधीयमान् ईत्व हलादिशेष का बाधक होता है ।

इस भाष्य से यह स्पष्ट है कि अनवकाशत्वेन जो बाधक होता है वह अपवाद से भिन्न होता है । इसलिये इस परिभाषा में अपवाद शब्द को बाधकपरक मानना ठीक ही है ।

अब गण् धातु को क्रियमाण ईत्व निरवकाश कैसे है ? इस बात को बताते हुए लिख रहे हैं ।

गणरूपाभ्यासान्त्यणस्येत्वमित्यर्थे हलादिः शेषेण तन्निवृत्तौ तदनवकाशमीत्वे तु कृते न तस्य प्राप्तिरन्त्यहलोऽभावात् । अभ्यासविकारेषु बाध्यबाधकभावाभावेन च साधितम् । तस्मिंश्च सति लोपे कृते सामर्थ्याच्छिष्टस्यान्त्यस्येत्वमिति न दोषः । न च येन नाप्राप्तिन्यायेनापवादत्वमप्यस्य सुवचं, तस्य चरितार्थविषयताया उक्तत्वात् ।

'ई च गणः' इस ईत्वविधायक सूत्र में जो 'अभ्यासस्य' यह पदे आता है उसका 'गणः' इस षष्ठ्यन्त पद के साथ अभेद अन्वय है, क्योंकि यदि समानाधिकरण-अन्वय सम्भव हो तो वैयधिकरणअन्वय नहीं किया जाता है । इस प्रकार समानाधिकरणान्वय करने पर उक्त सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है—गण् रूपी जो अभ्यास उसके अन्त्य को ईकार आदेश होता है । इस अर्थ के सन्दर्भ में 'अजीगणत्' इस प्रयोग के लिये जब द्वित्व किया जाता है तब 'गण्—गण्—इ+अ+त्' इस स्थिति

में यदि हलादिशेष के द्वारा णकार की निवृत्ति हो जाती है तब गण् रूपी अभ्यास के न मिलने के कारण 'ई च गणः' यह सूत्र अनवकाश हो जाता है। इसलिये यह अनवकाश होकर ही 'हलादिः शेषः' इस सूत्र का बाधक होता है, न कि अपवादत्वात्। इस प्रकार हलादि शेष को बाधकर णकार के स्थान पर पहले ईकार कर दिया जाता है, तब अन्त्य हल् के अभाव के कारण 'हलादिः शेषः' सूत्र की प्राप्ति नहीं होती है। यदि कहा जाय कि स्थानिवद्भाव से ईकार में हल्त्व धर्म आ सकता है और उसका 'हलादिशेष' हो सकता है तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि—अल्-विधि होने के कारण यहाँ स्थानिवद्भाव नहीं हो सकता। इसलिये पहले ईत्व-विधान करने पर अनिष्ट रूप बनने लगेगा। इस अनिष्ट रूप की आपत्ति को दूर करने के लिये कहा गया कि अभ्यासविकार में बाध्यबाधकभाव नहीं होता है। तस्मिन् च सति='अभ्यासविकार में बाध्यबाधकभाव नहीं होता' इस बात को स्वीकार कर लेने पर 'हलादिः शेषः' इस बाध्यशास्त्र की पहले प्रवृत्ति कर के गण् के णकार का लोप कर देने पर 'अ–ग–गण्–इ+अ+त्' इस स्थिति में गण् रूपी अभ्यास के न रहने पर भी ईत्वविधानसामर्थ्यात् अवशिष्ट गकार के अन्त्य अकार को ईत्व का विधान किया जाता है। इस प्रकार कोई दोष नहीं रह जाता है।

यहाँ अब यह शंका हो रही है कि जहाँ निरवकाशस्थल होता है वहाँ भी 'येन नाप्राप्ति' न्याय से ही बाध होता है और ऐसे बाधक को ही अपवाद कहा जाता है। ऐसी स्थिति में 'ई च गणः' इसे अपवाद कहना भी ठीक ही है, तो इस शंका के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थे सति कृते चरितार्थ जो विधि होती है, उसे ही अपवाद कहा जाता है यह बात कही जा चुकी है। 'ई च गणः' यह सूत्र हलादि शेष करने के बाद चरितार्थ नहीं हो रहा है, इसलिये यह अपवाद न होकर निरवकाश या बाधक ही कहा जायेगा।

इसका निष्कर्ष यह हुआ कि तक्रन्यायमूलक जहाँ बाध होता है उसी बाधक में अपवाद शब्द रूढ है।

'इको झल्' (१-२-९) इत्यत्र भाष्येऽपि ध्वनितमेतत्। तत्र हि 'अज्झन' (६-४-१६) इति दीर्घेण गुणोत्तरं फलाभावेनानवकाशत्वाद् गुणे बाधिते दीर्घोत्तरं गुणः स्याद्दीर्घविधानं तु मिनोतेर्दीर्घे कृते 'सनि मीमा' (७-४-५४) इत्यत्र मीग्रहणेन ग्रहणेऽर्थवत्, तत्र पश्चात् प्राप्तगुणबाधनार्थम् 'इको झल्' इति कित्त्वमित्युक्तम्। अन्यथाऽपवादत्वेन बाधे तद्विषये उत्सर्ग-प्रवृत्तेर्भाष्यस्य सूत्रस्य चासङ्गतिरिति स्पष्टमेव।

'इको झल्' इस सूत्र के भाष्य में भी यह बात (उत्सर्ग शास्त्र के कर देने पर जिसकी चरितार्थता हो वही अपवाद कहा जाता है, यह बात) ध्वनित है। वहाँ

विचार किया गया कि 'इको झल्' इस सूत्र की क्या आवश्यकता है ? यदि कहा जाय कि यदि यह सूत्र नहीं रहेगा तो सन् के कित् न होने के कारण 'चिचीषति' इस प्रयोग में गुण होने लगेगा। ऐसी आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि यह दोष नहीं होगा, क्योंकि 'अज्झनगमां सनि' यह सूत्र गुण का बाधक है क्योंकि गुण की अप्राप्ति के योग्य स्थल में दीर्घ अचरितार्थ है, और यदि 'चिचीषति' प्रयोग में गुण हो जाय तो एकार को दीर्घ करने का कोई फल नहीं है इसलिये गुण के बाद भी दीर्घ न होने के कारण दीर्घ कृतेऽपि अचरितार्थ है। इसलिये अनवकाशत्वात् दीर्घ से गुण का बाध होकर 'चिचीषति' 'बुभूषति' इत्यादि प्रयोग सिद्ध हो सकते हैं, तो फिर 'इको झल्' की क्या आवश्यकता है ? इस शंका के उत्तर में कहा गया कि यदि 'इको झल्' यह सूत्र नहीं रहेगा तो उक्त प्रयोगों में दीर्घ के बाद गुण होने लगेगा। यदि दीर्घ करने के बाद भी गुण हो जाय तो दीर्घविधान ही व्यर्थ हो जायेगा। तत्सामर्थ्यात् दीर्घ के बाद गुण नहीं होगा, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'अज्झनगमाम्' सूत्र से विधेय दीर्घ, ह्रस्वइकारघटक मि धातु से सन् प्रत्यय के बाद दीर्घ करने के बाद 'सनि मीमा' इस सूत्र के भी ग्रहण से ग्रहण करने के लिये चरितार्थ है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि दीर्घविधानसामर्थ्यात् 'चिचीषति' इत्यादि प्रयोगों में गुण नहीं होगा। तस्मात् इन प्रयोगों में दीर्घ होने के पश्चात् प्राप्त गुण को बाधने के लिये 'इको झल्' सूत्र से कित् विधान की आवश्यकता है।

यहाँ 'अज्झनगमां सनि' इस सूत्र को गुण की अप्राप्ति स्थल में अचरितार्थ तथा गुण करने पर भी अचरितार्थ दिखाकर ध्वनित किया गया है जो सर्वथा अचरितार्थ हो वह अनवकाश अथवा बाधक कहा जाता है और जो उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति के बाद चरितार्थ हो वह अपवाद कहा जाता है। निरवकाशत्वेन जहाँ बाध होता है वहाँ सम्भव होने पर पीछे से उत्सर्गशास्त्र की भी प्रवृत्ति हो जाती है और अपवादत्वेन जहाँ बाध होता है वहाँ उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति पीछे नहीं होती है। यहाँ 'अज्झन' सूत्र से गुण का निरवकाशत्वेन बाध होने के कारण ही दीर्घ के बाद 'चिचीषति' प्रयोग में पुनः गुण की शंका करके उसे निषिद्ध करने के लिये 'इको झल्' की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है। अन्यथा=यदि सर्वथा अचरितार्थस्थल में भी अपवादत्व स्वीकार किया जाय तो 'अज्झन' सूत्र से अपवादत्वेन गुण का बाध होने पर अपवाद की प्रवृत्ति के बाद उत्सर्ग की प्रवृत्ति न होने के कारण 'इको झल्' सूत्र का भाष्य जिसमें दीर्घ होने के बाद पुनः गुण की प्राप्ति दिखाई गई है वह भाष्य असंगत हो जायेगा। साथ ही गुण की पुनः प्राप्ति न होने के कारण उसके निषेध के लिये 'इको झल्' सूत्र की भी असंगति स्पष्ट ही है। इसलिये यह स्वीकार करना चाहिये कि इस परिभाषा में जो अपवाद शब्द आया है वह बाधकपरक है और अपवाद तथा बाधक ये दोनों परस्पर में भिन्न हैं।

यत्तु 'काञ्चनी'त्यादावपवादमयड्विषयेऽप्यण् भवति, क्वचिदपवादविषयेऽपीति न्यायादिति, तन्न। 'अण् कर्मणि च' (३-३-१२) इति सूत्रस्थभाष्यविरोधात्। तत्र ह्याणः पुनर्वचनमपवादविषयेऽनिवृत्त्यर्थं गोदायो व्रजतीत्याद्युक्तम्। काञ्चनीत्यादौ काञ्चनेन निर्मितेत्यर्थे शैषिकोऽण् बोध्यः।

जो कोई ऐसा कहते हैं कि 'क्वचिदपवादविषयेऽपि' इस परिभाषा के द्वारा 'काञ्चनस्य विकारः' इस अर्थ में प्राप्त विकारार्थक अण् प्रत्यय के अपवाद 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' इस सूत्र से विधेय मयट् के विषय में भी औत्सर्गिक अण् हो जाता है, जिससे 'काञ्चनी' इस प्रयोग की सिद्धि होती है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'अण् कर्मणि च' इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा कि 'कर्मण्यण्' इस सूत्र से अविशेषेण जो अण् विहित है वही अण् क्रियार्थक क्रिया उपपद में रहने पर भी 'काण्डलावो व्रजति' इत्यादि प्रयोगों में भी हो जायेगा। ऐसी स्थिति में 'अण् कर्मणि च' इस सूत्र की क्या आवश्यकता है ? ऐसी शंका करके भाष्यकार ने कहा कि 'अण् कर्मणि च' इस सूत्र से अण् का पुनर्विधान अपवाद के विषय में अण् की अनिवृत्ति (प्रवृत्ति) के लिये है। तात्पर्य यह है कि 'गोदायो व्रजति' 'कम्बलदायो व्रजति' इत्यादि प्रयोगों में जब 'कर्मण्यण्' सूत्र से अण् की प्राप्ति होगी तो उसे अपवादत्वात् बाधकर 'आतोऽनुपसर्गे कः' इस सूत्र से क प्रत्यय प्राप्त होगा। अण् प्रत्यय के अपवाद इस क प्रत्यय के विषय में अण् प्रत्यय होने के लिये 'अण् प्रत्यय' का पुनर्विधान किया गया है।

'यत्तु' के कथनानुसार यदि प्रस्तुत परिभाषा से ही कार्य चल जाता तो अण् का पुनर्विधान व्यर्थ हो जाता तथा भाष्य की असंगति भी हो जाती। इसलिये ऐसा तथ्य स्वीकार करना चाहिये कि प्रत्ययविधायक उत्सर्ग और अपवाद के विषय में 'क्वचिदपवादविषयेऽपि' यह प्रस्तुत परिभाषा नहीं लगती है। इसलिये अण् का पुनर्विधान सार्थक होता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ऐसी स्थिति में 'काञ्चनी' यह प्रयोग किस प्रकार बनेगा ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि 'काञ्चनेन निर्मिता' इस विग्रह में 'शेषे' इस सूत्र से अण् प्रत्यय करके 'काञ्चनी' यह प्रयोग सिद्ध होता है। यहाँ 'वृद्धाच्छः' इस सूत्र से छ प्रत्यय की शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि 'तत्र भवः' इत्यादि अधिकारसूत्रों में 'वृद्धाच्छः' सूत्र की अनुवृत्ति होने के कारण उन, भव, जात आदि अर्थों में विहित प्रत्ययों का ही 'वृद्धाच्छः' सूत्र से बाध होता है। काञ्चनी प्रयोग में तो निर्मित अर्थ में अण् प्रत्यय किया जा रहा है। इसलिये इस शैषिक अण् का बाध 'वृद्धाच्छः' सूत्र से नहीं होगा।

अत्रेदं बोध्यम्—'येन नाप्राप्ते'त्यत्र येनेत्यस्य यदि स्वेतरेणेत्यर्थस्तदा स्वविषये स्वेतरत् यद्यत् प्राप्नोति तद्बाध्यम्, विध्यन्तराप्राप्तविषयाभावात्। इयमेव बाध्यसामान्यचिन्तेति व्यवह्रियते। अनवकाशत्वेन बाधेऽप्येषा वक्तुं शक्या यद्युदाहरणमस्ति विनिगमनाविरहात्।

यदि तु येनेत्यस्य लक्षणेनेत्यर्थः कार्येणेत्यर्थो वा तदा बाध्यविशेषचिन्ता। अनवकाशत्वेन बाधेऽप्येतद्बाधेन सार्थक्यमुत तद्बाधेनेत्येवं विशेषचिन्ता सम्भवति यद्युदाहरणमस्ति॥ ५९॥

बाधकशास्त्र के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्था के उद्देश्य से लिख रहे हैं—

'अत्रेदं बोध्यम्' अर्थात् बाधकशास्त्र के सम्बन्ध में आगे कही जाने वाली व्यवस्था के अनुसार समझना चाहिये।

बाध्यबाधकभाव का नियामक जो 'येन नाप्राप्ति' न्याय है, इसमें आये हुए 'येन' इस पद से यदि 'स्वेतर' का ग्रहण किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि स्वविषय में (अपवाद के विषय में) स्व से भिन्न (अपवाद से भिन्न) जो जो प्राप्त होता है वह सभी अपवाद के द्वारा बाध्य होता है अर्थात् बाधा जाता है। क्योंकि अपवादशास्त्र में विध्यन्तरा प्राप्ति का विषय नहीं है अर्थात् अपवादशास्त्र तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ होता है। इसी को बाध्यसामान्य-चिन्ता शब्द से व्यवहृत किया जाता है।

इस पक्ष में अपवादशास्त्र का उद्घोष रहता है कि मेरे विषय में जो जो प्राप्त हैं वे सभी हमारे बाध्य हैं।

जहाँ अनवकाशत्वेन बाध होता है वहाँ भी यह बाध्यसामान्यचिन्ता कही जा सकती है। तात्पर्य यह है कि वहाँ भी इस पक्ष का आश्रयण करके अपवाद के विषय में प्राप्त सभी का बाध किया जा सकता है यदि कोई ऐसा उदाहरण मिलता हो तो। क्योंकि इसमें कोई विनिगमक नहीं है कि जहाँ तक्रन्याय से बाध हो, वहाँ तो बाध्यसामान्यचिन्तापक्ष हो, और जहाँ निरवकाशत्वेन बाध हो, वहाँ न हो।

यदि 'येन नाप्राप्त' इस परिभाषाघटक 'येन' इस पद का अर्थ जिस लक्षण (शास्त्र) के अथवा जिस कार्य के अवश्य प्राप्त होने पर ऐसा किया जाय तो उस समय बाध्यविशेषचिन्ता होती है।

जहाँ अनवकाशत्वेन बाध होता हो वहाँ भी इसको बाधने से अपवादशास्त्र की सार्थकता है अथवा उसको बाधने से सार्थकता है इस प्रकार की विशेषचिन्ता सम्भव है, यदि कोई ऐसा उदाहरण मिलता है तब।

विमर्श—यहाँ बाध्यसामान्यचिन्तापक्ष और बाध्यविशेषचिन्तापक्ष की चर्चा ऊपर की गई है। 'येन नाप्राप्त' न्यायघटक 'येन' इस पद को इसका आधार माना

गया है। जब 'येन' इस पद से स्वेतर का ग्रहण किया गया है तब बाध्यसामान्य-चिन्तापक्ष और जब 'येन' इस पद को शास्त्रपरक अथवा कार्यपरक माना गया है तब बाध्यविशेषचिन्तापक्ष होता है ऐसा कहा गया है।

यह बात पहले बतायी जा चुकी है कि बाध दो प्रकार से होता है। पहला तो तक्रन्याय से और दूसरा निरवकाशत्वेन अथवा अनवकाशत्वेन। इन दोनों प्रकार के बाधों में ये दोनों बाधसामान्यचिन्तापक्ष और बाधविशेषचिन्तापक्ष होते हैं। नागेशभट्ट ने दोनों पक्षों का उल्लेख करके अन्त में दोनों जगहों पर कहा है कि यदि उदाहरण हो तो ये दोनों पक्ष अनवकाशत्वेन बाधस्थल में भी हो सकते हैं। अपने इस कथन के द्वारा उन्होंने इस बात को पुष्ट किया है कि तक्रन्याय से बाधस्थल में तो ये दोनों पक्ष होते हैं, उदाहरण मिलने पर ये दोनों पक्ष अनवकाशत्वेन बाधस्थल में भी सम्भव हैं।

किन्तु देखा जाता है कि अधिकांश उदाहरण अनवकाशत्वेन बाध के ही मिलते हैं। इसके विपरीत 'तक्रन्याय' से बाध के उदाहरण ही दुर्लभ होते हैं। इसलिये ग्रन्थकार को ऐसा लिखना चाहिये था कि तक्रन्याय से बाधस्थल में भी ये दोनों पक्ष हो सकते हैं, यदि ऐसा कोई उदाहरण मिलता हो तो।

इनमें अनवकाशत्वेन बाधस्थल में बाध्यसामान्यचिन्तापक्ष का उदाहरण 'अचि र ऋतः' यह सूत्र है। इसके उदाहरणों में कहीं पर 'प्रियतिस्रि' प्रयोग में तो 'ऋतो ङि' सूत्र से गुण प्राप्त है। 'प्रियतिस्रः' प्रयोग में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त है। 'प्रियतिस्रः' इस पञ्चमी और षष्ठी विभक्ति में 'ऋत उत्' सूत्र से उत्व प्राप्त है।

'अचि र ऋतः' सूत्र इन सूत्रों की अप्राप्तिस्थल में अचरितार्थ है, और उक्त स्थलों में यदि इन सूत्रों की प्रवृत्ति हो जाय तो भी अचरितार्थ है। इस प्रकार यह सूत्र सर्वथा अनवकाश होकर बाध्यसामान्यचिन्तापक्ष के द्वारा अपने विषय में प्राप्त सभी सूत्रों को बाध लेता है।

बाधविशेषचिन्तापक्ष का उदाहरण 'अतो गुणे' यह सूत्र है। इसके उदाहरण 'भवन्ति' में 'अकः सवर्णे दीर्घः' की प्राप्ति है। और दूसरी जगह 'रामाः' इस प्रयोग में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' सूत्र की प्राप्ति है। यदि दोनों जगह ये ही दोनों सूत्र प्रवृत्त जाँय तो 'अतो गुणे' सर्वथा निरवकाश हो जायेगा। इसलिये यह इनका बाधक होता है। बाधक होने पर यह विचार उपस्थित होता है कि इन दोनों में किसको बाधने से अपवादशास्त्र का सार्थक्य हो सकता है। इस प्रकार बाध्यविशेष की चिन्ता होने पर 'पुरस्तादपवादन्याय से 'अतो गुणे' यह अपवाद सूत्र 'अकः सवर्णे दीर्घः'

इसी का बाधक होता है, न कि 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इस सूत्र का भी। इसलिये 'भवन्ति' और 'रामाः' ये प्रयोग सिद्ध होते हैं ॥ ५९ ॥

अब पुरस्तादपवादन्याय का उपक्रम करते हुए लिख रहे हैं—

तत्र कार्येणेत्यर्थे पररूपत्वावच्छिन्ने कार्ये आरभ्यमाणाया वृद्धेस्तद्बाधकत्वे निर्णीते किंशास्त्रविहितस्येत्येवं तद्विशेषचिन्तायामाह —

तत्र 'येन नाप्राप्त' न्यायघटक येन इस पद का पहले जो तीन अर्थ कर आये हैं, उन अर्थों के मध्य जब 'येन' इस पद से 'कार्येण' अथवा 'शास्त्रेण' इन दोनों का ग्रहण किया जायेगा तब पररूपत्वावच्छिन्न कार्य 'ओमाङोश्च' तथा 'एङि पररूपम्' इन दोनों से क्रियमाण पररूपों की अवश्य प्राप्ति में अथवा पररूपत्वावच्छिन्न विधायक शास्त्रत्वावच्छिन्न 'ओमाङोश्च' और 'एङि पररूपम्' की अवश्यप्राप्ति में 'एत्येधत्यूठ्सु' इस वृद्धि का आरम्भ किया गया है। तात्पर्य यह है कि 'उपैति' प्रयोग में 'एङि पररूपम्' की प्राप्ति है तथा 'अवेहि' इत्यादि प्रयोगों में 'ओमाङोश्च' सूत्र से पररूप की प्राप्ति है। इस प्रकार पररूपरूपी कार्य अथवा पररूपविधायकशास्त्र 'एत्येधत्यूठ्सु' के लक्ष्य में अवश्य प्राप्त है। इनकी अवश्यप्राप्ति में 'एत्येधत्यूठ्सु' सूत्र से वृद्धि का आरम्भ किया गया है। इसलिये आरभ्यमाण यह वृद्धि अवश्यप्राप्त पररूप की बाधिका है, इस बात के निर्णय हो जाने के बाद इसे इस बात की जिज्ञासा होती है कि किस शास्त्र से विहित पररूप का बाध किया जाय ? अथवा पररूप विधायक किस शास्त्र का बाध किया जाय ? ऐसी बाध्यविशेषसम्बन्धी चिन्ता उपस्थित होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ॥ ६० ॥

पूर्वपठित जो अपवाद हैं वे बाध्यशास्त्रों के मध्य अनन्तर व्यवधान शून्यविधि को बाधते हैं। बाध्यशास्त्रों में जो विधि व्यवहित होती है उस उत्तरविधि को नहीं बाधते हैं।

प्रस्तुत स्थल में सूत्रों का क्रम इस प्रकार है—

एत्येधत्यूठ्सु ६।१।८९ एङि पररूपम् ६।१।९४ ओमाङोश्च ६।१।९५। इस क्रम में एत्येधत्यूठ्सु इस अपवाद के लिये अनन्तरबाध्य 'एङि पररूपम्' यही सूत्र होता है। इसलिये इसे बाधकर 'उपैति' इत्यादि प्रयोगों में चरितार्थ यह वृद्धि 'अवेहि' प्रयोग में 'ओमाङोश्च' इस सूत्र से परत्वात् बाधी जाती है।

इसी बात को बीजप्रदर्शन पुरःसर लिख रहे हैं—

अवश्यं स्वपरस्मिन् बाधनीये प्रथमोपस्थितानन्तरबाधेन चारितार्थ्ये पश्चादुपस्थितस्य ततः परस्य बाधे मानाभावः। आकाङ्क्षाया निवृत्तेर्विप्रतिषेधशास्त्रबाधे मानाभावाच्चेत्येतस्य बीजम् ॥ ६० ॥

पुरस्तादपवाद के लिये अपने से पर में पठित बाध्यशास्त्र अवश्य बाधनीय है। ऐसी स्थिति में इन बाध्यशास्त्रों के बीच प्रथमोपस्थित और अनन्तर बाध्य को बाधने से जब अपवादसूत्र का चारितार्थ्य सम्भव है, तब उससे पर में और व्यवहित रहने वाले बाध्य के बाधने में कोई प्रमाण नहीं है।

जब अनन्तरविधि को बाधकर आकाङ्क्षा निवृत्त हो जाती है तब 'ओमाङोश्च' जैसी व्यवहित विधि जो परत्वात् प्राप्त होती है, उसे बाधने में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि ऐसा करने में विप्रतिषेधशास्त्र का साक्षात् बाध करना पड़ेगा। और ऐसा करने में कोई प्रमाण है नहीं। यह प्रमाणाभाव ही अनन्तरविधि के बाध का बीज है ॥ ६० ॥

अब मध्येऽपवादन्याय का उपक्रम करते हुए लिख रहे हैं—

'नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्त' (४-१-५५) इत्यस्यौष्ठाद्यंशे ङीष्निषेधत्वावच्छिन्नबाधकत्वे निर्णीते किंविहितस्येत्याकाङ्क्षायामाह—

'नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च' यह सूत्र इन शब्दान्त शब्दों से वैकल्पिक ङीष् का विधान करता है। इसके ओष्ठाद्यन्त पाँच उदाहरणों में 'असंयोगोपधात्' इससे ङीष् का निषेध प्राप्त है तथा सहपूर्वक नासिका शब्द में 'सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च' इस सूत्र से ङीष् का निषेध प्राप्त होता है। इस प्रकार यदि इसके उदाहरण में सब जगह निषेध ही हो जाय तो यह सूत्र व्यर्थ हो जायेगा। इसलिये यह ङीष्निषेधत्वावच्छिन्न का बाधक होता है। इस बात का निर्णय हो जाने पर कि यह ङीष् निषेधत्वावच्छिन्न का बाधक है, यह जिज्ञासा होती है कि किस सूत्र से विहित निषेध का यह बाधक है? ऐसी बाध्यविशेष की चिन्ता होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ॥ ६१ ॥

मध्य में पठित जो अपवाद होते हैं, वे अपने से पूर्वविधि को बाधते हैं। अपने से उत्तरविधि को नहीं बाधते हैं।

प्रस्तुत स्थल में सूत्रों का क्रम इस प्रकार है—

नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च ४।१।५५ स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ४।१।५४ तथा सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च ४।१।५७ इनमें 'नासिकोदरौष्ठ' यह अपवाद मध्य में पढा गया है। यह अपने से पूर्व 'असंयोगोपधात्' इस निषेध को ही बाधता है न कि 'सहनञ्' इत्यादि निषेध को।

इसलिये 'बिम्बोष्ठी, बिम्बोष्ठा' इस प्रयोग में इसकी प्रवृत्ति होने पर भी 'सहनासिका' प्रयोग में 'सहनञ्' इस सूत्र से परत्वात् 'नासिकोदरौष्ठ' सूत्र का बाध हो जाता है। इसी बात को मूल में लिख रहे हैं—

तेन ओष्ठादिषु पञ्चसु 'असंयोगोपधात्' इति प्रतिषेध एव बाध्यते, न तु 'सहनञ्विद्यमान' (४–१–५७) लक्षण इति 'नासिकोदर' (४–१–५५) इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम्। पूर्वोपस्थितबाधेन नैराकाङ्क्ष्यमस्या बीजम् ॥६१॥

इस मध्येऽपवादन्याय को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि ओष्ठादि पाँच शब्दों में 'असंयोगोपधात्' इस सूत्र से प्राप्त निषेध ही 'नासिकोदर' इस सूत्र से बाधा जाता है। सहनञ्विद्यमानलक्षण जो निषेध है वह इससे नहीं बाधा जाता, प्रत्युत् उसी से यह सूत्र परत्वात् बाधा जाता है, जिससे 'सहनासिका' रूप की सिद्धि होती है।

पूर्वोपस्थित के बाधने से निराकांक्ष होना ही इसका बीज है ॥ ६१ ॥

ननु 'वा छन्दसि' (३–४–८८) इत्यनेन 'सेर्ह्यपिच्च' (३–४–८७) इत्यनन्तरस्यापित्त्वस्येव हेरपि विकल्पः स्यात्। तथा 'नेटि' (७–२–४) इति निषेधोऽनन्तरहलन्तलक्षणाया इव सिचिवृद्धिमृजिवृद्धचोरपि स्यात्। अत उक्तन्यायमूलकमेवाह—

अब यहाँ यह शंका हो रही है कि छन्द में (वेद में) 'हि' को विकल्प से अपित् (पित् भिन्न) बनाने वाला 'वा छन्दसि' यह सूत्र सन्निहित कार्य 'सेर्ह्यपिच्च' इस सूत्र से विहित अपित् को जैसे विकल्प करता है उसी प्रकार व्यवहित कार्य जो 'सि' प्रत्यय के स्थान पर 'हि' आदेश है उसका भी वैकल्पिक विधान क्यों न करें? इसी प्रकार 'नेटि' यह सूत्र जिस प्रकार समीपवर्ती 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इस सूत्र से विधियमान हलन्तत्व निमित्तक-वृद्धि का निषेध करता है, उसी प्रकार 'सिचिवृद्धिः परस्मैपदेषु' 'मृजेर्वृद्धिः' इन दोनों व्यवहित वृद्धियों का भी निषेध क्यों नहीं करे? इस प्रकार की शंका होने पर उक्तन्यायमूलकम्=प्रथमोपस्थितत्वरूपी हेतु के आधार पर इस परिभाषा को कह रहे हैं—

अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति ॥ ६२ ॥

परिभाषा में आया हुआ 'वा' यह शब्द 'च' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसलिये विधि और निषेध ये दोनों अनन्तर अर्थात् समीपवर्ती के ही होते हैं, यह परिभाषा का अर्थ होता है। पुरस्तादपवादन्याय में जिस प्रकार प्रथमोपस्थिति कारण होती है इसी प्रकार इस परिभाषा से अनन्तर को विधान या निषेध करने का कारण उसकी प्रथमोपस्थिति ही है। जो व्यवहित होगा उसकी उपस्थिति विलम्ब से होगी यह बात स्वाभाविक है। अतः इस परिभाषा से शीघ्रोपस्थित अनन्तर का ही विधान या निषेध किया जाता है। इसलिये 'वा छन्दसि' सूत्र से अपित् के वैकल्पिक विधान की भाँति 'हि' का वैकल्पिक विधान नहीं हुआ। इसी प्रकार 'नेटि' सूत्र से व्यवहित वृद्धियों का निषेध नहीं किया गया।

अत एव 'संख्याव्ययादेः' (४-१-२६) इति ङीब्ग्रहणं चरितार्थम्। तद्धचनन्तरस्य ङीषो विध्यभावाय। 'न क्तिचि' (६-४-३९) इति सूत्रे दीर्घग्रहणञ्च चरितार्थम्। तद्ध्यनन्तरस्य 'अनुदात्तोपदेश' (६-४-३७) इत्यस्यैव निषेधाभावाय। मध्येऽपवादन्यायाद्यपेक्षयानन्तरस्येति न्यायः प्रबल इति 'अष्टाभ्य' (७-१-२१) इति सूत्रे कैयटः।

अत एव=इस परिभाषा को स्वीकार करने से ही 'संख्याव्ययादेर्ङीप्' इस सूत्र में ङीप्ग्रहण चरितार्थ होता है। यह ङीप् ग्रहण अपने से अव्यवहितपूर्व 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' इस सूत्र में उल्लिखित ङीष् के निवारण के लिये किया गया है। यदि प्रस्तुत परिभाषा नहीं होती तो 'संख्याव्ययादेः' सूत्र से व्यवहित सूत्र 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' में उल्लिखित ङीप् का ही यहाँ विधान करने से अभीष्ट सिद्ध हो सकता था। ऐसी स्थिति में यहाँ ङीप्विधान की क्या आवश्यकता होती। यही ङीप्ग्रहण व्यर्थ होकर, अनन्तर की ही विधि होती है, इस बात का ज्ञापक होता है। 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' अनन्तरसूत्र नहीं है इसलिये उसके ङीप् का यहाँ विधान न हो सकने के कारण यहाँ ङीप्ग्रहण स्वांश में चरितार्थ होता है।

'न क्तिचि दीर्घश्च' इस सूत्र में किया गया दीर्घ ग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि निषेध भी अनन्तर का ही होता है। 'यन्तिः, रन्तिः' इत्यादि प्रयोगों में दीर्घ तथा अनुनासिक लोप के अभाव के लिये यह सूत्र बनाया गया है। इस सूत्र में दीर्घग्रहण इसलिये किया गया है कि इस सूत्र के अनन्तर जो 'अनुदात्तोपदेशवनति' इत्यादि सूत्र हैं उससे किये जाने वाले अनुनासिक लोप का ही इससे निषेध न हो, किन्तु इससे व्यवहितसूत्र 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' सूत्र से विधेय दीर्घ का भी इससे निषेध हो। यदि प्रस्तुत परिभाषा नहीं होती तो 'न क्तिचि' इस निषेधक सूत्र में दीर्घ की भी अनुवृत्ति करके अनुनासिकलोप और दीर्घ, इन दोनों का निषेध सिद्ध ही था। ऐसी स्थिति में इस सूत्र में किया गया दीर्घग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि निषेध भी अनन्तर का ही होता है। इसलिये अनुवृत्ति के आधार पर व्यवहितदीर्घ का निषेध नहीं हो सकता था, अतः इस सूत्र में दीर्घग्रहण करना स्वांश में चरितार्थ होता है। दीर्घग्रहण कर देने पर अनन्तर अनुनासिकलोप का ही निषेध न होकर व्यवहितदीर्घ का भी निषेध किया जाता है।

मध्येऽपवाद इत्यादि न्यायों की अपेक्षा 'अनन्तरस्य' यह न्याय प्रबल है, यह बात 'अष्टाभ्य औश्' (७।१।२१) सूत्र के कैयट में स्पष्ट है। वहाँ का पूरा विवरण इस प्रकार है—उक्त सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा कि 'औशद्यौ' इति वक्तव्यम्। इस भाष्य में 'अद्यौ' पद का अर्थ 'अनुत्तरपदे' है। अर्थात् अष्टन् शब्द से पर में रहने वाले जश् और शस् को जो औश् आदेश होता है वह उत्तरपद पर में रहने

पर न होवे । इस प्रकार कहने का क्या प्रयोजन है, ऐसी शंका के उत्तर में भाष्यकार ने कहा कि 'अष्टपुत्रः' 'अष्टभार्यः' इत्यादि प्रयोगों में औश् आदेश न होने लगे इसलिये 'औशद्यौ' यह कथन आवश्यक है । इसके बाद विचार करते हुए भाष्यकार ने कहा कि 'औशद्यौ' यह वचन यदि न भी किया जाय तो कोई दोष नहीं है क्योंकि 'अष्टपुत्रः' इत्यादि प्रयोगों में यदि औश् आदेश हो भी जायेगा तो पीछे उसका 'षड्भ्यो लुक्' सूत्र से लुक् हो जायेगा । ऐसा कह कर भाष्यकार ने फिर शंका किया कि यदि ऐसी बात है तो 'अष्टौ पश्य' 'अष्टौ तिष्ठन्ति' इन प्रयोगों में भी औश् का लुक् होने लगेगा । ऐसी आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि लुक् की अवश्य प्राप्ति में औशादेश का आरम्भ किया गया है । अतः औश् लुक् का बाधक हो जायेगा । तब तो 'अष्टभार्यः, अष्टपुत्र' इत्यादि स्थलों में औशादेश सामासिक लुक् का भी बाधक हो जायेगा । इस प्रकार शंका करके भाष्यकार ने फिर कहा कि यह औशादेश अनन्तरलुक्विधि का ही बाधक होगा, क्योंकि विधि अथवा निषेध ये दोनों अनन्तर के ही होते हैं । औश् का अनन्तरलुक् 'षडभ्यो लुक्' ७।१।२२ का ही लुक् है न कि 'सुपो धातु' २।४।७१ का लुक् ।

इस प्रकार सामासिकलुक् का औश् के द्वारा बाध न हो सकने के कारण 'औशद्यौ' कहने की आवश्यकता नहीं है । यह बात वहाँ स्पष्ट की गई है ।

इसके बाद वहाँ फिर इस बात का विचार किया गया कि औश् आदेश लुक् का अपवाद है । यह अपवाद मध्य में पठित है । इसलिये मध्येऽपवादन्याय से इसके द्वारा द्वितीयाध्याय के सामासिकलुक् का ही बाध होना चाहिये न कि 'षड्भ्यो लुक्' का बाध ? ऐसी शंका होने पर वहाँ कहा गया कि जहाँ पर मध्यपठित अपवाद के पूर्व और उत्तर में रहने वाले दोनों बाध्यशास्त्र व्यवहित हो, वहाँ पूर्वानुभव के आधार पर जायमान संस्कार से उद्बुद्ध स्मृति में आये हुए पूर्वशास्त्र का बाध किया जाता है । यहाँ पर तो द्वितीयाध्यायविहित सामासिकलुक् औश् आदेश की अपेक्षा अनेक अध्यायों के व्यवधान से व्यवहित हैं । इसलिये इसका स्मरण भी महायत्नसाध्य है । इसकी अपेक्षा अनन्तर जो षड्भ्यो लुक् का लुक् है वह शीघ्र ही स्मृति पथारूढ़ होता है इसलिये इसी का बाध न्याय्य है ।

इस प्रकार प्रस्तुत भाष्य और उसके कैयट के व्याख्यान से यह बात भलीभाँति स्पष्ट होती है कि 'मध्येऽपवादन्याय' की अपेक्षा अनन्तरस्य यह न्याय प्रबल है ।

प्रत्यासत्तिमूलकोऽयम् । लक्ष्यानुरोधाच्च व्यवस्थेत्यपि पक्षान्तरम् । तत्र तत्र क्वचित् स्वरितत्वप्रतिज्ञासामर्थ्येन बाध्यतेऽयं न्यायः । 'टिड्ढ' (४-१-१५) इति सूत्रेण ङीप व्यवहितस्यापि ङीपो विधिः । 'न षट्' (४-१-१०) इत्यादिना द्वयोरपि टाबृङीपोः प्रतिषेधः । इयञ्च 'शि सर्वनामस्थानम्' (१-१-४२) इत्यादौ भाष्ये स्पष्टेत्यन्यत्र विस्तरः ॥६३॥

'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' यह न्याय प्रत्यासत्तिमूलक है। क्योंकि अनन्तर की प्रत्यासत्ति=सामीप्य के कारण उपस्थिति शीघ्र ही होती है। मध्येऽपवादन्याय और अनन्तरस्य यह प्रस्तुतन्याय इन दोनों के मध्य लक्ष्य के आधार पर व्यवस्था होती है यह एक दूसरा पक्ष है। तात्पर्य यह है कि लक्ष्य की सिद्धि को ध्यान में रख कर कहीं मध्येऽपवाद न्याय का और कहीं 'अनन्तरस्य' इस न्याय का आश्रयण करना चाहिये। कैयट ने यह बात भी कही है कि प्रत्यासत्या अनन्तर का ही बाध होना चाहिये।

कहीं-कहीं पर स्वरितत्त्व की प्रतिज्ञा से अथवा सामर्थ्य से इस न्याय का बाध किया जाता है। जैसे 'टिड्ढाणञ्' (४।१।१५) सूत्र से अनन्तर 'डाबुभाभ्याम्' (४।१।१३) सूत्र से विधेय डाप् की विधि न करके व्यवहित 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (४।१।५) से विधेय ङीप् की विधि अर्थात् विधान किया गया है। यहाँ ङीप् पद में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा करके स्वरितत्व के आधार पर अधिक कार्य किया जाता है, इसलिये डाप् से व्यवहित ङीप् की विधि की गई है। सामर्थ्येन इस परिभाषा के बाध का उदाहरण देते हुए लिख रहे हैं कि 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' सूत्र से टाप् और ङीप् दोनों का निषेध सामर्थ्यात् अर्थात् व्याख्यानसामर्थ्यात् कर दिया जाता है। तात्पर्य इसका यह है कि पञ्चन् शब्द को जब स्त्रीलिंग में रखते हैं तब नान्त होने के कारण इससे 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' सूत्र से ङीप् प्राप्त रहता है। इसका निषेध षट्संज्ञक के आधार पर 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' सूत्र से करने के बाद जब नकार का लोप हो जाता है तब 'पञ्च' यह अदन्त स्त्रीलिंग बन जाता है। ऐसी स्थिति में अदन्तत्वात् इससे टाप् की प्राप्ति होती है। इस टाप् का भी निषेध 'ऋन्नेभ्यः' सूत्र से कर दिया जाता है। क्योंकि उसका व्याख्यान ऐसा किया गया है कि स्त्रीलिंग में षट् संज्ञक से और स्वस्रादि से जो-जो प्राप्त होता है उन सभी का निषेध कर दिया जाता है। इस व्याख्यान के सामर्थ्य से अनन्तरस्य न्याय का बाध करके ङीप् और टाप् इन दोनों का निषेध कर दिया जाता है।

यह परिभाषा 'शि सर्वनामस्थानम्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। वहाँ यह विचार किया गया कि 'सुडनपुंसकस्य' इस सूत्र में आया हुआ जो 'अनपुंसकस्य' यह पद है वह प्रसज्य प्रतिषेध होने के कारण 'शि सर्वनामस्थानम्' सूत्र से विधीयमान सर्वनाम-स्थान संज्ञा का भी निषेध क्यों न कर दें। ऐसी आशंका करके इसी प्रस्तुत न्याय से ही इसका समाधान किया कि यह निषेध अनन्तर 'सुट्' इस अंश से विधेय सर्वनाम-स्थान संज्ञा के लिये है न कि 'शि सर्वनामस्थानम्' का भी यह निषेधक है। इस प्रकार उक्त सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है ॥ ६२ ॥

ननु दधतीत्यादावन्तरङ्गत्वादन्तादेशेऽल्विधौ स्थानिवत्त्वाभावाददादेशो न स्यादिति तद्वैयर्थ्यापत्तिरत आह—

धा धातु से लट् लकार और उसके स्थान पर झि आदेश करने पर शप् विकरण, उसे श्लु, धातु को द्वित्व, अभ्यास कार्य, अभ्यस्त संज्ञा इत्यादि कार्य करने के बाद 'अदभ्यस्तात्' सूत्र से झ के स्थान पर अत् आदेश करके और आकार का लोप करके 'दधति' यह प्रयोग बनाया जाता है।

यहाँ शंका होती है कि 'धा+झि' इस स्थिति में द्वित्व और अभ्यस्त संज्ञा करने के बाद 'झ' के स्थान पर 'अत्' आदेश की प्राप्ति होती है। किन्तु 'झोऽन्तः' सूत्र से क्रियमाण झ के स्थान पर अन्तादेश, तो 'धा+झि' इसी अवस्था में प्राप्त होता है। इसलिये शीघ्रोपस्थित होने के कारण अन्तादेश अन्तरङ्ग है। इसका परिणाम यह होगा कि अन्तरंग होने के कारण अन्तादेश अत् आदेश को बाध लेगा। इसलिये 'दधति' इस प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

यदि कहा जाय कि अन्तरङ्गत्वात् अन्तादेश के हो जाने पर भी कोई क्षति नहीं है क्योंकि अन्तादेश हो जाने के बाद भी स्थानिवद्भाव से उसमें झत्वबुद्धि कर ली जायेगी। इसलिये अन्त् आदेश को ही झ मान कर पीछे अत् आदेश भी हो सकता है, जिससे 'दधति' प्रयोग की सिद्धि हो सकती है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि झत्व धर्म को लाना अंल् विधि है, और अल् विधि में स्थानिवद्भाव होता नहीं क्योंकि 'अनल्विधौ' यह अंश उसका निषेध कर देता है। निष्कर्ष यह निकला कि यदि अन्तरङ्गत्वात् पहले अन्तादेश ही हो जाता है तो पीछे अत् आदेश नहीं हो सकेगा, जिससे 'दधति' यह प्रयोग नहीं बन सकेगा।

यदि कहा जाय कि अभ्यस्त संज्ञा अनैमित्तिक होने के कारण पहले ही हो जायेगी। इसके बाद अन्त् आदेश और अत् आदेश ये दोनों आदेश समकाल में प्राप्त होंगे। ऐसी स्थिति में अत् आदेश के द्वारा अन्त् आदेश का बाध हो जायेगा, तो यह यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्त् आदेश के सम्बन्ध में उपदेशिवद्भाव को स्वीकार किया गया है, इसलिये उपदेश अवस्था में अर्थात् धातु के आगे प्रत्यय लाते ही अन्तादेश की प्रवृत्ति हो जायेगी। परिणाम यह होगा कि 'दधति' प्रयोग में अत् आदेश नहीं हो सकेगा, इसलिये 'अदभ्यस्तात्' यह सूत्र व्यर्थ हो जायेगा। ऐसी शंका होने पर यह परिभाषा बनी—

पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः ॥ ६३ ॥

अपवादशास्त्र पहले बुद्ध्यारूढ़ होते हैं, अर्थात् उनका वाक्यार्थ बोध पहले होता है। पश्चात्=अपवादशास्त्रीय वाक्यार्थ ज्ञान के बाद उत्सर्गशास्त्र बुद्ध्यारूढ़ होते हैं।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का परिणाम यह हुआ कि 'दधति' इस प्रयोग

में अपवादशास्त्र 'अदभ्यस्तात्' की वाक्यार्थबोधपुरःसर पहले प्रवृत्ति हो गई, जिससे अवतरण में आशंकित दोष का निराकरण हो गया।

भाष्य में 'पूर्वं ह्यपवादाः' और 'प्रकल्प्य चापवादविषयम्' ये दो न्याय उल्लिखित हैं। इन दोनों न्यायों की पृथक्-पृथक् व्यवस्था करते हुए नागेशभट्ट लिख रहे हैं—

लक्षणैकचक्षुष्को ह्यपवादविषयं पर्यालोच्य तद्विषयत्वाभावनिश्चय उत्सर्गेण तत्तल्लक्ष्यं संस्करोति। अन्यथा विकल्पापत्तिरित्यर्थः। अभिनिविशन्त इत्यस्य बुद्ध्यारूढा भवन्तीत्यर्थः। 'अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थः' इति न्यायस्य तु नात्र प्राप्तिरन्तादेशाप्राप्तिविषये चारितार्थ्याभावात् ॥६३॥

लक्षण=सूत्र ही लक्ष्य के साधुत्व ज्ञान का एकमात्र साधन जिनके लिये है, ऐसा लक्षणैकचक्षुष्क व्यक्ति पहले अपवाद के विषय की पर्यालोचना करके, जहाँ उसका विषय नहीं होता, ऐसे स्थल का निश्चय करता है। जब उसे निश्चय हो जाता है कि यह अपवादशास्त्र का लक्ष्य नहीं है तब ऐसे लक्ष्य का संस्कार वह उत्सर्गशास्त्र के द्वारा करता है।

अन्यथा=अपवादशास्त्रीय विषय की पहले आलोचना न करके अपवादशास्त्र का जो विषय है, उसे ही उत्सर्गशास्त्र का भी विषय यदि स्वीकार कर लिया जाय तब 'असति बाधके उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन विधेयान्वयः' इस नियम के आधार पर दोनों शास्त्रों के प्रामाण्य होने के कारण दोनों शास्त्रों (उत्सर्ग और अपवाद) की लक्ष्य में पर्यायेण प्रवृत्ति होने पर वहाँ पर्यायापत्तिरूप दोष हो जायेगा। यहाँ विकल्पापत्ति का अर्थ पर्यायापत्ति किया गया है, क्योंकि ऐसे स्थलों पर यदि उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति पहले हो जाती है तो वहाँ अपवादशास्त्र की प्रवृत्ति पीछे से सम्भव ही नहीं होगी। इसलिये पर्यायेण दोनों शास्त्रों की प्रवृत्ति होने से यहाँ पर्यायापत्तिरूप दोष ही होगा।

निष्कर्ष यह हुआ कि उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति में अपवादशास्त्र का ज्ञान कारण होता है। इसलिये उत्सर्गशास्त्रीय उद्देश्यतावच्छेदक में अपवादशास्त्रीयप्रवृत्तियोग्यातिरिक्तत्वेन संकोच कर दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि 'दधति' इत्यादि प्रयोगों में अपवाद जो अत् आदेश है, उसके विषय में अन्तादेश पहले प्रवृत्त नहीं होता, इसलिये अवतरण में कहे गये दोष का निराकरण हो जाता है।

'अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थः' इस न्याय की यहाँ प्राप्ति नहीं है, क्योंकि अन्तादेश की जहाँ प्राप्ति न हो, ऐसे किसी भी लक्ष्य में अत् आदेश चरितार्थ नहीं है। तात्पर्य यह है कि जहाँ-जहाँ अत् आदेश प्राप्त होता है वहाँ सब जगह अन्तादेश प्राप्त रहता है। इसलिये उत्सर्ग की अप्राप्ति के स्थल में अपवाद के चरितार्थ न होने के कारण 'अपवादो यदि' इस परिभाषा की यहाँ (दधति प्रयोग में) प्राप्ति नहीं होती है ॥६३॥

लक्ष्यैकचक्षष्कस्तु तच्छास्त्रपर्यालोचनं विनाप्यवादविषयं परित्यज्योत्सर्गेण लक्ष्यं संस्करोति, तस्यापि शास्त्रप्रक्रियास्मरणपूर्वकप्रयोग एव धर्मोत्पत्तेः। तदाह—

लक्षण (शास्त्र) के ज्ञान के विना भी जिसे लक्ष्य के साधुत्व का ज्ञान है, ऐसा लक्ष्यैकचक्षुष्क व्यक्ति तच्छास्त्र=अपवाद की पर्यालोचना के विना भी अपवादशास्त्र के विषय को छोड़ कर उत्सर्गशास्त्र से लक्ष्य का संस्कार करता है।

यदि कहा जाय कि लक्ष्यैकचक्षुष्क व्यक्ति को जब लक्षण की अपेक्षा ही नहीं है तो वह उत्सर्गशास्त्र से लक्ष्य का संस्कार क्यों करता है ? तो इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि वह ऐसा इसलिये करता है कि शास्त्र की प्रक्रिया के स्मरणपूर्वक शब्द का प्रयोग करने से ही धर्म की उत्पत्ति होती है। इसलिये लक्ष्यैकचक्षुष्क व्यक्ति को भी धर्मार्थ शास्त्रीयप्रक्रिया का अवलम्बन करना पड़ता है। इसी बात को इस परिभाषा के रूप में कह रहे हैं—

प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते ॥ ६४ ॥

अपवादशास्त्र की पर्यालोचना के पहले ही उसके विषय को छोड़ कर उत्सर्गशास्त्र प्रवृत्त होता है।

तत इत्यस्यापवादशास्त्रपर्यालोचनात् प्रागपीत्यर्थः। प्रकल्प्येत्यस्य परित्यज्येत्यर्थः। अत एव प्रातिपदिकार्थसूत्रे भाष्ये 'इदं द्वयमप्युक्त्वा न कदाचित्तावदुत्सर्गो भवत्यपवादं तावत् प्रतीक्षत इत्यर्थकमुक्तम् ॥ ६४ ॥

ततः इस पद का अर्थ है अपवादशास्त्र के पर्यालोचन से पहले भी। प्रकल्प्य पद का परित्यज्य अर्थात् छोड़कर अर्थ है। अत एव=अधिकारी भेद से दोनों परिभाषाओं की व्यवस्था स्वीकार करने से ही प्रातिपदिकार्थ सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने इन दोनों परिभाषाओं का उल्लेख करके कहा कि उत्सर्गशास्त्र कभी भी पहले प्रवृत्त नहीं होता, वह तो अपवाद की प्रतीक्षा करता है।

भाष्यकार के इस सारगर्भित कथन का यही तात्पर्य है कि अधिकारीभेद से इन दोनों परिभाषाओं की व्यवस्था है। पूर्वन्याय के विषय में जहाँ लक्षणैकचक्षुष्क व्यक्ति सर्वत्रप्राप्त उत्सर्गशास्त्र की निवृत्ति, बुद्धिगत अपवादशास्त्र के द्वारा करता है। वहीं पर लक्ष्यैकचक्षुष्क व्यक्ति पहले ही अपवादशास्त्र के विषय का परित्याग करके उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति करता है ॥ ६४ ॥

एतन्मूलकमेव नवीनाः पठन्ति—

एतन्मूलकम्=उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं का फलितार्थ यही है कि अपवाद के विषय को छोड़ कर उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् अपवादशास्त्र की प्रवृत्ति की स्थिति आगे सम्भावित हो और उत्सर्गशास्त्र की तत्काल प्राप्ति हो तो भी

उत्सर्गशास्त्र वहाँ प्रवृत्त नहीं होता है, इसी फलितार्थ के आधार पर नवीन वैयाकरण (दीक्षित आदि) ऐसा पठते हैं—

उपसञ्जनिष्यमाणनिमित्तोऽप्यपवाद उपसञ्जातनिमित्तमप्युत्सर्गं बाधत इति ॥ ६५ ॥

जिसका निमित्त आगे होने वाला है ऐसा भी अपवाद समुपस्थित निमित्तवाले उत्सर्गशास्त्र को बाधता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ उत्सर्गशास्त्र (बाध्यशास्त्र) की प्रवृत्ति के अभाव की सम्भावना से अपवादशास्त्र की प्रवृत्ति सम्भावित हो वहाँ उत्सर्गशास्त्र पहले ही नहीं लगता है। जैसे 'दधति' इस प्रयोग में ऐसी संभावना होती है कि यदि यहाँ पहले अन्तादेश न किया जाय तो यहाँ अत् आदेश हो सकता है। इस संभावना में यहाँ अन्तादेश पहले ही नहीं होता है इसलिये अदादेश की प्रवृत्ति से 'दधति' इस रूप की सिद्धि होती है।

यत्तु अभ्यस्तसंज्ञासूत्रे कैयटेन प्रकल्प्य चेति प्रतीकमुपादाय यथा 'न सम्प्रसारणे' (६-१-३७) इति परस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणं, पूर्वस्य तु तन्निमित्तः प्रतिषेध इत्युक्तम्, तत्तु तत उत्सर्ग इत्याक्षरार्थाननुगुणम्।

कैयट ने 'उभे अभ्यस्तम्' (६।१।५) इस सूत्र में 'प्रकल्प्य च' इस प्रतीक को लेकर कहा कि यहाँ 'प्रकल्प्य' का अर्थ सम्पाद्य अर्थात् बनाकर है। जैसे युवन् शब्द से शस् विभक्ति लाने पर 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इस सूत्र के सार्थक्य के लिये पहले परयण् वकार को सम्प्रसारण होता है, इसके बाद पूर्वयण् यकार को प्राप्त सम्प्रसारण का प्रस्तुत सूत्र से निषेध कर दिया जाता है, जिससे 'यूनः' प्रयोग की सिद्धि होती है। यहाँ यदि पर यण् को पहले सम्प्रसारण नहीं किया जाता तो पूर्व यण् को प्राप्त सम्प्रसारण का निषेध भी नहीं होता। इस प्रकार जैसे यहाँ पूर्वयण् को सम्प्रसारण के निषेध के लिये पहले परयण् को सम्प्रसारण हो जाता है। उसी प्रकार यहाँ प्रकल्प्य पद का यह तात्पर्य है कि अपवाद के विषय की कल्पना करके उत्सर्गशास्त्र की ऐसी प्रवृत्ति होती है। जिससे अपवादशास्त्र की प्रवृत्ति पीछे से संभव हो सके। किन्तु 'प्रकल्प्य' पद की कैयट ने जो यह व्याख्या की है वह ठीक नहीं है। क्योंकि इस व्याख्या के अनुसार 'तत उत्सर्गः' इन पदों के अक्षरार्थ की संगति नहीं होती है। इसका कारण यह है कि यहाँ ततः इस पद से अनन्तर अर्थ की प्रतीति होती है। यह अनन्तरार्थ ल्यप् के द्वारा ही व्यक्त कर दिया जाता है तो ऐसी स्थिति में ततः पद से पुनः उसी अर्थ को कहने का क्या औचित्य रह जाता है।

दूसरी बात यह है कि 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' सूत्र के सम्बन्ध में कहा है कि 'एतदेव ज्ञापयति परस्य भविष्यति न पूर्वस्येति' अर्थात् प्रस्तुत सूत्र ही ज्ञापक होता है कि पहले परयण् को सम्प्रसारण होगा न कि पूर्वयण् को। इस प्रकार

भाष्यकार ने ज्ञापक का आश्रयण करके परयण् को पहले सम्प्रसारण किया है न कि 'प्रकल्प्य' इस न्याय से किया है। यदि न्याय से ही यह कार्य सिद्ध हो जाता तो भाष्यकार का ज्ञापकाश्रयण व्यर्थ ही हो जाता। इसलिये कैयट द्वारा की गई प्रकल्प्य पद की व्याख्या ठीक नहीं है।

यत्तु अपवादवाक्यार्थं विना नोत्सर्गवाक्यार्थ इति तदर्थ इति, तन्न। अभिनिविशतेऽपवादविषयमित्यादिपदस्वारस्यभङ्गापत्तेः। पदजन्यपदार्थोपस्थितौ वाक्यार्थबोधाभावे कारणाभावाच्च। यत्र त्वपवादो निषिद्धस्तत्रापवादविषयेऽप्युत्सर्गः प्रवर्त्तत एव। यथा वृक्षावित्यत्र 'नादिचि' (६-१-१०४) इति पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधादप्रवर्तमानस्य वृद्धिबाधकत्वाभावाद् वृद्धिः प्रवर्त्तते। अतएव 'तौ सत्' (३-२-१२७) इत्यादि सङ्गच्छते। अत एव निर्देशाद् भ्रष्टावसरन्यायस्यात्र शास्त्रेऽनाश्रयणम्। ध्वनितं चेदम् 'इको गुण' (१-१-३) इति सूत्रे भाष्य इति भाष्यप्रदीपोद्योते निरूपितम्।

किसी ने 'प्रकल्प्य चापवादविषयम्' इस परिभाषा का ऐसा अर्थ किया कि अपवाद के वाक्यार्थबोध के विना उत्सर्ग का वाक्यार्थबोध नहीं होता है। किन्तु यह अर्थ भी संगत नहीं है क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर परिभाषा में आये हुए 'अभिनिविशते अपवादविषयम्' इत्यादि पदों का स्वारस्य भंग हो जायेगा। 'अभिनिविशते' का अर्थ है प्रवृत्त होता है, और अपवादविषयम् का अर्थ है अपवाद के विषय को। उक्त परिभाषार्थ में इन अर्थों का कोई सामञ्जस्य ही नहीं है, इसलिये उपर्युक्त परिभाषा का अर्थ ठीक नहीं है।

दूसरी बात यह है कि उत्सर्गशास्त्र में आये हुए पदों से जब पदार्थ की उपस्थिति हो रही है तो उसके वाक्यार्थबोध के न होने का कोई कारण नहीं है। तात्पर्य यह है कि उत्सर्गशास्त्रघटक पदों से पदार्थोपस्थिति होने पर उसके वाक्यार्थबोध में कोई बाधा नहीं हो सकती। इसलिये अपवाद के वाक्यार्थबोध में कोई बाधा नहीं हो सकती। इसलिये अपवाद के वाक्यार्थबोध के बिना उत्सर्ग का वाक्यार्थबोध नहीं होता, यह कहना सर्वथा असंगत है।

जहाँ पर अपवादशास्त्र का निषेध हो जाता है वहाँ अपवाद के विषय में भी उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति होती ही है। जैसे-'वृक्षौ' इस प्रयोग में 'वृक्ष+औ' इस स्थिति में पहले 'वृद्धिरेचि' इस सूत्र से वृद्धि प्राप्त होती है। इस वृद्धि को बाध कर 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इस सूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है किन्तु 'नादिचि' सूत्र से 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' का जब निषेध कर दिया जाता है तब 'वृद्धिरेचि' सूत्र से वहाँ वृद्धि होती ही है।

अत एव=अपवाद के निषिद्ध हो जाने पर उत्सर्गशास्त्र की प्रवृत्ति होती है ऐसा स्वीकार करने से ही 'तौ सत्' यह पाणिनि का निर्देश संगत होता है। अन्यथा 'तौ' यह निर्देश नहीं बन सकता था। अतएव निर्देशात्='तौ सत्' इस निर्देश के आधार पर ही यह भी कहा जा सकता है कि भ्रष्टावसरन्याय का आश्रयण इस शास्त्र में नहीं किया जाता। अवसर आने पर जो भ्रष्ट हो जाता है वह भ्रष्ट ही रहता है। इस अर्थवाले भ्रष्टावसरन्याय का यदि आश्रयण किया जाता तो एक वार भ्रष्ट अवसर 'वृद्धिरेचि' सूत्र अपवाद के निषिद्ध होने के बाद भी प्रवृत्त नहीं होता तो 'तौ' इस रूप की सिद्धि नहीं होती तो ऐसी स्थिति में 'तौ सत्' यह निर्देश कैसे संगत होता। तस्मात् भ्रष्टावसरन्याय का इस शास्त्र में आश्रयण नहीं किया जाता। यह बात 'इको गुण' सूत्र के भाष्य में ध्वनित है, ऐसा भाष्य के प्रदीप और उद्योत में निरूपित किया गया है।

अत्र देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्योन्मज्जनं नेति न्यायस्य विषय एव नास्ति। हते देवदत्त उन्मज्जनं न, देवदत्तहननोद्यतस्य हनने तु भवत्येवोन्मज्जनम्। प्रकृतेऽपि न पूर्वसवर्णदीर्घेण वृद्धेर्हननं किन्तु हननोद्यमसजातीयं प्रसक्तिमात्रम्, प्रसक्तस्यैव निषेधात्।

यदि कहा जाय कि 'देवदत्तहन्तृहतन्याय' की प्रवृत्ति के कारण 'तौ सत्' यह निर्देश संगत नहीं है। देवदत्त को मार देने वाले को यदि मार दिया जाय तो क्या देवदत्त का उज्जीवन हो सकता है? इसी प्रकार 'तौ' इस निर्देश में प्राप्त वृद्धि जब 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' सूत्र से बाध ली जायेगी तो उसके बाद 'नादिचि' सूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का बाध करने पर भी वृद्धि का पुनरुज्जीवन नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में 'तौ सत्' यह निर्देश कैसे बनेगा? इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि अत्र='तौ' इस प्रयोग के विषय में 'देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्योन्मज्जनं न' इस न्याय की प्रवृत्ति ही नहीं है, क्योंकि इस न्याय का यह अर्थ है कि यदि देवदत्त मार दिया गया है तब तो उसे मारने वाले को मार देने पर भी देवदत्त का जीना संभव नहीं है किन्तु देवदत्त को मारने के लिये उद्यत व्यक्ति को यदि मार दिया जाता है तो देवदत्त का जीवन सुरक्षित ही रह जाता है।

'तौ' इस प्रयोग में भी पूर्वसवर्णदीर्घ के द्वारा वृद्धि का हनन नहीं हुआ है किन्तु हनन के उद्यम के समान दीर्घ की केवल प्रसक्ति (प्राप्ति) होती है, और उस प्राप्त दीर्घ का 'नादिचि' से निषेध कर दिया जाता है। इस प्रकार यहाँ वृद्धि के होने का अवसर सुरक्षित ही रह जाता है।

प्रतिपदोक्तत्वमपि निरवकाशत्वे सत्येव बाधप्रयोजकम्। स्पष्टं चेदं 'शेषाद्विभाषा' (५-४-१४४) इति सूत्रे भाष्ये। तत्र हि शेषग्रहणमनर्थकं

ये प्रतिपदं विधीयन्ते ते बाधका भविष्यन्तीत्याशङ्क्य, 'अनवकाशा हि विधयो बाधका भवन्ति, समासान्ताश्च कबभावे सावकाशा' इत्युक्तम्। क्वचिदनवकाशत्वाभावेऽपि परनित्यादिसमवधाने शीघ्रोपस्थितिकत्वेन पूर्वप्रवृत्तिप्रयोजकं बलवत्त्वं प्रतिपदविधित्वेनापि। परनित्यान्तरङ्ग-प्रतिपदविधयो विरोधिसन्निपाते तेषां मिथःप्रसङ्गे परबलीयस्त्वमिति 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (७–२–९८) इति सूत्रे कैयटेन पाठात्। अत एव रमे इत्यादौ प्रतिपदोक्तत्वात् पूर्वमेत्वे आकारप्रश्लेषाद्धल्ङ्यादिलोपो न प्राप्नोतीत्याशङ्क्य च 'एङ्ह्रस्वात्' (६–१–६९) इति लोपेन समाहितम् ॥६५॥

निरवकाशत्व की भाँति प्रतिपदोक्तत्व भी पृथक् एक बाधबीज है ऐसा स्वीकार करने वालों के मत का निराकरण करते हुए कह रहे हैं कि—प्रतिपदोक्तत्व भी निरवकाश होने पर ही बाध का प्रयोजक होता है। तात्पर्य यह है कि कोई प्रतिपदोक्तशास्त्र इसलिये किसी शास्त्र का बाधक नहीं हो जाता कि वह प्रतिपदोक्त है अपि तु वह किसी का बाधक तब बनता है जबकि वह निरवकाश हो। यह बात 'शेषाद् विभाषा' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। भाष्यकार ने वहाँ विचार किया कि इस सूत्र में शेषग्रहण की क्या आवश्यकता है ? यदि कहा जाय कि शेषग्रहण न करने पर डच् आदि समासान्तों के स्थल में भी कप् होने लगेगा तो इसके उत्तर में भाष्यकार का कहना है कि जो प्रतिपद विधियाँ हैं वे कप् की बाधिका हो जायेंगी। इसलिये शेषग्रहण अनर्थक है। इस प्रकार शंका करके भाष्यकार ने फिर कहा कि अनवकाशविधियाँ ही बाधक होती हैं। समासान्त प्रत्यय तो सावकाश हैं वे कैसे बाधक हो सकते हैं ? इसके बाद फिर यह जिज्ञासा की कि समासान्त प्रत्यय कहाँ सावकाश हैं ? तो इसका उत्तर देते हुए कहा कि कप् प्रत्यय विकल्प से होता है, इसलिये उसके अभावपक्ष में समासान्त सावकाश हैं। इस प्रकार जब समासान्त सावकाश हैं तो वे कप् के बाधक नहीं हो सकते, किन्तु 'कप् और अन्य समासान्त-प्रत्यय' इन दोनों की समकालप्राप्ति होने पर परत्वात् कप् प्रत्यय ही होने लगेगा, इसलिये शेषग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिपद-विधित्व भी निरवकाश होने पर ही बाधप्रयोजक होता है। वह स्वतन्त्र कोई बाधबीज नहीं है। यहाँ प्रतिपदोक्तत्व का अर्थ है—पदविशेष का उच्चारण करके विहितत्व। जैसे 'धर्मादनिच्केवलात्' इस सूत्र से धर्म शब्द का उच्चारण करके विधीयमान अनिच् प्रतिपदोक्त कहा जायेगा।

कहीं पर प्रतिपदविधि के अनवकाश के अभाव में अर्थात् सावकाश होने पर भी शीघ्रोपस्थित होने के कारण उसकी अन्तरङ्गता होती है, इसलिये पर और नित्य सूत्रों की अपेक्षा इसकी बलवत्ता स्वीकार की जाती है। इस प्रकार इसका यह

बलवत्त्व प्रतिपदविधित्व के आधार पर ही पर और नित्य के समवधान में इसके पहले प्रवृत्ति का प्रयोजक होता है। अर्थात् पर और नित्य शास्त्रों को बाधकर प्रतिपदविधि ही होती है, क्योंकि वह शीघ्रोपस्थित होती है। यह बात इसलिये स्वीकार की जाती है कि 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इस सूत्र के कैयट में कहा गया है कि विरोधी शास्त्रों के सन्निपात में अर्थात् उनकी एक साथ प्राप्ति होने पर 'परं, नित्य, अन्तरङ्ग और प्रतिपद' विधियों में पर की बलवत्ता होती है। इनमें सबसे पर में प्रतिपदविधि ही पठित है, इसलिये वही बलवती होती है।

अत एव=प्रतिपदविधि परादि की अपेक्षा बलवती होती है ऐसा स्वीकार करने से ही 'रमे' इस प्रयोग में सम्बुद्धि का सु प्रत्यय आने पर 'रमा+सु' इस स्थिति में 'हल्ङ्याब्भ्यः' सूत्र से सुलोप और 'सम्बुद्धौ च' सूत्र से आप् को एकार इन दोनों की प्राप्ति साथ होने पर प्रतिपदोक्तविधि आप् को एकार जब पहले कर दिया जाता है तब प्रश्न होती है कि यहाँ सुलोप कैसे हो क्योंकि अब तो आप् रह नहीं गया। यदि कहा जाय कि उसी एकार को आप् मान लिया जाय तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'हल्ङ्याब्भ्यः' सूत्र में 'आ+आप्=आप्' ऐसा प्रश्लेष किया गया है, जिसका तात्पर्य है आकाररूप आप्। यहाँ तो आप् एकार रूप हो गया है अतः सुलोप यहाँ किस प्रकार हो? ऐसी शंका करके 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' सूत्र के द्वारा यहाँ लोप होता है, ऐसा समाधान दिया गया है।

ननु यजे 'इन्द्रमि'त्यादावन्तरङ्गस्यापि गुणस्यापवादेन सवर्णदीर्घेण बाधः स्यादत आह—

शंका होती है कि 'अयज–इ–इन्द्रम्' इस स्थिति में पूर्वोपस्थितनिमित्तक होने के कारण 'आद्गुणः' सूत्र से विधीयमान गुण अन्तरङ्ग है, तथापि 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र से विधेय सवर्णदीर्घ से इसका बाध होना चाहिये, क्योंकि दीर्घ यण् और गुण दोनों का अपवाद है। दीर्घ के अपवाद होने का कारण यह है कि इसके उदाहरण 'दैत्यारिः, दण्डाग्रम्' इत्यादि में तो 'आद्गुणः' से गुण प्राप्त रहता है और 'श्रीशः, भानूदयः' इत्यादि उदाहरणों में यण् की प्राप्ति रहती है। यदि इसके उदाहरण में सब जगह गुण और यण् ही हो जाँय तो दीर्घ कहाँ होगा? इस प्रकार दीर्घ निरवकाश होकर यण् और गुण का अपवाद होता है। प्रस्तुत उदाहरण 'अयज–इ–इन्द्रम्' में यद्यपि गुण अन्तरङ्ग है तथापि अपवाद दीर्घ से बाध्यसामान्यचिन्तया उसका बाध होना चाहिये। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा आवश्यक हुई—

अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थस्तर्ह्यन्तरङ्गेण बाध्यते ॥ ६६ ॥

अपवाद यदि अन्यत्र चरितार्थ हो तो वह अन्तरङ्गशास्त्र के द्वारा बाध लिया जाता है। इसी बात को सम्पुष्ट करते हुए लिख रहे हैं—

निरवकाशत्वरूपस्य बाधकत्वबीजस्याभावात् । एवं च प्रकृतेऽन्तरङ्गेण गुणेन सवर्णदीर्घः समानाश्रये चरितार्थो यण्गुणयोरपवादोऽपि बाध्यते । पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वरूपान्तरङ्गत्वविषय इदम् ।

अपवादशास्त्र जो उत्सर्ग का बाधक होता है उसके बाधकत्व का बीज उसका निरवकाशत्व है । यदि यह बाधबीज उसमें न रहे तो वह बाधक नहीं होता प्रत्युत् अन्तरङ्गशास्त्र से बाधा जाता है ।

प्रस्तुतस्थल में 'अकः सवर्णे दीर्घः' इस सूत्र में निरवकाशत्व रूप बाधबीज का अभाव है क्योंकि वह समानाश्रय उदाहरण 'दैत्यारिः' आदि प्रयोगों में सावकाश हो चुका है । 'दैत्यारिः' यह उदाहरण समानाश्रय इसलिये है कि 'दैत्य + अरिः' इस स्थिति में यकारोत्तरवर्त्ती जिस अकाररूपी स्थानी और अरि के अकार रूपी निमित्त का अवलम्बन करके दीर्घ की प्राप्ति होती है, उसी स्थानी और निमित्त को लेकर 'आद्गुणः' की भी प्राप्ति होती है । इसी प्रकार 'भानु + उदयः' इस स्थिति में दीर्घ का जो स्थानी और निमित्त है, वही स्थानी और वही निमित्त 'इको यणचि' सूत्र का भी है । यदि ऐसे स्थलों पर यण् और गुण ये दोनों हो जाँय तो दीर्घ सर्वथा व्यर्थ हो जायेगा । इसलिये उपर्युक्त समानाश्रय उदाहरण में, सर्वथा अनवकाश होने के कारण दीर्घ, यण् और गुण को बाध लेता है । इस प्रकार निरवकाशत्व रूप बाधबीज का अभाव होने के कारण 'अयज + इ + इन्द्रम्' इस प्रयोग में जहाँ गुण का स्थानी और निमित्त भिन्न है, तथा दीर्घ का स्थानी और निमित्त भिन्न है, वहाँ पूर्वोपस्थित निमित्तक अन्तरङ्ग गुण से, समानाश्रय उदाहरण में चरितार्थ सवर्णदीर्घ यण् और गुण का अपवाद होने पर भी बाधा जाता है ।

इदम्=अन्तरङ्गशास्त्र के द्वारा अपवाद का जो यह बाध है वह वहीं होता है जहाँ अन्तरङ्ग का निमित्त अपवाद के निमित्त से पूर्व ही उपस्थित हो । जैसे 'अयजे इन्द्रम्' इस उदाहरण में दीर्घ के निमित्त की अपेक्षा गुण का निमित्त पूर्वोपस्थित है । इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जहाँ इस प्रकार का अन्तरङ्गत्व नहीं होता, वहाँ पर अपवाद के द्वारा अन्तरङ्ग का ही बाध होता है । जैसे 'अक्षद्यूः' इस उदाहरण में 'लोपो व्योर्वलि' सूत्र द्वारा विधेय वलोप उत्सर्ग है और 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इस सूत्र से विधेय ऊठ् का आदेश उसका अपवाद है । यह अपवाद व शब्द से आचार अर्थ में क्विप् करके पुनः कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय करने पर 'च्छ्वोः' सूत्र से ऊठ् आदेश करके 'ऊः' इस समानाश्रय उदाहरण में चरितार्थ होने पर भी 'अक्षद्यूः' इस उदाहरण में वलि लोप से बाधा नहीं जाता क्योंकि बलि लोप में पूर्वोपस्थित निमित्तकत्वरूप अन्तरङ्गत्व का अभाव है । इसलिये यहाँ ऊठ् के द्वारा बलिलोप का ही बाध कर दिया जाता है ।

यत्तु आगमादेशयोर्न बाध्यबाधकभावः, भिन्नफलत्वात्; अत एव 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां कम्बलः कौण्डिन्यायेत्यादौ कम्बलेन न दधिदानबाध इति 'च्छ्वोः' (६-४-१९) इति सूत्रे कैयटः, तन्न। अपवादो नुग्दीर्घत्वस्येति 'दीर्घोऽकितः' (७-४-८३) इति सूत्रस्थभाष्यविरोधात् ॥ ६६ ॥

अब कैयट के मत का खण्डन करते हुए लिख रहे हैं कि 'च्छ्वोः' सूत्र में कैयट ने जो यह कहा है कि आगम और आदेश में परस्पर बाध्यबाधकभाव नहीं होता, क्योंकि दोनों का फल भिन्न-भिन्न है। जिस उद्देश्य से शास्त्र की प्रवृत्ति होती है वही यहाँ फल शब्द से अभिप्रेत है। वह फल आगम और आदेश का भिन्न होता है, क्योंकि आदेश, स्थानी का निवर्तक होता है किन्तु आगम आगमी का निवर्तक नहीं होता है। इसलिये इन दोनों का बाध्यबाधकभाव नहीं होता।

अत एव=भिन्न फल वालों में परस्पर बाध्यबाधक नहीं होता यह बात स्वीकार करने से ही जहाँ ऐसा प्रयोग किया जाता है 'ब्राह्मणों को दधि दो और कौण्डिन्य को कम्बल दो' यहाँ यद्यपि ब्राह्मणत्वेन कौण्डिन्य को दधिदान भी प्राप्त है, और वह दधिदान यदि कौण्डिन्य को नहीं किया जाता है तो भी उनसे भिन्न किसी दूसरे ब्राह्मण में वह चरितार्थ है, किन्तु कम्बलदान तो केवल कौण्डिन्य के लिये ही कहा गया है। इसलिये कौण्डिन्य को यदि दधिदान कर दिया जाता है तो कम्बलदान कहाँ चरितार्थ होगा, इसलिये कम्बलदान से दधिदान का बाध होना चाहिये, किन्तु वह होता नहीं है क्योंकि दधिदान का फल है ओदन का संस्कार और कम्बलदान का फल है शीतनिवारण। इस प्रकार दोनों का फल भिन्न-भिन्न होने के कारण कम्बलदान से दधिदान का बाध नहीं होता। अर्थात् कौण्डिन्य को दधि अरि कम्बल दोनों की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार आगम और आदेश के फल भिन्न होने के कारण दोनों का आपस में बाध्य-बाधकभाव नहीं होता है। किन्तु कैयट का यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर 'दीर्घोऽकितः' इस सूत्र के भाष्य से विरोध हो जायेगा। इस सूत्र का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने विचार किया कि यहाँ 'अकित' ग्रहण की क्या आवश्यकता है? ऐसी आशंका करके 'यंयम्यते' इस उदाहरण में दीर्घापत्ति की आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि 'अपवादो नुक् दीर्घत्वस्य' अर्थात् 'दीर्घोऽकितः' सूत्र से विधेय दीर्घ की अवश्य प्राप्ति में 'नुगतोऽनुनासिकान्तस्य' सूत्र से नुक् का विधान किया जाता है। इसलिये यह नुक् दीर्घ का बाधक है।

यहाँ यह विचारणीय है कि नुक् आगम है और दीर्घ आदेश है। भाष्यकार इन दोनों में बाध्यबाधकभाव को स्वीकार करते हैं। यदि कैयट के कहने के अनुसार आगम और आदेश में बाध्यबाधकभाव स्वीकार न किया जाय तो इनके बीच बाध्य-

बाधकभाव स्वीकार करने वाले भाष्यकार से स्पष्ट ही विरोध हो जाता है। इस लिये आगम और आदेश के बीच बाध्यबाधक होता है, यह तथ्य स्वीकार करना चाहिये ॥ ६६ ॥

ननु 'अजीगणदि'त्यादौ गणेरीत्वं निरवकाशत्वाद्धलादिः शेषं बाधेत तत्राह—

णिच् प्रत्ययान्त गण्-इ धातु से लुङ् लकार च्लि चङ् धातु को द्वित्व हलादिशेष अभ्यास के अकार को ईकार अडागम तथा णिलोप के बाद 'अजीगणत्' यह रूप बनता है। यहाँ यह सन्देह होता है कि 'ई च गणः' इस सूत्र से विधेय जो गण धातु के अभ्यास को ईकार है, वह ईत्व विधि 'हलादिः शेषः' सूत्र से णकार की निवृत्ति हो जाने पर गणरूपी अभ्यास के न मिलने के कारण निरवकाश होकर 'हलादिः शेषः' सूत्र को बाध लेगी। ईत्व के द्वारा 'हलादिः शेषः' का बाध होने पर णकार को ईकार होगा, उसके बाद गुण और 'ह्रस्वः' सूत्र से ह्रस्व करने पर 'अजिगणत्' यह अनिष्ट रूप बनने लगेगा। यदि कहा जाय कि 'दीर्घो लघोः' सूत्र से ह्रस्व ईकार को दीर्घ करके 'अजीगणत्' यह रूप बन सकता है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यह धातु अग्लोपी है इसलिये यहाँ सन्वद्भाव और दीर्घ आदि कार्य नहीं हो सकते। इस प्रकार यहाँ 'अजिगणत्' यह अनिष्ट रूप बनने लगेगा, इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा आवश्यक हुई—

अभ्यासविकारेषु बाध्यबाधकभावो नास्ति ॥ ६६ ॥

अभ्यास सम्बन्धी कार्यों में बाध्यबाधकभाव नहीं होता है। इसका परिणाम यह हुआ कि 'ई च गणः' सूत्र से 'हलादिः शेषः' का बाध नहीं हुआ, इसलिये हलादिशेष के द्वारा णकार की निवृत्ति हो जाने पर गकारोत्तर अकार को ईकार करके अजीगणत् इस रूप की सिद्धि की जाती है। यदि कहा जाय कि हलादिशेष के बाद गणरूपी अभ्यास के न होने के कारण ईत्वविधायक सूत्र की प्रवृत्ति कैसे होगी तो इसका उत्तर यह है कि हलादिशेष के कारण गणरूपी अभ्यास तो कहीं मिलेगा ही नहीं तो ईत्वविधायकसूत्र ही व्यर्थ हो जायेगा। इसलिये ईत्वविधायकसूत्र के आरम्भ सामर्थ्य से ईत्वविधायकसूत्र का अर्थ वैयधिकरण अन्वय के द्वारा इस प्रकार किया जायेगा कि—गणसम्बन्धी जो अभ्यास उसे ईकार होता है। ऐसा अर्थ करने पर णलोप के बाद भी गणसम्बन्धी अभ्यास होने के कारण कोई क्षति नहीं होती है। यह वैयधिकरणान्वयपरिभाषा के स्वीकार करने के बाद ही किया जाता है न कि उसके पहले। पहले यदि ऐसा अन्वय स्वीकार कर लिया जाय तो भी अनिष्ट रूपापत्ति दोष रह ही जायेगा।

परिभाषा में प्रमाण देते हुए लिख रहे हैं—

'दीर्घोऽकितः' (७-४-८३) इत्यकिद्ग्रहणमस्या ज्ञापकम् । अन्यथा यंयम्यत इत्यत्र नुकि कृतेऽनजन्तत्वाद्दीर्घाप्राप्त्या तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव ।

इयं परान्तरङ्गादिबोधकानामप्यबाधकत्वबोधिका । तेन अचीकरत्, मीमांसत इत्यादि सिद्धम् । आद्ये सन्वद्भावस्य परत्वाद्दीर्घेण बाधः प्राप्नोति । अन्त्ये 'मान्बध' (३-१-६) इति दीर्घेणान्तरङ्गत्वादित्त्वस्य बाधः प्राप्तः ।

'दीर्घोऽकितः' इस सूत्र में किया गया अकित् ग्रहण इस परिभाषा में प्रमाण है । 'यंयम्यते' इस प्रयोग में अभ्यास को दीर्घ न होने पावे, इसलिये इस सूत्र में अकित् ग्रहण किया गया है ।

यदि यह परिभाषा नहीं है तो 'यंयम्यते' इस प्रयोग में दीर्घ को बाधकर 'नुगतोऽनुनासिकान्तस्य' इस सूत्र से नुक् करने के बाद अभ्यास के अजन्त न रहने के कारण दीर्घ की प्राप्ति ही नहीं रहती है तो ऐसी स्थिति में अकित् ग्रहण की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार अकित् ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है । जब परिभाषा ज्ञापित हो जाती है तो अभ्यासविकार में बाध्यबाधक-भाव न होने के कारण बाध्य दीर्घ की पहले प्रवृत्ति न होने लगे इसलिये अकित् ग्रहण की सार्थकता होती है । यहाँ यह शंका हो सकती है कि नुक् होने से पूर्व अभ्यास तो अकित् ही है; ऐसी स्थिति में अकित् ग्रहण करने पर भी यंयम्यते इस प्रयोग में दीर्घापत्ति वैसी ही है तो इसका समाधान यह है कि यदि यहाँ दीर्घ की की प्रवृत्ति न हो तो अभ्यास के अदन्त होने के कारण नुक् होकर 'अकित्' इस निषेध की प्रवृत्ति हो सकती है ऐसी सम्भावना होने से 'उपसञ्जनिष्यमाण' न्याय के द्वारा पहले दीर्घ की प्रवृत्ति नहीं होगी । यदि अकित् ग्रहण नहीं किया जायेगा तो ऐसी सम्भावना न हो सकने के कारण दीर्घ की प्रवृत्ति होने लगेगी । इसलिये अकित् ग्रहण की सार्थकता होती है ।

यह परिभाषा अभ्यासकार्य में परादि (पर, नित्य और अन्तरङ्ग) शास्त्रों के भी अबाधकत्व की बोधिका है । तात्पर्य यह है कि पर, नित्य और अन्तरङ्ग शास्त्र भी अभ्यास कार्य में अपने बाध्य के बाधक नहीं होते । इसका फल यह होता है कि 'अचीकरत्' इस प्रयोग में 'दीर्घो लघोः' यह परशास्त्र 'सन्वल्लघुनि' इस सूत्र को नहीं बाधता है, इसलिये पहले सन्वद्भाव करके 'सन्यतः' सूत्र से इत्व कर दिया जाता है । इसके बाद उस इकार को दीर्घ करके 'अचीकरत्' इस रूप की सिद्धि की जाती है । यदि यह परिभाषा नहीं होती तो 'अचिक्षणत्' इस प्रयोग में चरितार्थ सन्वद्-भाव और 'अनूनवत्' प्रयोग में चरितार्थ 'दीर्घो लघोः' इन दोनों की 'अचीकरत्' प्रयोग में साथ ही प्राप्ति होने पर परत्वात् यदि दीर्घ हो जाय तो ह्रस्व अकार के

अभाव के कारण 'सन्यतः' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती, जिससे 'अचीकरत्' प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकती थी। इस परिभाषा के द्वारा उक्त प्रयोग की सिद्धि होती है यह परिभाषा मानने का फल है। इसी प्रकार 'मीमांसते' इस प्रयोग में 'अपरनिमित्तकत्वेन अन्तरङ्ग' 'मान्बधदान्शान्भ्यः' इस सूत्र से विधेय दीर्घ 'सन्यतः' सूत्र को नहीं बाधता है, इसलिये पहले इत्व करके दीर्घविधान के द्वारा 'मीमांसते' प्रयोग की सिद्धि की जाती है।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि 'आद्ये=अचीकरत् इस प्रयोग में सन्वद्भाव का दीर्घ से परत्वात् बाध प्राप्त रहता है, और 'अन्त्ये=मीमांसते' इस प्रयोग में मान्वध के अन्तरङ्गदीर्घ से इत्व का बाध प्राप्त रहता है, किन्तु इस परिभाषा को स्वीकार करने पर ये बाध्यबाधकभाव नहीं होते हैं।

यत्तु यत्रैकैकप्रवृत्युत्तरमपि सर्वेषां प्रवृत्तिस्तत्रैवेदमिति 'अत एक' (६-४-१२०) इति सूत्रे कैयटः, तन्न। नुकि कृते दीर्घाप्राप्त्या धर्मिग्राहकमानविरोधान्मान्बधादीनां दीर्घे कृते इत्त्वाप्राप्त्या 'गुणो यङ्लुकोः' (७-४-८२) इति सूत्रस्थभाष्योक्ततदुदाहरणासङ्गतेश्चेत्यन्यत्र विस्तरः ॥६७॥

'अत एकहल्मध्ये' सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर कैयट ने इस परिभाषा की प्रवृत्ति के स्थल का निरूपण करते हुए कहा कि जहाँ पर उत्सर्ग और अपवाद के मध्य एक की प्रवृत्ति के बाद भी अन्य सूत्रों की प्रवृत्ति की योग्यता हो, वहीं पर इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। जैसे 'नर्तीति' इस प्रयोग में यदि पहले उरदत्व की प्रवृत्ति हो जाती है तो उसके बाद भी रुगादि की प्रवृत्ति हो सकती है, अथवा यदि पहले रुक् आदि की प्रवृत्ति हो जाय तो भी उसके बाद उरदत्व हो सकता है। ऐसे स्थल पर इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है जिससे उरदत्व और रुगादिकों का बाध्यबाधकभाव नहीं होता। किन्तु कैयट का यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'यंयम्यते' इस प्रयोग में 'नुक्' कर देने पर अभ्यास के कित् हो जाने के कारण दीर्घ की प्राप्ति नहीं होती है। ऐसी स्थिति में एक की प्रवृत्ति के बाद अन्य की प्रवृत्ति न होने के कारण कैयट के मत में धर्मिग्राहक मान का विरोध स्पष्ट होता है। यहाँ बाध्यबाधकभावाभावबोधकत्व ही धर्म है और यह धर्म जिसमें है वह यह परिभाषा धर्मी हुई। इस धर्मीरूप परिभाषा में प्रमाण 'दीर्घोऽकितः' सूत्र का अकित्-ग्रहण है, इसके साथ कैयट के कथन का विरोध हो रहा है क्योंकि नुक् करने के बाद 'दीर्घोऽकितः' की प्रवृत्ति ही नहीं होती। यदि कहा जाय कि अभ्यासविकार में वैयधिकरण अन्वय करने से नुक् करने के बाद भी दीर्घ की प्रवृत्ति संभव है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त विरोधप्रदर्शन ठीक नहीं है तो इसी अरुचि से कैयट के मत में दूसरा दोष दिखाते हुए कह रहे हैं कि—'मीमांसते' 'बीभत्सते' इत्यादि प्रयोगों में अभ्यास को ह्रस्व करने के बाद

यदि 'मान्बधदान्' सूत्र से अभ्यास को पहले दीर्घ कर दिया जाता है तो एकमात्रिक अकार के न रहने के कारण 'इत्व' जो 'सन्यतः' सूत्र से विधेय है वह नहीं होगा। ऐसी स्थिति में 'गुणो यङ्लुकोः' सूत्र के भाष्य में इत्व का उदाहरण 'मीमांसते' प्रयोग को बताना भाष्यकार का असंगत हो जायेगा। यहाँ भी एक की प्रवृत्ति के बाद दूसरे की प्रवृत्ति नहीं हो रही है। इस प्रकार कैयट से विरोध यहाँ भी स्पष्ट ही है।

इसी प्रकार 'बोभूयते' इस प्रयोग में 'गुणो यङ्लुकोः' के गुण की प्रवृत्ति के बाद भी 'ह्रस्वः' सूत्र की प्रवृत्ति संभव होने के कारण पहले गुण करके उसके बाद ह्रस्व करने पर लक्ष्येलक्षणन्याय से पुनः गुण की प्रवृत्ति न होने के कारण कैयट की मान्यता के अनुसार 'बोभूयते' प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इसलिये इस परिभाषा के सम्बन्ध में कैयट की उक्ति समीचीन नहीं है। यह बात अन्यत्र विस्तार से कही गई है।

वस्तुतस्तु यह परिभाषा बाध्यशास्त्र की ही पहले प्रवृत्ति का बोधन करती है। इसलिये 'बोभूयते' इस प्रयोग में पहले बाध्य ह्रस्व की प्रवृत्ति के बाद बाधक गुण की प्रवृत्ति से इष्ट की सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार 'अजीगणत्' इस प्रयोग में भी बाध्यशास्त्र 'हलादिः शेषः' की प्रवृत्ति के बाद 'ई च गणः' इस बाधक की प्रवृत्ति होती है जिससे 'अजीगणत्' इस प्रयोग की सिद्धि होती है॥ ६७॥

ननु तच्छीलादितृन्विषये ण्वुलपि स्यात् ? न च तृन्नपवादः, असरूपापवादस्य विकल्पेन बाधकत्वात्। अत आह—

शंका होती है कि 'आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु' इस सूत्र में उल्लिखित तच्छील इत्यादि अर्थों में 'तृन्' सूत्र से विहित तृन् प्रत्यय जो 'ण्वुल्तृचौ' का अपवाद है, उसके विषय में कर्तृसामान्य अर्थ में विहित ण्वुल् प्रत्यय भी पक्ष में क्यों नहीं होता ? यदि कहा जाय कि अपवाद होने के कारण तृन् उसको बाध लेगा तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' इस नियम से असरूप अपवाद होने के कारण तृन् प्रत्यय के द्वारा ण्वुल् का बाध विकल्प से होगा। इसलिये तृन् के विषय में ण्वुल् प्रत्यय भी हो सकता है। इस शंका को ध्यान में रखकर यह परिभाषा बनाई गई—

ताच्छीलिकेषु वासरूपविधिर्नास्ति॥ ६८॥

तच्छील इत्यादि अर्थों में वासरूपविधि नहीं होती है।

इसका फल यह हुआ कि तृन् प्रत्यय के द्वारा ण्वुल् का नित्य ही बाध हो जाता है। जिससे तृन् के विषय में ण्वुल् की होने की समस्या नहीं रह जाती। अब परिभाषा में ज्ञापक देते हुए लिख रहे हैं—

ण्वुलि सिद्धे 'निन्दहिंस' आदि (३–२–१४६) सूत्रेणैकाज्भ्यो वुञ्-विधानमत्र ज्ञापकम्, तत्र ण्वुल्वुञोः स्वरे विशेषाभावात्। ताच्छीलिके-ष्विति विषयसप्तमी। तेन ताच्छीलिकैरताच्छीलिकैश्च वासरूपविधिर्नेति बोध्यम्।

नन्वेवं कत्रा कमनेत्याद्यसिद्धिः 'नमिकम्पि' (३–२–१६७) इति रेण 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' (३–२–१४९) इति युचो बाधादिति चेत्, न। 'सूददीपदीक्षश्च' (६–२–१५३) इत्यनेन दीपेर्युञ्निषेधेनोक्तार्थ-स्यानित्यत्वात्॥ ६८॥

'निन्दहिंस' इत्यादि सूत्र वुञ् का विधान करता है। यह विचार होता है कि इस सूत्र से जिन धातुओं से वुञ् का विधान किया जाता है। उनमें कुछ तो अनेकाच् हैं और कुछ एकाच्। उनमें अनेकाच् धातुओं से ही वुञ् विधान करना सार्थक है, क्योंकि वुञ् की जगह यदि ण्वुल् करते तो रूप की समानता होने पर भी स्वर की समानता नहीं होती। ण्वुल् प्रत्यय करने पर 'लिति' सूत्र से प्रत्यय के पूर्व वाला अच् उदात्त होगा, और वुञ् प्रत्यय करने पर 'ञ्नित्यादेः' सूत्र से धातु का आदि अच् उदात्त होगा। इस प्रकार स्वरभेद के कारण अनेकाच् धातुओं से ण्वुल् न करके वुञ् का विधान करना तो ठीक है किन्तु एकाच् धातुओं से ण्वुल् करें या वुञ् करें कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, क्योंकि दोनों प्रत्ययों से एक ही रूप की सिद्धि होगी। इसके अतिरिक्त लित् स्वर या 'ञ्नित्यादेः' सूत्र से स्वर करें धातु का आदि अच् ही उदात्त होगा। ऐसी स्थिति में एकाच् धातुओं से वुञ्विधान की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार एकाच् धातुओं से किया गया वुञ् का विधान व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है।

यदि यह परिभाषा नहीं होती तो तच्छीलादि अर्थों में वासरूपविधि होने के कारण वुञ् प्रत्यय के द्वारा सरूप उत्सर्ग ण्वुल् का नित्य बाध होने पर भी तृच् प्रत्यय जो वुञ् से विरूप है उसका बाध विकल्प से होता। परिणाम यह होता कि ताच्छीलादि अर्थों में तृञ् प्रत्यय भी होने लगता।

जब इस परिभाषा को स्वीकार कर लिया गया तो ताच्छील आदि अर्थों में प्राप्त ण्वुल् और तृच् को बाधकर 'तृन्' सूत्र से तृन् प्रत्यय प्राप्त रहेगा। यह तृन् प्रत्यय निन्द आदि धातुओं से न होने लगे, इसलिये इन धातुओं से वुञ्विधान स्वांश में चरितार्थ होता है।

अब यहाँ यह विचार होता है कि प्रस्तुत परिभाषा में 'ताच्छीलिकेषु' इस पद में जो सप्तमी है वह परसप्तमी है या विषयसप्तमी। यदि इसे परसप्तमी स्वीकार किया जायेगा तो उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों के ताच्छीलकत्व में ही इस परिभाषा

की प्रवृत्ति होंगी। ऐसी स्थिति में उक्त ज्ञापक की असंगति हो जायेगी क्योंकि उत्सर्ग ण्वुल् प्रत्यय ताच्छील प्रकरण का नहीं है। दूसरी बात यह है कि ताच्छीलप्रकरण के प्रत्ययों में वासरूप विधि को स्वीकार न करने पर 'निराकर्त्ता' 'निराकरिष्णुः' इन प्रयोगों में तृन् और इष्णुच् प्रत्ययों की पर्यायता नहीं सिद्ध होगी, क्योंकि अब तो उत्सर्ग का बाध अपवाद के द्वारा नित्य ही होगा। इस प्रकार की शंकाओं को ध्यान में रखकर कह रहे हैं कि 'ताच्छीलिकेषु' इस पद में सप्तमी, विषयसप्तमी है। ऐसा स्वीकार करने का फल यह होता है कि तच्छील अर्थ की विषयता में वाऽसरूपविधि नहीं होती है वे विधियाँ तच्छीलप्रकरण के सूत्रों द्वारा हो रही हों अथवा अतच्छील-प्रकरण के सूत्रों द्वारा हो रही हों। तात्पर्य यह हुआ कि तच्छीलप्रकरण और उससे भिन्न प्रकरण के सूत्रों के साथ तच्छीलप्रकरण के अपवाद का वाऽसरूपविधि नहीं होती है। इस प्रकार विषयसप्तमी मानने पर यद्यपि ज्ञापक की संगति हो जाती है, तथापि 'निराकर्त्ता और निराकरिष्णुः' इन प्रयोगों में तृन् और इष्णुच् प्रत्ययों की पर्यायता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि ताच्छीलिक प्रत्ययों में वाऽसरूप विधि के न होने के कारण इष्णुच् के द्वारा तृन् का नित्य ही बाध हो जायेगा। इसी प्रकार 'कम्रा और कमना' इन प्रयोगों में र प्रत्यय और युच् की पर्यायता नहीं हो सकती, क्योंकि 'नमिकम्पि' इत्यादि सूत्र से विहित र प्रत्यय के द्वारा 'अनुदात्तेतश्च' इस सूत्र से विधेय युच् प्रत्यय का नित्य ही बाध हो जायेगा। इस प्रकार इस परिभाषा को स्वीकार करने पर ये दोष उपस्थित होते हैं।

इन उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिये ग्रन्थकार का कहना है कि यह परिभाषा अनित्य है। इसकी अनित्यता में प्रमाण 'सूददीपदीक्षश्च' इस सूत्र के द्वारा दीप धातु को युच् का निषेध करना है। प्रश्न होता है कि इस सूत्र में दीपग्रहण की क्या आवश्यकता है? दीपधातु से युच् प्रत्यय तो इसलिये नहीं होगा कि— 'नमिकम्पि' इस सूत्र से विहित र प्रत्यय के द्वारा युच् प्रत्यय का बाध हो जायेगा, इसलिये दीपधातु से युच् की प्राप्ति ही नहीं है। यदि कहा जाय कि वाऽसरूपविधि से युच् का वैकल्पिक बाध होगा तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि तच्छील प्रत्ययों में वाऽसरूपविधि होती ही नहीं है। इस प्रकार युच् निषेध के लिये किया गया दीपग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'ताच्छीलिकेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति' यह नियम अनित्य है।

जब यह नियम अनित्य हो गया तो ताच्छील प्रत्ययों में वाऽसरूपविधि की प्रवृत्ति होगी, जिससे र प्रत्यय के द्वारा युच् का पाक्षिक बाध होगा। इसका परिणाम यह होगा कि दीपधातु से पक्ष में युच् की प्राप्ति रहेगी। उसके निषेध के लिये 'सूददीप' सूत्र में दीपग्रहण की सार्थकता होती है। इसका फल यह हुआ कि

'नमिकम्पि' के र प्रत्यय से 'अनुदात्तेतश्च' के युच् का नित्य बाध नहीं हुआ, जिससे 'कम्रा' और 'कमना' इन दोनों प्रयोगों की सिद्धि होती है ॥ ६८ ॥

नन्वेवं 'हसितं छात्रस्य हसनमि'त्यादौ घञ्, 'इच्छति भोक्तुमि'त्यत्र लिङ्लोटौ 'ईषत्पानः सोमो भवते'त्यत्र खल् प्राप्नोतीत्यत आह—

एवम्—इस प्रकार ताच्छीलिक विधियों में ही वासरूप विधि का निषेध स्वीकार करने पर ये दोष उपस्थित हो रहे हैं—

'छात्रस्य हसितम्' 'छात्रस्य हसनम्' इन दोनों वाक्यों में 'हसितम्' और 'हसनम्' इन दोनों में 'नपुंसके भावे क्तः' 'ल्युट् च' इन दोनों सूत्रों से नपुंसकत्वविशिष्ट भाव अर्थ में क्त और ल्युट् प्रत्यय का विधान किया गया है। यद्यपि विशेषविहित होने के कारण ये दोनों प्रत्यय भावसामान्य में विहित घञ् प्रत्यय का अपवाद हैं तथापि इन प्रत्ययों के सम्बन्ध में वाऽसरूपविधि का निषेध न करने के कारण 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' सूत्र से इस असरूप उत्सर्ग घञ् का बाध इन दोनों प्रत्ययों से वैकल्पिक होगा। परिणाम यह होगा कि इन दोनों प्रत्ययों के विषय में घञ् प्रत्यय भी होने लगेगा, जिससे 'हासम्' यह अनिष्ट रूप बनने लगेगा। इसी प्रकार 'इच्छति भोक्तुम्' इस प्रयोग में 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' इस सूत्र से समानकर्तृक और इच्छार्थक धातु के उपपद में रहने पर विहित तुमुन् प्रत्यय के विषय में 'इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ' इस सामान्य सूत्र से विहित लिङ् और लोट् भी होने लगेंगे।

इसी प्रकार 'ईषत्पानः सोमो भवता' यहाँ 'ईषद्दुःसुषु' इस सूत्र से विहित खल् प्रत्यय अपने अपवादभूत युच् प्रत्यय जो 'आतो युच्' से विहित होता है, उसके विषय में उक्त प्रयोग में होने लगेगा। इन सब दोषों के वारण के लिये यह परिभाषा स्वीकृत की गई—

क्तल्युट्तुमुन्खलर्थेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति ॥ ६९ ॥

क्त, ल्युट्, तुमुन् और खलर्थ प्रत्ययों के विषय में वाऽसरूप विधि नहीं होती है। अर्थात् वाऽसरूप सूत्र के द्वारा इन स्थलों पर असरूप प्रत्यय का वैकल्पिक बाध न होकर नित्य ही बाध होता है। इस प्रकार उपर्युक्त सारे दोष दूर हो जाते हैं।

इदं च वाऽसरूपविधेरनित्यत्वात् सिद्धम्। तदनित्यत्वे ज्ञापकं च 'अर्हे कृत्यतृचश्च' (३-३-१६९) इति। तत्र हि चकारसमुच्चितलिङा कृत्यतृचो बाधो मा भूदिति कृत्यतृज्ग्रहणं क्रियत इत्यन्यत्र विस्तरः। वाऽसरूपसूत्रे भाष्ये स्पष्टैषा ॥ ६९ ॥

यह परिभाषा 'वाऽसरूप सूत्र को अनित्य मानने से सिद्ध है। इसके अनित्यत्व में प्रमाण 'अर्हे कृत्यतृचश्च' इस सूत्र में किया गया कृत्य और तृच् का ग्रहण है। इनमें कृत्य प्रत्यय 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' इस सूत्र से सामान्यतया भाव अर्थ में

विहित हैं और तृच् प्रत्यय 'कर्तरिकृत्' सूत्र से सामान्यतया कर्ता अर्थ में विहित है। इन दोनों प्रत्ययों का 'अर्ह' रूप विशेष अर्थ में विहित लिङ् से बाध न होने लगे इसलिये इस सूत्र में कृत्य और तृच् का ग्रहण किया गया है। इस सूत्र में चकार के द्वारा लिङ् का समुच्चय होता है, यह बात ध्यान में रखनी चाहिये। इस प्रकार अर्ह अर्थ में 'भवान् कन्यां वहेत्' 'भवता कन्या वोढव्या' 'भवान् कन्याया वोढा' ये तीनों प्रयोग होते हैं।

यदि वाऽसरूपविधि नित्य होती तो उक्त सूत्र में कृत्य और तृच् के ग्रहण के विना भी, अपवाद लिङ् के द्वारा कृत्य और तृच् का वैकल्पिक बाध होने के कारण उनका भी समावेश अर्ह अर्थ में स्वयं सिद्ध है। ऐसी स्थिति में कृत्य तृच् ग्रहण व्यर्थ होकर इस वाऽसरूपविधि की अनित्यता का ज्ञापन करता है। वाऽसरूप विधि की अनित्यता का तात्पर्य यह है कि इसके द्वारा असरूप अपवाद से अपने उत्सर्ग का वैकल्पिक बाध अनित्य है, अर्थात् यह बाध कहीं-कहीं नित्य भी होता है। इसका फल यह हुआ कि लिङ् के द्वारा कृत्य और तृच् का नित्यबाध हो जाता, इसलिये कत्य तृच् ग्रहण की सार्थकता हो गई। इस प्रकार इस सूत्र की अनित्यता से यह परिभाषा सिद्ध होती है। वाऽसरूप सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है।

यहाँ यह बात विशेषरूप से ध्यातव्य है कि जब वाऽसरूपविधि अनित्य सिद्ध हो जाती है तो जिस प्रकार इसकी अनित्यता से प्रस्तुत परिभाषा सिद्ध होती है, उसी प्रकार इससे पूर्व की परिभाषा तथा इसके आगे की परिभाषा भी उसकी अनित्यता से ही सिद्ध है। ऐसी स्थिति में उनका पृथक् निरूपण प्रपञ्चार्थ ही है ॥६९॥

ननु 'श्वः पक्ते'त्यत्र वासरूपविधिना ऌडपि प्राप्नोति, कृत आदेशे वैरूप्यादत आह—

वाऽसरूपविधि के प्रसंग में दूसरी शंका करते हुए कह रहे हैं कि—'श्वः पक्ता' यह जो 'अनद्यतने लुट्' का विषय है वहाँ वाऽसरूपविधि को द्वारा 'लृट् च' सूत्र से भविष्यत् सामान्य में विहित लृट् लकार भी होना चाहिये। यदि कहा जाय कि 'नानुबन्धकृतमसारूप्यम्' इस परिभाषा के कारण लुट् और लृट् का वैरूप्य ही नहीं है, ऐसी स्थिति में वाऽसरूपसूत्र की प्रवृत्ति यहाँ किस प्रकार होगी, तो इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि यद्यपि लुट् और लृट् का स्वतः वैरूप्य नहीं है तथापि उनके स्थान पर जो डा आदि आदेश होते हैं उनका तो वैरूप्य है ही। इस प्रकार आदेश के वैरूप्य का स्थानी लकार में आरोप करके लुट् के विषय में लृट् लकार होना चाहिये। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा वनाई गई—

लादेशेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति ॥ ७० ॥

लादेश स्थल में वाऽसरूपविधि नहीं होती है।

इसका फल यह हुआ कि लुट् के द्वारा लृट् का नित्य ही बाध हुआ, जिससे लुट् के विषय में लृट् की आपत्ति नहीं होता है।

आदेशकृतवैरूप्यवत्सु लकारेषु स नास्तीत्यर्थः। अत्र च 'हशश्वतोर्लङ् च' (३–२–११६) इति लङ्विधानं ज्ञापकम्। अन्यथा 'परोक्षे लिट्' (३–१–११५) इति लिटा लङः समावेशोऽसारूप्यात्सिद्ध इति किं लङ्-विधानेन ? शत्रादिभिस्तिङां समावेशार्थं शतृविधायके विभाषाग्रहणानुवृत्तिः 'लिटः कानज्वा' (३–३–१०६) इति वाग्रहणं च कृतम्। तज्ज्ञापयति वासरूपसूत्रेऽपवाद आदेशत्वानाक्रान्तः प्रत्यय एव गृह्यत इति कैयटादौ ध्वनितम्। तत्फलं तु सदादिभ्यो भूतसामान्ये लिटा क्वसुरेव, न तु पक्षे तिङ् इति बोध्यम् ॥ ७० ॥

प्रस्तुत परिभाषा में जो 'लादेशेषु' यह पद आया है उसमें यदि 'लश्चासावादेशश्च लादेशस्तेषु' इस प्रकार कर्मधारय समास किया जाय तो इसका अर्थ होगा—लकार रूपी जो आदेश, वहाँ वाऽसरूपविधि नहीं होती है। किन्तु 'नानुबन्धकृतमसारूप्यम्' इस परिभाषा के कारण लुट् और लृट् का असारूप्य ही नहीं है। ऐसी स्थिति में लकार रूपी आदेश में असारूप्य न होने के कारण कर्मधारय समास वाले पक्ष में इस परिभाषा का कोई औचित्य नहीं रह जाता। यदि 'लस्य आदेशेषु' इस प्रकार का षष्ठी तत्पुरुष किया जाय तो लादेशों का परस्पर उत्सर्गत्व और अपवादत्व का अभाव होने के कारण फिर भी इस परिभाषा की उपयोगिता नहीं रह जाती। इसलिये—यहाँ आदेश पद को 'आदेशकृतवैरूप्यवत्' में लाक्षणिक मान कर 'आदेश कृत वैरूप्यवान् लकारों में वाऽसरूपविधि नहीं होती, ऐसा परिभाषार्थ किया जाता है।

'हशश्वतोर्लङ् च' इस सूत्र से लङ् का विधान इस परिभाषा में ज्ञापक है। इसकी ज्ञापकता इस प्रकार होती है—'अनद्यतने लङ्' सूत्र से अनद्यतन भूत अर्थ में लङ् लकार होता है। इस लङ् का बाधक परोक्ष अनद्यतन भूत अर्थ में 'परोक्षे लिट्' सूत्र से विधेय लिट् लकार होता है। इस लिट् के विषय में 'हशश्वतोर्लङ् च' सूत्र से पुनः लङ् की क्या आवश्यकता है क्योंकि लादेश विधि में यदि वासरूप विधि है तो लिट् के द्वारा लङ् का विकल्प से ही होता, इस प्रकार लिट् के विषय में लङ् लकार भी पक्ष में हो ही सकता था। ऐसी स्थिति में 'हशश्वतोर्लङ् च' सूत्र से लङ् विधान करना व्यर्थ होता है और व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता

है। इस परिभाषा के स्वीकृत हो जाने पर आदेशकृत वैरूप्यवान् लकारों में वाऽस-रूपविधि के न होने के कारण लिट् से लङ् का बाध नित्य ही होगा, इसलिये लङ्-विधान सार्थक होता है।

अब यहाँ यह विचार किया जा रहा है कि लकारों का वैरूप्य न होने के कारण आदेश पद का अर्थ आदेशकृत वैरूप्यवान् लकार किया गया है, किन्तु इससे अच्छा तो यह होता कि लकारों में जो उत्सर्गापवादत्व है उसे उनके स्थान पर किये गये आदेशों में आरोप करके 'लकार के स्थान पर जो आदेश, उनमें वाऽसरूपविधि नहीं होती ऐसा परिभाषार्थ किया जाता। उपर्युक्त अर्थ में लक्षणाश्रयण आदि क्लिष्ट कल्पना की अपेक्षा इसी अर्थ में लाघव है। इस प्रकार की आशंका के उत्तर में ग्रन्थकार लिख रहे हैं 'शत्रादिभिः' इत्यादि। इसका तात्पर्य यह है कि—'लटः शतृशानचौ' इस सूत्र के भाष्य में 'पचति' इत्यादि प्रयोगों में अपवाद शतृ आदि के द्वारा तिङ् के बाध की शंका को ध्यान में रखकर भाष्यकार ने 'नन्वोर्विभाषा' सूत्र से विभाषा पद की अनुवृत्ति करके प्रथमासामानाधिकरण में 'पचन् और पचति' इन वैकल्पिकरूपों की सिद्धि की और 'अप्रथमासमानाधिकरणे' ऐसा पदच्छेद करके ऐसे स्थल पर नित्य शतृ आदि की व्यवस्था की है।

सूत्रकार ने भी 'लिटः कानज् वा' इस सूत्र में वा ग्रहण करके लिट् के स्थान पर 'कानज्' आदेश का वैकल्पिक विधान किया है। यदि आदेशों में वाऽसरूपविधि की प्रवृत्ति होती तो ये उपर्युक्त सारी व्यवस्थाएँ (विकल्प की व्यवस्थाएँ) वाऽसरूप सूत्र से ही सिद्ध हो जाती। ऐसी स्थिति में विभाषा की अनुवृत्ति और वा ग्रहण ये सब व्यर्थ होकर इस बात का ज्ञापन करते हैं कि वाऽसरूप सूत्र में जो अपवाद है वह आदेशत्व से अनाक्रान्त ही लिया जायेगा। अर्थात् आदेशरूपी अपवाद में 'वाऽसरूप' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती हैं किन्तु आदेशत्वानाक्रान्त अपवाद प्रत्यय में ही यह सूत्र प्रवृत्त होता है। यह बात कैयादि ग्रन्थों में ध्वनित है।

इसका फल यह हुआ कि 'भाषायां सदवसश्रुवः' इस सूत्र से भूतसामान्य में लिट् का विधान कर उसके स्थान पर जो नित्य क्वसु आदेश करते हैं यह क्वसु प्रत्यय विशेषविहित होने के कारण तिङ् का अपवाद होकर उसे नित्य ही बाधता है। वाऽसरूप सूत्र में आदेशत्वानाक्रान्त अपवाद न लेकर यदि अपवाद सामान्य का ग्रहण करते तो यह क्वसु तिङ् प्रत्यय का असरूप अपवाद होने के कारण उन्हें विकल्प से बाधता। इसका फल होता कि यहाँ भी पक्ष तिङ् होने लगता। प्रस्तुत ज्ञापन से वाऽसरूप सूत्र की यहाँ प्रवृत्ति न होने के कारण क्वसु के द्वारा तिङ् का नित्य बाध होने से पक्ष में यहाँ तिङ् नहीं होता है। इसलिये भूत सामान्य में 'निषे-दिवान्' यही रूप बनता है। 'निषसाद' यह रूप तो अनद्यतन परोक्ष भूत में ही बनता है॥ ७०॥

ननु 'ङमो ह्रस्वात्' (८–३–३२) इत्यादौ ङमः परस्याचोऽचि परतो ङम इति वेति सन्देहः स्यादत आह—

अब पञ्चमीनिर्देश की बलवत्ता का निरूपण करते हुए कह रहे हैं कि 'ङमो ह्रस्वादचि' इस सूत्र में 'ङमः' यह पञ्चम्यन्त पद है। इसे देखकर यहाँ 'तस्मादित्युत्तरस्य' सूत्र की प्राप्ति है। इस सूत्र के द्वारा 'अचि' इस सप्तम्यन्त पद को षष्ठ्यन्त कर दिया जायेगा, इसलिये ङम् से अव्यवहितोत्तरत्व विशिष्ट अच् को ङमुट् हो ऐसे सूत्रार्थ की प्राप्ति हो रही है। दूसरी ओर 'अचि' इस सप्तम्यन्तपद के आधार पर 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे' सूत्र की प्राप्ति हो रही है। इसके द्वारा 'ङमः' यह पञ्चम्यन्तपद षष्ठ्यन्त कर दिया जायेगा। ऐसी स्थिति में अजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट ङम् को ङमुट् होता है, ऐसा सूत्रार्थ होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि दोनों परिभाषाओं की प्रवृत्ति के कारण ङम् से पर में रहने वाले अच् को ङमुट् हो या, अच् पर में रहने पर ङम् को ङमुट् हो इस प्रकार का जब सन्देह उत्पन्न हुआ तो यह परिभाषा बनाई गई—

उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् ॥ ७१ ॥

जहाँ उभय (पञ्चम्यन्त और सप्तम्यन्त इन दोनों) का निर्देश किया गया हो वहाँ पञ्चमीनिर्देश बलवान् होता है।

अचीति सप्तमीनिर्देशस्य 'मय उञः' (८–३–३३) इत्युत्तरत्र चरितार्थात् पञ्चमीनिर्देशोऽनवकाश इति 'तस्मादित्युत्तरस्य' (१–१–६७) इत्यस्यैव प्रवृत्तिः।

यत्र तु 'डः सि धुट्' (८–३–२९) इत्यादावुभयोरप्यचरितार्थं तत्र 'तस्मिन्निति' (१–१–६६) सूत्रापेक्षया 'तस्मादित्युत्तरस्य' (१–१–६७) इत्यस्य परत्वात्तेनैव व्यवस्था। एवमुभयोश्चरितार्थेऽपि। यथा 'आमि सर्वनाम्नः' (७–१–५२) इत्यादौ। तत्रामीति सप्तमी 'त्रेस्त्रयः' (७–१–५३) इत्यत्र चरितार्था। आदिति पञ्चमी 'आज्जसेरसुक्' (७–१–५०) इत्यत्र चरितार्थेति स्पष्टं 'तस्मिन्' इति सूत्रे भाष्ये कैयटे च ॥ ७१ ॥

'ङमो ह्रस्वादचि' इस सूत्र में जो 'अचि' यह सप्तमीनिर्देश है, वह 'मय उञो वो वा' इस सूत्र में अजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट उञ् के स्थान पर 'व' आदेश हो, ऐसा अर्थ कराकर चरितार्थ है। इसी प्रकार 'इको यणचि' में भी 'अचि' की सप्तमी अव्यवहितांश और पूर्वांश की उपस्थिति कराकर चरितार्थ है। इस प्रकार यहाँ 'ङमः' इस पद में किया गया पञ्चमीनिर्देश अनवकाश हो रहा है, इसलिये अनवकाशत्वात् सप्तमीनिर्देश को बाधकर यहाँ 'तस्मादित्युत्तरस्य' इस सूत्र की ही प्रवृत्ति

होती है। फलस्वरूप पञ्चमी निर्दिश्यमान 'ङमः' यह पद 'अचि' इस सप्तमीनिर्दिश्यमान के षष्ठ्यन्त का प्रकल्पक होता है। इसलिये ङम् से पर में रहने वाले अच् को यहाँ ङमुट् का आगम होता है, ऐसा सूत्रार्थ होता है। यहाँ पर अनवकाशत्वात् व्यवस्था की है। जहाँ पर 'ङः सि धुट्' इत्यादि स्थलों में पञ्चमीनिर्देश और सप्तमीनिर्देश दोनों अचरितार्थ हैं ऐसे स्थलों पर 'तस्मिन्निति' सूत्र की अपेक्षया 'तस्मादित्युत्तरस्य' इस सूत्र के पर होने के कारण परत्वात् ही व्यवस्था की जाती है। इसलिये यहाँ पञ्चमीनिर्देश सप्तमी का षष्ठी प्रकल्पक होता है, जिससे 'ङात् परस्य सस्य धुड् वा' ऐसा अर्थ किया जाता है।

इसी प्रकार जहाँ दोनों निर्देश चरितार्थ हों, वहाँ भी परत्वात् ही व्यवस्था की जाती है। जैसे 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' यहाँ 'आत्' की अनुवृत्ति होती है। यह 'आत्' पञ्चम्यन्त पद है और यह 'आज्जसेरसुक्' सूत्र में सावकाश है। 'आमि' जो यह सप्तम्यन्तपद है यह 'त्रेस्त्रयः' सूत्र में सावकाश है, क्योंकि आम् से अव्यवहित पूर्वत्व विशिष्ट 'त्रि' शब्द को त्रयादेश हो ऐसा करने से यहाँ सप्तमीनिर्देश की चरितार्थता स्पष्ट है। इस प्रकार अन्यत्रान्यत्र लब्धावकाश दोनों निर्देश 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' सूत्र में जब एक साथ आते हैं तब यहाँ परत्वात् ही व्यवस्था होती है। अर्थात् पञ्चमीनिर्देश बलवान् होकर 'आमि' इस सप्तम्यन्त का षष्ठीप्रकल्पक होता है।

निष्कर्ष यह है कि उभयनिर्देश में जहाँ कोई निर्देश अनवकाश हो, वहाँ अनवकाशत्वात् व्यवस्था करनी चाहिये। जैसे—'शि तुक्' यहाँ सप्तमीनिर्देश के अनवकाश होने के कारण अनवकाशत्वात् व्यवस्था की जाती है। इसलिये 'शे परे नान्तस्य तुक्' ऐसा अर्थ किया जाता है। दोनों निर्देशों की चरितार्थता या दोनों की अचरितार्थता में 'परत्वात्' व्यवस्था होती है, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है। यह बात 'तस्मिन्निति' सूत्र के भाष्य और कैयट स्पष्ट है ॥ ७१ ॥

इति बाधबीजनामकं द्वितीयं प्रकरणम्।

इस प्रकार बाधबीज नामक द्वितीय प्रकरण सम्पूर्ण हुआ।

इस प्रकार परिभाषेन्दुशेखर के द्वितीय प्रकरण की विश्वनाथ मिश्र द्वारा की गयी 'सुबोधिनी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

अथ शास्त्रशेषनामकं तृतीयं प्रकरणम्

अब शास्त्रशेष नामक तृतीय प्रकरण का आरम्भ कर रहे हैं।

उक्त प्रकरणों में जो परिभाषाएँ अवशिष्ट रह गयी हैं उनका निरूपण इस प्रकरण में करते हुए लिख रहे हैं—

ननु 'अतः कृकमि' (८-३-४६) इति सत्वमयस्कुम्भीत्यत्र न स्यात्, कुम्भशब्दस्यैवोपादानादत आह—

यहाँ यह विचार प्रस्तुत है कि 'अतः कृकमिकंसकुम्भ' इत्यादि सूत्र से विधीयमान विसर्ग के स्थान पर सकार 'अयः + कुम्भी' इस स्थिति में नहीं हो सकता क्योंकि उस सूत्र में कुम्भ शब्द का ही ग्रहण किया गया है, न कि कुम्भी शब्द का। यदि कहा जाय कि एकदेशविकृतन्याय से कुम्भी को कुम्भ मानकर उक्त सूत्र की प्रवृत्ति हो सकती है, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ एकदेश की विकृति है ही नहीं। ऐसी स्थिति में 'अयस्कुम्भी' यह प्रयोग नहीं बन सकेगा। इस शंका को ध्यान में रखकर यह परिभाषा बनाई गई—

प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ॥ ७२ ॥

प्रातिपदिकमात्रबोधक पदघटितशास्त्र में लिङ्गबोधकप्रत्ययविशिष्ट का भी ग्रहण किया जाता है।

प्रस्तुत में प्रातिपदिकमात्र बोधकपद कुम्भ पद है, एतद् घटितशास्त्र 'अतः कृकमि' इत्यादि सूत्र है, इस सूत्र में लिङ्गबोधक प्रत्यय ङीप् से घटित 'कुम्भी' का भी ग्रहण हो जायेगा, जिससे उक्त शंका का निराकरण हो जाता है।

सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा प्रातिपदिकबोधकशब्दग्रहणे सति लिङ्गबोधकप्रत्ययविशिष्टस्यापि तेन ग्रहणं बोध्यम्। अपिना केवलस्यापीत्यर्थः।

अस्याश्च ज्ञापकं समानाधिकरणाधिकारस्थे 'कुमारः श्रमणादिभिः' (२-१-७०) इति सूत्रे स्त्रीलिङ्गश्रमणादिशब्दपाठः। स्त्रीप्रत्ययविशिष्टश्रमणादिभिश्च कुमारीशब्दस्यैव सामानाधिकरण्यं न तु कुमारशब्दस्येति तदेतज्ज्ञापकम्।

सामान्य रूप से अर्थात् प्रातिपदिकत्वरूप सामान्यधर्मप्रकारक उपस्थिति का जनक प्रातिपदिक शब्द का अथवा विशेषरूप से प्रातिपदिकत्वव्याप्य कुम्भादि शब्दों का ग्रहण करने पर उनसे लिंगबोधक प्रत्यय टाप्, ङीप् आदि से विशिष्ट = युक्त का भी ग्रहण किया जाता है। अपि शब्द के कारण केवल अर्थात् लिंगबोधक प्रत्यय से

रहित केवल प्रातिपदिक और प्रातिपदिकत्व व्याप्य का भी ग्रहण होता है। इसीलिये 'ङ्याप् प्रातिपदिकात्' सूत्र में केवल प्रातिपदिक सामान्य ग्रहण के द्वारा 'रमा, गौरी' आदि प्रयोगों की सिद्धि करके ङ्याप् ग्रहण को व्यर्थ किया गया है। प्रातिपदिक-विशेष का उदाहरण कुम्भ के द्वारा कुम्भी का ग्रहण है।

सामानाधिकरण के अधिकार में 'कुमारः श्रमणादिभिः' सूत्र में 'श्रमणा' यह स्त्रीलिङ्ग शब्द का पाठ इस परिभाषा में ज्ञापक है। स्त्री प्रत्यय से विशिष्ट श्रमणादि शब्दों का सामानाधिकरण्य स्त्री प्रत्ययान्त कुमारी शब्द के साथ ही हो सकता है, न कि कुमार शब्द के साथ। ऐसी स्थिति में उक्त सूत्र में किया गया 'कुमार' शब्द का ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है। फल यह हुआ कि कुमार शब्द से कुमारी शब्द का ग्रहण हो जाता है, जिससे कुमारी श्रमणा=कुमारश्रमणा की सिद्धि होती है।

इयं च 'द्विषत्परयोः' (३-२-३९) इत्याद्युपपदविधौ, समासान्तविधौ, महदात्त्वे, ञ्नित्स्वरे राजस्वरे ब्राह्मणकुमारयोः, 'बहोर्नञ्वदुत्तरपद-भूम्नि' (६-२-१७५) इत्यादौ समाससङ्घातग्रहणेषु च न प्रवर्त्तत इति 'ङ्याप्'सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। विभक्तिनिमित्तकार्ये च नेत्यपि तत्रैव। तत्र समासान्तविधाववयवग्रहण एव न, समाससङ्घातग्रहणे तु प्रवर्त्तत एव, स्वरविधावेव समाससङ्घातग्रहणे तत्र दोषोक्तेः। 'बहुव्रीहेरूधसः' (४-१-२५) इति सूत्रस्थभाष्याच्च।

एतावत्सु एवानित्यत्वादप्रवृत्तिः, दोषाः खल्वपि साकल्येन परिगणिता इति भाष्योक्तेः।

इस परिभाषा के आश्रयण करने पर जहाँ-जहाँ दोष आता है उन स्थलों की परिगणना 'ङ्याप् प्रातिपदिकात्' सूत्र के भाष्य में कर दी गई है। उसके अनुसार उन स्थलों में इस परिभाषा की अप्रवृत्ति होती है इस बात को दिखाते हुए लिख रहे हैं कि—यह परिभाषा 'द्विषत्परयोस्तापेः' इस सूत्र से उपपदविधि में विधेय खच् प्रत्यय के विषय में नहीं लगती है। इसका फल यह होता है कि 'द्विषन्तपः' की भाँति 'द्विषतीतापः' इस प्रयोग में खच् प्रत्यय नहीं होता है। समासान्तविधि में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। इसका फल यह है कि 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' सूत्र से विधेय समासान्त टच् प्रत्यय 'मद्रराजः' की भाँति 'मद्राणां राज्ञी=मद्रराज्ञी' इस प्रयोग में नहीं हुआ। यदि यहाँ टच् प्रत्यय हो जाता तो 'भस्याढे तद्धिते' से पुंवद्भाव और नकार का लोप करके 'मद्रराज्ञी' ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगता। इसी प्रकार 'आन्महतः' सूत्र से विधेय आत्व विधि में भी इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। परिणाम यह होता है कि 'महाप्रियः' की भाँति महती प्रिया यस्य स 'महती-

प्रियः' इस प्रयोग में आत्व नहीं होता है। इसी प्रकार 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' सूत्र से विधेय आद्युदात्तस्वरविधि में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। फल यह होता है कि 'दक्षस्यापत्यं पुमान् दाक्षिः' में उदात्तस्वर की भाँति 'दक्षस्यापत्यम् स्त्री दाक्षी' इस स्त्री प्रत्ययान्त रूप में उदात्तस्वर नहीं होता।

ब्राह्मण और कुमार शब्द पर में रहने पर 'राजा च' सूत्र से विधेय पूर्वपद प्रकृतिस्वरविधि में भी इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसका फल यह होता है कि जिस प्रकार यह स्वर 'राजब्राह्मणः' 'राजकुमारः' इन प्रयोगों में होता है उस प्रकार 'राजब्राह्मणी' 'राजकुमारी' इन प्रयोगों में नहीं होता है।

इसी प्रकार समासरूपी संघात का जहाँ ग्रहण किया गया है ऐसे 'बहोर्नञवदुत्तरपदभूम्नि' इस सूत्र से विधेय स्वरविधि में यह परिभाषा नहीं लगती है। उत्तरपदार्थ जहाँ भूयस्त्व में वर्तमान है ऐसे बहुशब्द से पर में रहने वाले पद का नञ् की भाँति स्वर होता है यह प्रस्तुत सूत्र का अर्थ है। 'बहवो गोमन्तो यस्मिन् असौ बहुगोमान्' इस प्रयोग में तो यह स्वर होता है किन्तु 'बहवो गोमन्तो वर्तन्ते अस्याम्' इति 'बहुगोमती' इस प्रयोग में यह स्वर (अन्तोदात्त) नहीं होता क्योंकि यहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है।

यहाँ 'समाससंघातग्रहणेषु' यह इस परिभाषा का स्वतन्त्र अप्रवृत्तिस्थल नहीं है, किन्तु 'बहोर्नञवत्' से इसका अन्वय होता है। इसलिये केवल मात्र प्रस्तुत सूत्र से क्रियमाण नञ्वत् स्वरविधि में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। इससे अन्यत्र तो समाससंघातग्रहण में इसकी प्रवृत्ति होती ही है। इसका फल यह होता है कि 'कुसूलकूपकुम्भशालं बिले' इस सूत्र से विधीयमान अन्तोदात्तत्व जैसे—'कुसूलबिलम्' में होता है उसी प्रकार 'कुसूलीबिलम्' प्रयोग में भी होता है।

विभक्तिनिमित्तककार्य में भी इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसका फल यह होता है कि 'उगिदचाम्' सूत्र से विधेय नुम् 'गोमान्' की भाँति 'गोमती' इस प्रयोग में नहीं होता है। यह बात भी 'तत्रैव=ङ्याप्प्रातिपदिकात्' सूत्र के भाष्य में ही कही गई है।

समासान्त विधि में जो इस परिभाषा की अप्रवृत्ति की बात कही गई है—उसका तात्पर्य यह है कि समासान्त विधि की कर्त्तव्यता में इस परिभाषा के द्वारा समासावयव पर्याप्त जो राजत्व आदि धर्म हैं उनका आनयन नहीं होता। जैसे—'मद्रराज्ञी' घटक 'राज्ञी' इस अवयव में राजत्व का अतिदेश नहीं हुआ। किन्तु समाससंघातग्रहण में तो इसकी प्रवृत्ति होती ही है। इसका तात्पर्य यह है कि समासान्तविधि की कर्त्तव्यता में समासरूप समुदायपर्याप्त जो बहुव्रीहित्व आदि धर्म

है उनका आनयन तो यह परिभाषा करती ही है। क्योंकि संघातग्रहण में स्वरविधि में ही दोष का कथन किया गया है।

'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' इस सूत्र के भाष्य में 'ऊधः शब्दान्तसमुदाय' 'कुण्डोधस्' में रहने वाले बहुव्रीहित्व का इस परिभाषा के द्वारा 'कुण्डोध्नी' इस ङ्यन्त में आनयन करके भाष्यकार ने कप् की आपत्ति की है। इससे सिद्ध होता है कि समासान्त विधि यदि कर्त्तव्य हो तो समाससंघात का धर्म इस परिभाषा के द्वारा आ सकता है, किन्तु समासावयव का धर्म नहीं आ सकता। जैसे—'मद्रराज्ञी' के राज्ञी में राजत्व धर्म नहीं आया है।

भाष्यकार ने कहा है कि इस परिभाषा को मानने पर जितने दोष पड़ते हैं वे सारे परिगणित कर दिये गये हैं। अर्थात् उन दोषों का नामोल्लेख करके गणना कर दी गई है। इन्हीं दोषस्थलों में इस परिभाषा की अप्रवृत्ति की जाती है। परिभाषा की अप्रवृत्ति का उपाय यह है कि इसे अनित्य मान लिया जाय। अनित्य होने के कारण जब परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती तो दोष सारे दूर हो जाते हैं जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है।

नन्वेवं 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' (४-१-२५) इति सूत्रस्थभाष्यासङ्गतिः। तत्र हि कुण्डोध्नीत्यत्र 'नद्यृतश्च' (५-४-१५३) इति कबापादितो नद्यन्त-बहुव्रीहेरित्यर्थात्। नद्यन्तस्य बहुव्रीहित्वाभावात्तदसङ्गतिः। नद्यन्तानां यः समास इत्यर्थेन च परिहृतम्। नद्यन्तप्रकृतिकसुबन्तोत्तरपदकः समास इति चेत्, न। अनया परिभाषया स्त्रीप्रत्ययसमभिव्याहारे तद्रहिते दृष्टानां प्रातिपदिकत्वतद्व्याप्यधर्माणां विशिष्टेऽपि पर्याप्तत्वमतिदिश्यत इत्याशयात् ॥ ७२ ॥

एवम्=इस प्रकार इस परिभाषा से लिंगबोधक प्रत्ययविशिष्ट में प्रातिपदिकत्व और तद्व्याप्य कुम्भादि 'आनुपूर्वी' का अतिदेश होता है यदि ऐसा ही इसका अर्थ स्वीकार किया जाय तो 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' इस सूत्र के भाष्य की असंगति हो जायेगी। भाष्यकार ने इस सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर 'कुण्डोध्नी' इस प्रयोग में इस परिभाषा के द्वारा बहुव्रीहित्व लाकर 'नद्यृतश्च' इस सूत्र से कप् की आपत्ति की है। नद्यन्तबहुव्रीहि से कप् होता है, यह इस सूत्र का अर्थ है। 'कुण्डोध्नी' शब्द नद्यन्त तो है किन्तु इसमें बहुव्रीहित्व नहीं है, इसलिये इस परिभाषा से कुण्डोधस् वृत्ति बहुव्रीहित्व लाकर कप् की आपत्ति की गई है। किन्तु प्रश्न यह है कि इस परिभाषा से तो कुम्भ आदि आनुपूर्वी का अतिदेश किया जाता है; ऐसी स्थिति में भाष्यकार ने बहुव्रीहित्व का अतिदेश कैसे किया, क्योंकि बहुव्रीहित्व तो कोई आनुपूर्वी नहीं है। इस प्रकार बहुव्रीहित्व का अतिदेश न हो सकने के कारण, उसे

लाकर यहाँ कप् की आपत्ति करना, और नद्यन्त शब्दों का जो बहुव्रीहि समास वहाँ कप् होता है। अर्थात् जहाँ बहुव्रीहि समास के अलौकिक विग्रह वाक्य में ही उत्तर-पद नद्यन्त प्रकृतिक सुबन्त हो वहाँ कप् होता है। प्रस्तुत स्थल में 'उधस्+सु' यह उत्तरपद है जो नद्यन्त नहीं है। इस प्रकार दोष का वारण करना ये सारी बातें असंगत हो रही हैं।

इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि—स्त्रीप्रत्यय से रहित जो प्रातिपदिक उनमें देखे गये प्रातिपदिकत्व, और प्रातिपदिकत्व व्याप्य धर्मों का अतिदेश इस परिभाषा के द्वारा स्त्रीप्रत्यय विशिष्ट में किया जाता है। बहुव्रीहित्व भी प्रातिपदिकत्व व्याप्यधर्म है, इसलिये उसका भी अतिदेश परिभाषा से संभव है। इस प्रकार भाष्यकार द्वारा किया गया शंका समाधान संगत होता है॥ ७२॥

नन्वेवं 'यूनः पश्ये'त्यत्रेव 'युवतीः पश्ये'त्यत्रापि 'श्वयुव' (६-४-१३३) इति सम्प्रसारणं स्यादत आह—

एवम्='प्रातिपदिकग्रहणे' इस परिभाषा को स्वीकार करने पर यह दोष उपस्थित हो रहा है कि 'युवतीः पश्य' इस वाक्यघटक 'युवतीः' यह पद जो तिप्रत्ययान्त युवति शब्द का द्वितीया के बहुवचन में बनता है, यहाँ 'युवति' शब्द में इस परिभाषा के द्वारा युवन् शब्दत्व का अतिदेश करके 'यूनः' रूप की भाँति 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' सूत्र से सम्प्रसारण क्यों नहीं होता? इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

विभक्तौ लिङ्गविशिष्टग्रहणम्॥ ७३॥

विभक्तिसम्बन्धी कार्य को करने में प्रातिपादिकग्रहण में लिङ्गविशिष्ट का ग्रहण नहीं होता है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि 'युवतीः' इस रूप में विभक्तिनिमित्तक कार्य सम्प्रसारण नहीं हुआ, जिससे उक्त रूप की सिद्धि निर्बाध होती है।

यहाँ विभक्तिसम्बन्धी कार्य से विभक्ति उद्देश्यक तथा विभक्तिनिमित्तक सभी प्रकार के विभक्तिसम्बन्धी कार्य लिये जाते हैं।

स्पष्टा चेयं 'युवोरनाकौ' (७-१-१) इत्यत्र भाष्ये। घटघटीग्रहणेन लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया अनित्यत्वात्तन्मूलंषेत्यन्ये॥ ७३॥

'युवोरनाकौ' इस सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है। भाष्यकार ने वहाँ कहा है कि 'विभक्तौ लिङ्गविशिष्टग्रहणं न इत्येषा परिभाषा कर्त्तव्या'। ऐसा कह कर भाष्यकार ने इसके और दूसरे फलों का प्रदर्शन किया है, किन्तु इसमें कोई ज्ञापक नहीं दिया है। इससे सिद्ध होता है कि यह परिभाषा वाचनिक है।

कुछ अन्य लोगों का कहना है कि 'शक्तिलाङ्गलाङ्कुशतोमरयष्टिघटघटी-धनुष्णुग्रहेरुपसंख्यानम्' इस वार्तिक में घट और घटी इन दोनों का ग्रहण किया गया है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जब 'प्रातिपदिकग्रहणे' यह परिभाषा है तब इसी से घटग्रहण से ही घटी का ग्रहण हो सकता था, तो पुनः यहाँ घटीग्रहण की क्या आवश्यकता है। इस प्रकार यहाँ किया हुआ घटीग्रहण व्यर्थ होकर लिङ्ग-विशिष्ट परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापन करता है। जब लिङ्गविशिष्टपरिभाषा अनित्य हो गई तो विभक्तिनिमित्तक कार्य में इसकी अप्रवृत्ति सुतराम् सिद्ध है।

इस प्रकार लिङ्गविशिष्ट परिभाषा के अनित्यत्वमूलक यह परिभाषा है, ऐसा कुछ लोगों का मत है॥ ७३॥

ननु 'तस्यापत्यम्' (४-१-९२) इत्येकवचननपुंसकाभ्यां निर्देशाद् 'गार्यो, गार्ग्यावि'त्याद्ययुक्तमत आह—

अब यहाँ यह विचार हो रहा है कि 'तस्यापत्यम्' सूत्र तत्सम्बन्धी एकत्व और नपुंसकत्वविशिष्ट अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय करता है क्योंकि इस सूत्र में 'अपत्यम्' जो यह निर्देश किया गया है वह एकवचनान्त और नपुंसकलिङ्ग है। ऐसी स्थिति में 'गर्गस्य अपत्यं गार्ग्यः' यह पुलिङ्ग युक्त रूप तथा 'गार्ग्यौ' यह पुंलिङ्ग तथा द्विवचन-विशिष्टरूप किस प्रकार सिद्ध हो सकते हैं। तस्मात् ये रूप अयुक्त है, ऐसी शंका होने पर परिभाषा आवश्यक हुई—

सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्॥ ७४॥

सूत्र में लिङ्ग और वचन अतन्त्र होता है अर्थात् अविवक्षित होता है। तात्पर्य यह है कि सूत्र में जिस लिङ्ग और वचन में कोई पद पढा गया है, वह लिङ्ग और वह वचन उस पद से विवक्षित नहीं होता है। इसका फल यह होता है कि अपत्य अर्थ में विहित यञ् प्रत्यय अपत्यत्वावच्छिन्न का बोधक होता है। इसलिये अपत्य रूपी विशेष्य जिस लिङ्ग और वचन का होता है वही लिङ्ग और वचन यञ् प्रत्य-यान्त के भी हो जाते हैं। इस प्रकार 'गार्ग्यः' और 'गार्ग्यौ' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि में कोई बाधा नहीं रह जाती।

'अर्द्धं नपुंसकम्' (२-२-२) इति नपुंसकग्रहणमस्या ज्ञापकम्। नित्य-नपुंसकत्वार्थं तु न तदित्यन्यत्र निरूपितम्।

धान्यपलालन्यायेन नान्तरीयकतया तयोरुपादानमिति 'तस्यापत्यम्' इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम्।

अत एव 'आकडार'सूत्रे एकेति चरितार्थमित्यन्यत्र विस्तरः॥ ७४॥

'अर्द्धं नपुंसकम्' इस सूत्र में किया गया 'नपुंसकग्रहण' इस परिभाषा का ज्ञापक है। यदि सूत्र में किया गया लिङ्ग और वचनग्रहण बिना यत्न के भी विवक्षित

होते तो उक्त सूत्र में नपुंसकग्रहण न करके केवल 'अर्द्धम्' ऐसा सूत्र कर देते तो नपुंसकत्व विशिष्ट पाठ से ही नपुंसकत्व का लाभ हो जाता, फिर सूत्र में नपुंसक ग्रहण की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार नपुंसकग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है। परिभाषा ज्ञापित होने पर 'अर्द्धम्' इस निर्देशमात्र से नपुंसकत्व का लाभ न हो सकने के कारण सूत्र में किया गया नपुंसकग्रहण स्वांश में चरितार्थ होता है।

यदि कहा जाय कि 'भित्तं शकलखण्डे वा पुंस्यर्धोऽर्धं समेंऽशके' इस कोश के अनुसार खण्डवाची अर्ध शब्द के पुंलिङ्ग होने के कारण उसकी व्यावृत्ति के लिये और नित्यनपुंसक अर्ध शब्द के ग्रहण के लिये सूत्र में नपुंसकग्रहण चरितार्थ है। ऐसी स्थिति में वह परिभाषा का ज्ञापक किस प्रकार हो सकता है ? तो इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि यहाँ किया गया नपुंसकग्रहण नित्यनपुंसक के ग्रहण के लिये नहीं है यह बात अन्यत्र=एओङ् सूत्र के भाष्य में निरूपित है। भाष्यकार ने वहाँ कहा है कि 'नैव लोके नान्यस्मिन् वेदेऽर्द्ध एकारोऽर्द्ध ओकारो वास्तीति'। यहाँ पर समांशवाची अर्ध शब्द का पुंलिङ्ग में प्रयोग करके भाष्यकार ने स्पष्ट कर दिया है कि समांशवाची अर्ध शब्द भी नित्यनपुंसक नहीं है। इसलिये उसके ग्रहण के लिये नपुंसकग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार नपुंसकग्रहण व्यर्थ होकर परिभाषा का ज्ञापक होता है।

वस्तुतस्तु—यह परिभाषा युक्तिसिद्ध है। जिस प्रकार कोई अन्न का इच्छुक व्यक्ति शालिकलाप (शालिसमूह) को तुष और पलाल सहित लाता है। तुष और पलाल सहित धान्य का लाना नान्तरीय (अनिवार्य) है, क्योंकि उसके बिना धान्य रहता नहीं। तुषपलाल सहित धान्य लाकर उसमें से धान्य का ग्रहण कर लेता है और तुषपलाल को अलग कर देता है। इसी प्रकार यहाँ नान्तरीय होने के कारण लिङ्ग और वचन का प्रयोग किया गया है, क्योंकि उसके बिना पद की सिद्धि नहीं हो सकती और बिना पद बने प्रातिपदिक मात्र का प्रयोग किया नहीं जा सकता। इसलिये नान्तरीयकतया लिङ्ग और वचन का प्रयोग करके पीछे उसकी अविवक्षा करना उचित ही है। यह बात 'तस्यापत्यम्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

पहले इस परिभाषा में नपुंसकग्रहण को ज्ञापक बता आये हैं; इस सम्बन्ध में किसी का कहना है कि नपुंसकग्रहण से लिंग की अविवक्षा में प्रमाण तो मिलता है, किन्तु वचन की अविवक्षा में कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार कहने वाले के मत का खण्डन करते हुए वचन की अविवक्षा में भी प्रमाण है, इस बात को दिखाते हुए कह रहे हैं कि अत एव=वचन की अविवक्षा होने से ही 'आकडारादेका संज्ञा' इस सूत्र में 'एका' इस पद की चरितार्थता होती है। यदि वचन की विवक्षा होती तो

प्रस्तुत सूत्र में 'संज्ञा' इस एकवचनान्त प्रयोग से ही एकत्व का लाभ हो जाता, तो ऐसी स्थिति में 'एका' ऐसा ग्रहण करना व्यर्थ ही हो जाता।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट होती है कि जहाँ नान्तरीयकतया लिङ्ग और वचन का प्रयोग किया गया हो वहाँ तो उनकी अविवक्षा होती है और जहाँ विशेष प्रयोजन की विवक्षा से लिङ्ग और वचन का प्रयोग किया जाता है वहाँ वे विवक्षित ही होते हैं ॥ ७४ ॥

ननु 'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेः' (३-१-१२) इत्यादौ विधीयमानः क्यङ्, क्व दिवा भृशा भवन्तीत्यत्रापि स्यादत आह—

लिङ्ग और संख्याविषयक परिभाषाओं के निरूपण के बाद उनके आश्रय द्रव्य से सम्बन्धित परिभाषा का आरम्भ करते हुए कह रहे हैं कि 'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेः' इस सूत्र से विधीयमान क्यङ् जिस प्रकार 'अभृशो भृशो भवति=भृशायते' इस प्रयोग में होता है वैसे ही 'क्व दिवा भृशा भवन्ति' अर्थात् 'रात्रौ ये भृशा बहवो नक्षत्रादयः समुपलभ्यन्ते ते दिवा क्व भवन्ति' इस अर्थ में भी भृश शब्द जो च्व्यन्त नहीं है, उससे क्यङ् प्रत्यय क्यों नहीं होता है ? अर्थात् च्विप्रत्ययान्त न होने के कारण उपर्युक्त भृशायते प्रयोग में क्यङ् हुआ है वैसे ही यहाँ भी क्यङ् होना चाहिये, इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः ॥ ७५ ॥

नञ् से युक्त और इव से युक्त जो पद होता है वह अपने से भिन्न और अपने सदृश अधिकरण=द्रव्य का बोधक होता है। जैसे—'अब्राह्मणमानय' इस वाक्य में 'अब्राह्मणम्' यह पद नञ्युक्त है इसलिये यहाँ ब्राह्मणभिन्न ब्राह्मणसदृश क्षत्रियादि का बोध होता है। 'चन्द्र इव' इस इवयुक्त चन्द्रपद से चन्द्रभिन्न चन्द्रसदृश मुख का बोध होता है। हि=क्योंकि इसी प्रकार अर्थ की गति=प्रतीति होती है। ऐसा शब्द-शक्ति के स्वभाव से होता है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि 'भृशादिभ्यः' सूत्र में 'अच्वेः' इस पर्युदास से च्व्यन्त सादृश्य अभूततद्भाव के आधार पर लिया गया, जिससे 'क्व दिवा भृशा भवन्ति' इस अर्थ में भृश से क्यङ् प्रत्यय नहीं हुआ, क्योंकि अभूततद्भाव अर्थ नहीं है।

नञ्युक्तमिवयुक्तं वा यत्किञ्चिद् दृश्यते तत्र तस्माद्भिन्ने तत्सदृशेऽधिकरणे द्रव्ये कार्यं विज्ञायते, हि यतस्तथार्थगतिरस्ति। न हि 'अब्राह्मणमानये'त्युक्ते लोष्ठमानीय कृती भवति। अतश्च्व्यन्तभिन्ने च्व्यन्तसदृशेऽभूततद्भावविषये क्यङ्डिति नोक्तदोषः।

नञ्युक्त और इवयुक्त जो कुछ देखा जाता है वहाँ का कार्य उससे भिन्न (नञिवयुक्त से भिन्न) और उसके सदृश अधिकरण=अर्थात् द्रव्य में होता है। क्योंकि लोक में ऐसे स्थलों पर तद्भिन्न तत्सदृशरूप अर्थ की अवगति होती है।

'अब्राह्मण को लाओ' ऐसा कहने पर ब्राह्मणभिन्न लोष्ट को लाकर कोई कृती नहीं होता। तात्पर्य यह है कि 'अब्राह्मण' शब्द से ब्राह्मणभिन्न ब्राह्मणसदृश क्षत्रियादि का ही आनयन होता है न कि लोष्ट आदि का आनयन। इसलिये यहाँ भी च्व्यन्त-भिन्न च्व्यन्तसदृश अभूततद्भाव का ही ग्रहण करने से अभूततद्भाव में ही क्यङ् होगा। इस प्रकार उक्त दोष की निवृत्ति हो जाती है।

'ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम्' (६-३-१३२) इत्यादौ विभक्ति-ग्रहणं ह्येतन्न्यायसिद्धार्थानुवाद एव। एतेन विभक्तावित्याद्यस्यानित्यत्वे ज्ञापकमिति वदन्तः परास्ताः, अनित्यत्वे भाष्यसम्मतफलाभावात्। अत एव 'अकर्त्तरि च' (३-३-१९) इति सूत्रे कारकग्रहणं भाष्ये प्रत्याख्यातमिति बोध्यम्। स्पष्टा चेयं 'भृशादिभ्यः (३-१-१२) इति सूत्रे भाष्ये।

अत्र अन्यसदृशेत्युक्त्या सादृश्यस्य भेदाघटितत्वं सूचयति। निरूपितं चैतन्मञ्जूषायाम् ॥ ७५ ॥

कुछ लोगों का कहना है कि 'ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम्' इस सूत्र में 'अप्रथमायाम्' इस पर्युदास से ही प्रस्तुत परिभाषा के द्वारा प्रथमाभिन्न प्रथमासदृश विभक्ति का ग्रहण हो सकता था, ऐसी स्थिति में इस सूत्र में किया गया विभक्ति का ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापन करता है। उसी प्रकार 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इस सूत्र में भी 'अकर्तरि' इस पर्युदास से ही कर्तृभिन्न कर्तृसदृश कारक का ग्रहण सिद्ध होने के कारण कारकग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का अनित्यत्व बोधन करता है। किन्तु ये कथन ठीक नहीं हैं। क्योंकि उक्त दोनों सूत्रों में किया गया विभक्तिग्रहण और कारकग्रहण इस न्याय से सिद्ध बात का अनुवादक मात्र है। नञ्युक्त से तद्भिन्न तत्सदृश का ग्रहण होता है जैसे यहाँ प्रथमाभिन्न प्रथमासदृश विभक्ति ली गई है। और दूससे सूत्र में कर्तृभिन्न कर्तृसदृश कारक लिया गया है। इस प्रकार विभक्तिग्रहण और कारकग्रहण के अनुवादक होने के कारण, उनके द्वारा इस परिभाषा की अनित्यता ज्ञापन करने वाले परास्त हो गये।

दूसरी बात यह है कि इस परिभाषा को अनित्य मानने का कोई फल भी नहीं है। यदि कहा जाय कि इस परिभाषा को अनित्य मानने से 'अनचि च' सूत्र में अच्-भिन्न अच्सदृश हल वर्ण का ग्रहण नहीं हुआ। फलस्वरूप अवसान में वाक् पद घटक ककार को द्वित्व करके 'वाक्क्' इस रूप की सिद्धि होती है तो यह कहना

भी ठीक नहीं है क्योंकि इस परिभाषा के अनित्य होने में भाष्यसम्मत कोई फल नहीं है। भाष्यकार ने 'अनचि च' सूत्र में प्रसज्य प्रतिषेध का आश्रयण करके 'वाक्क्' प्रयोग की सिद्धि की है। अतएव=इस परिभाषा का अनित्यत्व भाष्कारभिमत नहीं है। इसीलिए भाष्यकार ने इस परिभाषा के द्वारा 'अकर्तरि च' सूत्र में कारक का लाभ करके सूत्रस्थ कारकग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया। यह परिभाषा 'भृशादिभ्यः' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

इस परिभाषा में 'अन्यसदृश' इस कथन से सिद्ध होता है कि सादृश्य भेद से अघटित होता है। यदि 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्वं सादृश्यम्' इस प्रकार भेदघटित सादृश्य का लक्षण अभिप्रेत होता तो प्रस्तुत परिभाषा में आये हुए सदृश पद से ही भेद अर्थ की प्रतीति हो जाती, फिर परिभाषा में अन्य पद की क्या आवश्यकता रह जाती। अन्य का अर्थ भिन्न होता है और भिन्न, भेदघटित होता है। इस प्रकार भेदघटित अन्य अर्थ की प्रतीति सदृश से ही हो जाने के कारण परिभाषा में आया हुआ अन्य पद व्यर्थ हो जाता। इससे स्पष्ट है कि सादृश्य भेद से अघटित अर्थात् तद्गतभूयोधर्मवत्वरूप ही होता है। यह बात मञ्जूषा में स्पष्ट है॥ ७५॥

ननु 'व्याघ्री, कच्छपी'त्यादौ सुबन्तेन समासात्ततोऽप्यन्तरङ्गत्वाट्टाप्यदन्तत्वाभावाज्जातिलक्षणो ङीष् न स्यादत आह—

वि और आङ् पूर्वक घ्रा धातु से 'आतश्चोपसर्गे' सूत्र से क प्रत्यय और 'आतो लोपः' सूत्र से धातु के अकार का लोप करने पर 'घ्र' शब्द बनता है। इस घ्र शब्द का आङ् के साथ गतिसमास होकर 'आघ्र' बनता है। इस आघ्र शब्द का वि के साथ समास करके 'व्याघ्र' शब्द बनता है। यह व्याघ्र शब्द जातिवाचक है, इसलिये स्त्रीत्व की विवक्षा में इससे जातिलक्षण ङीष् करके 'व्याघ्री' शब्द की सिद्धि होती है। इसी प्रकार 'कच्छे पिबतीति' विग्रह में कच्छ पूर्वक पा धातु से 'सुपि स्थः' सूत्र के 'सुपि' इस योगविभाग से क प्रत्यय और आकार का लोप करके निष्पन्न 'प' शब्द के साथ सप्तम्यन्त 'कच्छ+इ' का उपपदसमास होता है। इस प्रकार बने हुए कच्छप शब्द से जातिलक्षण ङीष् करके 'कच्छपी' शब्द सिद्ध किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आङ् का घ्र शब्द के साथ न कि सुबन्त घ्र के साथ समास हुआ है। इसी प्रकार कच्छ का विभक्तिरहित 'प' शब्द के साथ समास हुआ है।

'सुबन्त का सुबन्त के साथ समास होता है' इस नियम के आधार पर यदि घ्र और प शब्द के सुबन्तत्व की अपेक्षा की जाय तो स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग, संख्या और कारक प्रयुक्त कार्यों में क्रमिकत्व का नियम होने के कारण सुप् प्रत्यय लाने से पहले लिङ्गबोधक प्रत्यय करना आवश्यक होगा। उस समय घ्र और प शब्द के जाति-

वाचक न होने के कारण ङीष् तो हो नहीं सकता, किन्तु अदन्त होने के कारण दोनों जगह टाप् हो जायेगा। इसके बाद सुबन्त घ्रा और पा शब्द के साथ समास होकर व्याघ्रा और कच्छपा शब्द बनेंगे। इन दोनों शब्दों के अदन्त न होने के कारण जातिलक्षण ङीष् प्रत्यय नहीं होगा। फलस्वरूप 'व्याघ्री' और 'कच्छपी' आदि प्रयोगों की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः ॥ ७६ ॥

गतिसंज्ञक, कारक और उपपद का कृदन्त के साथ सुप् प्रत्यय की उत्पत्ति के पहले ही समास होता है। अर्थात् कृदन्त शब्द से सुप् विभक्ति लाने से पहले ही उसके साथ गति, कारक और उपपद का समास होता है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि घ्र और प शब्द के साथ ही व्या और कच्छ + इ का समास हो जाता है और इसके बाद व्याघ्र और कच्छप शब्द से जातिलक्षण ङीष् करके व्याघ्री और कच्छपी की सिद्धि की जाती है। इनमें व्याघ्री यह गतिसंज्ञक का उदाहरण है और 'कच्छपी' यह उपपद का उदाहरण है। कारक का उदाहरण 'अश्वक्रीती' यह प्रयोग है।

यहाँ अश्वेन क्रीता इस लौकिक विग्रह में और 'अश्व + टा–क्रीत' इस अलौकिक विग्रह में इस परिभाषा के फलस्वरूप सुबुत्पत्ति के पहले ही समास हो गया, जिससे 'अश्वक्रीत' शब्द बनने पर क्रीतान्त और अदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'क्रीतात् करणपूर्वात्' इस सूत्र से ङीष् प्रत्यय हुआ, जिससे 'अश्वक्रीती' प्रयोग की सिद्धि होती है। यदि यह परिभाषा नहीं होती तो अश्व इस कारक का कृदन्त क्रीत के साथ समास सुबन्त बनने के बाद ही होता। ऐसी स्थिति में 'स्वार्थद्रव्य' आदि पूर्वोक्त नियम के आधार पर लिङ्गबोधक प्रत्यय टाप् पहले ही हो जाता। परिणाम यह होता कि उस समय अदन्तत्व के अभाव के कारण ङीष् प्रत्यय नहीं होता और 'अश्वक्रीती' यह प्रयोग नहीं बनता।

'उपपदम्' (२–२–१९) इति सूत्रेऽतिङ्ग्रहणेन 'कुगति' (२–२–१८) इत्यत्र तदपकर्षणेनातिङन्तश्च समास इत्यर्थात्तयोः सूत्रयोः 'सुप्सुपा' इत्यस्य निवृत्त्यैकदेशानुमत्या कारकांशे च सिद्धेयम्। तेनाश्वक्रीतीति सिद्धा। अन्यथा पूर्वं टाप्यदन्तत्वाभावात् 'क्रीतात् कारणपूर्वात्' (४–१–५०) इति ङीष् न स्यात्।

अस्या अनित्यत्वात् क्वचित् सुबुत्पत्त्यनन्तरमपि समासो, यथा 'सा हि तस्य धनक्रीते'ति।

अन्ये तु; अनित्यत्वे न मानम्, तत्र अजादित्त्वाट्टाबित्याहुः। अत एव कुम्भकार इत्यादौ षष्ठीसमासोऽपि सुबुत्पत्तेः पूर्वमेव। षष्ठीसमासाभावे चोपपदसमासकृत एकार्थीभाव इति न तत्र वाक्यमिति भाष्ये स्पष्टम्। तत्र हि–'षष्ठीसमासादुपपदसमासो विप्रतिषेधेने'ति वार्तिकम्। अथवा 'विभाषा षष्ठीसमासो, यदा न षष्ठीसमासस्तदोपपदसमास' इति तत् प्रत्याख्यानञ्च।

अब इस परिभाषा में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए लिख रहे हैं कि—'उपपदमतिङ्' सूत्र में जो 'अतिङ्' ग्रहण किया गया है, उसका तात्पर्य यही है कि उपपद का तिङन्त के साथ समास न होने पावे, किन्तु इस कार्य के लिये अतिङ्ग्रहण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इस सूत्र में 'सुबामन्त्रिते' सूत्र से सुप् पद की तथा 'सह सुपा' सूत्र से 'सुपा' पद की अनुवृत्ति करके सूत्र का अर्थ किया जायेगा कि—उपपद सुबन्त का सुबन्त के साथ समास होता है। इस प्रकार की व्याख्या से ही सिद्ध हो जाता है कि उपपद का तिङन्त के साथ समास नहीं होगा, ऐसी स्थिति में अतिङ्-ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार अतिङ्ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि यहाँ 'सुपा' इस पद की अनुवृत्ति नहीं होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि उपपद सुबन्त असुबन्त के साथ समस्त होता है। अर्थात् उपपद का समास सुप् की उत्पत्ति से पहले ही होता है।

गतिसमास भी असुबन्त के साथ ही होता है इस बात की सिद्धि इस प्रकार होती है कि 'कुगति प्रादयः' सूत्र में 'उपपदमतिङ्' सूत्र से 'अतिङ्' का अपकर्ष करके गतिसंज्ञक का अतिङन्त के साथ समास होता है ऐसा अर्थ करेंगे। किन्तु यहाँ पर भी पूर्व की भाँति 'सुप्सुपा' की अनुवृत्ति से यदि अभीष्ट की सिद्धि हो सकती है तो यहाँ पर भी 'अतिङ्' के अपकर्षण की क्या आवश्यकता है। इस प्रकार अतिङ्-ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि यहाँ भी सुपा की अनुवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् गतिसंज्ञक का भी समास सुप् की उत्पत्ति के पहले ही हो जाता है।

मूल में लिखा गया है कि सुप् और सुपा इन दोनों पदों की अनुवृत्ति यहाँ नहीं होती, जब कि उपर्युक्त व्याख्यान में केवल सुपा पद की निवृत्ति की बात कही गई है तो इसका तात्पर्य यह है कि उपपद स्वयं में पद होता है और गतिसंज्ञक भी पद ही होता है। ऐसी स्थिति में 'उपपद सुबन्त और गतिसंज्ञक सुबन्त' इस प्रकार दोनों जगह सुबन्त के प्रयोग का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता है। इसलिये इस प्रकार के अर्थ को करने के लिये सुप् की अनुवृत्ति की भी आवश्यकता नहीं है। इसी उद्देश्य से मूल में लिखा गया है 'सुप्सुपा' दोनों की निवृत्ति होती है।

इस प्रकार उपर्यक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि उपपद का और गति-संज्ञक का समास कृदन्त के साथ सुबुत्पत्ति के पहले ही होता है। जब दो अंशों में

परिभाषा की सिद्धि हो गई तो अवशिष्ट कारकांश में भी स्थालीपुलाक न्याय से एकदेशानुमत्या यह परिभाषा सिद्ध है, ऐसा समझना चाहिये। कारक का भी कृदन्त के साथ समास सुप् की उत्पत्ति से पहले ही हो जाता है ऐसा स्वीकार करने का फल 'अश्वक्रीती' प्रयोग की सिद्धि है। यह बात ऊपर बता आये हैं। यदि ऐसा स्वीकार नहीं करते कि कारक का समास सुबुत्पत्ति के पहले होता है तो सुप् की उत्पत्ति के लिये लिङ्ग, संख्या, कारकादिकों की क्रमशः उत्पत्ति होती है इस नियम के आधार पर 'क्रीत शब्द से लिङ्गबोधक प्रत्यय टाप् पहले होता। उस स्थिति में अदन्तत्व के अभाव के कारण 'क्रीतात् करणपूर्वात्' सूत्र से ङीष्प्रत्यय नहीं होता।

यह परिभाषा अनित्य है। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इस सूत्र में किये गये बहुलग्रहण से इसका अनित्यत्व सिद्ध होता है। कुछ लोगों का कहना है कि 'अम्बाम्बगोभूमि' इत्यादि सूत्र में किया गया 'गोभूमि' ग्रहण इसके अनित्यत्व में प्रमाण है। यदि यह परिभाषा नित्य होती तो गोभूमि आदि शब्दों का 'सुपिस्थः' इस सूत्र से विहित क प्रत्ययान्त स्थ शब्द के साथ 'उपपदमतिङ्' सूत्र से सुबुत्पत्ति से पहले ही समास हो जाता। परिणाम यह होता कि 'स्थ' यह पद नहीं कहा जाता। फलस्वरूप 'सात्पदाद्योः' सूत्र की प्राप्ति न होने कारण 'आदेशप्रत्यययोः' सूत्र से ही 'गोष्ठ' 'भूमिष्ठ' इत्यादि शब्दों में षत्व की सिद्धि हो सकती है। ऐसी स्थिति में षत्व के लिये उक्त सूत्र में किया गया गो और भूमि का ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापन करता है। इसकी अनित्यता के कारण कहीं कहीं सुप् की उत्पत्ति के बाद भी समास होता है, इसलिये धनक्रीता प्रयोग की सिद्धि होती है। यहाँ सुप् प्रत्यय लाने के लिये पहले लिङ्गबोधक प्रत्यय टाप् किया जाता है। टाप् होने से अदन्तत्व के न रहने के कारण ङीष् प्रत्यय नहीं होता है। इस प्रकार 'सा हि तस्य धनक्रीता' वाक्य में 'धनक्रीता' की सिद्धि होती है।

कुछ अन्य लोगों का कहना है कि इस परिभाषा के अनित्यत्व में प्रमाण नहीं है। गोष्ठ भूमिष्ठ इत्यादि प्रयोगों में 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व की सिद्धि होने से व्यर्थ गोभूमि इस परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापन नहीं करता अपितु नियमार्थक होकर नियम करता है कि पूर्वपद में रहने वाले इण् से पर में रहने वाले स्थ के सकार को षकार हो तो गोभूमि आदि से पर में रहने वाले को ही हो, अन्य को न हो। इस नियम का फल होता है 'हृदिस्थः' प्रयोग में षकार नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि 'दधिसेचौ' प्रयोग में 'सुप्' की उत्पत्ति से पहले ही समास होने पर 'सेच्' यह पद नहीं होगा, इसलिये 'सात्पदाद्योः' सूत्र से षत्व का निषेध भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि सेच् का सकार पद के आदि में नहीं है, इसलिये पदादि शब्द में षष्ठीसमास न करके 'पदात् आदिः=पदादिः' अर्थात् पद से पर में रहने वाला और

किसी शब्द का आदि का जो सकार उसे षत्व नहीं होता, ऐसा व्याख्यान किया गया है। इस व्याख्यान के अनुसार गोष्ठ और भूमिष्ठ इत्यादि प्रयोगों में भी षत्व का निषेध प्राप्त रहता है इसलिये 'आम्बाम्ब' इत्यादि सूत्र में गोभूमि ग्रहण षत्व के लिये करना सार्थक है। इसलिये वह इस परिभाषा के अनित्यत्व का ज्ञापन नहीं कर सकता।

अब प्रश्न यह होता है कि यदि यह परिभाषा अनित्य नहीं है तो 'धनक्रीता' प्रयोग की सिद्धि किस प्रकार होगी? इस शंका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि 'धनक्रीता' प्रयोग में अजादित्वात् टाप् करके इसकी सिद्धि की जा सकती है। यदि कहा जाय कि अजादि गण में 'धनक्रीता' शब्द का पाठ नहीं है तो इसका उत्तर यह है कि 'अजादिगण आकृतिगण है' ऐसा मानने से कोई दोष नहीं रह जाता।

अतएव=इस परिभाषा को स्वीकार करने से ही 'कुम्भकारः' इस प्रयोग में षष्ठीसमास भी सुप् की उत्पत्ति के पहले ही होता है। इस ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि—'कुम्भं करोति' इस विग्रह में कुम्भम् को पूर्व में रखकर कृ धातु से अण् प्रत्यय करके, और कर्म में षष्ठी करने पर कुम्भ+अस्+कार। इस स्थिति में षष्ठीसमास को परत्वात् बाध कर उपपदसमास होता है। षष्ठीसमास 'राज्ञः पुरुषः' में चरितार्थ है और उपपदसमास 'स्तम्बेरमः' 'कर्णेजपः' प्रयोगों में चरितार्थ है। 'कुम्भ+अस्+कार' इस स्थिति में दोनों की प्राप्ति होने पर परत्वात् उपपदसमास होता है। ऐसा वार्तिककार के कहने पर भाष्यकार ने कहा कि यहाँ विप्रतिषेध कहने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि षष्ठीसमास विकल्प से होता है, इसलिये उसके अभाव पक्ष में उपपदसमास हो सकता है।

अब यहाँ यह बात विचारणीय है कि यदि षष्ठीसमास के लिये उत्तरपद की सुबन्तता अपेक्षित हो अर्थात् उत्तरपद से सुप् की उत्पत्ति हो गई हो, तब षष्ठीसमास हो तो, इसकी अपेक्षा उत्तरपद से सुप् की उत्पत्ति से पूर्व ही उसके साथ उपपद का होने वाला उपपदसमास अन्तरङ्ग होने के कारण षष्ठीसमास से पहले ही प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में—'षष्ठीसमासादुपपदसमासो विप्रतिषेधेन' इस वार्तिक के द्वारा षष्ठीसमास और उपपदसमास के बीच विप्रतिषेध की बात करना वार्तिककार का असंगत हो जायेगा। इसके साथ ही इस वार्तिक का प्रत्याख्यानपरक 'अथवा विभाषापष्ठीसमासो, यदा न षष्ठीसमासस्तदोपपदसमासः' यह भाष्य भी असंगत हो जायेगा, क्योंकि षष्ठीसमास तो विभक्ति की उत्पत्ति के बाद होगा, जब कि उपपदसमास विभक्ति की उत्पत्ति के पहले ही प्राप्त होगा। इस प्रकार दोनों की भिन्नकालिकता में दोनों का विकल्प प्रतिपादन करना असंगत ही हो जायेगा। इससे सिद्ध होता है कि 'कुम्भकारः' प्रयोग में षष्ठीसमास भी सुप् की उत्पत्ति से

पूर्व ही होता है। षष्ठीसमास के अभाव में उपपदसमास द्वारा किया हुआ एकार्थीभाव रहता है अतः यहाँ 'कुम्भं करोति' यह वाक्य कभी नहीं रहता। जैसे—'राजपुरुषः' के विकल्प में 'राज्ञः पुरुषः' यह वाक्य प्रयुक्त होता है, वैसे यहाँ कुम्भकार के विकल्प में 'कुम्भं करोति' ऐसा वाक्य कभी भी प्रयोग में नहीं लाया जाता, यही यहाँ का तात्पर्य है।

यद्यप्युपपदसमासस्यान्तरङ्गत्वाभिप्रायकं 'न वा षष्ठीसमासाभावादुपपदसमास' इति वार्त्तिककृतोक्तं, तथापि तदुभयप्रत्याख्यानपरम् 'अथवे'त्यादि भाष्यम्। परिभाषायां सामान्यतः कारकोपादानेन कारकविभक्त्यन्तेन कृद्भिः समासमात्रस्य सुबुत्पत्तेः पूर्वमेव लाभात्।

एतेनैषां कारकतद्विशेषयोरुपादान एवेति परास्तम्। अस्या विध्येकवाक्यत्वाभावेन विप्रतिषेधादिशास्त्रवत्कार्यव्यवस्थापकत्वेनोपादान एवेत्यर्थालाभाच्च ॥ ७६ ॥

यह बात ऊपर बताई जा चुकी है कि 'कुम्भकारः' इस प्रयोग में उपपदसमास करने के लिये वार्तिककार ने कहा है कि 'षष्ठीसमासादुपपदसमासो विप्रतिषेधेन'। यहाँ वार्तिककार दोनों समासों के तुल्यबलत्व में विप्रतिषेध के द्वारा उपपदसमास की बात कर रहे हैं और इसके बाद उन्होंने उपपदसमास के अन्तरङ्गत्व के अभिप्राय से कहा 'न वा षष्ठी समासाभावादुपपदसमासः' अर्थात् यहाँ विप्रतिषेध की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि षष्ठीसमास के अभाव के कारण अर्थात् उसकी प्राप्ति न होने के कारण उपपदसमास स्वयंसिद्ध है। यहाँ 'षष्ठीसमास के अभाव के कारण' इस शब्द के द्वारा वार्तिककार यह ध्वनित कर रहे हैं कि षष्ठीसमासविधायकसूत्र में सुपा की अनुवृत्ति होती है जिससे 'मातुः स्मरति' में समास नहीं होता है। इस प्रकार सुपा की अनुवृत्ति के कारण षष्ठीसमास सुप् की उत्पत्ति के बाद सुबन्त के साथ होगा, जब कि उपपद समास सुप् की उत्पत्ति से पूर्व ही प्राप्त होता है। इस प्रकार 'कुम्भ+अस्+कार' इस स्थिति में षष्ठीसमास की प्राप्ति न होने के कारण उपपदसमास निर्बाधरूप से हो सकता है, यह यहाँ वार्तिककार का तात्पर्य है। इस प्रकार यद्यपि वार्तिककार ने 'न वा षष्ठीसमासाभावात्' इत्यादि उपपदसमास की अन्तरङ्गता का सूचक वाक्य कहा है तथापि इन दोनों वार्तिकों के प्रत्याख्यान के रूप में ही 'अथवा विभाषाषष्ठीसमासः यदा न षष्ठीसमासस्तदोपपदसमासः' इस भाष्य को समझना चाहिये।

इस भाष्य से यह भी ध्वनित होता है कि जिस प्रकार उपपदसमास सुप् की उत्पत्ति के पहले होता है उसी प्रकार षष्ठीसमास भी सुप् की उत्पत्ति से पहले ही होता है। इसलिये षष्ठीसमास के अभाव में उपपदसमास हो सकता है। यद्यपि षष्ठीसमास पूर्व और उत्तर दोनों खण्डों के सुबन्त होने पर ही होता है तथापि इस परि-

भाषा के सामर्थ्य से जहाँ 'कर्तृकर्मणोः कृति' सूत्र से षष्ठी होती है, उस षष्ठ्यन्त का समास उत्तरपद में सुप् की उत्पत्ति से पूर्व ही होता है, ऐसी परिकल्पना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपपदसमास षष्ठीसमास की अपेक्षा अन्तरङ्ग नहीं है।

परिभाषा में कारकविशेष का उपादान न करके कारकसामान्य का ग्रहण किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस लक्ष्य में पूर्वपद कारक हो उस कारक-विभक्त्यन्त के साथ कृदन्ततदादि का समासमात्र सुप् की उत्पत्ति के पहले होता है। जैसे—'कुम्भ + अस् + कार' इस स्थिति में कुम्भ पद कर्मषष्ठ्यन्त है, इसलिये यह कारक विभक्त्यन्त है। इसका समास कार शब्द के साथ सुप् की उत्पत्ति से पहले ही हो जाता है, किन्तु 'राजन्-ङस्-पुरुष-सु' इस प्रयोग में जहाँ शेषषष्ठी है, वहाँ उत्तर-पद के सुबन्त होने पर ही समास होता है।

एतेन = कारक और तद्विशेष के उपादान के अभाव में भी यदि कारक विभक्त्यन्तपद हो तो उसका कृदन्ततदादि के साथ, सुप् की उत्पत्ति से पहले ही समास होता है, इस बात को स्वीकार करने से वे लोग परास्त हो गये, जो ऐसा कहते थे कि यह परिभाषा कारक और तद्विशेष के उपादान में ही लगती है।

कारक विभक्त्यन्तमात्र का कृदन्ततदादि के साथ सुप् की उत्पत्ति से पूर्व ही समास होता है इस बात को स्वीकार करने का फल यह होता है कि—'अञ्जलेः पतितः' इस विग्रह में अञ्जलि इस पञ्चम्यन्त का पतित इस निर्विभक्तिक कृदन्त के साथ 'मयूरव्यंसकादित्वात्' समास और 'पृषोदरादित्वात्' इत् का लोप और पत् का पूर्वप्रयोग करने पर तकार को जश्त्व नहीं होता है।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' यह सूत्र विधिसूत्रों के साथ एकवाक्यता करके जो परशास्त्र होता है उसके बलवत्व का बोधन कर कार्य का व्यवस्थापक होता है, उस प्रकार इस परिभाषा की विधिसूत्र के साथ एकवाक्यता नहीं होती। इसलिये कारक अथवा तद्विशेष के उपादान में ही इसकी प्रवृत्ति हो, यह कोई आवश्यक नहीं है। यह परिभाषा तो लक्षणों (सूत्रों) की प्रवृत्ति की व्यवस्थापिका होकर परम्परया लक्ष्यसाधिका होती है॥ ७६॥

ननु 'उगिदचाम्' (७-१-७०) इत्यत्र धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्ह्यञ्चतेरेवेति नियमेनाधातोरेव नुमि सिद्धेऽधातुग्रहणं व्यर्थमत आह—

इससे पूर्व परिभाषा में गति और कारक का उल्लेख हुआ है। ये दोनों संज्ञाएँ धातु के योग में ही होती हैं, इसलिये धातु का स्मरण हो जाने के कारण तत्सम्बन्धित परिभाषा का आरम्भ करते हुए लिख रहे हैं—ननु इत्यादि। यहाँ शंका यह होती है कि 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इस सूत्र में उगित् पद से ही 'अञ्चु' धातु का भी ग्रहण हो सकता है तो ऐसी स्थिति में इस सूत्र में अच् (अञ्च्) ग्रहण की क्या

आवश्यकता है ? इस प्रकार अच् ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि धातु को यदि उगित् कार्य हो तो अञ्च् धातु को ही हो, अन्य धातु को न होवे। इसका फल यह होता है कि 'स्रन्सु' और 'ध्वन्सु' धातु से क्विप् प्रत्यय और 'अनिदिताम्' सूत्र से न लोप करने के बाद सु विभक्ति लाकर उसका लोप करके 'वसुस्रंसु' इत्यादि सूत्र से दकार करके 'सुत् और ध्वत्' प्रयोगों की सिद्धि होती है। यहाँ उगित् प्रयुक्त नुम् नहीं हुआ।

अब यहाँ यह विचारणीय है कि धातु को यदि उगित् प्रयुक्त कार्य हो रहा है तो वह केवल अञ्च् धातु को ही हो रहा है, अन्य किसी धातु को नहीं हो रहा है। ऐसी स्थिति में धातु की व्यावृत्ति के लिये इस सूत्र में 'अधातु ग्रहण' की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार अधातुग्रहण के वैयर्थ्य को देखकर उसके सार्थक्य के लिये यह परिभाषा बनाई गई—

साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः ॥ ७७ ॥

साम्प्रतिक (तात्कालिक) के अभाव में भूतपूर्व का ग्रहण करना चाहिये।

इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ पर तत्काल में लक्षण की प्रवृत्ति अभिप्रेत है किन्तु वह लक्ष्य लक्षण की प्रवृत्ति के योग्य नहीं है तो वहाँ पूर्वकालिक स्थिति का ग्रहण करके उस लक्ष्य में लक्षण की प्रवृत्ति की योग्यता मान लेनी चाहिये। अर्थात् इस समय यदि कोई शब्द धातु बन गया है तो उसे भूतपूर्व अधातु मानकर नुम् आदि कार्य कर लेना चाहिये। जैसे—'गोमन्तमात्मन इच्छति' इस अर्थ में 'सुपः आत्मनः क्यच्' सूत्र से क्यच् प्रत्यय करने पर गोमत्य यह धातु बनता है। इस गोमत्य धातु से कर्ता अर्थ में 'क्विप् प्रत्यय' करके अकार और यकार का लोप करके गोमत् शब्द बनता है। इस गोमत् शब्द से सु विभक्ति लाने पर यहाँ नुम् करना वाञ्छित है, किन्तु इस समय यह धातु है इसलिये नुम्विधायकसूत्र की प्रवृत्ति यहाँ नहीं हो रही है। ऐसी स्थिति में यहाँ भूतपूर्वकालिक अधातुत्व का ग्रहण करके इस गोमत् शब्द को अधातु मानकर नुमविधायकसूत्र की प्रवृत्ति कर ली जाती है जिससे गोमान् प्रयोग की सिद्धि होती है। इसी बात को लिख रहे हैं—

तत्तद्वचनसामर्थ्यन्यायसिद्धेयम्। तत्सामर्थ्यादधातुभूतपूर्वस्यापीत्यर्थेन गोमत्यतेः क्विपि गोमानित्यादौ नुम्सिद्धिः। 'नामि' (६-४-३) इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये स्पष्टा ॥ ७७ ॥

यह भूतपूर्वगति का आश्रयण अधातु इत्यादि तत्तद्वचन के सामर्थ्य से होता है इसलिये यह परिभाषा तत्तद्वचन के सामर्थ्यन्याय से सिद्ध है। प्रस्तुत स्थल में 'अधातुग्रहणसामर्थ्यात्' गोमत्य धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न गोमत् शब्द को भूतपूर्व अधातु मानकर नुम् कर लिया गया, जिससे गोमान् की सिद्धि होती है।

यह परिभाषा 'नामि' आदि सूत्रों के भाष्य में स्पष्ट है। भाष्यकार ने यहाँ यह शंका की कि 'नामि' की जगह 'आमि' ऐसा न्यास क्यों नहीं किया जाय। ऐसी शंका करके कहा कि ऐसी स्थिति में नित्यत्वात् दीर्घ कर देने पर 'रामाणाम्' इत्यादि प्रयोगों में नुट् नहीं हो सकेगा। ऐसी आशंका करके पुनः कहा कि यदि दीर्घ पहले ही हो जायेगा तो ह्रस्व तो कहीं मिलेगा ही नहीं, ऐसी स्थिति में ह्रस्व ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा, तत् सामर्थ्यात् भूतपूर्व ह्रस्व का ग्रहण कर लिया जायेगा। इस प्रकार 'नामि' सूत्र के भाष्य में भूतपूर्वगति के आश्रयण की बात स्पष्ट है ॥७७॥

'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' यह सूत्र पूर्व परिभाषा में आया हुआ है। इस सूत्र में जो 'उगित्' पद आया है, उसमें बहुव्रीहि समास है। इसलिये बहुव्रीहि के प्रसंग की उपस्थिति में उससे सम्बन्धित परिभाषा लिखी गई है—

बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि ॥ ७८ ॥

बहुव्रीहि समास में तस्य=अन्यपदार्थ के, गुणानाम्=विशेषणानाम्=विशेषणों का अर्थात् वर्तिपदार्थों (अवयव के अर्थों) का संविज्ञान होता है। संविज्ञान का तात्पर्य विशेष्यान्वयित्व है। इसका तात्पर्य यह है कि बहुव्रीहि समास में अन्यपदार्थप्रधान होता है। उस अन्य पदार्थ का जिस क्रिया में अन्वय होता है उसी में उस अन्य पदार्थ के विशेषण अवयवों के अर्थों का भी अन्वय होता है। जैसे—'सर्वादीनि सर्वनामानि' इस सूत्र में 'सर्वादीनि' इस पद में 'सर्व आदिर्येषाम्' तानि 'सर्वादीनि' इस प्रकार बहुव्रीहि समास किया गया है इसका अर्थ है कि सर्व शब्द जिनके आदि में है ऐसे जो विश्व आदि शब्द उनकी सर्वनाम संज्ञा तो होगी, किन्तु केवल सर्व शब्द की नहीं होगी, जिससे अभीष्ट रूप 'सर्वे' आदि की सिद्धि नहीं हो सकेगी। जब यह परिभाषा स्वीकृत हो गई तो बहुव्रीहि में तद्गुण अर्थात् अन्य पदार्थ में विशेषणीभूत सर्व शब्द का भी ग्रहण हो जाता है जिससे 'सर्वेषाम्' 'स्वे' आदि रूपों की सिद्धि होती है।

अपिनाऽतद्गुणसंविज्ञानम्। तेषां गुणानामवयवपदार्थानां संविज्ञानं विशेष्यान्वयित्वमिति तदर्थः। यत्र समवायसम्बधेन सम्बन्ध्यन्यपदार्थस्तत्र प्रायस्तद्गुणसंविज्ञानम्, अन्यत्र प्रायोऽन्यत्। 'लम्बकर्णचित्रगू' उदाहृणे, 'सर्वादीनि' (१-१-२७) 'जक्षित्यादयः' (६-१-६) इति चोदाहरणे। सर्वनामसंज्ञासूत्रे भाष्ये स्पष्टा ॥ ७८ ॥

परिभाषा में अपि शब्द आया है। इस अपि शब्द से अतद्गुण का संविज्ञान होता है। अर्थात् वर्तिपदार्थों का अन्य पदार्थान्वयी में अन्वय नहीं होता है। जैसे—'दृष्टसागरमानय' जिसने सागर देखा है उसे लाओ। यहाँ आनयन क्रिया में सागर

का अन्वय नहीं होता। यहाँ तो वही व्यक्तिविशेष लाया जाता है जिसने सागर को देखा है।

बहुव्रीहिसमास के उन गुणों अर्थात् अवयवीभूत पदों के अर्थों का संविज्ञान= अर्थात् समासबोध्य प्रधानीभूत अर्थ के प्रति जो विशेष अर्थ क्रियास्वरूप है उसके साथ अन्वय होना तद्गुणसंविज्ञान कहा जाता है। जैसे 'पीताम्बरं पश्य' इस वाक्य में समासबोध्यप्रधान पीतवस्त्र धारण करने वाला व्यक्ति विशेष है उसका अन्वय दर्शन क्रिया में होता है इसलिये यहाँ दर्शन क्रिया विशेष्य है, उस दर्शन क्रिया में उस व्यक्ति के साथ तत्संयुक्तपीत वस्त्र का भी अन्वय हो जाता है। इस प्रकार यहाँ तद्गुणसंविज्ञान है। इसी प्रकार 'लम्बकर्णमानय' ऐसा कहने पर लम्बे कानों वाला व्यक्ति लाया जाता है। व्यक्ति के साथ उसमें समवेत कानों का भी अन्वय आनयन क्रिया में होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि जहाँ अन्यपदार्थ वर्तिपदार्थ के साथ समवाय-सम्बन्ध और संयोगसम्बन्ध से सम्बन्धित हो वहाँ तद्गुणसंविज्ञान होता है। इनमें समवायसम्बन्ध का उदाहरण 'लम्बकर्ण' शब्द है और संयोगसम्बन्ध के उदाहरण श्वेताम्बर आदि शब्द हैं। यद्यपि मूल में केवल समवायसम्बन्ध का उल्लेख किया गया है तथापि वह समवायसम्बन्ध संयोगसम्बन्ध का भी उपलक्षण है।

अन्यत्र=जहाँ बहुव्रीहि घटक पदार्थों का अन्य पदार्थ के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध नहीं है वहाँ प्रायः करके अतद्गुणसंविज्ञान होता है। जैसे 'दृष्टसागर-मानय' 'चित्रगुमानय' ये अतद्गुण के उदाहरण हैं। पहले उदाहरण में विषयविषयी-भाव सम्बन्ध तथा दूसरे में स्वस्वामीभाव सम्बन्ध है। इसलिये सागर और गायों का आनयन क्रिया में अन्वय नहीं होता है।

मूल में जो प्रायः ग्रहण किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि कहीं-कहीं संयोग और समवाय सम्बन्ध रहने पर भी तद्गुणसंविज्ञान नहीं होता है। जैसे— 'यज्ञोपवीतिनं भोजय, श्वेताम्बरं भोजय, लम्बकर्णं भोजय' आदि स्थलों में यज्ञोपवीत, श्वेत वस्त्र, और लम्बे कान, इनका भोजन क्रिया में अन्वय नहीं होता है।

लम्बकर्ण और चित्रगु ये दोनों उदाहरण हैं। इनमें लम्बकर्ण तद्गुण का और चित्रगु अतद्गुण का उदाहरण है। यदि चित्रगु शब्द से गायों के साथ आना अभिप्रेत होगा तो यह भी तद्गुण का ही उदाहरण हो जायेगा। इसी प्रकार 'सर्वादीनि और जक्षित्यादयः' ये दोनों भी तद्गुण और अतद्गुणसंविज्ञान के उदाहरण हैं।

'सर्वादीनि' इस उदाहरण में आदि शब्द प्रथम अवयव का वाचक है इसलिये पञ्चत्रिंशत् शब्द समुदाय के साथ उसका समवायसम्बन्ध होने के कारण तद्गुण संविज्ञान है। अत एव सर्व शब्द की भी सर्वनाम संज्ञा होती है।

'जक्षित्यादयः' इस सूत्र में 'जक्ष्' यह पृथक् पद है और 'इत्यादयः' यह पृथक् पद है। यहाँ इति शब्द से जक्ष् का परामर्श होता है और आदि शब्द पूर्व का वाचक है। इस प्रकार जक्ष् है आदि में जिन ६ धातुओं के इस प्रकार का अर्थ करने के कारण यहाँ निरूप्यनिरूपकभावसम्बन्ध होने के कारण अतद्गुणसंविज्ञान है। इसलिये जक्ष् धातु ६ धातुओं के अन्तर्भूत न होकर अपितु उनके साथ सप्तम बनकर अभ्यस्त संज्ञा में अन्वित होता है।

वस्तुतस्तु जहाँ अन्य पदार्थ का अन्वय वर्तिपदार्थ के साथ ही समभिव्याहृत पदार्थ के साथ सम्भव हो वहाँ तद्गुणसंविज्ञान और उससे भिन्न जगह अतद्गुण-संविज्ञान समझना चाहिये।

'लम्बकर्णमानय' इस वाक्य के द्वारा अन्य पदार्थ व्यक्तिविशेष का आनयन कानों को छोड़कर नहीं हो सकता है। कानों का भी साथ में आनयन नान्तरीयक है। इसलिये यहाँ तद्गुणसंविज्ञान है। 'चित्रगुमानय' इस वाक्य के द्वारा अन्य पदार्थ व्यक्तिविशेष का आनयन गाय के साथ होना नान्तरीयक नहीं है, क्योंकि वह व्यक्ति गाय के साथ ही आवे यह कोई जरूरी नहीं है, इसलिये यहाँ अतद्गुणसंवि-ज्ञान है। ऐसे ही अन्यत्र भी समझना चाहिये ॥ ७८ ॥

ननु 'वदः सुपि क्यप् च' (३-१-१०६) इति चेनानुकृष्टस्य यतो 'भुवो भावे' (३-१-१०७) इत्यत्राप्यनुवृत्तिः स्यादत आह—

यहाँ यह शंका होती है कि 'वदः सुपि क्यप् च' सूत्र में चकार के द्वारा 'यत्' का अनुकर्षण (अनुवर्तन) होता है। 'अचो यत्' (३।१।९७) से यत् की अनुवृत्ति आगे चलती है। 'वदः सुपि' सूत्र में पठित चकार के द्वारा इस सूत्र में यत् की अनुवृत्ति कर ली जाती है। अब प्रश्न यह होता है कि 'वदः सुपि' सूत्र से क्यप् की अनुवृत्ति 'भुवो भावे' (३।१।१०७) में आती है, तो उसी सूत्र में चकार से अनुवृत्त जो यत् प्रत्यय हैं, उसकी भी अनुवृत्ति क्यप् की भाँति 'भुवो भावे' सूत्र में क्यों नहीं होती ? इस प्रकार की शंका को ध्यान में रखकर यह परिभाषा बनी—

चानुकृष्टं नोत्तरत्र ॥ ७९ ॥

चकार से द्वारा अनुवर्तमान का सम्बन्ध दूसरी जगह नहीं होता है, इसलिये 'वदः सुपि' सूत्र में चकार से अनुवृत्त यत् की अनुवृत्ति 'भुवो भावे' सूत्र में नहीं हुई।

णमुल्यनुवर्त्तमाने 'अव्ययेऽयथाभिप्रेते' (३-४-५९) इति सूत्रे पुनर्णमुल्-ग्रहणमस्या ज्ञापकम्। अन्यथा क्त्वा चेति वदेत्। तद्धि उत्तरत्रोभयोः सम्बन्धार्थम्। उदाहरणानि स्फुटानि।

इदमनित्यम् । अत एव 'तृतीया च होः' (२-३-३) इत्यत्र चानुकृष्टाया अपि द्वितीयाया 'अन्तरान्तरेण' (२-३-४) इत्यत्र सम्बन्धः ।

'स्वादुम्मि णमुल्' इस सूत्र से ही णमुल् की अनुवृत्ति 'अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वाणमुलौ' इस सूत्र में हो सकती थी, ऐसी स्थिति में यहाँ णमुल् ग्रहण न करके 'क्त्वा च' ऐसा निर्देश करना चाहिये था । चकार से ही णमुल् की अनुवृत्ति संभव थी । किन्तु ऐसा न करके जो णमुल् ग्रहण किया गया है वही व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है ।

जब यह परिभाषा स्वीकृत हो गई तो उक्त सूत्र में चकार के द्वारा णमुल् की अनुवृत्ति करने पर वह णमुल् उसके आगे वाले सूत्रों 'तिर्यच्यपवर्गे' आदि में नहीं जा सकता था, क्योंकि वह चकार से अनुकृष्ट होता, इसलिये वहाँ णमुल्ग्रहण आवश्यक हो गया । इस प्रकार णमुल्ग्रहण की स्वांश में चरितार्थता होता है । इस प्रकार 'क्त्वाणमुलौ' ऐसे निर्देश से क्त्वा और णमुल् इन दोनों का उत्तर सूत्रों में सम्बन्ध होता है । इसके उदाहरण स्पष्ट है । जैसे 'रङ्कोरमनुष्येऽण् च' 'दिक्पूर्वपदात् ठञ् च' 'संवत्सराग्रहायणीभ्यां ठञ् च' 'पितुर्यच्च' ।

इनमें पहले सूत्र में चकार से अनुवृत्त ष्फक् की अनुवृत्ति 'द्युप्रागपाग्' सूत्र में नहीं होती । दूसरे सूत्र 'दिक् पूर्व' में चकार से अनुवृत्त 'अधीयत्' के यत् की अनुवृत्ति 'ग्रामजनपद' इस सूत्र में नहीं होती । इसी प्रकार 'संवत्सराग्रहायणीभ्याम्' इस सूत्रस्थ चकार से अनुवृत्त 'ग्रीष्मावरसमाद् वुञ्' सूत्र के वुञ् की अनुवृत्ति 'व्याहरति मृगः' इस सूत्र में नहीं होती ।

इसी प्रकार 'पितुर्यच्च' इस सूत्र के चकार से अनुवृत्त 'ऋतष्ठञ्' का ठञ् 'गोत्रादङ्कवत्' सूत्र में नहीं आता । ये सारे उदाहरण चकार से अनुकृष्ट के हैं ।

इदम्=यह परिभाषारूपी वचन अनित्य है । इसके अनित्यत्व में प्रमाण 'एकाजुत्तरपदे णः' इस सूत्र में णकार का ग्रहण है । 'रषाभ्यां नो णः' सूत्र से णकार की अनुवृत्ति से कार्य चल सकता था, तो भी इस सूत्र में णकार का ग्रहण इसलिये किया गया कि 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च' सूत्र के चकार से अनुवृत्त 'वा भावकरणयोः' सूत्र का 'वा' यह पद इस सूत्र में न चला आवे । यदि यह परिभाषा नित्य होती तो इसी से 'वा' का सम्बन्ध यहाँ नहीं होता । ऐसी स्थिति में यहाँ किया गया णकार का ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा की अनित्यता का बोधन करता है । अत एव=इस परिभाषा के अनित्य होने से ही 'तृतीया च होश्छन्दसि' (२।३।३) सूत्र के चकार से अनुकृष्ट 'कर्मणि द्वितीया' (२।३।२) का द्वितीया पद 'अन्तरान्तरेण युक्ते' (२।३।४) इस सूत्र में आता है ।

'लुटि च क्लृपः' (१-३-९३) इति सूत्रस्थेनानुवृत्यर्थसकलचकार-प्रत्याख्यानेन विरुद्धेयम् । व्याख्यानादेवानुवृत्तिनिवृत्योर्निर्वाह इति तदाशयः । 'कुलिजाल्लुक्खौ च' (५-१-५५) इति सूत्रस्थभाष्यविरुद्धा च । तत्र हि—'द्विगोः ष्ठंश्च' (५-१-५४) इति सूत्रात् ष्ठनस्तत्र चेनाप्यनुकृष्टस्य 'खोऽन्यतरस्याम्' इत्यस्य चानुवृत्तिं स्वीकृत्य 'लुक्खौ च' इति भाष्ये-प्रत्याख्यातम् ॥ ७९ ॥

'लुटि च क्लृपः' इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने अनुवृत्यर्थक चकारों का प्रत्याख्यान किया है । उनका कहना है कि 'वृद्भ्यः स्यसनोः' (१।३।९२) सूत्र के स्य और सन् की अनुवृत्ति के लिये यदि 'लुटि च क्लृपः' (१।३।९३) में चकारग्रहण किया गया है तो 'द्युद्भ्यो लुङि' (१।३।९१) में 'वा क्यषः' (१।३।९०) सूत्र से वा की अनुवृत्ति के लिये यहाँ भी चकार का ग्रहण करना चाहिये । ऐसा कह कर भाष्यकार ने आगे कहा कि 'अथेदानीमन्तरेणापि चकारमनुवृतिर्भवति' अर्थात् विना चकारग्रहण के भी अनुवृत्ति होती है । इसलिये अनुवृत्ति के लिये कहीं भी चकार ग्रहण की आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार भाष्यकार ने अनुवृत्यर्थक सभी चकारों का प्रत्याख्यान कर दिया है । किस पद की कहाँ अनुवृत्ति होती है और कहाँ निवृत्ति होती है, यह निर्णय या निर्वाह तो व्याख्यान से ही हो सकता है । इस प्रत्याख्यानपरक भाष्य से यह परिभाषा विरुद्ध है, क्योंकि परिभाषा के अनुसार तो अनुवृत्ति के लिये चकार की आवश्यकता है और चकारानुकृष्ट की गति सब जगह नहीं होती, यह कहने के लिए इस परिभाषा की आवश्यकता है । इस प्रकार यह परिभाषा चकार प्रत्याख्यानपरक भाष्य से विरुद्ध है । इसके अतिरिक्त 'कुलिजाल्लुक्खौ च' (५।१।५५) इस सूत्र के भाष्य से भी यह परिभाषा विरुद्ध है । भाष्यकार ने इस सूत्र के चकार से 'द्विगोः ष्ठंश्च' (५।१।५४) सूत्र से ष्ठन् की अनुवृत्ति की है, और 'द्विगोः ष्ठंश्च' सूत्र के चकार से 'आढकाचितपात्रात् खोऽन्यतरस्याम्' (५।१।५३) सूत्र से वहाँ अनुकृष्ट 'खोऽन्यतरस्याम्' इस पद की भी अनुवृत्ति की है । इस प्रकार 'द्विगोः ष्ठंश्च' इस सूत्रस्थ ष्ठन् की तथा वहाँ चकारानुकृष्ट 'खोऽन्यतरस्याम्' इस पद की भी अनुवृत्ति 'कुलिजाल्लुक्खौ च' इस सूत्र में करके भाष्यकार ने 'लुक्खौ च' का प्रत्याख्यान किया है ।

इस भाष्य से सिद्ध होता है कि भाष्यकार चकारानुकृष्ट की भी अनुवृत्ति उत्तरत्र करते हैं, जब कि यह परिभाषा उसका निषेध करती है । इस प्रकार यह परिभाषा इस भाष्य से भी विरुद्ध है ।

यदि कहा जाय कि अनुवृत्यर्थक चकारों का प्रत्याख्यान करते समय भाष्यकार ने 'लुटि च क्लृपः' (१।३।९३) 'वृद्भ्यः स्यसनोः' (१।३।९२) 'वा क्यषः' (१।३।९०)

तथा 'ङुद्भ्यो लुङि' (१।३।९१) इन चार सूत्रों का उल्लेख किया है। इनमें जिस पद की अनुवृत्ति वाञ्छित है उस अनुवर्त्य पद से घटित सूत्र, तथा जिस सूत्र में अनुवृत्ति ले जानी है, वह सूत्र, इन दोनों में व्यवधान नहीं है। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ अनुवर्त्यपदघटित सूत्र से अव्यवहितोत्तर सूत्र में अनुवृत्ति ले जानी हो, उस सूत्र में अनुवृत्ति के लिये चकारग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वहाँ तो अनुवर्त्य पद में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा के आधार पर ही अनुवृत्ति हो सकती है, किन्तु जहाँ अनेक सूत्र व्यवहित पद की अनुवृत्ति वाञ्छित है वहाँ पर विना चकार के अनुवृत्ति संभव नहीं है, इसलिये वहाँ के चकार के प्रत्याख्यान में भाष्यकार का तात्पर्य नहीं है; अर्थात् वहाँ चकारग्रहण करके अनुवृत्ति करनी चाहिये। ऐसे स्थलों के लिये ही यह परिभाषा है, कि चकार से अनुकृष्ट की अन्यत्र गति नहीं होती है यदि इस प्रकार भाष्य का आशय लगाया जाय तो यह परिभाषा भाष्यविरुद्ध नहीं होगी ॥ ७९ ॥

नन्वनुदात्तादेरन्तोदात्ताच्च यदुच्यते तद्वचञ्जनादेर्व्यञ्जनान्ताच्च न प्राप्नोतीत्यत आह—

यहाँ यह विचार हो रहा है कि 'अनुदात्तादेरञ्' इस सूत्र से समूह अर्थ में विधीयमान् अञ् प्रत्यय 'कापोतमायूरम्' इस हलादि शब्द में नहीं होगा। इसी प्रकार 'अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्यामनित्यसमासे' इस सूत्र से विहित तृतीया विभक्ति का वैकल्पिक उदात्तत्व 'परमवाचा' इस प्रयोग में नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'जहाँ उत्तरपद अन्तोदात्त हो वहाँ इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। परमवाच् शब्द तो हलन्त है। उदात्तादि स्वर तो अच् वर्णों के ही होते हैं न कि हल् वर्णों के। ऐसी स्थिति में अनुदात्तादि तथा अन्तोदात्त से विहित कार्य व्यञ्जनादि यथा व्यञ्जनान्त शब्दों से नहीं हो सकेंगे। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों स्थलों में दोष हो रहा है, इस बात को ध्यान में रखकर यह परिभाषा बनाई गई—

स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् ॥ ८० ॥

स्वरविधि में व्यञ्जन वर्ण (हल् वर्ण) अविद्यमान के तुल्य हो जाता है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि 'कपोत और मयूर शब्द के ककार और मकार स्वरविधि में अविद्यमान हो जाते हैं। इसलिये ककारोत्तर तथा मकारोत्तर अकार ही दोनों जगह अनुदात्त होता है। इस प्रकार कपोत और मयूर शब्द को अनुदात्तादिमान कर अञ् प्रत्यय होता है।

स्वरोद्देश्यके विधावित्यर्थः। 'नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु' (६-२-१४२) इति सूत्रे पृथिव्यादिपर्युदासोऽस्या ज्ञापकः। अन्यथा पृथिव्यादीनामनुदात्तादित्वाभावादप्राप्तौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव।

धर्मिग्राहकमानादेव च स्वराद्देश्यकविधिविषयमिदम्। अत एव 'शतुरनुमो नद्यजादी' (६-१-१७३) 'अचः कर्तृयकि' (६-१-१९५) इत्यादावजादी अच इत्यादेश्चारितार्थ्यम्। अत एव 'राजवती'त्यादौ नलोपस्यासिद्धत्वादन्वतीशब्दत्वात् 'अन्तोऽवत्याः' (६-१-२२०) इति स्वरो न 'उदश्वित्वानि'त्यत्र 'ह्रस्वनुड्भ्याम्' (६-१-१७६) इति मतुबुदात्तत्वं च नेत्याकरः। स्पष्टं चेदं 'समासस्य' (६-१-२२३) इति सूत्रे भाष्ये।

'उच्चैरुदात्तः' (१-२-२९) इति सूत्रे कैयटस्त्वियमनावश्यकी, समभिव्याहृताजुपरागेण हलोऽप्युदात्तादिवदवभासात्तदुपपत्तेरित्याह। तत्र भाष्येऽपि ध्वनितमेतत् ॥ ८० ॥

परिभाषा में जो 'स्वरविधौ' पद आया है, उसमें 'स्वरस्य विधिः स्वरविधिस्तस्मिन्' इस प्रकार षष्ठीसमास किया गया है। विधि शब्द के योग में यद्यपि अनुक्त कर्म में स्वर शब्द से षष्ठी होनी चाहिये, किन्तु यह षष्ठी कर्म में न होकर शेष अर्थ में अर्थात् सम्बन्ध में हुई है। स्वर का विधि के साथ 'स्वोद्देश्यकशास्त्रविहितत्व' सम्बन्ध है। जैसे 'अनुदात्तादेरञ्' अनुदात्तादि शब्द को उद्देश्य करके अञ् का विधान करता है, इसलिये 'अञ् विधि, स्वरोद्देश्यक विधि हुई। इस प्रकार स्वरोद्देश्यकविधि में व्यञ्जन वर्ण अविद्यमान के समान हो जाता है। इसी तात्पर्य से लिखा गया है कि स्वरोद्देश्यक विधि में अविद्यमानवद्भाव होता है।

इस परिभाषा में 'नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिष्विति' सूत्र में किया गया 'अपृथिवी' इत्यादि पर्युदासवचन ज्ञापक है। यह सूत्र 'देवताद्वन्द्वे च' इस सूत्र से विहित उभयपद के प्रकृति स्वर का निषेधक है। यह निषेध 'द्यावापृथिवी' इस उदाहरण में प्रवृत्त न हो इसलिये 'अपृथिवी' इत्यादि पर्युदास किया गया है। प्रश्न यह है कि पृथिवी शब्द हलादि है, और स्वर जो होते हैं वे तो अच् वर्ण के होते हैं न कि व्यञ्जन वर्ण के होते हैं। ऐसी स्थिति में पृथिवी शब्द अनुदात्तादि कहा ही नहीं जायेगा, इसलिये उसे निषेध की प्राप्ति ही नहीं होगी। ऐसी स्थिति में द्यावापृथिवी प्रयोग में निषेध की अप्रवृत्ति के लिये 'अपृथिवी' आदि पर्युदास क्यों किया गया ? यही पर्युदास व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है। परिभाषा ज्ञापन के बाद 'पृथिवी' शब्द का पकार अविद्यमानवत् हो जाता है, इसलिये ऋकार ही उसका आदि अक्षर माना जाता है। इस प्रकार पृथिवी शब्द अनुदात्तादि हो जाता है। इसमें उक्त निषेध की प्रवृत्ति न हो, इसलिये 'अपृथिवी' यह पर्युदास स्वांश में चरितार्थ होता है। इसका फल होता है 'कापोतम्' 'मायूरम्' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि।

धर्मिग्राहकमान से अर्थात् ज्ञापक सामर्थ्य से यह परिभाषा स्वरोद्देश्यक विधि

में लगती है। तात्पर्य इसका यह है कि इस परिभाषा में ज्ञापक 'नोत्तरपदे' इत्यादि सूत्र में किया गया 'अपृथिवी' आदि पर्युदास है। अनुदात्तादि उत्तरपद को उद्देश्य करके 'देवताद्वन्द्वे च' इस सूत्र से विहित प्रकृतिस्वर का निषेध यहाँ विहित है। इस प्रकार यह विधि स्वरोद्देश्यक विधि हुई। इस स्वरोद्देश्यक विधि में पर्युदस्त अपृथिवी इत्यादि ग्रहण से ज्ञापित होने के कारण यह परिभाषा स्वरोद्देश्यक विधि में ही प्रवृत्त होती है, न कि स्वरकर्मक विधि में।

अत एव=स्वरोद्देश्यक विधि में ही इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है ऐसा स्वीकार करने से ही 'शतुरनुमो नद्यजादी' सूत्र जिसका अर्थ है—'नुम्रहित जो शतृप्रत्यय तदन्त जो अन्तोदात्त उससे पर में रहने वाले नदीसंज्ञक और शस् आदि अजादि विभक्ति उदात्त होती है' इस सूत्र में किया गया 'अजादी' ग्रहण तथा 'अचः कर्तृयकि' सूत्र जिसका अर्थ है 'उपदेश में अजन्त जो धातु उनका आदि उदात्त होता है कर्तृयक् पर में रहने पर' इस सूत्र में किया गया अच् ग्रहण ये दोनों चरितार्थ होते हैं। अभिप्राय इसका यह है कि ये दोनों सूत्र स्वर का विधान अर्थात् स्वर-कर्मक विधान करते हैं। यदि स्वरोद्देश्यकविधि में इसकी प्रवृत्ति न मान कर स्वरकर्मकविधि में भी इसकी प्रवृत्ति मानी जाती तो उपर्युक्त दोनों सूत्रों के उदाहरणों में भी व्यञ्जन का अविद्यमानवद्भाव हो जाता। परिणाम यह होता कि अजादि तथा अच् इन दोनों विशेषणों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि व्यञ्जन के अविद्यमान होने के कारण अजादित्व और अजन्तत्व वहाँ स्वयं मिल जाते। इस प्रकार दोनों सूत्रों में किया गया अजादी और अच् का ग्रहण व्यर्थ हो जाता। जब यह बात स्वीकार की जाती है कि यह परिभाषा स्वरोद्देश्यक विधि में लगती है तो उपर्युक्त दोनों सूत्रों में इसकी प्रवृत्ति न होने के कारण व्यञ्जन का अविद्यमानवद्भाव न होने के कारण 'अजादी' तथा 'अचः' इन दोनों की सार्थकता होती है। अत एव स्वरोद्देश्यकविधि में इस परिभाषा की प्रवृत्ति स्वीकार करने से ही 'अन्तोऽवत्याः' इस सूत्र से विहित अवती शब्द का अन्तोदात्तत्व 'वेत्रवती' की भाँति 'राजवती' इस प्रयोग में नहीं होता, क्योंकि यहाँ स्वरकर्मकविधि है। यदि यहाँ भी इस परिभाषा की प्रवृति होती तो 'राजवती' प्रयोग में 'नलोपः सुप्स्वर' सूत्र से असिद्ध नकार अविद्यमानवद् हो जाता और यहाँ भी 'अवती' शब्द की उप-लब्धि होने से अन्तोदात्तत्व होने लगता। जब इस परिभाषा की प्रवृत्ति स्वरोद्देश्यक विधि में ही स्वीकार करते हैं तो प्रस्तुत सूत्र में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। परिणामस्वरूप 'नलोपः सुप्स्वर' सूत्र से असिद्ध नकार अविद्यमानवत् नहीं होता। ऐसी स्थिति में 'अन्वती' शब्द की यहाँ उपलब्धि होती है जिससे 'अन्तोऽवत्याः' सूत्र से स्वर यहाँ नहीं होता। इसी प्रकार 'ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्' इस सूत्र के द्वारा ह्रस्वान्त, अन्तोदात्त और नुट् से पर में रहने वाले मतुप् को

विधेय उदात्तत्व 'कर्णवन्तः' की भाँति 'उदश्वित्वान्' 'मरुत्वान्' आदि प्रयोगों में नहीं होता क्योंकि यहाँ तकार का अविद्यमानवद्भाव नहीं होता, इसलिये तकार से व्यवधान होने के कारण मतुप् ह्रस्व से पर में नहीं मिलता है। यह बात आकर-ग्रन्थ में कही गई है। 'समासस्य' सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है।

'उच्चैरुदात्तः' इस सूत्र की व्याख्या के अवसर पर कैयट ने कहा है कि यह परिभाषा अनावश्यक है। क्योंकि व्यञ्जन वर्ण जिस स्वर वर्ण के समभिव्याहृत (समीप) रहेगा, उदात्तादिस्वरविशिष्ट उस अच् वर्ण के उपराग (सान्निध्य) से वह भी उदात्तादि की भाँति उसी प्रकार अवभासित होगा, जिस प्रकार जपाकुसुम के सन्निधान से श्वेत स्फटिक रक्तवत् प्रतीत होता है। इस प्रकार अनुपराग के कारण जब व्यञ्जन वर्ण भी उदात्तादिस्वरविशिष्ट हो सकते हैं तो अनुदात्तादि, अथवा उदात्तान्त को विहित जो कार्य है वे कार्य व्यञ्जन वर्ण की विद्यमानता में भी हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में व्यञ्जन को अविद्यमान करने के लिये इस परिभाषा की कोई आवश्यकता नहीं है।

यदि कहा जाय कि उदात्तत्वादिविशिष्ट अच् के उपराग के कारण व्यञ्जन वर्ण यद्यपि उदात्त की भाँति प्रतीत होने लगेगा किन्तु वस्तुतः तो वह उदात्त होता नहीं है, तो ऐसी स्थिति में उन्हें उदात्तत्वादिविशिष्ट मानकर शास्त्र की प्रवृत्ति उचित नहीं है; तो इस प्रकार की आशंका को दृष्टिगत कर कह रहे हैं कि 'तत्र= उच्चैरुदात्तः' सूत्र के भाष्य में भी यह बात ध्वनित है। भाष्यकार ने वहाँ कहा कि उदात्तत्वादि धर्म व्यञ्जन के नहीं हैं किन्तु अच् के ही हैं। अच् के समीप जो व्यञ्जन होता है वह भी सामीप्यात् उसके गुण को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अच् वर्ण के सामीप्य से व्यञ्जन में अच् के धर्म की अवभासमानता की व्यवस्था करके 'अनु-दात्तादि शब्दों से किये जाने वाले कार्यों को व्यञ्जनादि और व्यञ्जनान्त शब्दों से होने के लिये भाष्यकार ने कोई दूसरा उपाय प्रदर्शित नहीं किया। इससे विदित होता है कि अनुदात्तत्वादि के अवभासमात्र को लेकर भी शास्त्र की प्रवृत्ति करना भाष्यकार को अभीष्ट है। इस प्रकार व्यञ्जनादि और व्यञ्जनान्त शब्दों में इस परिभाषा के विना भी स्वरोद्देश्यक विधियाँ हो सकती हैं, इसलिये इस परिभाषा की अनावश्यकता भाष्य में ध्वनित है ॥ ८० ॥

नन्वेवमपि राजदृषदित्यादौ 'समासस्य' (६-१-२२३) इत्यन्तोदात्तत्वं षकारस्य न स्यादत आह—

एवम्=इस प्रकार पूर्व परिभाषा से स्वरोद्देश्यकविधि में व्यञ्जन वर्ण के अविद्यमानवद्भाव को स्वीकार करने पर भी स्वरकर्मक विधि में व्यञ्जन के अविद्यमानवद्भाव न होने के कारण 'राजदृषद' इस प्रयोग में 'समासस्य' सूत्र से

विहित अन्त्य वर्ण को उदात्तत्व षकारोत्तरवर्ती अकार को नहीं हो सकेगा क्योंकि वह समास का अन्तिम वर्ण नहीं है। यदि दकार का अविद्यमानवद्भाव हो जाता तो षकारोत्तरवर्ती अकार अन्त्य वर्ण कहा जाता और उसे उदात्तत्व हो जाता, किन्तु यहाँ व्यञ्जन वर्ण के अविद्यमानवद् न होने के कारण दकार को यह स्वर होने लगेगा। यदि कहा जाय कि दकार के व्यञ्जन होने के कारण अच् का धर्म उदात्तत्व उसे कैसे होगा? तो इसका उत्तर यह है कि उसके स्थान पर उसका अन्तरतम और उदात्तगुणविशिष्ट लृकार आदेश होने लगेगा। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् ॥ ८१ ॥

हल् के स्थान पर स्वर की प्राप्ति होने पर व्यञ्जनवर्ण अविद्यमान के तुल्य हो जाता है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का परिणाम यह हुआ कि उपर्युक्त प्रयोग में दकार के अविद्यमानवत् हो जाने के कारण षकारोत्तरअकार उदात्त हो गया।

अस्याश्च 'यतोऽनावः' (६-१-२१३) इति सूत्रेऽनौप्रतिषेधो ज्ञापकः। 'नाव्यमि'त्यत्रादिर्नकारो न स्वरयोग्यो यश्चाकारस्तद्योग्यो नासावादिरिति स प्रतिषेधोऽनर्थकः। न चादिरेव नकार उदात्तगुणविशिष्टान्तरतमाज्रूपोऽस्त्विति वाच्यम्। तथा सति निमित्तभूतद्व्यच्कत्वस्य विनाशादुपजीव्यविरोधेनाद्युदात्तत्वाप्तेरित्यन्यत्र विस्तरः। स्पष्टा चेयं 'समासस्य' (६-१-२२३) इति सूत्रे भाष्ये ॥ ८१ ॥

'यतोऽनावः' इस सूत्र में किया गया 'अनौ' यह प्रतिषेध इस परिभाषा का ज्ञापक है। यह सूत्र यत् प्रत्ययान्त द्व्यच्क अर्थात् दो अच् वाले को आदि उदात्त करता है। नौ शब्द को यह आद्युदात्तत्व नहीं होता है।

यहाँ जिज्ञासा होती है कि 'नाव्यम्' इस प्रयोग में आदि में जो नकार है वह हल् वर्ण होने के कारण स्वर के अयोग्य है और जो आकार स्वर के योग्य है वह आदिवर्ण नहीं है। ऐसी स्थिति में 'नाव्यम्' प्रयोग में जब आदि उदात्त की प्राप्ति ही नहीं है तो इसके निषेध के लिये 'अनौ' यह प्रतिषेध क्यों किया गया? यही प्रतिषेध व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है। इस ज्ञापन के बाद 'नाव्यम्' प्रयोग में नकार के अविद्यमानवद् हो जाने के कारण आकार को यह स्वर न होने लग जाय इसलिये 'अनौ' इस प्रतिषेध की सार्थकता होती है। फल यह होता है कि 'राजदृषद्' इस प्रयोग में षकारोत्तरवर्त्ती अकार को उदात्तत्व की सिद्धि हो जाती है।

यदि कहा जाय कि व्यञ्जन वर्ण का उदात्तत्व असंभव होने पर भी 'नाव्यम्' इस प्रयोग में आदि नकार ही उदात्तगुणविशिष्ट अन्तरतम अच् ऌकार के रूप में परिवर्तित हो जाय। अर्थात् उसके स्थान पर उदात्तत्वविशिष्टऌकार आदेश हो जाय। इस प्रकार के आदेश की व्यावृत्ति के लिये 'अनौ' यह प्रतिषेध सार्थक है। ऐसी स्थिति में वह परिभाषा का ज्ञापक किस प्रकार हो सकता है? इस प्रकार की शंका के उत्तर में लिख रहे हैं कि—नकार के स्थान पर ऌकार आदेश करने पर प्रस्तुत उदाहरण तीन अचों वाला हो जायेगा। इस प्रकार आदि-उदात्तविधि का निमित्तभूत द्वयच्कत्व (दो अच्) नष्ट हो जायेगा क्योंकि उत्तर-संख्या पूर्वसंख्या की बाधिका होती है। इस प्रकार उपजीव्यविरोध होने लगेगा जो कि सर्वथा अन्याय्य है। इसलिये सन्निपातपरिभाषा के द्वारा 'नाव्यम्' प्रयोग में 'यतोऽनावः' सूत्र की प्रवृत्ति का निषेध हो जायेगा। इस प्रकार 'अनौ' यह प्रतिषेध व्यर्थ ही हो जाता है और व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है। यह बात अन्यत्र विस्तार से कही गई है। 'समासस्य' सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है॥ ८१॥

ननु 'पूरणगुण' (२–२–११) इति निषेधस्तव्यत्यपि स्यात्। 'दिव औत्' (७–१–८४) इत्यौत्त्वं दिवेः क्विप्यपि स्यात्। तथा 'यतोऽनावः' (६–१–२१३) इति स्वरो ण्यत्यपि स्यात्। 'ऋदृशोऽङि गुणः' (७–४–१६) इति चङ्यपि स्यात्। अत आह—

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'पूरणगुणसुहितार्थ' सूत्र से षष्ठीसमास का निषेध जैसे तव्यप्रत्ययान्त के साथ होता है उसी प्रकार 'स्वकर्त्तव्यम्' इस प्रयोग में तव्यत् प्रत्ययान्त के साथ भी षष्ठी समास का निषेध होना चाहिये। लक्ष्य में तकार अनुबन्ध के न रहने के कारण तव्य और तव्यत् के रूप में कोई वैषम्य तो रहता नहीं है। इस प्रकार दोनों प्रत्यय समान रूप हो जाते हैं, इसलिये दोनों जगह समास का निषेध होना चाहिये।

इसी प्रकार अव्युत्पन्न तथा निरनुबन्धक दिव् प्रातिपदिक से सु विभक्ति लाने पर जिस प्रकार 'दिव औत्' सूत्र से औ आदेश होता है उसी प्रकार सानुबन्धक दिवु धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'अक्षद्यूः' इत्यादि प्रयोगों में भी औ आदेश होना चाहिये क्योंकि दिवु धातु का अनुबन्ध उकार लक्ष्य में रहता नहीं है, इसलिये दोनों दिव् समानरूप हो जाते हैं।

इसी प्रकार 'यतोऽनावः' सूत्र से विहित आदि उदात्तत्व जिस प्रकार यत् प्रत्यय पर में रहने पर होता है, उसी प्रकार 'कार्यम्' आदि प्रयोगों में जहाँ ण्यत् प्रत्यय हुआ है यहाँ भी क्यों नहीं होता, क्योंकि ण्यत् का अनुबन्ध णकार लक्ष्य में नहीं रहता, इसलिये यत् और ण्यत् के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं रह जाता है।

इसी प्रकार 'ऋदृशोऽङि गुणः' सूत्र से विधेय गुण अङ् की भाँति चङ् पर में रहने पर भी होना चाहिये, क्योंकि अनुबन्धरहित चङ्, अङ् से अनतिरिक्त ही है।

इन सब आशंकाओं के होने पर ये दो परिभाषाएँ बनाई गईं—

निरकबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ॥ ८२ ॥

तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ॥ ८३ ॥

अनुबन्धरहित का बोधक जो पद उससे अनुबन्धसहित का ग्रहण नहीं होता।

'सः=सूत्रे उपात्तः पठितोऽनुबन्धो यस्य स तदनुबन्धकः' अर्थात् सूत्र में पठित जो अनुबन्ध, तदनुबन्धक अर्थात् तन्मात्रानुबन्धक बोधकपदघटितशास्त्र में; अतदनुबन्धक का अर्थात् सूत्र में पठितमात्र ही जिसका अनुबन्ध नहीं है, किन्तु उसके अतिरिक्त भी कोई दूसरा और अनुबन्ध साथ में लगा है ऐसे अतदनुबन्धक का ग्रहण नहीं होता है।

इन दोनों परिभाषाओं को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि 'पूरणगुण' इस सूत्र में पठित अनुबन्धरहित तव्य प्रत्यय से तकार रूपी अनुबन्ध से युक्त 'तव्यत्' प्रत्यय का ग्रहण नहीं हुआ। यह पहली परिभाषा का फल है। दूसरी का फल यह है कि 'यतोऽनावः' इस सूत्र में यत् प्रत्यय जो तदनुबन्धक अर्थात् सूत्र में उच्चारिततकार अनुबन्ध के कारण तदनुबन्धक है, इससे 'अतदनुबन्धक' अर्थात् तकार मात्र अनुबन्ध के अतिरिक्त अन्य अनुबन्ध से युक्त 'ण्यत्' का ग्रहण नहीं होता। यहाँ ण्यत् प्रत्यय तकारातिरिक्त णकाररूपी अनुबन्ध से युक्त होने के कारण अतदनुबन्धक है।

'वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ' (४–२–९) इति सूत्रे ङ्यङ्यतोर्डित्वमनयोर्ज्ञापकम्। तद्धि–'ययतोश्चातदर्थे' (६–१–१५६) इत्यत्र तयोरग्रहणार्थम्। नञः परस्य यदन्तस्योत्तरपदस्यान्त उदात्त इति तदर्थः। एवञ्चावामदेव्येऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर एव भवति।

'वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ' इस सूत्र में 'ड्यत्-ड्य' प्रत्ययों में किया गया डित् करण इस परिभाषा का ज्ञापक है। 'वामदेवेन दृष्टं साम' इस विग्रह में 'वामदेव्यम्' इस प्रयोग की सिद्धि के लिये विहित ड्यत् और ङ्य प्रत्ययों का डित्व, टिलोप के लिये किया गया है, किन्तु जब भ संज्ञा करके 'यस्येति च' सूत्र से अकार का लोप करके 'वामदेव्यम्' प्रयोग की सिद्धि हो सकती है तब टिलोप के द्वारा उक्त प्रयोग की सिद्धि के लिये डित् करण की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार उक्त सूत्र में किया गया डित्करण इन दोनों परिभाषाओं का ज्ञापक होता है। जब ये दोनों परिभाषाएँ ज्ञापित हो गई तो 'यतोश्चातदर्थे' इस सूत्र में उल्लिखित य और यत् प्रत्ययों से इन दोनों (ड्य और ड्यत्) का ग्रहण न होने लगे, इसलिये डित्करण स्वांश

में चरितार्थ होता है। इनमें पूर्वपरिभाषा के द्वारा निरनुबन्धक य प्रत्यय से सानुबन्धक ड्य का ग्रहण नहीं हुआ, तथा तकारमात्रानुबन्धक यत् प्रत्यय से अतदनुबन्धक ड्यत् का ग्रहण नहीं हुआ।

यदि ये दोनों परिभाषाएँ नहीं होती तो लक्ष्यस्थ रूप को लेकर सूत्र की प्रवृत्ति करने पर य से ड्य का यत् प्रत्यय से ड्यत् प्रत्यय का ग्रहण होने लगता। 'ययतोश्चातदर्थे' यह सूत्र नञ् से पर में रहने वाले य प्रत्ययान्त तथा यत् प्रत्ययान्त उत्तरपद के अन्त को उदात्त करता है। 'पाशानां समूहः पाश्या, न पाश्या अपाश्या' इस प्रयोग में अव्यय पूर्वपद प्रकृतिस्वर को बाधकर इस सूत्र से यहाँ अन्तोदात्त किया जाता है। किन्तु उक्त सूत्र में ड्य और ड्यत् का ग्रहण न होने के कारण 'अवामदेव्यम्' इस प्रयोग में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हुई, इसलिये यहाँ अन्तोदात्त न होकर अव्ययपूर्वप्रकृतिस्वर ही होता है।

तन्मात्रानुबन्धकग्रहणे स चान्यश्चानुबन्धो यस्य तद्ग्रहणं नेत्यन्त्यार्थः। एते च प्रत्ययाप्रत्ययसाधारणे, 'दिव औत्' (७–१–८४) इत्यादौ सञ्चारितत्वात्।

वर्णग्रहणे चानयोरप्रवृत्तिरिति स्पष्टम् 'औङ आपः' (७–१–१८) इत्यत्र भाष्ये।

येनानुबन्धेन सानुबन्धकत्वं द्व्यनुबन्धकत्वादि वा तदनुच्चारण एवैषा धर्मिग्राहकमानात्। तेन 'जश्शसोः' (७–१–२०) इत्यत्र नैषेति निरनुबन्धकत्वात् तद्धितशस एवात्र ग्रहणं स्यादिति न शङ्क्यम्।

एवमन्त्यान्यतरानुबन्धोच्चारण एव। तेन 'वनो र च' (४-१-७) इत्यादौ ङ्वनिप्क्वनिपोर्ग्रहणसिद्धिः।

एकानुबन्धग्रहणे सम्भवतीति त्वर्थो न भाष्यादिसम्मत इत्यन्यत्र विस्तरः॥ ८२-८३॥

प्रस्तुत दोनों परिभाषाओं में दूसरी परिभाषा का अर्थ अस्पष्ट होने के कारण उसे स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि तन्मात्रानुबन्धक अर्थात् सूत्र में उच्चारित मात्र ही जिसका अनुबन्ध है ऐसे तन्मात्रानुबन्धक पदघटितशास्त्र में (सूत्र में) उसका ग्रहण नहीं किया जाता जिसमें सः=सूत्रोच्चारित और उसके साथ अन्य=कोई दूसरा भी अनुबन्ध लगा हुआ है। जैसे—'ययतोश्चातदर्थे' इस सूत्र में 'यत्' प्रत्यय तकाररूपी अनुबन्ध के कारण तदनुबन्धक है, इस तदनुबन्धकपद यत्घटित सूत्र में तकाररूपी अनुबन्ध के अतिरिक्त डकाररूपी अनुबन्ध से घटित 'ड्यत्' प्रत्यय का ग्रहण नहीं होता है।

ङ्च और ङ्चत् प्रत्यय के ङित्करण से ज्ञापित होने के कारण ये दोनों परिभाषाएँ ज्ञापकसाजात्य से प्रत्ययग्रहण में ही प्रवृत्त होती हैं इस भ्रम को दूर करते हुए कह रहे हैं कि ये दोनों परिभाषाएँ प्रत्यय और अप्रत्ययसाधारण हैं अर्थात् दोनों जगहों पर इनकी प्रवृत्ति होती है। इसका कारण यह है कि भाष्यकार ने 'दिव औत्' सूत्र में इनकी प्रवृत्ति करके 'अक्षद्यूः' प्रयोग में औत् आदेश का वारण किया है। दिव् यह प्रातिपादिक है और भाष्यकार ने यहाँ इनमें से एक की (प्रथम की) प्रवृत्ति की है, इससे सिद्ध होता है कि केवल प्रत्ययग्रहण में नहीं किन्तु प्रत्यय और अप्रत्यय दोनों प्रकार के स्थलों में इन दोनों परिभाषाओं की प्रवृत्ति होती है।

वर्णग्रहण में इन दोनों परिभाषाओं की प्रवृत्ति नहीं होती, यह बात 'औङ आपः' इस सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। भाष्यकार ने वहाँ विचार किया कि 'औङ्' इस स्वरूप का तो कोई प्रत्यय है ही नहीं तो यहाँ ङकार के उच्चारण का क्या प्रयोजन है ? इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा कि सामान्य रूप से प्रथमा और द्वितीया के द्विवचनों के ग्रहण के लिये यहाँ ङकार विशिष्ट 'औङ्' का पाठ किया गया है। तात्पर्य यह है कि यहाँ का ङकार अनुबन्ध नहीं है, किन्तु वह असन्देह के लिये है। इस प्रकार औङ् के द्वारा यहाँ केवल औवर्ण का निर्देश किया गया है। 'औ' यह वर्ण है और वर्णग्रहण में निरनुबन्धकग्रहणे परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है, इस लिये औङ् शब्द से प्रथमा और द्वितीया इन दोनों के द्विवचनों का ग्रहण होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्णग्रहण में दोनों परिभाषाओं की प्रवृत्ति नहीं होती है।

धर्मिग्राहकमानात्=ज्ञापक के साजात्य से (ङ्च और ङ्चत् के ङित्करण से) इन परिभाषाओं की प्रवृत्ति के विषय में यह निश्चय किया गया है कि जिस अनुबन्ध के कारण कोई सानुबन्धक होता हो, अथवा दो अनुबन्धों वाला हो रहा हो, उस अनुबन्ध के अनुच्चारण में ही इन परिभाषाओं की प्रवृत्ति होती है। जैसे— 'ययतोश्चातदर्थे' इस सूत्र में ङकाररूपी अनुबन्ध के कारण य प्रत्यय सानुबन्धक हो सकता है और यत् प्रत्यय ङकार रूपी अनुबन्ध के द्वारा दो अनुबन्धों वाला हो सकता है। इस ङकाररूपी अनुबन्ध का उच्चारण प्रस्तुत सूत्र में नहीं किया गया है, इसलिये इस सूत्र में परिभाषाओं की प्रवृत्ति हो जाती है जिससे सानुबन्धक ङ्च और दो अनुबन्ध वाले ङ्यत् का ग्रहण यहाँ नहीं होता है। 'जश्शसोः शिः' इस सूत्र में शकाररूपी अनुबन्ध का उच्चारण कर दिया गया है इसलिये यहाँ निरनुबन्धक ग्रहण की प्रवृत्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में यहाँ तद्वितीय शस् प्रत्यय का ही ग्रहण होना चाहिये, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यहाँ जस् के साहचर्य से विभक्ति संज्ञक शस् का ही ग्रहण होता है।

इसी प्रकार अन्त्या अर्थात् दूसरी परिभाषा की प्रवृत्ति वहीं होती है जहाँ दो अनुबन्धों में से अन्यतर (किसी एक का) का उच्चारण किया गया हो। जैसे—

ङ्यत् के ङकार और तकार इन दो अनुबन्धों में से अन्यतर तकार का उच्चारण 'ययतोश्चातदर्थे' सूत्र के यत् प्रत्यय में किया गया है, इसलिये यहाँ इसकी प्रवृत्ति होने से ङ्यत् का ग्रहण नहीं किया जाता है। इसका फल यह हुआ कि 'वनो र च' इस सूत्र में 'वन्' इस शब्द में किसी भी अनुबन्ध का ग्रहण न करने के कारण तदनुबन्धकग्रहणे परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं हुई। फलस्वरूप इस सूत्र में ङ्वनिप् और क्वनिप् इन दोनों का तथा वनिप् इस तीसरे का भी ग्रहण 'वन्' इस सामान्य ग्रहण से हो जाता है।

'एक अनुबन्ध का ग्रहण सम्भव हो तो' इत्यादि रूप में हुआ इस परिभाषा का अर्थ भाष्यादि से सम्मत नहीं है, यह बात अन्यत्र विस्तार से कही गई है ॥८२-८३॥

ननु 'कुटीर' इत्यादौ स्वार्थिकत्वात् स्वार्थिकानां प्रकृतितो लिङ्गवचनानुवृत्तेर्न्यायप्राप्तत्वात् पुंस्त्वानुपपत्तिः, 'अप्कल्पमि'त्यत्र नपुंसकत्वैकवचनयोरनुपपत्तिश्चेत्यत आह—

'ह्रस्वा कुटी' इस अर्थ में 'कुटी शमी शुण्डाभ्यो रः' इस सूत्र से स्वार्थ में र प्रत्यय करके 'कुटीर' शब्द बनता है। प्रथमा के एकवचन में 'कुटीरः' यह इसका परिनिष्ठित रूप है। यहाँ शंका होती है कि ह्रस्वकुटीरूप प्रकृति के अर्थ में र प्रत्यय का विधान करने के कारण र प्रत्यय स्वार्थिक है। स्वार्थिक का तात्पर्य है प्रकृति का अर्थ। अर्थात् स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति के अर्थ से अतिरिक्त अर्थ को नहीं कहते हैं। ऐसी स्थिति में स्वार्थिक प्रत्ययों के द्वारा प्रकृति के लिङ्ग और वचन का ही अनुवर्तन करना न्यायतः प्राप्त होता है। इस प्रकार कुटीर शब्द से स्त्रीलिंग का ही प्रयोग होना चाहिये, न कि पुंलिंग का प्रयोग। अर्थात् 'कुटीरः' इस प्रयोग में पुंलिंग अनुपपन्न है।

इसी प्रकार 'ईषदसमाप्ता आपः' इस विग्रह में 'ईषदसमाप्तौ कल्पब् देश्यदेशीयरः' इस सूत्र से कल्पप् प्रत्यय करके 'अप्कल्पम्' जो यह रूप बनता है यहाँ भी प्रकृति अप् शब्द के नित्यस्त्रीलिंग और बहुवचन होने के कारण कल्पप् प्रत्ययान्त से भी स्त्रीलिंग और बहुवचन का ही प्रयोग होना चाहिये। इस प्रकार यहाँ नपुंसकलिंग और एकवचन का प्रयोग करना अनुपपन्न है।

इस प्रकार की शंकाओं के होने पर यह परिभाषा बनी—

क्वचित् स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्ते ॥ ८४ ॥

स्वार्थिक प्रत्यय कहीं कहीं प्रकृति के लिङ्ग और वचन का अतिवर्तन कर देते है, अर्थात् उन्हें छोड़ देते हैं।

इस परिभाषा को स्वीकार करने से उपर्युक्त दोनों दोष हट गये, क्योंकि स्वार्थिक

प्रत्ययान्त शब्दों से प्रकृति के लिङ्ग और वचन का अतिवर्तन करके वाञ्छित रूपों की सिद्धि कर ली जाती है।

'णचः स्त्रियाम्' (५-४-१४) इति सूत्रे स्त्रियामित्युक्तिरस्या ज्ञापिका। अन्यथा 'कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्' (३-३-४३) इति स्त्रियामेव विधानात् किं तेन ? स्पष्टा चेयं बहुज्विधायके भाष्ये ॥ ८४ ॥

'णचः स्त्रियामञ्' इस सूत्र में किया गया 'स्त्रियाम्' पद का ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। 'व्यावक्रोशी, व्यावहासी' इत्यादि प्रयोगों में 'कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्' इस सूत्र से स्त्रीलिंग में और भाव अर्थ में णच् प्रत्यय का विधान किया जाता है। इस णच् प्रत्ययान्त से विधीयमान स्वार्थिक तद्धित अञ् प्रत्यय स्वयमेव स्त्रीलिंग में होगा, क्योंकि उसकी प्रकृति स्त्रीलिंग ही है। ऐसी स्थिति में 'णचः स्त्रियामञ्' इस सूत्र में 'स्त्रियाम्' ग्रहण की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार 'स्त्रियाम्' यह उक्ति व्यर्थ होकर इस परिभाषा की ज्ञापिका होती है। जब परिभाषा का ज्ञापन हो जाता है तो णजन्त के स्त्रीलिंग में वर्तमान होने पर भी अञन्त से उससे भिन्न लिंग न होने लगे इसलिये 'स्त्रियाम्' यह उक्ति सार्थक होती है। 'विभाषा सुपो बहुच्' प्रत्ययविधायकसूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है ॥ ८४ ॥

ननु 'सुपथी नगरी'ति 'युवोरनाकौ' (७-१-१) इति सूत्रभाष्योदाहृत 'इनः स्त्रियाम्' (५-४-१५२) इति कप् स्यादत आह—

'शोभनः पन्थाः यस्याम्' इस विग्रह में बहुव्रीहि समास से निष्पन्न सुपथिन् शब्द से स्त्रीत्व का द्योतक ङीप् प्रत्यय और टिलोप करके सुपथी यह नगरी का विशेषण स्त्रीलिंग शब्द बना है। यहाँ शंका होती है कि बहुव्रीहि समास के बाद जब 'सुपथिन्' यह स्थिति होती है तब 'इनः स्त्रियाम्' इस सूत्र से समासान्त कप् प्रत्यय यहाँ क्यों नहीं होता ? 'सुपथी नगरी' इस वाक्य का प्रयोग भाष्यकार ने 'युवोरनाकौ' सूत्र के भाष्य में किया है। 'विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्' इस परिभाषा का उदाहरण देते हुए भाष्यकार ने वहाँ कहा कि 'सुपथी नगरी' इस प्रयोग में 'सुपथी' इस स्त्रीलिंग शब्द से सु विभक्ति लाने पर 'पथिमथि' सूत्र से आत्व नहीं होता क्योंकि विभक्ति-निमित्तक कार्य करने में लिङ्गविशिष्ट का ग्रहण नहीं किया जाता। इस प्रकार 'युवोरनाकौ' सूत्र के भाष्य में उदाहृत 'सुपथी' इस प्रयोग में समासान्त कप् क्यों नहीं होता ? ऐसी शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

समासान्तविधिरनित्यः ॥ ८५ ॥

समासान्त विधि अनित्य होती है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल हुआ कि 'सुपथी' प्रयोग में समासान्त कप् नहीं हुआ।

'प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे' (६-२-१९३) इत्यन्तोदात्तत्वायांश्वादिषु राजन्-शब्दपाठोऽस्या ज्ञापकः। अन्यथा टचैवान्तोदात्तत्वे सिद्धे किं तेन। 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्द्धसु' (६-२-१९७) इति स्वरविधायके भाष्ये स्पष्टेयम् ॥ ८५ ॥

'प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे' इस सूत्र से 'प्रतिराजा' इस प्रयोग में अन्त्य को उदात्त स्वर करने के लिये अंश्वादिगण में राजन् शब्द का पाठ किया गया है। यही पाठ इस परिभाषा का ज्ञापक है।

यदि यह परिभाषा नहीं होती तो समासान्त विधि नित्य होती। ऐसी स्थिति में राजन् शब्द का प्रति के साथ समास करने पर 'राजाहः' इत्यादि सूत्र से टच् प्रत्यय (समासान्त) होता और उसके चित् होने के कारण 'चितः' सूत्र से ही अन्तोदात्तत्व सिद्ध था, तो इस कार्य के लिये अंश्वादिगण में राजन् शब्द के पाठ की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार उक्त गण में किया गया राजन् शब्द का पाठ व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है।

'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ' अन्तोदात्तस्वरविधायक इस सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है। इस सूत्र में जिस प्रकार 'पाद् और दत्' ये दो निर्देश समासान्त करके किये गये हैं उसी प्रकार मूर्धन् शब्द से भी समासान्त ष प्रत्यय करके 'मूर्धेषु' ऐसा निर्देश करना चाहिये था, किन्तु ऐसा किया नहीं गया है, अपितु 'समासान्तरहितमूर्धसु' ऐसा पाठ किया गया है। इससे भी समासान्तविधि की अनित्यता ज्ञापित होती है ॥ ८५ ॥

ननु 'शतानी'त्यादौ नुमि कृते षट्संज्ञा प्राप्नोति, ततश्च लुक् स्यात्तथा-'उपादास्ते'त्यत्रात्त्वे कृते 'स्थाघ्वोरिच्च' (१–२–१७) इतीत्त्वं प्राप्नोतीत्यत आह—

शत शब्द से जस् विभक्ति लाकर 'जश्शसोः शिः' सूत्र से जश् को शि करने पर 'नपुंसकस्य झलचः' सूत्र से नुम् और 'सर्वनामस्थाने' सूत्र से दीर्घ करने पर 'शतानि' प्रयोग बनता है। यहाँ शंका होती है कि यदागमपरिभाषा से नुम् विशिष्ट, अंग कहा जायेगा। ऐसी स्थिति में नान्तसंख्यावाचक शब्द को षट् संज्ञा प्राप्त होती है और यदि शतन् शब्द को षट्संज्ञा हो जाती है तो उसके आगे जश् का लुक् होना चाहिये।

यदि कहा जाय कि नुम्, विभक्तिसापेक्ष होने के कारण बहिरङ्ग है इसलिये षट्-संज्ञा के प्रति वह असिद्ध हो जायेगा, इसलिये षट्संज्ञा नहीं होगी, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि संज्ञा भी विधिनिमित्तनिमित्तक होती है। इसलिये षट्संज्ञा भी 'षडभ्यो लुक्' इस विधिशास्त्र के लिये अपेक्षित जश्शस्निमित्तक हो जायेगी। इस प्रकार विभक्ति सापेक्षता दोनों की समान होने के कारण बहिरङ्गपरिभाषा की प्रवृत्ति का यहाँ प्रश्न ही नहीं होता।

यदि कहा जाय कि षान्त शब्द की भाँति नान्त शब्द भी औपदेशिक नान्त ही लिया जायेगा। ऐसी स्थिति में 'शतानि' इस प्रयोग में उक्त दोष नहीं है क्योंकि यह औपदेशिक नान्त नहीं है। इस प्रकार 'शतानि' में दोष न होने के कारण उपादास्त' प्रयोग में दोष दिखाते हुए कह रहे हैं कि उप पूर्वक दीङ् धातु से लुङ् लकार उसके स्थान पर त प्रत्यय, च्लि, सिच्, अट् का आगम करने पर 'उपा-दी-स्-त' इस स्थिति में 'मीनति मिनोति दीङां ल्यपि च' इस सूत्र से सिच्निष्ठएज्विषयत्व के आधार पर धातु के ईकार को आत्व करने के बाद 'स्थाघ्वोरिच्च' सूत्र से आकार को इकार की प्राप्ति होती है। यदि यहाँ इकार आदेश हो जायेगा तो उसे गुण करके सकार को षकार और तकार को ष्टुत्वेन टकार करने के बाद 'उपादेष्ट' यह अनिष्ट प्रयोग बनने लगेगा। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य ॥ ८६ ॥

दो के सम्बन्ध को निमित्त मानकर जो विधि (कार्य) होती है। वह विधि उस सम्बन्ध के विधान का कारण नहीं होती है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि 'शतानि' प्रयोग में अजन्त अंग और जश् के अव्यवहितपूर्वापरीभावसन्निपात के कारण जायमान नुम्, नान्तत्वप्रयुक्तषट्संज्ञा के द्वारा जश् के विनाश (लुक्) का निमित्त नहीं हुआ। यदि जश् का लुक् हो जाय तो अंग और जश् का पूर्वापरीभावसम्बन्ध नष्ट ही हो जायेगा।

इसी प्रकार 'उपादास्त' प्रयोग में यदि इत्व होगा तो उसके साथ ही सिच् को कित्व भी होगा। परिणाम यह होगा कि सिच् के कित् होने के कारण उसे पर में मानकर गुण का निषेध क्ङिति च सूत्र से होने लगेगा। इस प्रकार सिच् में रहने वाला एज्विषयत्व नष्ट हो जायेगा। इसलिये इस परिभाषा के द्वारा यहाँ इत्व का निषेध कर दिया जाता है। क्योंकि सिच् के जिस एज्निमित्तत्व के आधार पर यहाँ आत्व हुआ है वही आत्व अपने स्थान पर इत्व के साथ सिच् को कित् बना कर उसके एज्निमित्तत्व के विनाश का कारण नहीं होगा। इस परिभाषा को स्वीकार करने से 'उपादास्त' प्रयोग की सिद्धि होती है।

सनिपातः=द्वयोः सम्बन्धस्तन्निमित्तो विधिस्तं सन्निपातं यो विहन्ति तस्याऽनिमित्तम्। उपजीव्यविरोधस्यायुक्तत्वमिति न्यायमूलैषा।

सन्निपात का अर्थ है दो का सम्बन्ध। वह सम्बन्ध निमित्त अर्थात् कारण है जिस विधि का वह विधि सन्निपातलक्षणविधि कही जाती है। यह सन्निपातलक्षणविधि, उस सन्निपात को जो नष्ट करता है उसका निमित्त नहीं होती है। तात्पर्य

यह है कि सन्निपातलक्षणविधि ऐसा कोई कार्य नहीं होने देती, जिससे उसके सन्निपात का विनाश होता हो। ऐसा होता इसलिये है कि जो अपना उपजीव्य (उपकारक) हो उसका विरोध करना सर्वथा अयुक्त है। अपने उपकारक का विरोध नहीं करना चाहिये, यही न्याय इस परिभाषा का मूल है।

शतानि इस उपर्युक्त उदाहरण में यदि जश् का लुक् हो जाता है तो सन्निपात विरोध स्पष्ट ही है क्योंकि जिस जश् के द्वारा शब्द नान्त बनता है वही नान्तत्व जश् के विनाश का कारण हो रहा है। इसलिये यहाँ जश् का लुक् नहीं होता। इसी प्रकार 'उपादास्त' प्रयोग में इत्व होने पर तत् सन्नियोग शिष्ट कित्व होने से सिच् का एच्निमित्तत्व नष्ट हो जाने के कारण सन्निपात विरोध स्पष्ट ही था, जो इस परिभाषा के कारण रोक दिया गया।

अत एवात्र सन्निपातशब्देन न पूर्वपरयोः सम्बन्ध एव, किन्तु विशेष्य-विशेषणसन्निपातोऽपि गृह्यते। अत एव 'ग्रामणि कुलमि'त्यादौ नपुंसकह्रस्व-त्वेऽपि 'पिति कृति' (६-१-७१) इति तुग्न प्रातिपदिकाजन्तत्वसन्निपातेन जातस्य ह्रस्वस्य तद्विघातकत्वात्। तुक्यजन्तत्वविघातः स्पष्ट एव।

न चार्थाश्रयत्वेन ह्रस्वस्य बहिरङ्गतयाऽसिद्धत्वम्, अर्थकृतबहिरङ्ग-त्वानाश्रयणस्योक्तत्वात्। किञ्च 'षत्वतुकोरसिद्धः' (६-१-८६) इत्येतद्बलात्कृतितुग्ग्रहणाच्च तुग्विधौ बहिरङ्गपरिभाषाया अप्रवृत्तेः।

अत एव 'उपजीव्यविरोधस्यायुक्तत्वम्' इस न्यायमूलक होने के कारण ही इस परिभाषा में सन्निपात शब्द से न केवल पूर्व और पर का सम्बन्ध ही लिया जाता है अपितु विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धरूपी सन्निपात भी गृहीत किया जाता है। अत एव=विशेष्यविशेषणभावसम्बन्ध का भी सन्निपात शब्द से ग्रहण करने के कारण ही 'ग्रामणि कुलम्' इस प्रयोग में 'ग्रामणि' इस पद से 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' सूत्र से तुक् नहीं होता है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि उपर्युक्त प्रयोग में 'ग्रामणि' यह पृथक् पद है। यह नपुंसकलिंग का पद है इस बात को सूचित करने के लिये यहाँ 'कुलम्' इस पद का प्रयोग किया गया है। 'ग्रामं नयति यत्' इस विग्रह में 'ग्राम पूर्वक' नी धातु से क्विप् प्रत्यय करके उसका सर्वापहारी लोप करने पर नपुं-सकलिंग होने के कारण 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' सूत्र से ह्रस्व करके 'ग्रामणि' ऐसा रूप बना है। यहाँ प्रत्ययलक्षण द्वारा क्विप् प्रत्यय को पर में मान कर तुक् की प्राप्ति होती है किन्तु विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध को सन्निपात शब्द से ग्रहण करने के कारण सन्निपातपरिभाषा से निषेध होने के कारण तुक् नहीं होता। नपुंसकलिंग में अजन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व होता है। इस प्रकार ह्रस्व विधायक शास्त्र का अर्थ होने के कारण अजन्तत्व, प्रातिपदिक का विशेषण होता है। इस अजन्त प्रातिपदिक

के सन्निपात से जायमान ह्रस्व, तुक् के द्वारा इस सन्निपात का विघातक नहीं हो सकता यदि यहाँ तुक् हो जाय तो 'ग्रामणि' इस पद का अजन्तत्व नष्ट हो जायेगा क्योंकि यह पद तुक् होने से तकारान्त हो जायेगा। इस प्रकार सन्निपात विरोध के कारण यहाँ तुक् नहीं होता है।

यदि कहा जाय कि नपुंसकरूपी अर्थ के आश्रित होने के कारण ह्रस्व बहिरङ्ग है। इसलिये यह बहिरङ्ग ह्रस्व तुक् की कर्त्तव्यता में असिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार अन्तरङ्गपरिभाषा से ही तुक् का वारण हो सकता है तो इसे प्रस्तुत परिभाषा का फल क्यों माना जाय, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अर्थकृत बहिरङ्गत्व का आश्रयण किया ही नहीं जाता। यह बात पहले कही जा चुकी है।

दूसरी बात यह है कि यदि तुक् विधि में बहिरङ्गपरिभाषा की प्रवृत्ति होती तो 'षत्व तुकोरसिद्धः' इस सूत्र के तुक् ग्रहण के उदाहरण 'अधीत्य' इस प्रयोग में पद-द्वयसम्बन्धी और वर्णद्वयनिमित्तक बहिरङ्ग दीर्घ अन्तरङ्ग तुक् की कर्त्तव्यता में असिद्ध हो जाता जिससे वहाँ ह्रस्व की उपलब्धि होती और तुक् की सिद्धि हो जाती। ऐसी स्थिति में तुक् विधि में एकादेश शास्त्र को असिद्ध करके तुक् करने के लिए उक्त सूत्र में तुक् ग्रहण की क्या आवश्यकता है। इससे स्पष्ट है कि तुक्विधि में अन्तरङ्गपरिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है।

इसी प्रकार 'वृत्रहभ्याम्' इस प्रयोग में क्विप् निमित्तक तुक् के वारण के लिये 'नलोपः सुप्स्वर' इस सूत्र में कृतितुक् ग्रहण करके जो नलोप को असिद्ध किया जाता है उससे भी इसी बात की पुष्टि होती है कि तुक् विधि में बहिरङ्गपरिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। यदि तुक् विधि में बहिरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति होती तो 'क्विप्निमित्तक तुक् की अपेक्षा भ्याम्निमित्तक नकार का लोप बहिरङ्ग होने के कारण बहिरङ्गपरिभाषा से ही असिद्ध हो जाता जिससे यहाँ तुक् की आपत्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में 'कृति तुक् ग्रहण' करके उसके द्वारा नलोप को असिद्ध करना असंगत ही हो जाता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि तुक् विधि में बहिरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये 'ग्रामणि कुलम्' इस प्रयोग में सन्निपात-परिभाषा के द्वारा ही तुक् का वारण करना उचित है न कि बहिरङ्ग परिभाषा के द्वारा।

सर्वविधसन्निपातग्रहणादेव वर्णाश्रयः प्रत्ययो वर्णविचालस्यानिमित्तं स्यादित्येतत्परिभाषादोषनिरूपणावसरे वार्त्तिककृतोक्तम्। न हि प्रत्ययः पूर्व-परसन्निपातनिमित्तकः स एव च सन्निपातशब्देन गृह्यत इति मत्वा न प्रत्ययः सन्निपातनिमित्तक इति शङ्कायां तदभ्युपेत्यैवाङ्गसंज्ञा तर्ह्यनिमित्तं स्यादि-त्येकदेशिनोक्तमिति न तद्ग्राह्यविरोधः। किञ्चैवं 'शैवो गार्ग्यो वैनतेय' इत्यादावप्यङ्गसंज्ञाया लोपनिमित्तत्वानापत्त्या वर्णाश्रय इत्यस्य वैयर्थ्यम्।

इस परिभाषा में सभी प्रकार के सन्निपात (निमित्तमात्र) का ग्रहण करने से ही, इस परिभाषा के दोष के निरूपण के अवसर पर वार्तिककार ने कहा कि 'दाक्षिः' 'प्लाक्षिः' इत्यादि प्रयोगों में 'अत इञ्' सूत्र से अत् रूप वर्ण के आश्रय से जायमान इञ् प्रत्यय भसंज्ञा कराकर अकाररूपी वर्ण के विचाल अर्थात् लोप का निमित्त नहीं होगा। यहाँ पर अदन्तत्व और प्रातिपदिक के मध्य विशेष्यविशेषणभावसम्बन्ध ही है क्योंकि अदन्तत्व और प्रातिपदिक से इञ् प्रत्यय होता है ऐसा 'अत इञ्' सूत्र का अर्थ है। इस अर्थ में अदन्त विशेषण और प्रातिपदिक विशेष्य है। इस प्रकार विशेष्य-विशेषणभावसन्निपात में भी वार्तिककार ने इस परिभाषा की प्रवृत्ति करके दोष की उद्भावना की है। यदि केवल पूर्वापरीभावसम्बन्धरूपी सन्निपात का ही इस परिभाषा में ग्रहण किया जाता तो प्रस्तुतस्थल में पूर्वापरीभावसम्बन्ध के न होने के कारण वार्तिककार का कथन व्यर्थ ही हो जाता, क्योंकि यहाँ इञ् प्रत्यय पूर्व-परसन्निपातनिमित्तक नहीं है।

स एव=पूर्वपरभावसम्बन्ध ही सन्निपात शब्द से लिया जाता है और यह सन्निपात इञ् प्रत्यय के सम्बन्ध में नहीं है इसलिये इञ् प्रत्यय सन्निपातनिमित्तक नहीं है। ऐसी स्थिति में इञ् प्रत्यय तो वर्णविचाल (अकारलोप) का निमित्त हो सकता है, ऐसी शंका होने पर, तदभ्युपेत्यैव=पूर्वपरसन्निपात को स्वीकार करके ही भाष्यकार ने कहा कि यद्यपि इञ् प्रत्यय सन्निपातनिमित्तक नहीं है तथापि उसे पर में मानकर जो अङ्ग संज्ञा होती है वह प्रकृति और प्रत्यय के पूर्वा-परीभावसन्निपात के कारण ही होती है, इसलिये अङ्ग संज्ञा ही उस सन्निपात के विघातक 'यस्येति च' इस लोप का निमित्त नहीं होगी। अथवा वर्णाश्रय प्रत्यय, इञ् प्रत्यय है तन्निमित्तक जो अङ्गसंज्ञा है वह प्रकृतिघटक अकाररूपी वर्ण के नाशक 'यस्येति च' इस लोप का निमित्त नहीं होगी।

यहाँ पर पहले जब यह दोष दिया गया कि वर्णाश्रय इञ् प्रत्यय अकार वर्ण के विनाश का कारण नहीं हो सकता तो इसके समाधान के रूप में कहा गया कि 'न प्रत्ययः पूर्वपरसन्निपातनिमित्तकः' अर्थात् प्रत्ययपूर्वपरसन्निपातनिमित्तक नहीं है, अर्थात् इञ् प्रत्यय अकार के लोप का निमित्त हो सकता है। इस प्रकार की आशंका और इसके समाधान के रूप में जो कहा गया कि ऐसी स्थिति में अङ्गसंज्ञा वर्ण-विचाल का निमित्त नहीं होगी यह सब कथन एक देशी की उक्ति है। सिद्धान्ती का कथन तो यही है कि वर्णाश्रयप्रत्यय वर्णविचाल का निमित्त नहीं होगा। इसका आशय विशेष्यविशेषणभावसन्निपात से है। इस सन्निपात से जायमान वर्णाश्रय प्रत्यय इञ्, वर्णविचाल का निमित्त नहीं होगा, ऐसा दोष इस परिभाषा को स्वीकार करने पर दिया गया है। यही सिद्धान्ती भाष्य है। इसके बाद अंगसंज्ञा,

वर्णविचाल का निमित्त नहीं होगी, यह कथन इसलिये एकदेशी है कि 'शैवः' 'गार्ग्यः' इत्यादि प्रयोगों में जहाँ वर्ण का आश्रयण न करके गण के आधार पर अण् प्रत्यय हुआ है इस अण् प्रत्यय को पर में मानकर जो अङ्ग संज्ञा हुई है, यह अङ्ग संज्ञा यहाँ भी वर्ण के विचाल (लोप) का निमित्त नहीं होगी। परिणाम यह होगा कि 'शैवः' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि नहीं हो सकेगी। दूसरी बात यह है कि यदि पूर्वपरसन्निपात ही यहाँ अभीष्ट है और इस आधार पर अङ्गसंज्ञा वर्ण-विचाल का अनिमित्त हो रही है तो ऐसी स्थिति में 'वर्णाश्रयः' इस पद की क्या उपयोगिता है ? तात्पर्य यह है कि यदि अङ्गसंज्ञा के आधार पर ही सन्निपातपरिभाषा की प्रवृत्ति करनी है तो शंकापरक भाष्य में 'वर्णाश्रयः' यह पद व्यर्थ ही है। इसलिये 'वर्णाश्रयः' इस पद के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि इस परिभाषा में विशेष्यविशेषणभावसन्निपात का भी ग्रहण होता है।

'ग्रामणिकुलं, ग्रामणिपुत्र' इत्यादावुत्तरपदनिमित्तके ह्रस्वत्वे यथाकथञ्चिद्बहिरङ्गपरिभाषयाऽपि वारणं सम्भवतीति 'कृन्मेजन्तः' (१-१-३९) इत्यत्र 'ह्रस्वस्य पिति' (६-१-७१) इति सूत्रे चैकदेशिना तया परिभाषया तुग्वारितो भाष्ये। अत एव परिभाषाफलत्वेनेदमुक्तं 'कृन्मेजन्तः' इति सूत्रे वार्त्तिककृतेति केचित्।

'ग्रामं नयति यः स ग्रामणी, तस्य कुलं ग्रामणिकुलम्' इसी प्रकार 'ग्रामं नयति यः स ग्रामणी, तस्य पुत्रः ग्रामणिपुत्रः' इन दोनों प्रयोगों में 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' इस सूत्र से ह्रस्व किया गया। यह ह्रस्व उत्तरपदनिमित्तक है। ह्रस्व करने के बाद प्रत्ययलक्षण से क्विप् प्रत्यय को पर में मान कर जब यहाँ तुक् की प्राप्ति हुई तो उसका वारण बहिरङ्ग परिभाषा के द्वारा किया गया। क्योंकि उत्तरपदनिमित्तक ह्रस्व की अपेक्षा क्विप्निमित्तक तुक् अन्तर्भूतनिमित्तक होने के कारण अन्तरङ्ग है, इसलिये उसकी दृष्टि में बहिरङ्ग ह्रस्व असिद्ध हो जाता है, जिससे तुक् नहीं होता।

यहाँ यह सन्देह होता है कि इस परिभाषा में जब विशेष्यविशेषणभावसन्निपात का भी ग्रहण किया जाता है तब तो इसी परिभाषा से यहाँ तुक् का वारण करना चाहिये। इगन्त पूर्वपद को ह्रस्व होता है, ऐसा ह्रस्वविधायकसूत्र का अर्थ होने के कारण इगन्त यह अंश विशेषण और पूर्वपद विशेष्य है। यदि तुक् हो जाय तो इगन्तत्व का विनाश स्पष्ट ही है। इस प्रकार विशेष्य-विशेषणभावसन्निपात के आधार पर ही यहाँ तुक् का वारण हो सकता था। ऐसी स्थिति में यहाँ अन्तरङ्गपरिभाषा से जो तुक् का वारण किया गया है, इससे सिद्ध होता है कि इस परिभाषा में विशेष्यविशेषणभावसन्निपात नहीं लिया जाता, किन्तु पूर्वपरभावसन्निपात ही लिया जाता है।

इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि 'ग्रामणिकुलं, ग्रामणिपुत्रः' इत्यादि प्रयोगों में जहाँ उत्तरपदनिमित्तक ह्रस्व होता है, वहाँ बहिरङ्गपरिभाषा से भी यथाकथञ्चित् तुक् का वारण हो सकता है। यथाकथञ्चित् कहने का तात्पर्य यह है कि 'नाजानन्तर्ये' इस परिभाषा का स्मरण न करके, अथवा इस बाधिका परिभाषा के विषय में भी बाध्य की प्रवृत्ति को स्वीकार करके अन्तरङ्गपरिभाषा से यहाँ तुक् का वारण किया जा सकता है। इसीलिये 'कृन्मेजन्तः' और 'ह्रस्वस्य पेति' इस सूत्र के भाष्य में एकदेशी ने अन्तरङ्ग परिभाषा से 'ग्रामणि कुलम्' इत्यादि प्रयोगों में तुक् का वारण किया। किन्तु यह ठीक नहीं है।

अत एव = 'नाजानन्तर्ये' इस परिभाषा के कारण बहिरङ्गपरिभाषा की प्रवृत्ति यहाँ नहीं हो सकती, इसलिये इसके द्वारा यहाँ तुक् का वारण एक देशी की उक्ति है, इस बात को स्वीकार करने से ही।

अथवा—अतएव = विशेषणविशेष्यभावसन्निपात का भी इस परिभाषा में ग्रहण होता है ऐसा स्वीकार करने से ही 'ग्रामणिपुत्रः' 'ग्रामणिकुलम्' इत्यादि प्रयोग इस सन्निपात परिभाषा के फल के रूप में 'कृन्मेजन्तः' सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर वार्तिककार ने कहा है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उक्त दोनों प्रयोगों में विशेष्यविशेषणभावसन्निपात है। प्रस्तुत परिभाषा में इस सन्निपात का ग्रहण अभीष्ट ही है। तुक् के कारण यह सन्निपात विनष्ट हो जायेगा। इसलिये इसी परिभाषा से तुक् का वारण किया गया। ऐसा 'कृन्मेजन्तः' सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर वार्तिककार ने कहा है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं।

सन्निपातलक्षणविधित्वमस्या लिङ्गम्। स्वप्रवृत्तेः प्राक् स्वनिमित्तभूतो यः सन्निपातस्तद्विघातस्य स्वातिरिक्तशास्त्रस्य स्वयमनिमित्तमिति फलति।

नन्वेवं 'रामाये'त्यादौ 'सुपि च' (७-३-१०२) इति दीर्घानापत्तिः। अदन्ताङ्ङेसन्निपातेन जातस्य यादेशस्य तदविघातकत्वात्। न च यजादित्वसापेक्षदीर्घस्य बहिरङ्गतयाऽसिद्धत्वान्नात्र सन्निपातविघात इति वाच्यम्। आरोपितासिद्धत्वेऽपि वस्तुतस्तद्विघातस्य जायमानत्वेनैतत्प्रवृत्तेः। किञ्चान्तरङ्गे कर्त्तव्ये बहिरङ्गस्यासिद्धत्वेऽपि तत्र कृते तस्यासिद्धत्वे मानाभावः। किञ्च, आतिदेशिकसन्निपातविघाताभावमादायैतत्प्रवृत्तौ 'गौरी'त्यादौ सम्बुद्धिलोपेऽपि स्थानिवत्त्वेन ह्रस्वनिमित्तसन्निपातविघाताभावात्तत्रैतस्यातिव्याप्तिपर-'कृन्मेजन्तः' (१-१-३९) इति सूत्रस्थभाष्यासङ्गतिः। सन्निपातस्य अशास्त्रीयत्वान्नात्र स्थानिवत्त्वमिति चेत्? तर्ह्यत्रासिद्धत्वमपि कथमिति विभावय, अशास्त्रीयेऽसिद्धत्वाप्रवृत्तेः 'ईदूदेत्

(१-१-११) इति सूत्रे कैयटेन स्पष्टमुक्तत्वात्। एवं च पूर्वत्रासिद्धीयेऽपि कार्य एतत्परिभाषाप्रवृत्तिर्भवत्येवेति चेत्, न। 'कष्टाय' (३-१-१४) इति निर्देशेनैतस्या अनित्यत्वात्।

यहाँ प्रस्तुत विधि शब्द में करण में कि प्रत्यय हुआ है, इसलिये विधि शब्द का अर्थ यहाँ शास्त्र है। इस प्रकार 'सन्निपातलक्षणविधित्वम्' इस पद का अर्थ होता है सन्निपातलक्षणशास्त्रत्व। यह सन्निपातलक्षणशास्त्रत्व इस परिभाषा का लिङ्ग है। तात्पर्य यह है कि जिस शास्त्र में दो का सम्बन्धीरूपी सन्निपात कारण हो, ऐसे शास्त्र में ही यह परिभाषा प्रवृत्त होती है। जैसे—'शतानि' इस प्रयोग में सर्वनामस्थान और अजन्तप्रातिपदिक इन दोनों के सन्निपात से नुम् होता है; इसलिये 'नपुंसकस्य झलचः' यह विधि सन्निपातलक्षणविधि है। यह इस परिभाषा का लिङ्ग है, अतः यहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है और जश् का लुक् नहीं होता है।

स्व=सन्निपातलक्षणशास्त्र की प्रवृत्ति के पहले स्वनिमित्तभूत=उस सन्निपातलक्षणशास्त्र का निमित्तभूत जो सन्निपात उस सन्निपात के विघात के लिये स्वातिरिक्त=अपने से भिन्न जो शास्त्र उस शास्त्र का निमित्त वह सन्निपातलक्षणशास्त्र स्वयं नहीं बनता है।

जैसे 'रामाय' इस प्रयोग में 'ङेर्यः' सूत्र की प्रवृत्ति के पहले, उसका निमित्तभूत सन्निपात 'अदन्त अङ्ग से अव्यवहितोत्तरत्वविशिष्ट ङे' है, इस सन्निपात का विघात करके 'ङेर्यः' सूत्र से यकार होता है। इसके बाद 'राम+य' इस स्थिति में अदन्त 'अङ्गाव्यवहितोत्तरविशिष्ट-यकार' इस सन्निपात के विघातक स्वातिरिक्त=ङेर्यः सूत्र से अतिरिक्त 'सुपि च' इस सूत्र का निमित्त, यकार (ङेर्यः से विहित यकार) नहीं होगा।

तात्पर्य यह है कि यकारादेश में निमित्त जो अदन्तत्व है, उस अदन्तत्व का विनाश 'सुपि च' सूत्र के द्वारा यकार कैसे करायेगा। इसलिये यकार स्वविधायक शास्त्र 'ङेर्यः' से अतिरिक्त 'सुपि च' के लिये निमित्त नहीं होगा।

यहाँ 'तद्विघात' शब्दघटक तत् पद से 'स्वनिमित्तभूतसन्निपात और स्वसम्पाद्यसन्निपात' इन दोनों प्रकार के सन्निपात का ग्रहण किया जाता है। इनमें यकार या 'ङेर्यः' की प्रवृत्ति के लिये जो सन्निपात अदन्त अङ्ग और ङे का सन्निपात है इसे तो यकारादेश स्वयं विनष्ट कर देता है, क्योंकि ऐसा किये बिना इसकी चरितार्थता नहीं होगी, किन्तु अपने से आतरिक्त 'सुपि च' सूत्र के द्वारा अपने सन्निपात अदन्तत्व के विनाश में यह यकारादेश निमित्त नहीं होगा। यही यहाँ का तात्पर्य है।

नन्वेवम्=इस प्रकार सन्निपातपरिभाषा को स्वीकार करने पर यह दोष उपस्थित होता है कि 'रामाय' इत्यादि प्रयोगों 'सुपि च' इस सूत्र से दीर्घ नहीं हो

सकेगा, क्योंकि अदन्त अङ्ग और ङे के सन्निपात से जायमान जो यकार आदेश है वह इस सन्निपात का विघातक नहीं हो सकता। 'सुपि च' सूत्र से दीर्घ होने पर अदन्तत्व का विनाश हो जायेगा। इस प्रकार यहाँ सन्निपात का विनाश स्पष्ट ही है। ऐसी स्थिति में इस परिभाषा के कारण यहाँ दीर्घ नहीं होगा। यदि कहा जाय कि यञादित्व से सापेक्ष होने के कारण दीर्घ बहिरङ्ग है इस बहिरङ्ग दीर्घ के असिद्ध हो जाने के कारण यहाँ दीर्घ के दिखाई न देने के फलस्वरूप सन्निपात का विघात नहीं है, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जहाँ वस्तुतः सन्निपात का विधान हो गया हो, वहाँ आरोपितसन्निपातविघाताभाव का ग्रहण नहीं किया जा सकता। दीर्घ के द्वारा यहाँ सन्निपात का विघात स्पष्ट है। अब बहिरङ्गपरिभाषा के द्वारा दीर्घ में असिद्धत्व का आरोप करने के बाद भी वास्तविक सन्निपातविघात को लेकर इस परिभाषा की प्रवृत्ति हो ही जायेगी, जिससे 'रामाय' प्रयोग में दीर्घ नहीं हो सकेगा।

वस्तुतस्तु बहिरङ्गपरिभाषा की प्रवृत्ति का यहाँ विषय ही नहीं है; इसी बात को 'किञ्च' इस शब्द से कह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि अन्तरङ्ग परिभाषा के द्वारा अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यता में जात या समकालप्राप्त बहिरङ्ग को असिद्ध किया जाता है न कि अन्तरङ्ग के कर देने पर तस्य=बहिरङ्ग की असिद्धता की जाती है। ऐसा करने में कोई प्रमाण नहीं है।

यहाँ (रामाय प्रयोग में) अपरनिमित्तक होने के कारण अन्तरङ्ग जो यकार है वह पहले हो चुका है। उसके बाद दीर्घ की प्राप्ति होती है, इसलिये अन्तरङ्ग के प्रति बहिरङ्ग के असिद्ध होने का यहाँ कोई प्रश्न ही नहीं है। इस प्रकार सन्निपात-विघात होने के कारण रामाय प्रयोग में दीर्घ नहीं होना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि वास्तविकसन्निपातविघाताभाव में ही इस परिभाषा की अप्रवृत्ति होती है इसी बात को दूसरे किञ्च शब्द से कह रहे हैं कि आतिदेशिक-सन्निपातविघाताभाव (सन्निपात की स्थिति) को लेकर यदि इस परिभाषा की अप्रवृत्ति मानी जाय तो 'हे गौरि' इस प्रयोग में इस परिभाषा की अतिव्याप्ति बतलाना भाष्यकार का असंगत हो जायेगा। तात्पर्य ग्रह है कि 'कृन्मेजन्तः' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा कि गौरी शब्द से सम्बुद्धि की सु विभक्ति लाने पर नदी संज्ञा करके ह्रस्व करने के बाद 'एङ्ह्रस्वात्' सूत्र से सम्बुद्धि का लोप होता है। यहाँ जिस सम्बुद्धि को पर में मानकर ह्रस्व होता है, वही ह्रस्व उस सम्बुद्धि के विनाश (लोप) का निमित्त किस प्रकार होगा ? अर्थात् यहाँ सम्बुद्धि का लोप नहीं होना चाहिये। इस प्रकार इस परिभाषा की अतिव्याप्ति यहाँ बताई गई है। यदि आतिदेशिकसन्निपातविघाताभाव को लेकर इस परिभाषा की अप्रवृत्ति

स्वीकार की जाय तो 'हे गौरि' इस प्रयोग में सम्बुद्धिलोप होने पर भी स्थानिवद् भाव से सम्बुद्धि के आ जाने के कारण ह्रस्व के निमित्त सन्निपात का विघात यहाँ नहीं रहेगा; इसलिये इस परिभाषा की प्रवृत्ति न होने के कारण सम्बुद्धिलोप सिद्ध ही है तो भाष्यकार ने इस परिभाषा को लगाकर यहाँ अतिव्याप्ति कैसे दिया है ? इससे सिद्ध है कि जहाँ वस्तुतः सन्तिपातविघात हुआ हो, वहाँ आतिदेशिक-सन्निपातविघाताभाव को लेकर इस परिभाषा की अप्रवृत्ति नहीं होती। अर्थात् यह परिभाषा वहाँ प्रवृत्त हो ही जाती है। इसीलिये 'हे गौरि' प्रयोग में भाष्यकार का अतिव्याप्ति दोष देना संगत होता है।

यदि कहा जाय कि शास्त्रबोधित न होने के कारण सन्निपात अशास्त्रीय कार्य है। इस अशास्त्रीय कार्य के लिये शास्त्रीय कार्य स्थानिवद्भाव कैसे होगा, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार अशास्त्रीय कार्य सन्निपात को लाने के लिये स्थानिवद्भाव नहीं हो सकता, उसी प्रकार अशास्त्रीयसन्निपात को लाने के लिये शास्त्रीयबहिरङ्गासिद्धत्व भी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि 'हे गौरि' इस प्रयोग में अशास्त्रीय सन्निपात को लाने के लिये शास्त्रीय कार्य स्थानिवद्भाव न होने के कारण सन्निपातविघात की स्थिति में भाष्यकार ने यहाँ अतिव्याप्ति दोष दिया है, क्योंकि सन्निपातपरिभाषा की प्रवृत्ति हो जाने से यहाँ सम्बुद्धिनिमित्तकह्रस्व, उस सम्बुद्धि के लोप का निमित्त किस प्रकार होगा ? इसी प्रकार 'रामाय' प्रयोग में अन्तरङ्ग यादेश के बाद प्रवृत्त होने वाले बहिरङ्ग दीर्घ के द्वारा जिस सन्निपात का विघात हो रहा है, वह सन्निपात बहिरङ्ग दीर्घ को असिद्ध करके नहीं लाया जा सकता, क्योंकि अशास्त्रीय सन्निपात को लाने के लिये शास्त्रीयकार्य बहिरङ्गासिद्धत्व (असिद्धत्व) भी नहीं हो सकेगा।

अशास्त्रीय कार्य में असिद्धत्व की प्रवृत्ति नहीं होती है, यह बात 'ईदूदेद् द्विवचनम्' (१।१।११) सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर कैयट ने स्पष्ट रूप से कही है। वहाँ का प्रसंग इस प्रकार है—भाष्यकार ने वहाँ कहा कि 'प्लुतभावी प्रकृत्या' अर्थात् जिसके स्थान पर प्लुत भावी है उस प्लुतभावी स्थानी को प्रकृतिभाव होता है। प्रश्न होता है कि प्लुत त्रिपादी होने के कारण असिद्ध हो जायेगा तो वह स्थानी प्लुत किस प्रकार कहा जायेगा ? तो इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार ने कहा कि 'प्लुतोऽस्य भावीति बुद्धया प्रकल्पनमेतत्'। इस भाष्य के 'प्रकल्पनम्' इस अंश को लेकर कैयट ने कहा कि 'शास्त्रीये कार्ये असिद्धत्वम्' अर्थात् असिद्धता शास्त्रीय कार्य में होती है न कि अशास्त्रीय कार्य में। इस प्रकार कैयट ने अशास्त्रीय कार्य में असिद्धत्व की अप्रवृत्ति का स्पष्ट उल्लेख किया। इसके आगे नागेशभट्ट लिख रहे हैं कि—.

'एवञ्च पूर्वत्रासिद्धीयेऽपि कार्ये एतत्परिभाषा प्रवृत्तिर्भवत्येव' अर्थात् इस प्रकार 'पूर्वत्रासिद्धीये कार्ये=त्रैपादिके कार्ये' त्रिपादी कार्य में इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती ही है। 'रामाय' प्रयोग की सिद्धि इस परिभाषा को स्वीकार करने के उपरान्त कैसे होगी, इस प्रस्तुत प्रसंग में त्रिपादी कार्य में इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती ही है इस कथन का तात्पर्य स्पष्ट नहीं है। विजयाकार का कहना है कि इस ग्रन्थ का तात्पर्य इतना ही है, कि त्रैपादिककार्य में इस परिभाषा की प्रवृत्ति में कोई बाधक नहीं है। किन्तु त्रिपादी में इसकी प्रवृत्ति मानने पर दोष ही आता है। जैसे— 'दुग्धम्' इस प्रयोग में दुह् धातु से क्त प्रत्यय करने पर हकार को घकार करने के बाद घकार को झष् मानकर तकार को 'झषस्तथोर्धोऽधः' सूत्र से किया गया धकार, घकार को जश्त्वेन गकार करने का निमित्त किस प्रकार होगा। इसी प्रकार 'नंति-ष्यति' प्रयोग में सकार को निमित्त मानकर किया गया इट् सकार के मूर्धन्यादेश का निमित्त किस प्रकार बनेगा। इसी प्रकार 'सञ्च्छम्भुः' इस प्रयोग में शकारनिमि-त्तक तुक् शकार के छकार का निमित्त कैसे बनेगा ? यहाँ स्मरणीय है कि ये सारे कार्य त्रैपादिक हैं। इस प्रकार त्रैपादिक कार्य में इस परिभाषा की प्रवृत्ति मानने पर दोष ही आता है। इसलिये त्रिपादी में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है, यही बात स्वीकार करनी चाहिये। ऐसी स्थिति में नागेशभट्ट के इस कथन का क्या तात्पर्य है कि त्रिपादी में इसकी प्रवृत्ति होती ही है तो इसका तात्पर्य इस प्रकार लगाया जा सकता है कि इस सन्निपातपरिभाषा को स्वीकार करने पर 'रामाय' प्रयोग में दीर्घ की असिद्धि के प्रसंग में जिस बहिरङ्गपरिभाषा की बात चली है वह बहिरङ्ग-परिभाषा तो सापादिक होने के कारण त्रिपादी में प्रवृत्त नहीं होती, किन्तु यह परि-भाषा तो बाधकाभाव के कारण वहाँ प्रवृत्त हो सकती है। प्रवृत्त होने से जो दोष आते हैं उनका निराकरण इसके अनित्यत्व या इसकी अप्रवृत्ति के द्वारा करना चाहिये।

अब प्राकरणिक बात यह विचारणीय है कि 'रामाय' इस प्रयोग में दीर्घ के द्वारा सन्निपात का विघात हो रहा है, इसलिये यहाँ दीर्घ नहीं होना चाहिये। इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि 'कष्टाय क्रमणे' इस पाणिनि सूत्र में 'कष्टाय' यह जो निर्देश किया गया है वह निर्देश इस परिभाषा के रहते कैसे बनेगा ? इसलिये पाणिनि के इस निर्देश के आधार पर इस परिभाषा को अनित्य मान लेना चाहिये। इस प्रकार इस परिभाषा के अनित्य होने से 'रामाय' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि हो जाती है।

ययोः सन्निपातस्य विघातकं शास्त्रं तयोः सन्निपातनिमित्तकविधावु-पादानमपेक्षितमिति तु नाऽऽग्रहः। अत एव 'दाक्षिरि'त्यत्राकारान्तप्रकृतीन्-

सन्निपातनिमित्ताङ्गसंज्ञाऽनया परिभाषयाऽल्लोपस्य निमित्तं न स्यादित्याशङ्क्यानित्यत्वेन समाहितं 'कृन्मेजन्तः' (१-१-३९) इति सूत्रे भाष्ये। 'न ह्यङ्गसंज्ञायामदन्तस्याङ्गसंज्ञे'त्युक्तमस्ति।

जिन दोनों के सन्निपात का विघातक शास्त्र हो, उन दोनों का जिस सन्निपात-निमित्तकविधि (शास्त्र) में उपादान (ग्रहण) किया गया हो, उसी शास्त्र में इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है, ऐसा कुछ लोगों का कहना है। जैसे—'घेर्ङिति' इस सूत्र में घिसंज्ञक और ङित् इन दोनों का ग्रहण किया गया है। इस सन्निपात के आधार पर 'आधये, चिकीर्षवे' इन प्रयोगों में गुणादि करके इनकी सिद्धि की गई है। गुण होने के बाद 'आधे+ए, चिकीर्षो+ए' इस स्थिति में एकारान्त और ओकारान्त की 'कृन्मेजन्तः' सूत्र से अव्यय संज्ञा करके 'अव्ययादाप् सुपः' सूत्र से विभक्ति का जो लोप प्राप्त होता है वह इस परिभाषा के कारण नहीं होने पाता, क्योंकि 'घेर्ङिति' सूत्र में दोनों का उल्लेख होने के कारण इस परिभाषा की प्रवृत्ति हो जाती है जिससे विभक्ति का लुक् नहीं होता। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'कुम्भकारेभ्यः' इस प्रयोग में एकारान्त को कृदन्त मान कर उसे अव्यय संज्ञा करके भ्यस् का जो लुक् प्राप्त था, उसका वारण भाष्यकार ने इसी परिभाषा से किया है। यदि सन्निपात के दोनों सम्बन्धियों का जिस सूत्र में उल्लेख हो वहीं इसकी प्रवृत्ति स्वीकार की जाय तो 'बहुवचने' सूत्र में ऐसा न होने के कारण इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। ऐसी स्थिति में इस परिभाषा के द्वारा यहाँ दोष का वारण करना भाष्यकार का असंगत हो जायेगा। अतएव=जिस सूत्र में दोनों का उल्लेख हो, वहीं इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है इस बात स्वीकार न करने से ही 'दाक्षिः' इस प्रयोग में अकारान्त प्रकृति और इञ् प्रत्यय के सन्निपात से जायमान जो अङ्ग संज्ञा है वह इस परिभाषा के कारण अकार के लोप का निमित्त नहीं हो सकेगी, ऐसी आशंका करके भाष्यकार ने इस परिभाषा को अनित्य मानकर इस शंका का समाधान किया है। अब प्रश्न है कि क्या अङ्गसंज्ञाविधायक सूत्र में अदन्त की अङ्गसंज्ञा होती है ऐसा उल्लेख किया गया है? स्पष्ट है कि अङ्गसंज्ञाविधायक सूत्र में अदन्त की अङ्गसंज्ञा होती है ऐसा उल्लेख नहीं है। ऐसी स्थिति में भाष्यकार का यहाँ इस परिभाषा को लगाकर अकार के लोप के अभाव की आशंका करना और इस परिभाषा को अनित्य मानकर इसका समाधान देना यह सब असंगत हो जायेगा। इससे सिद्ध होता है कि जिस शास्त्र में सन्निपात के दोनों सम्बन्धियों का उल्लेख हो, वहीं इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है, ऐसा कोई आग्रह नहीं है।

न च 'कुम्भकारेभ्य आधय' इत्यादावव्ययसंज्ञाया अनया परिभाषया वारणपरभाष्यासङ्गतिः। अनया परिभाषया लुग् मा भूत्, अव्ययत्वं तु

स्यादेव, लुका हि तदीयसन्निपातस्य विघातो नाव्ययसंज्ञया, संज्ञाफलं त्वकच् स्यादिति वाच्यम्। एतदुदाहरणपरभाष्यप्रामाण्येन साक्षात् परम्परया वा स्वनिमित्तसन्निपातविघातकस्य स्वयमनिमित्तमित्यर्थेनादोषात्। एतेनात्राकच् स्यादित्यपास्तम्।

न च कार्यकालपक्षे लुगेकवाक्यतापन्नसंज्ञाबाधेऽप्यकजेकवाक्यतापन्ना स्यादिति वाच्यम्, अन्तरङ्गायां तदेकवाक्यतापन्नसंज्ञायां बहिरङ्गगुणादेरसिद्धत्वात्। लुगेकवाक्यतापन्ना तु न, गुणादितोऽन्तरङ्गेभयोरपि शब्दतः सुबाश्रयत्वात्।

अब शंका होती है कि 'कुम्भकारेभ्यः' 'आधये' इन दोनों प्रयोगों में जहाँ कुम्भकार शब्द के अन्त्य अकार को एकार किया गया है तथा आधि शब्द में कृत् प्रत्यय इ को गुण करके एकार किया गया है यहाँ एकारान्त को 'कृन्मेजन्तः' सूत्र से प्राप्त अव्यय संज्ञा का वारण भाष्यकार ने इस परिभाषा से किया है। भाष्यकार द्वारा इस परिभाषा से अव्ययसंज्ञा का यहाँ वारण करना असंगत है क्योंकि यदि एकारान्त को अव्यय संज्ञा हो जाती है तो इससे किसी सन्निपात का विघात तो होता नहीं है। सन्निपात का विघात तो यहाँ लुक् के द्वारा हो सकता है, क्योंकि जिन विभक्तियों के कारण यहाँ एजन्तत्व की स्थिति हुई है वही एजन्तत्व अव्यय संज्ञा के द्वारा विभक्तियों के लुक् का निमित्त किस प्रकार हो सकेगा। इसलिये भाष्यकार को तो यह कहना चाहिये कि इस परिभाषा के द्वारा यहाँ विभक्ति का लुक् नहीं होगा। अव्यय संज्ञा तो यहाँ होगी ही। यहाँ लुक् से ही विभक्ति के सन्निपात का विघात हो रहा है न कि अव्यय संज्ञा से। यदि कहा जाय कि यदि विभक्ति का लुक् नहीं होता है तो अव्यय संज्ञा करना व्यर्थ है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अव्यय संज्ञा का फल अकच् होना है। इस प्रकार यहाँ संज्ञा का वारण न करके लुक् का वारण करना उचित था, किन्तु भाष्यकार ने यहाँ सन्निपातपरिभाषा से अव्यय संज्ञा का ही वारण किया है, यह बात असंगत है? इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि एतदुदाहरण='आधये' 'कुम्भकारेभ्यः' इत्यादि अकच्रहित उदाहरणों के भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत करने के कारण इस परिभाषा का ऐसा अर्थ किया जाता है कि—साक्षात् या परम्परया जो स्वनिमित्तभूत सन्निपात का विघातक हो रहा हो वहाँ स्वयं निमित्त नहीं होता है। जैसे—'कुम्भकारेभ्यः' इस प्रयोग में झलादि बहुवचनसन्निपातनिमित्तक जो एत्व है, उसका फल है अव्यय संज्ञा का होना, और अव्यय संज्ञा यद्यपि स्वयं उक्त सन्निपात की विघातिका नहीं है, तथापि लुक् के द्वारा वह सन्निपात का विघात करा ही रही है। इसलिये परम्परया स्वनिमित्तसन्निपात के विघातक अव्यय संज्ञा का निमित्त स्वयं एकार नहीं बन सकता। इसलिये यहाँ

अव्यय संज्ञा नहीं होती है। फलस्वरूप यहाँ लुक् भी नहीं होता। एतेन=अव्यय संज्ञा न होने के कारण, जो लोग कहते थे कि अव्यय संज्ञा के कारण यहाँ अकच् होना चाहिये, वे लोग परास्त हो गये। क्योंकि परम्परया सन्निपात का विघातक होने के कारण अव्यय संज्ञा यहाँ होती ही नहीं है, इसलिये अकच् होने का यहाँ कोई प्रश्न ही नहीं है।

यदि कहा जाय कि कार्यकालपक्ष में जितने विधिसूत्र होते हैं उतने ही संज्ञा सूत्र भी होते हैं। ऐसी स्थिति में लुक् के साथ एकवाक्यतापन्न अव्यय संज्ञा सन्निपात-विघातिका होने के कारण मत होवे, किन्तु अकच् के साथ एक वाक्यतापन्न अव्यय-संज्ञा तो होनी ही चाहिये, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अकच् प्रत्यय स्वार्थिक तथा अनैमित्तिक होने के कारण अन्तरङ्ग है, इसलिये उसके साथ एक-वाक्यतापन्न अव्ययसंज्ञा भी अन्तरङ्ग है। इसकी अपेक्षा परनिमित्तक (झलादि-बहुवचननिमित्तक) एकारादेश बहिरङ्ग है, इसलिये बहिरङ्ग एकारादेश तथा गुणादि के असिद्ध हो जाने के कारण अकजेकवाक्यतापन्न अव्यय संज्ञा यहाँ नहीं हो सकती है।

यदि कहा जाय कि जिस प्रकार बहिरङ्ग गुणादि के असिद्ध होने के कारण अकजेकवाक्यतापन्न अव्ययसंज्ञा नहीं हो रही है उसी प्रकार लुगेकवाक्यतापन्न अव्ययसंज्ञा भी नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में उसे सन्निपात परिभाषा के द्वारा रोकना ठीक नहीं है तो इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि लुगेकवाक्यता-पन्न अव्ययसंज्ञा गुणादि की अपेक्षा अन्तरङ्ग नहीं है क्योंकि यहाँ दोनों की (गुणादि और लुगेकवाक्यतापन्न अव्यय संज्ञा की) सुबाश्रयता समान है। सुप् पर में रहने पर ही एजन्तत्व होता है और उस एजन्त से पर में रहने वाले सुप् का लुक् करना है। ऐसी स्थिति में दोनों की सुबाश्रयता समान होने के कारण यहाँ अन्तरङ्ग बहि-रङ्गभाव संभव नहीं है। इसलिये लुगेकवाक्यतापन्न अव्यय संज्ञा का वारण सन्नि-पात परिभाषा के द्वारा ही किया गया।

'न यासयोः' (७-३-४५) इति निर्देशाच्चैषाऽनित्या तेन नातिप्रसङ्गः। स्पष्टा चेयं 'कृन्मेजन्तः' (१-१-३९) इति सूत्रे भाष्ये। अस्या अनित्यत्वे फलानि भाष्ये परिगणितानि। वर्णाश्रयः प्रत्ययो वर्णविचालस्यानिमित्तम्-दाक्षिः। आत्त्वं पुग्विधेः-'क्रापयति'। पुग् ह्रस्वत्वस्य-'अदीदपत्'। त्यदाद्य-कारष्टाब्विधेः-'यासे'ति। इड्विधिराकारलोपस्य-'पपिवान्'। 'ह्रस्वनुड्-भ्यां मतुप्' (६-१-१७६) 'अन्तोदात्तादुत्तरपदात्' (६-१-१६९) इतिमतुब्विभक्त्युदात्तत्वं पूर्वनिघातस्य-'अग्निमान्, परमवाचा'। नदीह्रस्व-त्वं सम्बुद्धिलोपस्य-'नदि, कुमारी'त्यादि। यादेशो दीर्घत्वस्य—'कष्टाय'।

इतोऽन्यत्र प्रवृत्तिरेव, 'दोषाः खल्वपि साकल्येन परिगणिता' इति भाष्योक्तेरित्यन्यत्र विस्तरः॥ ८६ ॥

पहले कह आये है कि 'कष्टाय' इस पाणिनि के निर्देश से यह परिभाषा अनित्य है। इस पर कहा जा सकता है कि 'कष्टाय' यह रूप चतुर्थी का एकवचन है। इसलिये इसी स्थल के लिये यह परिभाषा अनित्य है न कि इसकी अनित्यता सार्वत्रिक है। इस प्रकार की शंका होने पर लिख रहे हैं कि 'न यासयोः' इस पाणिनि के निर्देश से यह परिभाषा अनित्य है। 'यासयोः' यह निर्देश यद्-तद् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में षष्ठी का द्विवचन लाकर 'त्यदादीनामः' सूत्र से विभक्त्यव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट-सन्निपात के आधार पर अत्व, टाप् और विभक्तिकार्य करके बनाया गया है। यहाँ जिस सन्निपात के आधार पर अत्व हुआ है वही अत्व उस सन्निपात के विघातक टाप् का निमित्त किस प्रकार होगा ? और जब टाप् नहीं होगा तो उक्त निर्देश बनेगा कैसे ? इससे सिद्ध होता है कि यह परिभाषा अनित्य है। फलस्वरूप यहाँ इसकी प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये पाणिनि का यह निर्देश संगत होता है। साथ ही कोई दोष नहीं होता। यह परिभाषा 'कृन्मेजन्तः' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

इस परिभाषा को अनित्य मानने के फल भाष्य में इस प्रकार परिगणित हैं—यदि यह परिभाषा अनित्य नहीं होती तो—'दक्षस्यापत्यम्=दाक्षिः' यहाँ वर्णाश्रय=अकाररूपी वर्ण को मानकर जायमान इञ् प्रत्यय उस अकार वर्ण के विचाल अर्थात् लोप का निमित्त नहीं होता। अनित्य होने के कारण परिभाषा की जब यहाँ प्रवृत्ति नहीं हुई तब उसके लोप का निमित्त होता है जिससे दाक्षि प्रयोग की सिद्धि होती है। इसी प्रकार क्री धातु से णिच् प्रत्यय और वृद्धि करने पर 'क्रीङ्जीनां णौ' इस सूत्र से औ के स्थान पर किया गया आकार, धातु और णिच् के अव्यवहित पूर्वापरी-भावसम्बन्ध के विघातक पुक् का निमित्त नहीं होता, यदि यह परिभाषा अनित्य नहीं होती तो अनित्य होने से परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती जिससे पुक् होकर क्रापयति रूप की सिद्धि होती है।

इसी प्रकार इस परिभाषा की अनित्यता के कारण ही 'अदीदपत्' प्रयोग की सिद्धि होती है। अन्यथा दा धातु से णिच् करने पर णिच् के सन्निपात से आकार को किया गया पुक्, 'णौ चङि' इस सूत्र से जो आकार को ह्रस्व हो रहा है उसका निमित्त नहीं बनता। किन्तु अनित्य होने के कारण इस परिभाषा की प्रवृत्ति न होने के कारण पुक् ह्रस्व का कारण हो जाता है। इसी प्रकार 'या, सा' इन प्रयोगों में विभक्ति के आनन्तर्यनिमित्तक 'त्यदीनामः' सूत्र से किया गया अकारादेश उस सन्निपात के विधायक टाप् का निमित्त नहीं होता। किन्तु उसके अनित्य होने के कारण हो जाता है।

इसी प्रकार 'पपिवान्' पा धातु से लिट्, उसके स्थान पर क्वसु प्रत्यय धातु को द्वित्व अभ्यास कार्य करने पर 'प-पा-वस्' इस स्थिति में धातु के आकार को निमित्त मानकर 'वस्वेकाजाद्घसाम्' सूत्र से किया गया इट् का आगम 'आतो लोपो इटि च' सूत्र से किये जाने वाले आकार के लोप का निमित्त नहीं होता। किन्तु परिभाषा की अनित्यता से यह कार्य भी हो जाता है। इसी प्रकार 'अग्निमान्' इस प्रयोग में 'ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्' इस सूत्र से पूर्व को आन्तोदात्त मान कर किया गया मतुप् का उदात्तत्व शेषनिघात के द्वारा पूर्व के (अग्नि के) अनुदात्तत्व का कारण नहीं होता।

'परमवाचा' इस प्रयोग में 'अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्यामनित्यसमासे' (६।१।१६९) सूत्र से अन्तोदात्त उत्तरपद, 'वाच्' इसे मान कर 'टा' विभक्ति को किया गया उदात्तत्व पूर्व के निघात (अनुदात्तत्व) का निमित्त नहीं होता, किन्तु परिभाषा की अनित्यता से ये सब कार्य हो जाते हैं।

'हे नदि, हे कुमारि' इत्यादि प्रयोगों में 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इस सूत्र से किया गया सम्बुद्धिनिमित्तक ह्रस्वादेश 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' सूत्र से होने वाले सम्बुद्धिलोप का निमित्त नहीं होता।

'कष्टाय' इस प्रयोग में अदन्त अङ्ग और ङे के सन्निपातनिमित्तक यकार आदेश 'सुपि च' इस सूत्र से क्रियमाण दीर्घ का निमित्त नहीं होता, क्योंकि दीर्घ के द्वारा अदन्तत्व का नाश हो जाता है। किन्तु इस परिभाषा की अनित्यता के कारण इन स्थलों में परिभाषा की प्रवृत्त नहीं होती। जिससे ये सारे प्रयोग सिद्ध होते हैं।

इनसे भिन्न जगहों पर इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती ही है। क्योंकि भाष्यकार ने कहा है कि इस परिभाषा को मानने पर जो दोष आते हैं वे सारे साकल्येन= सम्पूर्ण परिगणित कर दिये गये हैं। इन दोषों को दूर करने के लिये परिभाषा को अनित्य मान लिया गया है। इनसे अतिरिक्त जगह तो उसकी प्रवृत्ति करनी ही चाहिये। यह बात अन्यत्र भाष्य में निरूपित है॥ ८६॥

ननु 'पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य पञ्चेन्द्र' इत्यादौ 'द्विगोर्लुक्' (४-१-८८) इत्यणो लुकि 'लुक्तद्धित' (१-२-४९) इति स्त्रीप्रत्ययलुक्यानुकः श्रवणापत्तिरत आह—

'पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य' इस विग्रह में 'तद्धितार्थोत्तरपद' सूत्र से तद्धितार्थ की विषयता में समास करके 'साऽस्य देवता' सूत्र से अण् किया जाता है। इस अण् प्रत्यय का 'द्विगोर्लुगनपत्ये' सूत्र से लुक् होता है। इसके बाद 'लुक्तद्धितलुकि' सूत्र से स्त्रीप्रत्यय ङीप् को लुक् करने के बाद आनुक् की श्रवणापत्ति यहाँ रही है क्योंकि आनुक् तो स्त्री प्रत्यय है नहीं। इसलिये उसका श्रवण होने लगेगा, जो अभीष्ट नहीं है। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाय उभयोरप्यपायः ॥ ८७ ॥

सन्नियोगशिष्ट अर्थात् एक साथ जिनका विधान किया गया है उनमें से एक की निवृत्ति संभावित होने पर दोनों की निवृत्ति हो जाती है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि उपर्युक्त प्रयोग में जब ङीप् का लोप संभावित हुआ तो उसके साथ विहित आनुक् भी निवृत्त हो जाता है, जिससे 'पञ्चेन्द्रः' इस रूप की सिद्धि होती है।

यहाँ एक यह जिज्ञासा होती है कि दो के मध्य एक के लिये अन्यतर का प्रयोग किया जाता है। ऐसी स्थिति में यहाँ 'सन्नियोगशिष्टानाम्' इस बहुवचन प्रयोग का क्या औचित्य है? इस प्रकार की जिज्ञासा के उत्तर में कहा गया है कि यहाँ 'सन्नियोगशिष्टौ च सन्नियोगशिष्टौ च सन्नियोगशिष्टौ च, इति सन्नियोगशिष्टास्तेषाम्' इस प्रकार एक शेष करके अष्टाध्यायी में आये हुए सारे सन्नियोगशिष्टों जहाँ दो-दो साथ में विहित हैं का ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार अन्यतरपद में भी एक शेष किया गया है। प्रत्येक सन्नियोगशिष्ट का प्रत्येक अन्यतर पदार्थ में अन्वय किया जाता है जिससे कोई अनुपपत्ति नहीं होती।

यहाँ यह शंका नहीं होनी चाहिये कि ङीप् के साथ आनुक् की निवृत्ति होने पर आनुक् के साथ दीर्घ एकादेश में अन्तर्भूत इन्द्र शब्द का अकार भी चला जायेगा। फलस्वरूप 'पञ्चेन्द्र' शब्द हलन्त होना चाहिये, क्योंकि 'अन्तरङ्गानपि विधीन्' इस परिभाषा के कारण लुक् के पहले दीर्घ एकादेश होता ही नहीं। इसलिये शुद्ध आनुक् की ही निवृत्ति होती है न कि इन्द्रशब्दावयव अकार की भी निवृत्ति। इसलिये पञ्चेन्द्रः रूप की सिद्धि में कोई बाधा नहीं होती।

अत्र च 'बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्' (६-४-१५३) इति सूत्रस्थं छग्रहणं ज्ञापकम्। तद्धि छमात्रस्य लुग्बोधनद्वारा कुको निवृत्तिर्यथा स्यादित्येतदर्थम्। कृतकुगागमा नडाद्यन्तर्गतबिल्वादय एव तत्र निर्दिष्टा बिल्वकादिशब्देन। न चैवमपि छग्रहणं व्यर्थम्, कृतकुगागमानुवादसामर्थ्यादेव तदनिवृत्तिसिद्धेः। अन्यथा 'बिल्वादिभ्य' इत्येव वदेत्, 'लक्षणप्रतिपदोक्त'परिभाषया बिल्वादिपुरस्कारेण विहितप्रत्ययस्यैव लुग्विधानान्नातिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, ततोऽपि प्रतिपदोक्तत्वेन 'बिल्वादिभ्योऽण्' (४-३-१३६) इति विकारार्थस्य लुगापत्तिवारणार्थं कुगनुवादचारितार्थ्यात्। समुच्चयार्थकचशब्दयोगे तु विधेययोरेककालिकत्वैकदेशत्वनियमान्न्यायसिद्धापीयम्।

'बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्' इस सूत्र में किया गया छ ग्रहण इस परिभाषा में ज्ञापक है। बिल्वादि नडादिगण के अन्तर्गत हैं इसलिये 'बिल्वाः सन्ति यस्याम्' इस

विग्रह में 'नडादीनां कुक् च' इस सूत्र से कुक् सन्नियोगशिष्ट छ प्रत्यय का विधान किया जाता है जिससे 'बिल्वकीया' इस प्रयोग की सिद्धि होती है। इसके बाद 'बिल्वकीयायां भवाः' इस अर्थ में भवार्थक अण् प्रत्यय होता है। इस अण् प्रत्यय के पर में रहने पर 'बिल्वकादिभ्यः' सूत्र से छ प्रत्यय का लुक् किया जाता है जिससे 'बैल्वकाः' इस प्रयोग की सिद्धि होती है। यहाँ प्रश्न होता है कि बिल्वकादि शब्दों से पर में छ प्रत्यय से अतिरिक्त किसी अन्य प्रत्यय का विधान न होने के कारण यह स्वयं सिद्ध है कि यहाँ छ प्रत्यय का ही लुक् होगा। ऐसी स्थिति में उक्त लुक्विधायक सूत्र में छ ग्रहण की क्या आवश्यकता है। इस प्रकार छ ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है। अब यदि उक्त सूत्र में छ ग्रहण नहीं किया जाता और यह कहा जाता कि बिल्वकादि से पर में छ प्रत्यय ही संभव है इसलिये उसी का लुक् होगा तो इस परिभाषा के द्वारा छ प्रत्यय के साथ तत्सन्नियोगशिष्ट कुक् भी निवृत्त हो जाता। इसलिये सूत्र में छ ग्रहण किया गया कि लुक् केवल छ का ही हो, उसके साथ कुक् की निवृत्ति न होने पावे।

यदि कहा जाय कि लुक्विधायक सूत्र में छ ग्रहण नहीं करें तो, बिल्व शब्द से स्वार्थ में क प्रत्यय करके बिल्वक-शब्द प्रकृतिक, तथा छ प्रत्यय से भिन्न 'अदूरभवश्च' सूत्र से विहित अण् का भी लुक् होने लग जायेगा, इसलिये छ ग्रहण चरितार्थ है तो वह इस परिभाषा का ज्ञापन कैसे करेगा ?

इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि 'बिल्वकादिभ्यः' सूत्र में पढ़े गये बिल्वकादि शब्द से, नडादिगण में पढ़े गये तथा जिसमें कुक् का आगम हुआ है ऐसे कृतकुगागम बिल्वादि शब्द का ही ग्रहण होता है, न कि यथाकथञ्चित बनाये गये बिल्वक शब्द का ग्रहण। इसलिये स्वार्थिक क प्रत्यय से बनाये गये बिल्वक शब्द के आगे छ प्रत्यय से भिन्न प्रत्यय के लोप वारण के लिये छ ग्रहण की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार छ ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है।

अब यह शंका होती है कि परिभाषा के ज्ञापन करने पर भी छ ग्रहण व्यर्थ ही है। तात्पर्य यह है कि परिभाषा को तो स्वीकार कर लिया जाय किन्तु 'बिल्वकादिभ्यश्छस्य' सूत्र में छ ग्रहण नहीं किया जाय। 'बिल्वकादिभ्यो लुक्' ऐसा निर्देश करने से ही लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा के द्वारा 'नडादीनां कुक् च' इस सूत्र से विहित बिल्वादिप्रकृतिक छ प्रत्यय का ही लुक् होगा। ऐसी स्थिति में छ ग्रहण की क्या आवश्यकता है ? यदि कहा जाय कि छ ग्रहण न करने पर कुक् की भी निवृत्ति हो जायेगी तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'बिल्वकादिभ्यः' सूत्र में बिल्वक जो यह निर्देश है वह नडादित्वात् कुक् के आगम से निष्पन्न 'बिल्वक' का अनुवाद है।

यदि छ प्रत्यय के साथ कुक् की भी निवृत्ति अभीष्ट होती तो कृतकुगागम का अनुवाद न करके 'बिल्वादिभ्यो लुग्' ऐसा ही सूत्र बना दिया गया होता। किन्तु ऐसा न बनाकर जो कुगागमसहित पाठ किया गया है, उसके सामर्थ्य से कुक् की निवृत्ति नहीं होगी। यदि कहा जाय कि 'बिल्वादिभ्यो लुक्' ऐसा सूत्र करने पर बिल्वादि शब्द से विहित जिस किसी भी प्रत्यय का लुक् होने लग जायेगा, तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से बिल्वादि शब्द को पुरस्कृत कर (उच्चारण कर) विहित प्रत्यय का ही लुक् होगा, ऐसा स्वीकार करने से कोई अतिप्रसंग (दोष) नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि जो बिल्व शब्द नडादि गण में पढ़ा गया है उस शब्द से विहित प्रत्यय ('नडादीनां कुक् च' से विहित प्रत्यय) ही प्रतिपदोक्तप्रत्यय कहा जायेगा और वह प्रत्यय होगा कुक्सन्नियोगशिष्ट छ प्रत्यय। इसलिये 'बिल्वादिभ्यो लुक्' कहने पर भी प्रतिपदोक्तत्वात् छ प्रत्यय से इतर किसी अन्य प्रत्यय का लुक् होगा ही नहीं। ऐसी स्थिति में कुगागम के अनुवाद के सामर्थ्य से की कुक् की निवृत्ति नहीं होगी। इस प्रकार परिभाषा ज्ञापित हो जाने पर भी छ ग्रहण की स्वांश में चरितार्थता नहीं हो रही है। इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि 'बिल्वादिभ्यो लुक्' ऐसा सूत्र बनाने पर प्रतिपदोक्तत्वात् छ प्रत्यय का ही लुक् होगा, अन्य किसी प्रत्यय का नहीं होगा, ऐसी जो बात कही गई है वह ठीक नहीं है, क्योंकि बिल्वादि शब्द से जो छ प्रत्यय की उपस्थिति हो रही है, उससे भी शीघ्रोपस्थिति 'बिल्वादिभ्योऽण्' सूत्र से विहित अण् की हो रही है, क्योंकि छ प्रत्यय के लिये, पहले यह ज्ञान अपेक्षित होता है कि बिल्वादि, नडादि के अन्तर्गत है। इसकी अपेक्षा 'बिल्व शब्द का नामोल्लेख कर उससे सीधे विहित अण् प्रत्यय के लिये किसी विशेष की अपेक्षा नहीं होती है। इसलिये छ प्रत्यय की अपेक्षा अण् प्रत्यय ही प्रतिपदोक्त होता है। इस विकारार्थक अण् प्रत्यय का लुक् न होने लग जाय इसके लिये कुक् के अनुवाद की अर्थात् 'बिल्वकादिभ्यः' इस निर्देश की आवश्यकता है। इस प्रकार जब कुक् का अनुवाद विशिष्ट पाठ चरितार्थ हो गया तब यह नहीं कहा जा सकता कि तत्सामर्थ्यात् कुक् की निवृत्ति नहीं होगी। इसलिये कुक् की अनिवृत्ति के लिये छ ग्रहण चरितार्थ होता है।

अब इस परिभाषा की न्यायसिद्धता का प्रतिपादन करते हुए कह रहे हैं कि जहाँ पर समुच्चयार्थक चकार होता है, वहाँ च शब्द से किसी का समुच्चय करके मुख्य विधेय के साथ उसका भी विधान किया जाता है। जैसे—'वनो र च' इस सूत्र में पठित चकार से ङीप् का समुच्चय करके ङीप् प्रत्यय और अन्त्य के स्थान पर रकार आदेश ये दोनों साथ ही विहित होते हैं। यहाँ दोनों विधेयों का एक प्रयोग में साथ रहना ही समुच्चय या साहित्य है। अर्थात् दोनों का एक देश और एक

काल होना चाहिये। यदि एक की निवृत्ति होने पर दूसरे की स्थिति रह जाती है तो उनका परस्पर साहित्य नहीं रह जाता है। इसलिये यह बात स्वयं सिद्ध है ऐसे स्थलों पर एक की निवृत्ति होने पर दूसरे की भी निवृत्ति स्वतः ही हो जाती है। इस प्रकार यह परिभाषा इसी बात का फलितार्थरूपा है। अर्थात् न केवल यह ज्ञापक सिद्धा है अपितु न्यायसिद्धा भी है।

यत्तु 'णाविष्ठवदित्यनेन पुंवत्त्वविधानमेतदनित्यत्वज्ञापनार्थम्, अन्यथा 'एतयती'त्यादौ टिलोपेनैव ङीपि निवृत्ते सन्नियोगशिष्टपरिभाषया नस्यापि निवृत्त्या 'एतयती'त्यादिसिद्धौ पुंवत्त्ववैयर्थ्यं स्पष्टमेवेति 'टेः' (६-४-१५५) इति सूत्रे कैयटः, तन्न। 'इडबिडमाचष्ट, ऐडबिडयती'त्यादौ पुंवत्त्वस्य आवश्यकत्वात्। 'ऐनेयः, श्यैनेय' इत्यादि तु स्थानिवत्त्वेन सिद्धमित्यन्यत्र विस्तरः॥ ८७॥

'टेः' सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर भाष्यकार ने 'णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य' इस वचन के आधार पर णिच् प्रत्यय पर में रहने पर प्रातिपदिक को इष्ठवद्भाव किया। इष्ठवद्भाव के अन्तर्गत पुंवद्भाव भी आता है। भाष्यकार ने वर्णवाची एनी और श्येनी शब्द से आचष्ट अर्थ में णिच् करके पुंवद्भाव के द्वारा एनी को एत और श्येनी को श्येत बनाकर 'एतयति' और 'श्येतयति' इन प्रयोगों की सिद्धि की है।

कैयट इस पुंवद्भावविधान से इस परिभाषा को अनित्य मान रहे हैं। उनका कहना है कि 'एनी+इ' इस स्थिति में पुंवद्भाव न करके टिलोप किया जायेगा। टिलोप भी इष्ठवद्भाव के अन्तर्गत ही आता है। इस प्रकार टिलोप करके जब ङीप् की निवृत्ति हो जायेगी, तब इस परिभाषा के द्वारा ङीप् का सन्नियोगशिष्ट नकार भी निवृत्त हो जायेगा। फलस्वरूप 'एतयति' आदि प्रयोगों की सिद्धि हो ही सकती है; तब पुंवद्भावविधान की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार पुंवद्भाव का विधान व्यर्थ होकर इस परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापन करता है। जब परिभाषा अनित्य हो गई तो टिलोप के द्वारा ङीप् की निवृत्ति होने पर भी तत्सन्नियोगशिष्ट नकार निवृत्त नहीं होगा, क्योंकि परिभाषा की प्रवृत्ति अनित्यत्वात् होगी ही नहीं। इसलिये पुंवद्भाव के द्वारा 'एतयति' आदि प्रयोगों की सिद्धि करना सार्थक होता है। किन्तु कैयट का यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि इडविट्' शब्द से अपत्य अर्थ में 'जनपद शब्दात् क्षत्रियादञ्' सूत्र से अञ् प्रत्यय करके स्त्रीत्व की विवक्षा में 'अतश्च' सूत्र से उसका लुक् करने पर 'इडविडमाचष्टे' इस अर्थ में णिच् प्रत्यय करने पर 'इडविड्+इ' इस स्थिति में जब पुंवद्भाव किया जाता है तब स्त्रीत्वप्रयुक्तलुक् की निवृत्ति हो जाने पर अञ् प्रत्यय वहाँ आ जाता है, जिससे आदिवृद्धि होकर

'ऐडविडयति' इस रूप की सिद्धि होती है। यह कार्य विना पुंवद्भाव के हो नहीं सकता, इसलिये पुंवद्भाव इस कार्य के लिये आवश्यक है। ऐसी स्थिति में उसके द्वारा इस परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापन करना ठीक नहीं है।

यदि कहा जाय कि जब यह परिभाषा अनित्य रहती है तब 'एन्या अपत्यम् ऐनेयः' और 'श्येन्या अपत्यम् श्यैनेयः' इन प्रयोगों की सिद्धि होती है, क्योंकि 'ऐनी+एय' इस स्थिति में 'यस्येति च' सूत्र से ङीप् के इकार की निवृत्ति होने पर भी तत्सन्नियोगशिष्टनकार की निवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि अनित्य होने के कारण परिभाषा की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती है। फलस्वरूप 'ऐनेयः' 'श्यैनेयः' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि होती है। अब जब परिभाषा को अनित्य नहीं माना जा रहा है, तब उक्त रूपों की सिद्धि किस प्रकार होगी? इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि 'ऐनेयः, श्यैनेयः' ये प्रयोग तो लुप्त ईकार का 'अचः परस्मिन्' सूत्र से स्थानिवद्भाव के द्वारा सिद्ध हैं। जब स्थानिवद्भाव हो जायेगा तो वहाँ ईकारबुद्धि होगी। ईकारबुद्धि होने का तात्पर्य है कि वहाँ ईकार का अपाय हुआ ही नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत परिभाषा की यहाँ प्रवृत्ति ही नहीं होगी, जिससे नकार की निवृत्ति नहीं हो सकेगी। इस प्रकार परिभाषा की अनित्यता के विना भी 'ऐनेयः' आदि प्रयोगों की सिद्धि हो जाती है।

यदि कहा जाय कि स्थानिभूत ईकार से पूर्वत्वेन दृष्टनकार के स्थान पर किसी कार्य के न होने के कारण यहाँ स्थानिवद्भाव ही कैसे होगा? तो इसका उत्तर यह है कि पूर्वविधि में विधिशब्द भावसाधन है जिसका अर्थ है भाव या सत्ता। इस प्रकार पूर्व नकार की सत्ता को स्थिर रखने के लिये स्थानिवद्भाव हो सकता है। यह बात अन्यत्र भाष्यादि में विस्तार से कही गई है॥ ८७॥

ननु 'चुरा शीलमस्याः सा चौरी'त्यादौ 'शीलम्' (४-४-६१) 'छत्रादिभ्यो णः' (४-४-६२) इति णे ङीप् न प्राप्नोतीत्यत आह—

'चुरा शीलं यस्याः' इस विग्रह में 'चुरा' शब्द से 'छत्रादिभ्यो णः' इस सूत्र तच्छील अर्थ में ण प्रत्यय करने पर निष्पन्न 'चौर' शब्द से स्त्रीत्व का बोधक ङीप् प्रत्यय नहीं होगा, क्योंकि ङीप् प्रत्यय 'टिड्ढाणञ्' सूत्र से होता है, और इसके लिये 'अण्' प्रत्ययान्त शब्द का होना आवश्यक है। चौर शब्द ण प्रत्ययान्त है न कि अण् प्रत्ययान्त। इसलिये यहाँ ङीप् प्रत्यय नहीं होगा। फलस्वरूप 'चौरी' इस रूप की सिद्धि नहीं होगी। इस प्रकार शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

ताच्छीलिके णेऽण्कृतानि भवन्ति॥ ८८॥

तच्छील अर्थ में विहित ण प्रत्यय पर में रहने पर वे सारे कार्य होते हैं जो अण्

प्रत्यय के कारण होते हैं। अर्थात् अण् प्रत्ययनिमित्तक कार्य तच्छील अर्थ में विहित ण प्रत्यय पर में रहने पर भी होते हैं।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि 'चौर' शब्द से ङीप् प्रत्यय हो गया, जिससे 'चौरी' इस रूप की सिद्धि हो गई।

'अन्' (६-४-१६७) इत्यणि विहितप्रकृतिभावबाधनार्थं 'कार्मस्ताच्छील्ये' (६-४-१७२) इति निपातनमस्या ज्ञापकम्।

ताच्छीलिकणान्ताद् 'अणो द्व्यचः' (४-१-१५६) इति फिञ्सिद्धिरप्यस्याः प्रयोजनमिति नव्याः।

ताच्छीलिक इत्युक्ते 'तदस्यां प्रहरणम्' (४-१-५७) इति णे 'दाण्डे'त्येव। 'कार्मः' (६-४-१७२) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टा॥ ८८॥

अण् प्रत्यय पर में रहने पर 'अन्' सूत्र से विहित प्रकृतिभाव को बाधने के लिये किया 'कार्मस्ताच्छील्ये' इस सूत्र से टिलोप का निपातन इस परिभाषा का ज्ञापक है। इसका तात्पर्य यह है कि 'राज्ञोऽपत्यम्' इस विग्रह में राजन् शब्द से अण् प्रत्यय करने पर 'राजन्+अ' इस स्थिति में 'नस्तद्धिते' सूत्र से टिलोप प्राप्त रहता है। इस टिलोप को 'अन्' सूत्र से प्रकृतिभाव के द्वारा रोक दिया जाता है। इस प्रकार वहाँ 'राजनः' ऐसा रूप बनता है।

'कर्म शीलं यस्य' इस विग्रह में कर्मन् शब्द से जब 'छत्रादिभ्यो णः' सूत्र से ण प्रत्यय किया जाता है तब 'कर्मन्+अ' इस स्थिति में 'नस्तद्धिते' सूत्र से प्राप्त टिलोप का बाधक 'अन्' सूत्र का प्रकृतिभाव यहाँ प्राप्त होता है, इसे बाधने के लिये 'कार्मस्ताच्छील्ये' इस सूत्र से निपातनात् टिलोप किया जाता है, जिससे 'कार्मः' इस रूप की सिद्धि होती है। यहाँ प्रश्न होता है कि 'अन्' सूत्र से विहित प्रकृतिभाव तो अण् प्रत्यय पर में रहने पर होता है। 'कार्मः' इस प्रयोग में तो ण प्रत्यय हुआ है न कि अण् प्रत्यय। ऐसी स्थिति में यहाँ प्रकृतिभाव की प्राप्ति ही नहीं है तो 'नस्तद्धिते' से टिलोप के द्वारा 'कार्मः' प्रयोग सिद्ध ही हो जायेगा; तो ऐसी स्थिति में निपातन से टिलोप क्यों किया गया? इस प्रकार टिलोप का निपातन व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है। जब परिभाषा ज्ञापित हो गई तो अब अण् की भाँति ण प्रत्यय में भी प्रकृतिभाव प्राप्त रहेगा, उसे बाधकर टिलोप करने के लिये निपातन सार्थक होता है।

नवीन दीक्षितादि विद्वानों का कहना है कि ताच्छीलिक ण प्रत्ययान्त से 'अणो द्व्यचः' सूत्र से फिञ् प्रत्यय होना भी इस परिभाषा का प्रयोजन है।

ताच्छीलिक ण प्रत्यय में ही अण् कार्य होता है, ऐसा कहने का फल यह होता है कि 'दण्डः प्रहरणं यस्यां क्रीडायाम्' इस अर्थ में 'तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः'

इस सूत्र से दण्ड शब्द से ण प्रत्यय करने पर इस ण प्रत्यय के यहाँ अण् कार्य, स्त्रीत्व बोधक ङीप् नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ का ण प्रत्यय तच्छील अर्थ में नहीं हुआ है। इसलिये यहाँ टाप् होकर 'दाण्डा' यह रूप बनता है। 'कार्मस्ताच्छील्ये' इस सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है ॥ ८८ ॥

ननु 'कंसपरिमृड्भ्यामि'त्यादौ 'मृजेर्वृद्धिः' (७-२-११४) दुर्वारेत्यत आह—

'मृजेर्वृद्धिः' सूत्र से मृज् धातु के इक् को वृद्धि होती है वह प्रत्ययसामान्य के पर में रहने पर होती है। ऐसी स्थिति में 'कंसपरिमृड्भ्याम्' इत्यादि प्रयोगों में सुप् प्रत्यय पर में रहने पर भी मृज् धातु के इक् ऋकार को वृद्धि होनी चाहिये। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनी—

धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति ॥ ८९ ॥

धातु को उद्देश्य करके विधीयमान कार्य, तत्प्रत्यये=धातुत्वावच्छिन्न उद्देश्यता-निरूपित विधेयताश्रय प्रत्यय, अर्थात् धातु को उद्देश्य करके विहित प्रत्यय के पर में रहने पर ही होता है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि मृज् के इक् को की जाने वाली वृद्धि धातुत्वव्याप्य मृजत्वावच्छिन्न उद्देश्यताक कार्य होने के कारण, धातु को उद्देश्य करके विहित प्रत्यय के पर में रहने पर ही होगी। इसलिये 'कंसपरिमृड्भ्याम्' इस प्रयोग में वृद्धि नहीं हुई, क्योंकि भ्याम् प्रत्यय धातु को उद्देश्य बना कर विहित नहीं है। यद्यपि परिपूर्वक मृज् धातु से यहाँ क्विप् हुआ है तथापि उसे निमित्त मान कर भी यहाँ वृद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि क्विप् प्रत्यय के कित् होने के कारण वहाँ 'क्ङिति च' सूत्र से वृद्ध का निषेध हो जायेगा।

'भ्रौणहत्ये' तत्त्वनिपातनमस्या ज्ञापकम्। 'धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानमि'ति पाठस्तु 'प्रसृड्भिरि'त्यादौ 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य' (६-१-५९) इत्यमापादनेन भाष्ये दूषितः।

यत्कार्यं प्रत्ययनिमित्तं तत्रेयं व्यवस्थापिका। तेन पदान्तत्वनिबन्धनं 'नशेर्वा' (८-२-६३) इति कुत्वं 'प्रणड्भ्यामि'त्यादौ भवत्येव। इत्यादि-विधौ तु नैषा। 'न भूसुधियोः' (६-४-८५) इति निषेधेनानित्यत्वात्। 'मृजेर्वृद्धिः' (७-२-११४) इत्यत्र भाष्ये स्पष्टा ॥ ८९ ॥

'भ्रूणं हतवान्=भ्रूणहा, तस्य भावः कर्म वा भ्रौणहत्यम्' इस प्रयोग में भ्रूणहन् शब्द से 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः' सूत्र से ष्यञ् प्रत्यय करने पर 'दाण्डिनायनहास्ति-नायन' इत्यादि सूत्र से भ्रूणहन् शब्द के नकार को निपातन से तकार विधान करना इस परिभाषा का ज्ञापक है।

यहाँ प्रश्न होता है कि 'श्रौणहन्+य' इस स्थिति में 'हनस्तोऽचिण्णलोः' इस सूत्र से ही यहाँ तकारादेश सिद्ध था, तो निपातन से यहाँ तकार आदेश क्यों किया गया। यही तकार का निपातन व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है। जब परिभाषा ज्ञापित हो जाती है तब 'हनस्त···' सूत्र से हन् धातु को उद्देश्य करके विधीयमान तकार की प्रवृत्ति धातु से विहित प्रत्यय पर में रहने पर ही होगी। 'श्रौणहत्यम्' इस प्रयोग में विहित ष्यञ् प्रत्यय प्रातिपदिक से विहित है न कि धातु से। इसलिये 'हनस्त' सूत्र की यहाँ प्रवृत्ति असंभव होने के कारण निपातन से तकार करना स्वांश में चरितार्थ होता है।

इस परिभाषा के स्थान पर प्राचीनों ने ऐसा पाठ स्वीकार किया था—'धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये कार्यविज्ञानम्' इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ धातु के स्वरूप (आनुपूर्वी) का ग्रहण करके किसी कार्य का विधान किया गया हो, वह कार्य धातु से विहित प्रत्यय के पर में रहने पर होता है। किन्तु इस प्रकार के पाठ को स्वीकार करना उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि ऐसा पाठ स्वीकार करने पर इस परिभाषा की प्रवृत्ति वहीं होगी, जहाँ धातु के स्वरूप का उल्लेख हो। ऐसी स्थिति में 'अनुदात्तस्य चर्युपधस्यान्यतरस्याम्' इस सूत्र में किसी धातु की आनुपूर्वी (स्वरूप) का उल्लेख न होने के कारण इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होगी। परिणाम यह होगा कि जहाँ धातु से विहित प्रत्यय पर में नहीं रहेगा, वहाँ भी इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जायेगी। इस प्रवृत्ति का फल यह होगा कि 'प्रसृड्भ्याम्, प्रसृड्भिः' इत्यादि प्रयोगों में उक्त सूत्र से अम् का आगम होने लगता, जिससे अनभीष्ट प्रयोग बनने लगते। इसलिये भाष्यकार ने इस पाठ को दूषित किया है। अतः यह पाठान्तर ठीक नहीं है।

ज्ञापकसाजात्य से जिस कार्य में प्रत्ययनिमित्त हो अर्थात् सप्तम्यन्त पदोपात्त-प्रत्यय निमित्त हो, वहीं पर यह परिभाषा व्यवस्थापिका होती है। अर्थात् वहीं पर इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। इसलिये पदान्त में नश् धातु को जहाँ कुत्व का विधान किया जाता है वहाँ 'नशेर्वा' सूत्र में प्रत्यय का निमित्तत्वेन आश्रयण न करने के कारण इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। फल यह होता है कि 'प्रणग्भ्याम्' इस प्रयोग में 'नशेर्वा' सूत्र की प्रवृत्ति होती है। जिससे कुत्व होकर उक्त रूप की सिद्धि होती है।

अब यहाँ यह शंका होती है कि जहाँ प्रत्यय का निमित्तत्वेन आश्रयण किया गया हो वहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति स्वीकार करने पर एक यह समस्या उपस्थित होती है कि 'अचिश्नु' सूत्र से विधेय इयङ् में प्रत्यय का निमित्तत्वेन आश्रयण किया गया है, ऐसी स्थिति में इस परिभाषा की वहाँ प्रवृत्ति हो जायेगी। इसका परिणाम

यह होगा कि 'सुधियौ' इस प्रयोग में 'अचिश्नु' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। फल-स्वरूप यहाँ इयङ् नहीं होगा। इस परिभाषा की जहाँ प्रवृत्ति होती है वह कार्य धातु से विहित प्रत्यय के पर में रहने पर ही होता है। 'सुधियौ' में औप्रत्यय प्रातिपदिक से विहित है न कि धातु से। इसलिये यहाँ इयङ् की अनापत्ति है। इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि इयङ् आदि विधि में परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसमें प्रमाण है पाणिनि का 'न भूसुधियोः' यह सूत्रनिर्देश। यहाँ सुधी शब्द में इयङ् करके निर्देश किया गया है। इयङादि विधि में इस परिभाषा की प्रवृत्ति यदि होती तो 'सुधियोः' यह पाणिनि का निर्देश ही असंगत हो जाता। इससे स्पष्ट होता है कि यह परिभाषा अनित्य है, इसलिये अनित्यत्वात् इयङादि विधि में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है।

मूल में लिखा गया है कि 'न भूसुधियोरिति निषेधेनानित्वात्' अर्थात् 'न भूसुधियोः' यह सूत्र 'एरनेकाचः' सूत्र से प्राप्त यण् का जो निषेध करता है तत्सामर्थ्यात् यह परि-भाषा अनित्य है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि इयङादिविधि में इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती तो 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इस सूत्र में इस परिभाषा की प्रवृत्ति होने पर, सुप् प्रत्यय पर में रहने पर, 'सुधियौ' इत्यादि प्रयोगों में यण् की प्राप्ति होगी ही नहीं। ऐसी स्थिति में 'सुधी' शब्द को यण् का निषेध क्यों किया गया। इस निषेध से समझते हैं कि यह परिभाषा अनित्य है। इस प्रकार इसकी अनित्यता में 'न भूसुधियोः' सूत्र से किया गया यण् का निषेध, तथा इस सूत्र में 'सुधियोः' यह निर्देश, ये दोनों प्रमाण हैं। इस प्रकार अनित्यत्वात् इयङादिविधि में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है।

'मृजेर्वृद्धिः' इस सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है॥ ८९॥

ननु 'सर्वके, उच्चकैरि'त्यादौ सर्वनामाव्ययसंज्ञे न स्यातामत आह—

सर्व शब्द के सर्वनाम होने के कारण अकच् करके सर्वक शब्द से जश् विभक्ति में सर्वके यह रूप बना है। इसी प्रकार उच्चैः इस अव्यय से अकच् करके 'उच्चकैः' ऐसा रूप बना है। यहाँ शङ्का होती है कि सर्वनाम संज्ञा सर्वादिगणपठित शब्दों की तथा तदन्त शब्दों की होती है। इसी प्रकार अव्यय संज्ञा भी स्वरादिगण पठित शब्दों की तथा तदन्तशब्दों की होती है। अकच् विशिष्ट 'सर्वक' और 'उच्चकैः' का पाठ न तो उक्त दोनों गणों में है और न ये तदन्त ही हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ न तो सर्वनामसंज्ञा होगी और न अव्ययसंज्ञा ही होगी। परिणाम यह होगा कि 'सर्वकैः' प्रयोग में जश् को शी आदेश नहीं होगा और 'उच्चकैः' प्रयोग में 'अव्ययादाप्सुपः' से विभक्ति का लुक् नहीं होगा।

इस प्रकार की शङ्का होने पर यह परिभाषा बनी—

तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते ॥ ९० ॥

जो तन्मध्यपतित होता है, वह तद्ग्रहण से (तद् बोधक से) गृहीत होता है। तन्मध्यपतित वह कहा जाता है जो किसी शब्द को उद्देश्य बनाकर विहित किया गया हो और उस शब्द के किसी अवयव से पूर्व और किसी से पर में हो। जैसे सर्वनाम शब्द (प्रस्तुत में सर्वशब्द) को उद्देश्य करके अकच् विहित है। यह अकच् सर्व शब्द के अवयव अकार से पूर्व में तथा वकार से पर में है, अतः यह तन्मध्यपतित कहा गया। इस अकच् से विशिष्ट सर्वक शब्द, सर्वादि के बोधक सर्वनाम शब्द से गृहीत हो जाता है। इसलिये सर्वक शब्द को सर्वनाम मानकर उससे परे जश् को शी आदेश हो जाता है। इसी प्रकार 'उच्चकैः' यह अकच् विशिष्ट अव्यय शब्द से गृहीत हो जाता है, जिससे उसके आगे आयी हुई विभक्तियों का लुक् हो जाता है।

'नेदमदसोरकोः' (७-१-११) इति सूत्रे 'अकोरि'ति निषेधोऽस्या ज्ञापकः। 'तदेकदेशभूतं तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति 'येन विधिः' (१-१-७२) इति सूत्रे भाष्ये पाठः ॥ ९० ॥

'नेदमदसोरकोः' इस सूत्र में किया गया 'अकोः' यह निषेध इस परिभाषा का ज्ञापक है। यह सूत्र इदम् और अदस् शब्द से पर में रहने वाले भिस् को ऐस् का निषेध करता है। इसमें 'अकोः' इस निषेध का तात्पर्य यह है कि अकच् करने से जहाँ उक्त दोनों शब्द ककारसहित हो जाते हैं वहाँ यह निषेध न लगे। अर्थात् वहाँ भिस् को ऐस् हो जाय। जैसे—'इमकैः' इस प्रयोग में ऐस् हो गया है। यदि अकच्-रहित इदम् शब्द अकच् सहित 'इदकम्' शब्द का बोधक नहीं होता तो अकच् सहित इदकम् शब्द के शब्दान्तर होने के कारण वहाँ निषेध की प्रवृत्ति ही नहीं होती; तो ऐसी स्थिति में वहाँ निषेध की अप्रवृत्ति के लिये 'अकोः' इस निषेध की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार 'अकोः' यह निषेध व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है। परिभाषा ज्ञापित हो जाने पर इदम् शब्द से इदकम् का ग्रहण होने के कारण यहाँ भी भिस् के ऐस् का निषेध न होने लगे, इसलिये 'अकोः' यह निषेध स्वांश में चरितार्थ होता है।

'येन विधिस्तदन्तस्य' इस सूत्र के भाष्य में 'तदेकदेशभूतं तद् ग्रहणेन गृह्यते' ऐसा पाठ है। यहाँ एकदेश का अर्थ अवयव है। इस प्रकार 'जो उसका अवयव हो जाता है' वह उसके ग्रहण (बोधक) से गृहीत होता है। अकच् होने पर 'अक' इदम् का अवयव हो जाता है, इसलिये इदम् शब्द से 'इदकम्' का भी ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार दोनों पाठों का समान ही अर्थ है।

यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि—जिस प्रकार गंगा में प्रविष्ट अनेक नदियों को गंगा ग्रहण से ही गृहीत किया जाता है तथा देवदत्ता का गर्भ देवदत्ता ग्रहण से

ही गृहीत होता है, उसी प्रकार सर्व के भीतर आया हुआ अकच् भी सर्वग्रहण से गृहीत हो जायेगा तो इस परिभाषा की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि सर्वनामत्व, अव्ययत्व आदि धर्म, उपसर्गत्व की भाँति अक्त परिमाण हैं। अक्त परिमाण का अर्थ परिछिन्न परिमाण है। परिछिन्न परिमाण से तात्पर्य है—परिगणित—नियत संख्या वाले अक्षरों से निर्मित जो आनुपूर्वी है तद्वृत्ति धर्म ये उपसर्गत्व और सर्वनामत्व आदि हैं। ये जिस नियत आनुपूर्वी में रहते हैं—उससे कम या अधिक में इनका रहना लोकन्याय से सम्भव नहीं है अतः इस परिभाषा की आवश्यकता होती है। बिना इस परिभाषा के सर्व से सर्वक का, तथा उच्चैः इस अव्यय से उच्चकैः का ग्रहण लोकन्याय से कथमपि सम्भव नहीं था। इस प्रकार 'सर्वके' और 'उच्चकैः' इत्यादि में सर्वनाम संज्ञा और अव्यय संज्ञा की सिद्धि इस परिभाषा का फल होता है॥ ९० ॥

ननु 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः' (२-४-७७) इति सिचो लुक् 'अपासीदि'-त्यादौ पातेरपि स्यादत आह—

'गातिस्थाघुपाभूभ्यः' यह सूत्र, सूत्र में पठित धातुओं से पर में रहने वाले 'सिच्' का लुक् करता है। इसमें जो पा धातु पढ़ा गया है उससे जैसे शप् विकरण वाले पा धातु का ग्रहण होता है और 'अपात्' यह रूप बनाया जाता है उसी प्रकार यहाँ लुक् विकरण अर्थात् अदादिगण पठित 'पा रक्षणे' का भी ग्रहण होना चाहिये, क्योंकि पात्व धर्म तो दोनों जगह समान ही है। इस प्रकार लुक् विकरण पा धातु का ग्रहण करके 'अपासीत्' इस प्रयोग में भी सिच् का लुक् होना चाहिये। इस प्रकार की शङ्का होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य ॥ ९१ ॥

लुक् विकरण और अलुक् विकरण इन दोनों का ग्रहण, जब किसी सामान्य निर्देश के आधार पर प्राप्त होता है तब उन दोनों में से अलुक् विकरण का ही ग्रहण होता है।

प्रस्तुत में पा इस सामान्य निर्देश से भौवादिक की भाँति लुग् विकरण आदादिक पा धातु का भी ग्रहण प्राप्त था, किन्तु इस परिभाषा के कारण अलुग् विकरण भौवादिक पा धातु का ही ग्रहण किया जाता है, न कि अदादिगण के पा रक्षणे का भी ग्रहण किया जाता है इसलिये 'अपासीत्' में सिच् का लुक् नहीं होता है।

अस्याश्च ज्ञापकः 'स्वरतिसूति' (७-२-४४) इति सूत्रे सुङिति वक्तव्ये सूतिसूयत्योः पृथङ्निर्देश इति कैयटः। तन्न, साहचर्यादलुग्विकरणस्यैव ग्रहणे प्राप्ते पृथङ्निर्देशस्य तज्ज्ञापकत्वासम्भवात्।

ध्वनिता चेयं परिभाषा 'यस्य विभाषा' (७-२-१५) इत्यत्र भाष्ये। तत्र हि विदित इति प्रयोगे निषेधमाशङ्क्य "यदुपाधेर्विभाषा तदुपाधेर्निषेधो 'विभाषा गमहनविदविशाम्' (७-२-६८) इति सूत्रे शविकरणस्य ग्रहणं लुग्विकरणश्चायमि"त्युक्तम्। तत्र चो हेतौ। यतोऽयं लुग्विकरणोऽतो विशिसाहचर्याच्छविकरणस्य ग्रहणं न तु हनिसाहचर्यादस्याप्येतत्परिभाषा-विरोधादिति तदाशयः।

'स्वरति सूति सूयति धूञूदितो वा' (७।२।४४) यह सूत्र स्वरति इत्यादि धातुओं से पर में रहने वाले वलादि आर्धधातुक को इट् का निषेध करता है। इसमें स्वरति अर्थात् शप् विकरण स्वृ धातु का, सूति शब्द और सूयति शब्द से लुग् विकरण तथा श्यन् विकरण, 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' इस अदादिगणीय धातु तथा 'षूङ् प्राणिप्रसवे' इस दिवादि गणीय धातु, इन दोनों धातुओं का, 'धूञ्' शब्द से 'धूञ् कम्पने' इस अर्थ वाले स्वादि और क्र्यादि धूञ् इन धातुओं का और उदित् धातुओं का ग्रहण किया गया है। यहाँ प्रश्न होता है कि यदि इस सूत्र में 'सूङ्' ऐसा सामान्य निर्देश कर दिया गया होता तो उसी से आदादिक और दैवादिक दोनों सूङ् धातुओं का ग्रहण सम्भव था, ऐसी स्थिति में 'सूति और सूयति' इन दोनों धातुओं का पृथक् पृथक् निर्देश क्यों किया गया? यही पृथक् निर्देश व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है।

परिभाषा ज्ञापन के बाद उक्त सूत्र में यदि 'षूङ्' ऐसा सामान्य निर्देश करते तो इससे अलुग् विकरण दैवादिक का ही ग्रहण होता, आदादिक का ग्रहण नहीं होता। इसलिये दोनों के ग्रहण के लिये दोनों का पृथक् निर्देश सार्थक होता है। ऐसा कैयट ने 'स्वरति सूति सूयति' सूत्र में कहा है। किन्तु कैयट का यह कहना ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि यदि यह परिभाषा नहीं होती और सूत्र में 'षूङ्' ऐसा सामान्य निर्देश किया जाता तो षूङ् के पूर्वोत्तर स्वरति और धूञ् के साहचर्य से से अलुक् विकरण दैवादिक षूङ् धातु का ही ग्रहण होता। अदादि वाले 'षूङ्' धातु का ग्रहण नहीं होता। इसलिये दोनों का ग्रहण करने के लिये दोनों का पृथक् पृथक् निर्देश करना सार्थक है। ऐसी स्थिति में पृथक् निर्देश से परिभाषा का ज्ञापन करना ठीक नहीं है।

इस प्रकार जब कैयट की परिभाषा ज्ञापन प्रक्रिया ठीक नहीं है तब इस परिभाषा में क्या प्रमाण है? इस जिज्ञासा का उत्तर देते हुए लिख रहे हैं कि 'यस्य विभाषा' सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा ध्वनित है। भाष्यकार ने वहाँ कहा 'यस्य विभाषाऽविदे.' अर्थात् 'यस्य विभाषा' यह सूत्र विद् धातु से भिन्न को इट् का निषेध करे, विद् धातु को न करे। यदि विद् धातु को भी इट् का निषेध करने लगेगा तो

'विदितः' प्रयोग में भी इट् का निषेध हो जायेगा। इसलिये 'विदितः' इस प्रयोग में इट् का निषेध न हो, इसलिये वहाँ 'अविदेः' ऐसा कहना चाहिये। ऐसा कहकर भाष्यकार ने पुनः कहा 'तर्त्तहि वक्तव्यम्'। क्या 'अविदेः' ऐसा कहना चाहिये? ऐसी आशंका करके कहा 'न वक्तव्यम्' अर्थात् 'यस्य विभाषा' सूत्र के लिये 'अविदेः' ऐसा कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि 'यदुपाधेर्विभाषा तदुपाधेर्निषेधः' अर्थात् जिस उपाधि वाले धातु को वैकल्पिक इट् विहित है उसी को यह निष्ठा में इट् का निषेध करता है। 'विभाषा गमहनविदविशाम्' इस सूत्र में श विकरण विद् धातु का ग्रहण करके उससे पर में 'वस्' को इट् विकल्प किया गया है, इसलिये श विकरण वाले विद् धातु से निष्ठा प्रत्यय करने पर ही 'यस्य विभाषा' इस निषेध की प्रवृत्ति होगी। 'विदितः' इस प्रयोग में जो विद्धातु आया है वह तो लुग् विकरण अर्थात् अदादि गण का है, इसलिये यहाँ निषेध नहीं होगा।

यहाँ 'लुग् विकरणश्चायम्' इस भाष्य में जो च शब्द आया है वह हेतु अर्थ में है। अर्थात् जिस कारण से 'विदितः' प्रयोग का विद् धातु लुग् विकरण है, इस कारण 'यस्य विभाषा' से यहाँ इट् का निषेध नहीं होगा, क्योंकि 'विभाषा गमहन-विदविशाम्' इस सूत्र में विद् इस सामान्यनिर्देश से यद्यपि पूर्ववर्ती हन् के साहचर्य से लुक् विकरण अदादि गणस्थ 'विद् ज्ञाने' का ग्रहण प्राप्त होता है, और उत्तरवर्ती विश् के साहचर्य से श विकरण तौदादिक विद्ऌ लाभे का ग्रहण प्राप्त है तथापि विश् के साहचर्य से श विकरण का ही ग्रहण किया गया है। हन् के साहचर्य से लुग् विकरण का ग्रहण नहीं किया गया है। यदि लुग् विकरण विद् का ग्रहण किया जाता तो इस परिभाषा से विरोध हो जाता। इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि भाष्यकार इस परिभाषा को स्वीकार करते हैं। इसीलिये विद् इस सामान्य निर्देश से अलुग् विकरण का ग्रहण करके 'यस्य विभाषा' से उसी के लिये इट् के निषेध का प्रतिपादन किया। 'विदितः' का विद् धातु लुग् विकरण है अतः यहाँ इट् का निषेध नहीं होगा, इसलिये 'यस्य विभाषाऽविदेः' इस वार्तिक की आवश्यकता नहीं है, यही यहाँ के भाष्य के आशय है।

अत एव परिभाषायां लुग्विकरणस्यैवेति नोक्तम्। कण्ठतस्तु भाष्ये एषा क्वापि न पठिता। 'गातिस्था' (२–४–७७) इति सूत्रे पिबतेर्ग्रहणं कर्त्तव्य-मिति वार्तिककृता सर्वत्रैव पाग्रहणेऽलुग्विकरणस्य ग्रहणमिति भाष्यकृता चोक्तम्। 'स्वरतिसूति' (७–२–४४) इति सूत्रे कैयटेन च स्पष्टमुक्ता॥

अतएव=यस्य विभाषा के भाष्य से यह परिभाषा ध्वनित है, ऐसा स्वीकार करने से ही इस परिभाषा में 'लुग् विकरणस्यैव' ऐसा नहीं कहा गया है। यदि यह परिभाषा सूति और सूयति के पृथक् ग्रहण से ज्ञापित होती तो प्राथम्यात् सूति के

आधार पर 'लुग् विकरणस्यैव ग्रहणम्' ऐसा ज्ञापन करना उचित होता। ऐसा ज्ञापन करने पर भी दोनों का पृथक्-पृथक् ग्रहण सार्थक हो सकता था, क्योंकि ऐसा ज्ञापन करने पर लुग् विकरण अदादि का षड् धातु ही गृहीत होता। दिवादि का षूङ् धातु नहीं लिया जाता। इसलिये दोनों के ग्रहण के लिये दोनों का पृथक्-पृथक् निर्देश सार्थक हो सकता था। किन्तु लुग् विकरणस्यैव न कह कर जो 'अलुग् विकरणस्य' ऐसा कहा गया है, इससे सिद्ध होता है कि यह ज्ञापकसाध्य नहीं है किन्तु भाष्य से ध्वनित है। भाष्यकार ने कण्ठतः इस परिभाषा का नामोच्चारण करके कहीं नहीं पढा है।

'गातिस्थाघुपा' इस सूत्र में पा शब्द से पिबति अर्थात् भ्वादिगणस्थ पा धातु का ग्रहण करना चाहिये, ऐसा वार्तिककार ने कहा है। जहाँ 'पा' ऐसा सामान्य निर्देश हो वहाँ सब जगह अलुग् विकरण (भ्वादि गणस्थ) पा का ग्रहण होता है, ऐसा भाष्यकार ने कहा है। 'स्वरतिसूति' इस सूत्र में कैयट ने इसे स्पष्ट कहा है ॥९१॥

ननु 'प्रजिघाययिषती'त्यादौ 'हेरचङि' (७-३-५६) इति विधीयमानं कुत्वं न स्यादत आह—

प्र पूर्वक 'हि गतौ' धातु से णिच् करके प्रहायि धातु बनाकर इससे सन् प्रत्यय सन् को इट्, धातु को द्वित्व और अभ्यासकार्य के अनन्तर 'प्रजिहाययिषति' इस स्थिति में 'हेरचङि' सूत्र से अभ्यासोत्तर हकार को कुत्व नहीं होगा, क्योंकि यह सूत्र अंगाधिकारी है, इसलिये इसका अर्थ ऐसा होता है कि द्वित्व का निमित्त जो प्रत्यय तन्निमित्तक अंगसंज्ञक 'हि' धातु उसके अभ्यासोत्तर हकार को कुत्व होता है। सूत्र का इस प्रकार अर्थ होने के कारण उक्त प्रयोग में इसलिये कुत्व नहीं होगा कि द्वित्वनिमित्त प्रत्यय यहाँ सन् है, उस सन् का हि धातु के साथ पौवापर्य नहीं है, क्योंकि बीच में णिच् का व्यवधान हो गया है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रयोग में कुत्व की अनापत्ति होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणम् ॥ ९२ ॥

प्रकृतिमात्रबोधक पदघटितशास्त्र में णिच् के द्वारा अधिक हुए का भी ग्रहण किया जाता है।

जब प्रकृतिग्रहण में ण्यधिक का भी ग्रहण कर लिया गया तो यहाँ ण्यन्त 'हायि' भी 'हेरचङि' सूत्र के 'हि' ग्रहण से गृहीत हो गया, जिससे कुत्व करके 'प्रजिघाययिषति' इस प्रयोग की सिद्धि होती है।

'अचङी'ति प्रतिषेध एवास्या ज्ञापकः। इयं च कुत्वविषयैव। 'हेरचङि' इति सत्रे भाष्ये स्पष्टेयम् ॥ ९२ ॥

'हेरचङि' इस सूत्र में किया गया 'अचङि' यह प्रतिषेध इस परिभाषा का ज्ञापक है। 'अजीहयत्' इस प्रयोग में जहाँ च्लि को चङ् हुआ है यहाँ कुत्व न होने पावे, इसलिये 'अचङि' ऐसा प्रतिषेध किया गया है। किन्तु यहाँ णिच् के व्यवधान के कारण कुत्व की स्वयमेव प्राप्ति नहीं है तो इसके लिये 'अचङि' इस प्रतिषेध की क्या आवश्यकता है ? प्रकार 'अचङि' यह प्रतिषेध व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है। परिभाषा ज्ञापित हो जाने पर 'अजीहयत्' में प्राप्त कुत्व के वारण के लिये 'अचङि' इस प्रतिषेध की स्वांश में चरितार्थता होती है। फल यह होता है कि 'प्रजिधाययिषति' प्रयोग में कुत्व हो जाता है।

यह परिभाषा जो ण्यधिक का ग्रहण कराती है, यह ग्रहण (हि ग्रहण से हायि का ग्रहण) कुत्वमात्रविषयक है। इसलिये कुत्व से अन्य जगह इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। परिणाम यह होता है कि 'शाययति' इस प्रयोग में आदादिक शीङ् धातु से ण्यन्त 'शायि' धातु का ग्रहण नहीं होता है, जिससे यहाँ शप् का लुक् नहीं होता। 'हेरचङि' इस सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है ॥ ९२ ॥

ननु 'युष्मभ्यमि'त्यादौ 'भ्यसः' (७-१-३०) इत्यत्र भ्यमिति च्छेदे भ्यसो भ्यमि कृतेऽन्त्यलोप एत्वं स्यादत आह—

'शेषे लोपः' (७।२।९०) और 'भ्यसो भ्यम्' (७।१।३०) ये दोनों सूत्र युष्मद् और अस्मद् शब्द से सम्बन्धित है। इन दोनों सूत्रों के सम्बन्ध में दो मत हैं। 'शेषे लोपः' युष्मद् और अस्मद् के अन्त्य का लोप करता है अथवा उनके टि का (अद् भाग का) लोप करता है। इसी प्रकार 'भ्यसो भ्यम्' सूत्र भी भ्यस् के स्थान पर भ्यम् आदेश करता है अथवा अभ्यम् आदेश करता है। इनमें अन्त्य लोप पक्ष हो या टिलोप पक्ष हो 'अभ्यम्' आदेश दोनों ही पक्षों में साधु है, क्योंकि इसके द्वारा दोनों पक्षों में 'युष्मभ्यम्' रूप की ही सिद्धि होती है। किन्तु भ्यम् आदेश तो केवल अन्त्य लोप पक्ष में ही संगत होता है। भ्यम् आदेश करके यदि लोप किया जाय तो 'युष्म' भाग के हलन्त हो जाने के कारण 'युष्मभ्यम्' रूप की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

इस पृष्ठभूमि में यह शंका होती है कि भ्यस इत्यत्र='भ्यसो भ्यम्' इस सूत्र में जब 'भ्यसो भ्यम्' ऐसा पदच्छेद है और 'शेषे लोपः' सूत्र से अन्त्य दकार का लोप होता है तब 'युष्म+भ्यम्' इस स्थिति में 'बहुवचने झल्येत्' इस सूत्र से एकार क्यों नहीं होता ? अर्थात् यहाँ एकार होना चाहिये। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः ॥ ९३ ॥

एक अङ्गाधिकारी कार्य के हो जाने पर फिर दूसरा अङ्गाधिकारी कार्य नहीं होता।

इसका फल यह हुआ कि अङ्गाधिकारी कार्य 'शेषे लोपः' के हो जाने पर दूसरा अङ्गाधिकारी कार्य 'बहुवचने झल्येत्' सूत्र से एत्व नहीं हुआ।

अङ्गे=अङ्गाधिकारे, वृत्तं=निष्पन्नं यत्कार्यं तस्मिन् सति पुनरन्यस्याङ्ग-कार्यस्य वृत्तौ=प्रवृत्तावविधानं भवतीत्यर्थः।

एषा च 'ज्यादादीयसः (६-४-१६०) इत्याद्विधानेन ज्ञापिता। अन्यथेकारलोपेव 'अकृत्सार्व०' (७-४-२५) इति दीर्घेण च सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। अत एव भिन्नस्थानिकाङ्गकार्यविषयाप्येषा।

इयं चानित्या, 'द्वयोः' (१-२-५९; ५-३-९२) इति निर्देशात्। अनित्यत्वबललभ्यार्थमादायैव 'भ्यसो भ्यम्' (७-१-३०) इति सूत्रे भाष्ये निष्ठितस्येति पठितम्।

अङ्गे=अर्थात् अङ्गाधिकार में वृत्त अर्थात् निष्पन्न जो कार्य, उस कार्य के हो जाने पर फिर दूसरे अङ्ग कार्य की वृत्ति अर्थात् प्रवृत्ति का अविधान होता है। अर्थात् दूसरा अंग कार्य नहीं होता है।

यह परिभाषा 'ज्यादादीयसः' इस सूत्र के द्वारा आत् (आकार) विधान से ज्ञापित है। 'अयमनयोरतिशयेन वृद्धः' इस अर्थ में वृद्ध शब्द से ईयसुन् प्रत्यय और वृद्ध शब्द को 'ज्य' आदेश करने पर 'ज्य+ईयस्' इस स्थिति में 'ज्यादादीयसः' इस सूत्र से ईयस् के ईकार को आकार करके 'ज्यायस्' शब्द बनाकर 'ज्यायान्' रूप बनाया जाता है। यहाँ शङ्का होती है कि 'ज्यादादीयसः' सूत्र से ईयस् के ईकार को आकार न करके यदि उसका लोप कर दिया जाय तो 'ज्य-यस्' इस स्थिति में 'अकृतसार्वधातुकयोः' सूत्र से दीर्घ करके ज्यायस् शब्द बन सकता है और उसका ज्यायान् यह रूप भी सिद्ध हो ही सकता है तो ऐसी स्थिति में यहाँ आकारविधान की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार आकारविधान व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है। जब परिभाषा ज्ञापित हो गई तो लोप के बाद 'अकृत्सार्वधातुक' सूत्र से दीर्घ की प्रवृत्ति नहीं होगी, तो ज्यायान् रूप की सिद्धि भी नहीं हो सकेगी। इसलिये आकार का विधान सार्थक होता है।

अतएव=आत् विधान से ज्ञापित होने के कारण उसके साजात्य से यह स्पष्ट होता है कि यह परिभाषा न केवल समानस्थानिक अंग कार्य के हो जाने पर उसी स्थान पर दूसरे अंग कार्य को रोकती है, अपि तु भिन्नस्थानिक अंग कार्य के विषय में भी इसकी प्रवृत्ति होती है। 'ज्यायान्' प्रयोग में यदि इकार का लोप किया जाता तो लोप का स्थानी ईकार और दीर्घ का स्थानी अकार होता। इस प्रकार यहाँ भिन्न-भिन्न स्थानिकत्व स्पष्ट है। ऐसे भिन्न स्थानिक अंग कार्य में इसकी प्रवृत्ति होने से ही आत् विधान की सार्थकता होती है।

'किं यत्तदोर्निधारणे द्वयोरेकस्य डतरच्' इस सूत्र में 'द्वयोः' इस निर्देश से यह परिभाषा अनित्य है। अन्यथा वहाँ 'त्यदादीनामः' सूत्र से अत्व करने के बाद दूसरा आङ्ग कार्य 'ओसि च' सूत्र से एकार आदेश नहीं होता। फलस्वरूप 'द्वयोः' यह निर्देश नहीं बनता। इसलिये 'द्वयोः' इस पाणिनि के निर्देश से यह स्पष्ट होता है कि यह परिभाषा अनित्य है। इसके अनित्यत्व के कारण लभ्य अर्थ को लेकर ही 'भ्यसो भ्यम्' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने 'अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिर्निष्ठितस्य' ऐसा पाठ किया है। यहाँ निष्ठितस्य का अर्थ परिनिष्ठितस्य है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ अंगाधिकारीय कार्य की प्रवृत्ति के बाद लक्ष्य परिनिष्ठित हो जाता है, वहाँ पर द्वितीय अंगाधिकारी कार्य प्रवृत्त नहीं होता है। जैसे 'युष्मभ्यम्' इस प्रयोग में एक अंगाधिकारी सूत्र 'भ्यसो भ्यम्' के लगने से 'युष्यभ्यम्' प्रयोग परिनिष्ठित हो जाता है, इसलिये यहाँ दूसरा अंगाधिकारी कार्य 'बहुवचने झल्येत्' की प्रवृत्ति नहीं होती है। किन्तु जहाँ एक अंगाधिकारी कार्य की प्रवृत्ति के बाद लक्ष्य परिनिष्ठित नहीं होता, वहाँ उसे परिनिष्ठित बनाने के लिये दूसरे अंगाधिकारी कार्य की प्रवृत्ति होती ही है। जैसे 'द्वयोः, येषाम्, तेषाम्' इत्यादि प्रयोगों में 'त्यादादीनामः' की प्रवृत्ति होने मात्र से ही उक्त प्रयोगों की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये उसके बाद दूसरे अंगाधिकारी एत्वविधायक सूत्रों की प्रवृत्ति यहाँ होती ही है।

केचित्तु अनया परिभाषया न किञ्चिल्लक्ष्यं साध्यते। अत एव 'ज्ञाजनोर्जा' (७–३–७९) 'ज्यादादीयसः' (६–४–१६०) इति सूत्रयोरेनां ज्ञापयित्वा किं प्रयोजनम् इति प्रश्ने पिबतेर्गुणप्रतिषेध उक्तः, स न वक्तव्य इत्येव प्रयोजनमुक्तं न तु लक्ष्यसिद्धिरूपम्। तदुक्तम्—'भ्यसो भ्यम्' (७–१–३०) इत्यत्राभ्यमिति च्छेदः शेषे लोपश्चान्त्यलोप एव 'अतो गुणे' (६–१–९७) इति पररूपेण सिद्धं 'युष्यभ्यमि'त्यमित्यन्यत्र निरूपितम्। एवञ्च सूत्रद्वयस्थमेतज्ज्ञापनपरं भाष्यं 'भ्यसोऽभ्यम्' इति सूत्रस्थं च भाष्यमेकदेश्युक्तिरित्याहुः ॥ ९३ ॥

कुछ लोगों का कहना है कि इस परिभाषा के द्वारा किसी लक्ष्य की सिद्धि नहीं की जाती है। अतएव=इस परिभाषा कोई प्रयोजन नहीं है, इसी अभिप्राय से 'ज्ञाजनोर्जा' तथा 'ज्यादादीयसः' इन दोनों सूत्रों के भाष्यों में इस परिभाषा का ज्ञापन करके इस परिभाषा का क्या प्रयोजन है, इस प्रकार का प्रश्न करके कहा कि 'पिबति' इस प्रयोग में शप्निमित्तक लघूपधगुण के निषेध के लिये जो प्रतिषेध कहा गया है, वह प्रतिषेधवचन इस परिभाषा के रहने पर नहीं करना पड़ेगा, क्योंकि पा के स्थान पर पिबादेशरूपी आङ्ग कार्य करने के बाद लघूपधगुणरूपी दूसरा आङ्ग कार्य इस परिभाषा के कारण नहीं होगा। इसलिये लघूपधगुण को रोकने के लिये प्रतिषेध-

वचन की आवश्यकता नहीं है। यही इस परिभाषा का प्रयोजन कहा गया। किसी लक्ष्य की सिद्धि को इसका प्रयोजन नहीं बताया गया। इस बात को इस प्रकार कहा गया है—इस परिभाषा का फल 'युष्मभ्यम्' जो यह प्रयोग बताया गया है वह तो इस प्रकार सिद्ध हो सकता है कि 'भ्यसो भ्यम्' सूत्र में 'भ्यसोऽभ्यम्' ऐसा पदच्छेद करके भ्यस् के स्थान पर अभ्यम् का विधान किया जायेगा। अब यदि टिलोपपक्ष माना जाय तो युष्म के हलन्त हो जाने के कारण तथा झलादिबहुवचन पर में न रहने के कारण एत्व की स्वयं प्राप्ति नहीं है। यदि अन्त्यलोप पक्ष माना जाय तो भी झलादि बहुवचन पर में न रहने के कारण एत्व की प्राप्ति नहीं है। ऐसी स्थिति में 'अतो गुणे' के पररूप के द्वारा 'युष्मभ्यम्' प्रयोग सिद्ध हो सकता है। इसलिये यह परिभाषा का प्रयोजन नहीं है। 'पिबति' प्रयोग में लघूपधगुण का प्रतिषेधवचन नहीं करना पड़ेगा, यही परिभाषा का प्रयोजन है, यह जो बात कही गई है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि पिबादेश अदन्त है, इसलिये इकार उपधा में नहीं हो सकेगा, तस्मात् उसे गुण की प्राप्ति ही नहीं होगी। जब गुण की प्राप्ति ही नहीं है तब उसके निषेध के लिये प्रतिषेधवचन की स्वयमेव आवश्यकता नहीं है। ऐसी स्थिति में इस परिभाषा के कारण प्रतिषेधवचन नहीं करना पड़ेगा, यह कहना भी ठीक नहीं है।

इस प्रकार परिभाषा का जब कोई प्रयोजन नहीं रह गया तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'ज्ञाजनोर्जा' और 'ज्यादादीयसः' इन दोनों सूत्रों में इस परिभाषा के ज्ञापकपरकभाष्य, और 'भ्यसोऽभ्यम्' इस सूत्र का भाष्य—ये सारे भाष्य एकदेशी की उक्ति हैं॥ ९३॥

'केचित्तु' इस पद से आरम्भ कर 'आहुः' इस पद तक निर्वचन करके अङ्गवृत्त परिभाषा (९३) का खण्डन कर दिया गया है। इसी प्रकार अन्यपरिभाषाएँ जो भाष्यकार को अनभिमत हैं उनके खण्डन का उपक्रम करते हुए पहले प्राचीन विद्वानों द्वारा प्रस्तुत उन परिभाषाओं के ज्ञापक आदि को दिखा रहे हैं—

यत्तु 'ओरोदि'ति वाच्ये 'ओर्गुणः' (६-४-११६) इति गुणग्रहणात्—

संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वम्॥ ९४॥

किसी का कहना है कि 'ओर्गुणः' सूत्र से उकार के स्थान पर जो गुण का विधान किया जाता, वह स्थानकृत आन्तर्य के आधार पर ओकार ही होता है। ऐसी स्थिति में लाघवात् 'ओरोत्' ऐसा न्यास करना चाहिये, न कि 'गुण' ऐसा गुरु न्यास। इस प्रकार 'गुण' ग्रहण व्यर्थ होकर प्रस्तुत परिभाषा का ज्ञापन करता है।

'संज्ञापूर्वक विधि अनित्य होती है' यह इस परिभाषा का अर्थ है।

इयं च विधेयकोटौ संज्ञापूर्वकत्व एव। तेन स्वायम्भुवमित्यादि सिद्धम्।

यह परिभाषा वहीं ववृत्त होती है जहाँ विधेय कोटि में संज्ञा का उल्लेख हो। अर्थात् जिस शास्त्र (सूत्र) में संज्ञा शब्द विधेयता का प्रयोजक हो, वही सूत्र अनित्य होता है। यदि संज्ञाघटितशास्त्रमात्र में इस परिभाषा की प्रवृत्ति हो तो 'ओरोत्' ऐसा करने पर भी इस सूत्र के भसंज्ञाधिकारी होने के कारण अनित्यत्व सिद्ध ही हो जाता तो परिभाषा ज्ञापन के बाद भी गुण ग्रहण की क्या आवश्यकता रह जाती। इसलिये जिस सूत्र में संज्ञाशब्द विधेयसमर्पक हो, वहीं इसकी प्रवृत्ति स्वीकार करनी चाहिये।

'ओर्गुणः' सूत्र का गुण पद विधेयसमर्पक है; अतः यह गुणविधि अनित्य है। इसका फल यह है कि 'स्वयंभुवः इदम्' इस अर्थ में अण् प्रत्यय करने पर 'स्वयम्भू + अ' इस स्थिति में अनित्यत्वात् 'ओर्गुणः' की प्रवृत्ति न होने पर 'अचिश्नु' इस सूत्र से उवङ् और आदिवृद्धि करके 'स्वायम्भुवम्' इस प्रयोग की सिद्धि होती है।

तथा 'निलोडि'त्येव सिद्धे आनिग्रहणात्—

इसी प्रकार 'आनि लोट्' के स्थान पर 'निलोट्' ऐसा न्यास करने पर भी 'प्रभवाणि' प्रयोग में णत्व हो सकता था तो आकाररूपी आगमसहित 'आनि' ग्रहण क्यों किया गया? इस प्रकार आकारविशिष्ट नि ग्रहण से यह परिभाषा ज्ञापित होती है—

आगमशास्त्रमनित्यम् ।। ९५ ।।

आगमशास्त्र अनित्य होते हैं।

तेन 'सागरं तर्त्तुकामस्य' इत्यादि सिद्धम्।

इस परिभाषा का फल यह हुआ कि 'तर्त्तुकामस्य' इस प्रयोग में 'तर्त्तम्' इस रूप में इट् का आगम नहीं हुआ। यहाँ आदि शब्द से 'क्षुब्धो राजा' तथा 'शाकं पचानस्य' का ग्रहण करना चाहिये। यहाँ 'क्षुब्धः' प्रयोग में इट् का अभाव तथा 'पचानस्य' में मुक् का अभाव परिभाषा का प्रयोजन है।

तथा तनादिपाठादेव सिद्धे 'तनादिकृञ्भ्यः' (३-१-७९) इति सूत्रे कृञ्ग्रहणाद्—

इसी प्रकार 'कृञ् धातु' के तनादिगणीय होने के कारण ही 'करोति' इत्यादि प्रयोगों में उ प्रत्यय का विधान सिद्ध था तो पुनः 'तनादिकृञ्भ्यः' सूत्र में 'कृञ्' ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार कृञ् ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है—

गणकार्यमनित्यम् ।। ९६ ।।

गण का निर्देश करके विधीयमान कार्य अनित्य होता है।

तेन 'न विश्वसेदविश्वस्तम्' इत्यादि सिद्धम्।

इसका फल यह हुआ कि श्वस् धातु के अदादिगणीय होने पर भी शप् का लुक् नहीं हुआ, जिससे 'विश्वसेत्' इस रूप की सिद्धि होती है। इसी प्रकार 'स चापि गदया दैत्यः सर्वा एवाहनत् पृथक्' इस वाक्यघटक 'अहनत्' प्रयोग की सिद्धि हुई। यहाँ भी शप् का लुक् नहीं हुआ।

तथा चक्षिङो ङित्करणात्—

इसी प्रकार 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' इस धातु के सम्बन्ध में प्रश्न होता है कि इस धातु में इकार का पाठ क्यों किया गया? यदि कहा जाय कि इकारोच्चारण मुखसुखार्थ है, तो यह कार्य तो अकारोच्चारण से भी हो सकता था। यदि कहा जाय कि इकार अनुदात्त है इसलिये अनुदात्तेत्लक्षण आत्मनेपद इसका फल है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह कार्य तो धातु को ङित् मानकर ही सिद्ध है। तब इसके बाद कहा गया है कि इकार अनुदात्त है और इसका अनुदात्तत्व 'आख्यानम्' इत्यादि प्रयोगों में 'अनुदात्तेश्च हलादेः' सूत्र से युच् करने के लिये है। यदि कहा जाय कि इकार की इत्संज्ञा होने से धातु इदित् हो गया इसलिये यहाँ नुम् भी होना चाहिये तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि नुम् विधायक सूत्र में 'अन्ते इदितः' ऐसा व्याख्यान करने से यहाँ नुम् की प्राप्ति नहीं है। इस व्याख्यान से स्पष्ट हुआ कि इकार में अनुदात्तत्व तथा इत्संज्ञकत्व ये दोनों बातें युच् के लिये आवश्यक है। ऐसी स्थिति में शंका होती है जब यह धातु अनुदात्तेत् हो गया तो अनुदात्तेत् मान कर ही यहाँ आत्मनेपद सिद्ध है तो फिर यहाँ ङित्करण करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार ङित् करण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है—

अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम् ॥ ९७ ॥

अनुदात्तेत् के कारण होने वाला आत्मनेपद अनित्य होता है।

तेन 'स्फायन्निर्मोक' इत्यादि सिद्धम्।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि 'स्फायी' धातु के अनुदात्तेत् होने पर भी उसके आगे लट् के स्थान पर परस्मैपद शतृ प्रत्यय की सिद्धि हुई। अन्यथा आत्मनेपदप्रयुक्त शानच् प्रत्यय होने लगता, जिससे उक्त प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकती थी।

तथा विनार्थनञा समासेनानुदात्तं पदमनेकमित्येव सिद्धे वर्जग्रहणात्–

इसी प्रकार 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इस सूत्र में बिना अर्थ वाले नञ् के साथ एक शब्द का समास करके 'अनेकम्' इस प्रकार के पाठ से कार्य चल सकता था तो ऐसी स्थिति में उक्त सूत्र में वर्जग्रहण की क्या आवश्यकता है। इस प्रकार वर्जग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है—

नञ्घटितमनित्यम् ॥ ९८ ॥

नञ्घटितसूत्र से जो विधेय होता है, वह अनित्य होता है।

तेन 'नेयङुवङ्' (१-४-४) इत्यस्यानित्यत्वाद् 'हे सुभ्रु' इति सिद्धमिति।

इसका फल यह हुआ कि नञ्घटितसूत्र 'नञ्' से विधेय समास के अनित्य होने से 'अनेकम्' यह रूप नहीं बन सकेगा, अतः उपर्युक्त सूत्र में वर्जम् ग्रहण की सार्थकता हुई। साथ ही 'नेयङुवङ्स्थानौ' सूत्र से क्रियमाण नदी संज्ञा का निषेध अनित्य होने के कारण 'हा पितः क्वासि हे सुभ्रु' इस प्रयोगघटक 'सुभ्रू' शब्द में प्रवृत्त नहीं हुआ, इसलिये नदी संज्ञा करके 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' सूत्र से यहाँ ह्रस्व की सिद्धि हुई है।

अब इनका खण्डन करते हुए कह रहे हैं—

तन्न, भाष्येऽदर्शनात्। भाष्यानुक्तज्ञापितार्थस्य साधुतानियामकत्वे मानाभावात्। भाष्याविचारितप्रयोजनानां सौत्राक्षराणां पारायणादावबृष्ट-मात्रार्थकत्वकल्पनाया एवौचित्यात्।

किञ्च ज्ञापितेऽप्यानीत्यस्य न सार्थक्यमाडागमशून्यप्रयोगस्य अप्रसिद्धेः। आट्ग्रहणं तु लोड्ग्रहणवदिति बोध्यम्। अत एव 'घोर्लोपो लेटि वा' (७-३-७०) इति सूत्रे वेति प्रत्याख्यातम्। लोपेऽप्याट्पक्षे आटः श्रवणं भविष्यति 'दधादि'ति, अटि 'दधदि'ति आगमशास्त्रस्यानित्यत्वे त्वाट्यसति 'दधादि'त्यसिद्धचा वाग्रहणस्यावश्यकत्वेन तत्प्रत्याख्यानासङ्गतिः स्पष्टैव।

एतेन यत्कैयटेन केचिदित्यादिनाऽस्यैव वाग्रहणस्य तदनित्यत्वज्ञापकतोक्ता सापि चिन्त्या, प्रत्याख्यानपरभाष्यविरोधात्, 'तनादि' सूत्रे कृञ्ग्रहणस्य भाष्ये प्रत्याख्यानाच्च, चक्षिङो ङकारस्यान्तेदित्त्वाभावसम्पादनेन चारितार्थ्याच्च ॥ ९४-९८ ॥

उपर्युक्त परिभाषाएँ और उनका ज्ञापनप्रकार भाष्य में नहीं देखा जाता, इसलिये इन परिभाषाओं को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि कहा जाय कि भाष्य में दिखाई न देना इन परिभाषाओं के स्वीकार न करने का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि भाष्य में अनुल्लिखित सूत्रों का अस्तित्व और प्रामाण्य स्वीकार किया ही जाता है। इसी प्रकार भाष्य में अनुल्लिखित इन परिभाषाओं के प्रामाण्य में भी कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि—भाष्य में अनुक्त किन्तु किसी प्रकार से ज्ञापित अर्थ को साधुत्व का नियामक होने में कोई प्रमाण नहीं है। सूत्रों का निर्माण महर्षि पाणिनि ने किया है और भाष्यकार ने उन पर विचार किया है, इसलिये सूत्रों के प्रामाण्य में तो कोई सन्देह ही नहीं है। भाष्य में जिन सूत्राक्षरों के प्रयोजन पर विचार नहीं किया गया है, उसका

तात्पर्य यह है कि उन सूत्राक्षरों का यद्यपि दृष्टफल नहीं है तथापि सूत्रों का पारायण करने वालों के लिये वे सूत्राक्षर अदृष्टफल (पुण्य) के जनक तो होते ही हैं। पाणिनि ने अनुपयुक्त शब्दों का प्रयोग किया है, ऐसा कहने की अपेक्षा उनके अदृष्ट-मात्रार्थकत्व की कल्पना ही उचित है। इसीलिये भाष्यकार ने भी एक जगह कहा है कि पाणिनि सूत्रों में एक वर्ण भी अनर्थक नहीं है। इसलिये भाष्य में अनुल्लिखित पाणिनि सूत्रों का तो प्रामाण्य सुनिश्चित है, किन्तु पाणिनि से अनुक्त तथा भाष्य में भी दृष्टिगोचर न होने वाली इन परिभाषाओं का प्रामाण्य नहीं है। पाणिनि सूत्र से अथवा सूत्रघटक जिन पदों से इन परिभाषाओं को ज्ञापित किया गया है, वे पद अदृष्ट प्रयोजन के लिये हैं। इन परिभाषाओं के ज्ञापन में उनका तात्पर्य नहीं है।

दूसरी बात यह है कि 'आनि लोट्' सूत्र में जिस आकारविशिष्ट निशब्द के ग्रहण से 'आगमशास्त्रमनित्यम्' यह परिभाषा ज्ञापित की गई है वह आकारग्रहण परिभाषा ज्ञापित होने के बाद भी सार्थक अर्थात् स्वांश में चरितार्थ नहीं होता है, क्योंकि आट् के आगम से रहित यदि नि प्रत्यय कहीं उपलब्ध होता तो उसको णत्व की व्यावृत्ति कराने के लिये आट् का ग्रहण चरितार्थ होता, किन्तु लोट् लकार के उत्तमपुरुष में आट् नियमतः होता है, इसलिये जब आकाररहित नि का प्रयोग मिलता ही नहीं तो किसकी व्यावृत्ति के लिये आकारग्रहण किया गया। इस प्रकार परिभाषा के ज्ञापन के बाद भी 'आनि लोट्' का आकार ग्रहण व्यर्थ ही रह जाता है, इसलिये उसके द्वारा परिभाषा का ज्ञापन करना उचित नहीं है। यदि कहा जाय कि जब आकार रहित 'नि' का प्रयोग कहीं मिलता ही नहीं तो 'आगमशास्त्र-मनित्यम्' इस परिभाषा को न मानने वाले के लिए यहाँ आकारग्रहण का क्या सार्थक्य है? अर्थात् परिभाषा न मानने वाले के मतानुसार आकारग्रहण किस प्रकार सार्थक है? इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि आड्ग्रहणन्तु—'आट् गृह्यते बोध्यते येन तद् आड्ग्रहणम्'=आनि इति समुदायोच्चारणम् अर्थात् आट् का बोधक आनि इस पद का उच्चारण वैसे ही अदृष्टार्थ है जैसे लोट् का उच्चारण अदृष्टार्थ है। अथवा—जिस प्रकार परिभाषावादी के मतानुसार प्रत्यय और अप्रत्यय के मध्य प्रत्यय का ही ग्रहण होता है इस नियम के आधार पर आनि से प्रत्यय का ही ग्रहण होने से लोट् ग्रहण व्यर्थ है, उसी प्रकार परिभाषा को स्वीकार न करने वाले के मतानुसार आडागम शून्य केवल नि का प्रयोग न होने के कारण आट् ग्रहण (आनि) भी व्यर्थ ही है।

अत एव='आगमशास्त्रमनित्यम्' इस परिभाषा के न होने के कारण ही 'घोर्लोपो लेटि वा' इस सूत्र में 'वा' ग्रहण का प्रत्याख्यान किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि 'धा धातु से लेट् लकार तिप्, शप्, श्लु, और धातु को द्वित्व तथा

अभ्यास कार्य करने के बाद 'द-धा-ति' इस स्थिति में 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (३। ४।९७) सूत्र से इकार का लोप किया जाता है। इसके बाद लोप विधायक उपर्युक्त सूत्र 'धोर्लोपो लेटि वा' धा के आकार का लोप किया जाता है। इसके बाद 'लेटोऽडाटौ' से जब अट् का आगम करते हैं तब 'दधत्' और जब आट् का आगम करते हैं तब 'दधात्' ये रूप बनते हैं। आकार के लोपविधायक सूत्र में जब वा ग्रहण है तब 'आट्' करके धा के आकार का लोप करें या लोपाभाव करें 'दधात्' यही रूप बनेगा। जब अट् करके धा के अकार का लोप करेंगे तब 'दधत्' और यदि लोप नहीं करेंगे तब 'दधात्' ये रूप बनेंगे। इस प्रकार वा ग्रहण पक्ष में 'दधत् और दधात्' ये दो रूप बन रहे हैं। यदि वा ग्रहण नहीं करते हैं तब भी आट् और लोप करने पर दधात् और अट् करके आ का लोप करने पर 'दधत्' ये ही दो रूप बन रहे हैं इस प्रकार दोनों पक्ष में (वा ग्रहण के रखने और न रखने में) समानफल होने के कारण वा ग्रहण का प्रत्याख्यान करना संगत होता है। इसी बात को मूल में इस प्रकार लिखा गया है कि आट् पक्ष में लोप हो जाने पर भी आट् का श्रवण होगा क्योंकि 'दधात्' यह रूप बनेगा। अट् और लोप करने पर 'दधत्' यह रूप बनेगा।

यदि 'आगमशास्त्रमनित्यम्' यह परिभाषा रहती है तब आगमशास्त्र के अनित्य होने के कारण जब आट् नहीं होगा और लोप नित्य ही होगा, तब 'दधात्' यह रूप सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि उस समय धा का आकार तो लुप्त हो जायेगा, और उधर आट् का आगम होगा नहीं, इसलिये उस समय 'दत्' ऐसा रूप बनने लगेगा। जब वा ग्रहण करके लोप वैकल्पिक करेंगे तब दधात् और दत् ये दो रूप बनेंगे। इस प्रकार फलभेद होने के कारण प्रत्याख्यान करना संगत नहीं होगा। इससे सिद्ध होता है कि 'आगमशास्त्रमनित्यम्' यह परिभाषा नहीं है। ऊपर 'दत्' इस प्रयोग का जो उल्लेख है वह 'झरो-झरि' के लोप में बनेगा।

एतेन=वा ग्रहण के प्रत्याख्यानपरकभाष्य के प्रामाण्य से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कैयट ने अपने ग्रन्थ में 'केचित्' शब्द से उपक्रम करके कहा कि कुछ लोगों के मतानुसार इसी वा ग्रहण से 'आगमशास्त्रमनित्यम्' इस परिभाषा की अनित्यता ज्ञापित की जाती है, यह कैयटोक्ति भी चिन्त्य है, क्योंकि भाष्यकार ने तो वा ग्रहण का प्रत्याख्यान किया है। उस प्रत्याख्यान का तात्पर्य है कि यह परिभाषा है ही नहीं। ऐसी स्थिति में वा ग्रहण को रखना और उसके द्वारा परिभाषा को अनित्य मानना, ये सारी बातें प्रत्याख्यानपरक भाष्य से विरुद्ध होने के कारण चिन्त्य ही है। दूसरी बात यह है कि यदि वा ग्रहण से परिभाषा को अनित्य ज्ञापित कर भी दिया जाय तो वा ग्रहण की स्वांश में चरितार्थता संभव नहीं है, क्योंकि ऊपर बताया जा चुका है कि वा ग्रहण के रहने पर जो रूप बनते हैं वे ही रूप

उसके न रहने पर भी बनते हैं। ऐसी स्थिति में वा ग्रहण का स्वांश में चरितार्थ होना ही असंभव हो जाता है। इसलिये वा ग्रहण प्रत्याख्यात है ऐसा ही स्वीकार करना चाहिये।

चक्षिङ् धातु के ङित् करण से 'अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्' यह जो परिभाषा ज्ञापित की गई है, उसके सम्बन्ध में कह रहे हैं कि चक्षिङ् का ङित् करण तो इसलिये आवश्यक है कि यदि वह अन्त में नहीं होता तो इकार अन्त में होता, और उसकी इत्संज्ञा होने पर यह धातु अन्तेदित कहा जाता। परिणाम इसका यह होता कि 'इदितो नुम् धातोः' सूत्र से नुम् होने लगता। इसलिये चक्षिङ् धातु के अन्तेदित्त्व के वारण के लिये ङकार ग्रहण चरितार्थ है। ऐसी स्थिति में उससे उक्त परिभाषा का ज्ञापन करना ठीक नहीं है।

'तनादिकृञ्भ्य उः' इस सूत्र में कृञ् धातु के तनादि होने के कारण तनादित्वात् ही कार्य सिद्ध है, इसलिये कृञ् ग्रहण का भाष्यकार ने प्रत्याख्यान कर दिया है। ऐसी स्थिति में कृञ् ग्रहण से 'गणकार्यमनित्यम्' इस परिभाषा का ज्ञापन करना भी ठीक नहीं है। यदि कहा जाय कि परिभाषा के अभाव में 'विश्वसेत्' 'स्तुन्वन्ति' इत्यादि प्रयोग कैसे बनेंगे ? तो इसका उत्तर यह है कि ये आर्ष प्रयोग हैं। इनके असाधु होने पर ऋषियों के तपःप्रभाव से कोई दोष नहीं होता।

इसी प्रकार 'नञ्घटितमनित्यम्' इस परिभाषा का फल 'हे सुभ्रु' प्रयोग में ह्रस्व का होना जो बतलाया गया है, वह भी अन्यथासिद्ध है, क्योंकि विरही राम की अनवधानता के बोधक उस वाक्य में असाधु पद का प्रयोग काव्य के अनुगुण ही है। अथवा 'भ्रू' शब्द से 'अप्राणिजातेश्च' सूत्र से ऊङ् प्रत्यय करके बहुव्रीहि समास में उपसर्जन ह्रस्व करके 'सुभ्रू' शब्द से पुनः ऊङ् प्रत्यय करने पर इस लाक्षणिक 'सुभ्रू' शब्द का 'अचिश्नु' सूत्र में ग्रहण नहीं होगा। इसलिये यह शब्द उवङ् स्थानी नहीं कहा जायेगा। फलस्वरूप 'नेयङुवङ्' यह निषेध यहाँ प्रवृत्त नहीं होगा, जिससे 'सुभ्रू' की सिद्धि अनायासेन हो जाती है। इस प्रकार इन परिभाषाओं के फल को उपर्युक्त प्रकार से सिद्ध हो जाने के कारण, यही स्वीकार करना उचित है कि भाष्य में अनुक्त होने के कारण ये परिभाषाएँ नहीं हैं॥ ९४, ९५, ९६, ९७, ९८॥

एवमेव—

आतिदेशिकमनित्यम् ॥ ९९ ॥

जिस प्रकार भाष्यप्रमाण न होने के कारण पूर्व में कतिपय परिभाषाओं का खण्डन कर दिया गया है, उसी प्रकार भाष्यसम्मत न होने के कारण प्रस्तुत परिभाषा भी खण्डनीय है। इसका अर्थ है—कि अतिदेश के द्वारा किया जाने वाला कार्य अनित्य होता है।

प्राचीनों ने इस परिभाषा में 'लोटो लङ्वत्' इस सूत्र को ज्ञापक कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि 'ङ्लोट्' ऐसा निर्देश करके लोट् लकार को ङित् बनाकर ही ङित् प्रयुक्त कार्य किये जा सकते थे। ऐसी स्थिति में लोट् को लङ्वत् अतिदेश की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार लङ्वत् अतिदेश व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है। इसका फल यह होता है कि 'जुह्वतु, बिभ्यतु' इत्यादि लोट् के प्रयोगों में 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' सूत्र से आतिदेशिक ङित्व प्रयुक्त झि को जुस् नहीं होता है।

इस परिभाषा के खण्डन पक्ष का कहना है कि जिस प्रकार सिच् से पर में अनतिदिष्ट ङित् लकार के स्थान पर जायमान झि को जुस् होता है, उसी प्रकार सिच् के साहचर्य से अभ्यस्त से पर में रहने वाले अनतिदिष्ट ङित् लकार के स्थान पर आये हुए झि को ही जुस् होगा। 'जुह्वतु' इत्यादि प्रयोगों में लोट् में ङित्त्व अतिदिष्ट है, अतः यहाँ जुस् नहीं हो सकता। इस प्रकार इस परिभाषा की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। भाष्य में अनुक्त होने के कारण उसका प्रामाण्य भी नहीं रह जाता।

सर्वविधिभ्यो लोपविधिरिड्विधिश्च बलवान् ॥ १०० ॥

इत्यादि भाष्यानुक्तं बोध्यम्।

'स्वायम्भुवमि'त्यादि लोकेऽसाध्वेवेत्यन्यत्र विस्तरः ॥ ९९-१०० ॥

लोपविधि और इट्विधि सब विधियों से बलवती हैं। अर्थात् लोपरूपी कार्य और इट् का आगमरूपी कार्य ये दोनों कार्य सब विधियों से बलवान् होते हैं।

सब विधियों से लोपविधि बलवती होती है इसमें प्रमाण 'नाग्लोपिशास्वृदिताम्' सूत्र का अक् ग्रहण है। वारि आख्यत्='अववारत्' यहाँ उपधा ह्रस्व के वारण के लिये अक् ग्रहण किया गया है।

वारि शब्द से आचष्ट अर्थ में णिच् प्रत्यय करके लुङ् लकार में 'अववारत्' यह प्रयोग बनता है। यहाँ 'णौ चङ्युपधायाः सूत्र से उपधा को ह्रस्व प्राप्त रहता है, जिसका निषेध अग्लोपी होने के कारण 'नाग्लोपि' सूत्र से किया जाता है। यदि लोप विधि सब विधियों से बलवान् नहीं होती तो, वारि शब्द से णिच् करने पर परत्वात् वृद्धि करके टिलोप किया जाता। उस समय धातु अग् लोपी होता ही नहीं क्योंकि उस समय ऐकार अथवा आय का लोप होता। ऐसी स्थिति में अक् ग्रहण व्यर्थ हो जाता। इसी से समझा जाता है कि लोपरूपी कार्य सब कार्यों से बलवान् होता है। इस प्रकार लोप की बलवत्ता में प्राचीनों की ओर से यह प्रमाण प्रस्तुत किया गया है, किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि भाष्यकार ने इस अक् ग्रहण से 'वृद्धेर्लोपो बलीयान्' यही ज्ञापन किया है। अर्थात् वृद्धि की अपेक्षा लोप बलवान् होता

है न कि सारे विधियों की अपेक्षा वह बलवान् होता है। इसलिये अक् ग्रहण से इस परिभाषा की कल्पना करना ठीक नहीं है।

इसी प्रकार इट् विधि सब विधियों से बलवती होती है इसमें प्रमाण 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' सूत्र में किया गया इट् ग्रहण है। अन्यथा 'नेड्वशि कृति' सूत्र से इट् की अनुवृत्ति से ही यहाँ कार्य चल सकता था तो ऐसी स्थिति में यहाँ इट् ग्रहण की क्या आवश्यकता है। इस प्रकार इट् ग्रहण इट्विधि की बलवत्ता का ज्ञापक होता है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि भाष्यकार ने 'नेड्वशि' सूत्र से इट् की अनुवृत्ति करके यहाँ के इट् ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया है, इसलिये इस इट् ग्रहण से उक्त ज्ञापन करना ठीक नहीं है।

कुछ लोगों का कहना है कि 'सनि ग्रहगुहोश्च' सूत्र में किया गया चकारग्रहण इट् विधि की बलवत्ता में प्रमाण है। इस चकार के द्वारा 'श्युकः किति' सूत्र से उक् का अनुकर्षण किया जाता है, जिससे उगन्त धातु से पर में रहने वाले सन् को इट् का निषेध किया जाता है। इसका फल होता है 'बुभूषति' प्रयोग की सिद्धि। यदि इट् विधि बलवती नहीं होती तो इट् के आगम के पहले सन् के झलादि होने के कारण 'इको झल्' सूत्र से सन् कित् हो जाता और उसे कित् मानकर 'श्युकः किति' सूत्र से ही इट् का निषेध हो जाता। ऐसी स्थिति में उक् के अनुकर्षण के लिये किया गया चकारग्रहण व्यर्थ होकर इट् विधि की बलवत्ता का ज्ञापन करता है। इसका फल यह होता है कि 'श्वयित्वा' प्रयोग सिद्ध होता है। यदि इट् बलवान् नहीं होता तो इट् से पहले क्त्वा प्रत्यय के कित् के कारण यजादित्वात् सम्प्रसारण हो जाता, जिससे 'श्वयित्वा' की सिद्धि नहीं होती। जब इट् पहले हो जाता है तब 'न क्त्वा सेट्' सूत्र से क्त्वा के कित्व का निषेध कर दिया जाता है, जिससे सम्प्रसारण नहीं होता। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि भाष्यकार ने 'सनिग्रहगुहोश्च' सूत्र के चकार का प्रत्याख्यान किया है क्योंकि अनुवर्त्यपदघटित सूत्र से अव्यवहितोत्तर सूत्र में चकार ग्रहण का कोई औचित्य नहीं है।

'श्युकः किति' (७।२।११) के अव्यवहित उत्तर में 'सनि ग्रहगुहोश्च' (७।२।१२) सूत्र है। अतः वहाँ चकार की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसी स्थिति में चकार के द्वारा इट् की बलवत्ता का ज्ञापन करना भी ठीक नहीं है। यदि कहा जाय कि इट् विधि की बलवत्ता के अभाव में 'श्वयित्वा, स्वपित्वा' इत्यादि प्रयोग कैसे बनेंगे ? तो इसका उत्तर है कि सम्प्रसारण की अपेक्षा इट् नित्य है। इसलिये नित्यत्वात् पहले जब इट् हो जायेगा, तब कित्व का प्रतिषेध स्वयं सिद्ध है और जब कित्व का निषेध हो जायेगा तो सम्प्रसारण होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि इट् विधि की बलवत्ता में कोई ज्ञापक नहीं है। भाष्य में अनुक्त होने के कारण

इनका प्रामाण्य भी नहीं है। यदि कहा जाय कि ये परिभाषाएँ नहीं है तब 'स्वायम्भुवम्' प्रयोग कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि 'संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वम्' इसके अभाव में इसकी निष्पत्ति कैसे होगी ? तो इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि 'स्वायम्भुवम्' इत्यादि प्रयोग लोक में असाधु ही हैं। यह बात अन्यत्र विस्तार से कही गई है ॥ ९९–१०० ॥

यदपि ननु हन्तेर्यङ्लुक्यार्शीलिङि वधादेशो न स्यादत आह—

कुछ लोगों का यह जो कहना है कि हन् धातु से यङ् लुक करके आशिष् लिङ् लकार में 'जंहन् + ति' इस स्थिति में 'हनो वध लिङि' इस सूत्र से वध आदेश नहीं होगा, क्योंकि लिङ् की प्रकृति जो 'जंहन्' यह समुदाय है, वह हन्रूप नहीं है। वध आदेश के लिये हन् रूप का होना आवश्यक है। जब वध आदेश नहीं होगा तो 'वध्यात्' यह अभीष्ट रूप यहाँ नहीं बन सकेगा। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम् ॥ १०१ ॥

प्रकृतिमात्रबोधकपदघटितशास्त्र में तत्प्रकृतिक यङ्लुगन्त का भी ग्रहण होता है। अर्थात् प्रकृतिबोधकशब्द यङ्लुगन्त का भी बोधक होता है।

परिभाषा को स्वीकार करने परिणाम यह हुआ कि हन् के ग्रहण से 'जंहन्' का ग्रहण हो गया और उसे वध आदेश करके 'वध्यात्' प्रयोग की सिद्धि हो गई।

षाष्ठद्वित्वस्य द्विःप्रयोगत्वसिद्धान्तेन प्रयोगद्वयरूपे समुदाये प्रकृतिरूपत्वबोधनेनेदं न्यायसिद्धम्। अत एव 'जुहुधी'त्यादौ द्वित्वे कृते धित्वसिद्धिरिति, तदपि न; भाष्येऽदर्शनात्।

छठे अध्याय के सूत्र 'सन्यङोः' (६।१।९) से विहित जो द्वित्व है, वह एक ही शब्द का दो बार प्रयोगमात्र है। इसका कारण यह है कि 'सन्यङोः' सूत्र में 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' और 'अजादेर्द्वितीयस्य' का अधिकार आता है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'एकाचः' तथा 'द्वितीयस्य' में जो षष्ठी विभक्ति है वह उच्चारण क्रिया का अध्याहार करके कर्म में षष्ठी है अथवा स्थानेपद का अध्याहार करके स्थानषष्ठी है ? इस प्रकार की जिज्ञासा में समाधान दिया जाता है कि उच्चारण क्रिया के द्वारा जो कर्म में षष्ठी प्राप्त है वह कारक विभक्ति है, इसलिये वह स्थानषष्ठी रूप उपपदविभक्ति की अपेक्षा बलवती है। इसलिये यहाँ कर्म में ही षष्ठी है, यह बात सुस्थिर होती है। कर्म में षष्ठी स्वीकार करने का तात्पर्य यह है कि यहाँ एकाच् कर्मक द्विरुच्चारण होता है, अर्थात् एक ही शब्द को दो बार पढ़ दिया गया है। यदि स्थान षष्ठी के आधार द्वित्व किया गया होता तो स्थानी और आदेश के कारण दोनों में भिन्नता होती। किन्तु यहाँ तो एक ही शब्द का द्विःप्रयोग हुआ है इस

सिद्धान्त के आधार पर 'जंहन्' इस द्विःप्रयोगरूपी समुदाय में प्रकृतिरूपत्व का परिज्ञान होता है। अर्थात् लिङ् की प्रकृति 'जंहन्' यह हन् से अतिरिक्त दूसरी कोई चीज नहीं है। इसलिये हन् को जो कार्य होते हैं वे 'जंहन्' को भी हो जायेंगे। इस प्रकार यह परिभाषा न्यायसिद्ध है। अतएव=प्रयोगद्वय के समुदाय में प्रकृतित्व को स्वीकार करने से ही हु धातु से (जुहोत्यादिप्रकरण में) लोट् लकार, मध्यमपुरुष के एकवचन में शप्श्लु और द्वित्वादि कार्य करने पर 'जुहु+हि' इस स्थिति में 'जुहु' इस समुदाय का 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इस सूत्र के हु पद से ग्रहण करके हि को धि किया जाता है, जिससे 'जुहुधि' इस रूप की सिद्धि होती है।

ऐसा जो कहा गया है वह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि भाष्य में ऐसा नहीं देखा गया है कि प्रयोगद्वय को प्रकृतिरूप मानकर कोई कार्य किया गया हो। तात्पर्य यह है कि भाष्य में न देखे जाने के कारण प्रयोगद्वयात्मक समुदाय को प्रकृतिग्रहण से ग्रहण कराने वाली यह परिभाषा नहीं है।

किञ्च तेन सिद्धान्तेन प्रत्येकं द्वयोस्तत्त्वबोधनेऽपि समुदायस्य तत्त्वबोधने मानाभावः। अत एव 'दयतेर्दिगि' (७-४-९) इति सूत्रेऽस्तेः परत्वाद् द्वित्वे कृते परस्यास्तेर्भूभावे पूर्वस्य श्रवणं प्राप्नोतीत्याशङ्क्य विषयसप्तम्याश्रयणेन परिहृतं भाष्ये। अन्यथा त्वदुक्तरीत्यैकाज्द्विर्वचनन्यायेन समुदायस्यैवादेशापत्तौ तदसङ्गतिः स्पष्टैव। तस्मादुत्तरखण्डमादायैव यथायोगं तत्तत्कार्यप्रवृत्तिर्बोध्या।

'भूसूवोः' (७-३-८८) इत्यस्य तदन्ताङ्गस्येत्यर्थात् प्राप्तस्य गुणनिषेधस्य बोभूत्विति नियम इति न तद्विरोधः। तस्माद्धन्तेर्यङ्लुकि 'वध्यादि'त्यादि माधवाद्युदाहृतं चिन्त्यमेवेत्यन्यत्र विस्तरः॥ १०१॥

दूसरी बात यह है कि उच्चारण क्रिया का अध्याहार करके द्विःप्रयोगरूपी द्विर्वचन स्वीकार करने पर भी यही कहा जा सकता है कि 'हन् हन्' में प्रत्येक में हन्त्व या प्रकृतित्व हैं, किन्तु दोनों के समुदाय 'हन्हन्' में भी हन्त्व या प्रकृतित्व है ऐसा नहीं कहा जा सकता। वर्णचतुष्टयात्मक 'हन्हन्' यह समुदाय वर्णद्वयात्मक 'हन्' ऐसा कैसे कहा जा सकता है? यहाँ तत्त्वबोधने का अर्थ प्रकृतित्वबोधने है। तात्पर्य यह है कि समुदाय के प्रकृतित्वबोधन में कोई प्रमाण नहीं है।

अत एव=प्रत्येक में प्रकृतित्व होने पर भी समुदाय में प्रकृतित्व नहीं है ऐसा स्वीकार करने से ही 'दयतेर्दिगि लिटि' इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने जब यह विचार किया कि अस् धातु से लिट् लकार लाने पर धातु को द्वित्व और अस् को भू 'आदेश' ये दोनों कार्य जब साथ प्राप्त होते हैं तब भू आदेश की अपेक्षा पर होने के कारण जब अस् धातु को द्वित्व कर दिया जाता है तब 'अस्-अस्-अ' इस स्थिति

में पर अस् (द्वितीय अस्) के स्थान पर भू आदेश करने पर पूर्व अस् का श्रवण होने लगेगा, ऐसी आशंका करके भाष्यकार ने कहा कि जिस 'आर्धधातुके' पद के अधिकार में अस् को भू आदेश किया जाता है वह 'आर्धधातुके' पद विषयसप्तम्यन्त है। इसलिये आर्धधातुक की विषयता में ही अर्थात् प्रत्यय की उत्पत्ति से पहले ही अस् को भू आदेश करके तब द्वित्व किया जाता है। इस प्रकार भाष्यकार ने उक्त दोष का परिहार किया है :

अन्यथा—परिभाषावादी के अनुसार समुदाय में प्रकृतित्व रहने पर 'अस्-अस्' यह समुदाय 'अस्तेर्भूः' के अस् शब्द से गृहीत हो जाता और उसके स्थान पर भू आदेश होकर 'बभूव' प्रयोग की सिद्धि हो जाती। ऐसी स्थिति में विषयसप्तमी का आश्रयण करके प्रत्यय आने से पहले ही भू आदेश करके भाष्यकार का समाधान देना असंगत हो जाता। इससे स्पष्ट है कि एकाच्द्विर्वचनन्याय से द्विःप्रयोगरूपी समुदाय में प्रकृतित्व का व्यवहार करना ठीक नहीं है।

तस्मात्=पूर्वोक्त भाष्यप्रामाण्य से, जिसमें कहा गया है कि 'परस्यास्तेर्भूभावे कृते' अर्थात् अस् को द्वित्व करने पर जब पर अस् को भू भाव कर दिया जायेगा तो पूर्व अस् का श्रवण होने लगेगा, यह जो भाष्यकार ने कहा है इससे सिद्ध होता है कि द्वित्व होने पर अर्थवत्ता उत्तरखण्ड में ही रहती है। इस बात की सम्पुष्टि 'नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे' इस परिभाषा में किये गये अनभ्यासविकार-ग्रहण से भी होती है। अनर्थक में अलोऽन्त्यस्य सूत्र नहीं लगता, किन्तु अभ्यास के अनर्थक होने पर भी अभ्यासविकार में यह सूत्र प्रवृत्त होता है। इसीलिये 'भृञामित्' सूत्र से विधीयमान इत्व 'बिभर्ति' प्रयोग में 'अलोऽन्त्यस्य' की सहायता से अभ्यास के अन्त्यावयव को होता है। यदि अभ्यास सार्थक होता तो उक्त परिभाषा की वहाँ स्वयमेव प्रवृत्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में वहाँ किया गया 'अनभ्यासविकारे' इस पद का ग्रहण व्यर्थ हो जाता। इससे इसी बात की पुष्टि होती है कि अर्थवत्ता उत्तर खण्ड में रहती है और अभ्यास अनर्थक होता है। इसीलिये 'पेचतुः, फेलतुः' इत्यादि अभ्यासरहित केवल उत्तरखण्डमात्र से ही अभीष्ट अर्थ का बोध हुआ करता है। यदि द्वित्व करने पर दोनों खण्डों को सार्थक माना जाय तो बोध की आवृत्ति का प्रसंग हो जायेगा। इसलिये उत्तरखण्ड को लेकर ही यथायोग तत्तत् कार्यों की प्रवृत्ति करनी चाहिये। 'जुहुधि' प्रयोग में उत्तरखण्ड वाले हु के आधार पर ही 'हि' के स्थान पर 'धि' सिद्ध है।

अब यहाँ यह शंका होती है कि भाष्यकार ने 'दाधर्तिदर्धर्ति' इत्यादि सूत्र के भाष्य में विचार किया कि 'बोभूतु' प्रयोग में क्या निपातन करते हैं? इसके उत्तर में कहा कि यहाँ गुण का अभाव निपातन किया जाता है। इसके बाद पुनः प्रश्न

किया कि 'भूसुवोस्तिङि' सूत्र से ही यहाँ गुण का निषेध सिद्ध है तो निपातन से गुणाभाव करने की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहा कि यङ् लुङन्त में गुण का निषेध केवल 'बोभूतु' प्रयोग में ही होता है अन्यत्र नहीं होता, ऐसा ज्ञापन के लिये निपातन है। इसका फल यह होता है कि 'बोभवीति' प्रयोग में गुण हो जाता है।

अब यहाँ यह विचार करना है कि जब यह परिभाषा नहीं है तब प्रकृतिग्रहण से यङ्लुगन्त का ग्रहण तो होगा नहीं। ऐसी स्थिति में 'भूसुवोः' सूत्र के भू शब्द से 'बोभू' इस यङन्त का ग्रहण नहीं होगा। परिणामस्वरूप गुण का निषेध भी सिद्ध नहीं होगा। ऐसी स्थिति में भाष्यकार ने निपातन को व्यर्थ करके उसे नियमार्थक कैसे माना है ?

इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि 'भूसुवोस्तिङि' यह सूत्र अङ्गाधिकारी है। यहाँ 'अङ्गस्य' का अधिकार आता है। अङ्ग विशेष्य होता है और 'भूसुवोः' यह उसका विशेषण होता है। इसके बाद तदन्तविधि करके सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया जाता है कि—भू और सू है अन्त में जिसके, ऐसे अङ्ग को गुण नहीं होता है, तिङ् प्रत्यय पर में रहने पर। इस प्रकार अर्थ करने से 'बोभू+ति' इस स्थिति में 'बोभू' यह भू शब्दान्त अंग मिल जाने के कारण 'भूसुवोस्तिङि' सूत्र से गुण का निषेध सिद्ध ही था। इसलिये 'बोभूतु' यह निपातन व्यर्थ होकर नियमार्थक होता है। इस प्रकार उक्त भाष्य का विरोध नहीं होता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि भाष्य में न देखे जाने के कारण यह परिभाषा स्वीकार्य नहीं है। ऐसी स्थिति में हन् धातु से यङ् लुक् में आशिष् लिङ् लाकर और प्रकृति ग्रहण से यङ्लुगन्त का ग्रहण करके 'जंहन्' के स्थान पर वध आदेश के द्वारा 'वध्यात्' यह माधवादि के द्वारा दिया गया उदाहरण असंगत होने के कारण चिन्तनीय ही है। ऐसी स्थिति में यहाँ कौन-सा रूप बनता है, इस प्रकार के सन्देह में तीन दृष्टिकोण सामने आते हैं। यह कुछ लोगों का कहना है कि वधादेश जो आर्धधातु के अधिकार में आता है, उसमें विषयसप्तमी है। इसलिये द्वित्व से पहले लिङ् की विषयता में ही वध आदेश हो जायेगा। इसके पश्चात् द्वित्व और अभ्यास को दीर्घ करके 'वावध्यात्' ऐसा रूप बनता है। कुछ अन्य व्यक्तियों का कहना है कि यहाँ विषयसप्तमी न मानकर परसप्तमी ही मानी जायेगी। ऐसी स्थिति में हन् को द्वित्व होगा। इसके बाद अन्तरङ्गत्वात् अभ्यास को नुक् और उत्तरखण्ड को वध आदेश करके 'जंवध्यात्' यह रूप बनता है। दूसरे कुछ लोगों का कहना है कि—अनुनासिकान्तत्व के विनाशोन्मुख होने के कारण नुक् की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होगी, किन्तु अभ्यास को दीर्घ करके 'जावध्यात्' यह रूप बनता है। यह बात अन्यत्र भाष्यादि में कही गयी है ॥ १०१ ॥

यद्यपि—ननु 'वृद्धिर्यस्याचामादिः' (१–१–७३) इत्यत्रेक्परिभाषोपस्थितौ शालीयाद्यसिद्धिरत आह—

जो यह कहा जाता है कि—'इको गुणवृद्धी' इस सूत्र का जब ऐसा अर्थ करते हैं कि जहाँ गुण और वृद्धि इन पदों का उच्चारण किया गया हो वहाँ 'इकः' इस षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति होती है, तब 'वृद्धिर्यस्याचामादेस्तद्वृद्धम्' इस सूत्र में वृद्धि पद का उच्चारण होने के कारण 'इको गुणवृद्धी' इस परिभाषा की उपस्थिति होगी। फलस्वरूप इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा कि जिस समुदाय के अचों के मध्य में आदि अच्, इक् के स्थान पर वृद्धिस्वरूप हो, वह समुदाय वृद्धसंज्ञक होता है।

इस प्रकार वृद्धसंज्ञाविधायक सूत्र का अर्थ करने का परिणाम यह होगा कि 'ऐतिकायन' और 'औपगव' इत्यादि शब्दों की ही वृद्धसंज्ञा होगी, न कि शाला और माला आदि शब्दों की। इस प्रकार शाला, माला आदि शब्द जब वृद्ध नहीं हों तब वृद्धत्व प्रयुक्त छ प्रत्यय भी यहाँ नहीं होगा, फलस्वरूप 'शालीयः, मालीयः' इत्यादि प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे ॥ १०२ ॥

विधि शब्द का अर्थ विधेय तथा अनुवाद का अर्थ उद्देश्य होता है। उद्देश्य और विधेय के मध्य विधेय प्रधान होता है और उद्देश्य अप्रधान होता है। इस विश्लेषण के आधार पर इस परिभाषा का अर्थ इस प्रकार होता है—

विधेय अर्थात् प्रधान में ही परिभाषा की उपस्थिति होती है, उद्देश्य में उपस्थिति नहीं होती है। तात्पर्य यह है कि प्रधानीभूत विधेय ही परिभाषा की उपस्थिति का लिङ्ग होता है, न कि अप्रधान उद्देश्य।

इसलिये 'मृजेर्वृद्धिः' सूत्र में जहाँ वृद्धि विधेय है वहीं पर 'इको गुणवृद्धी' इस परिभाषा की उपस्थिति होती है। 'वृद्धिर्यस्याचाम्' इस सूत्र में वृद्धि उद्देश्य है इसलिये यहाँ इक् की उपस्थिति नहीं होती। इसलिये अवतरण में दिये गये दोष का निराकरण हो जाता है।

अथवा—परिभाषा में आये हुए विधि शब्द की विधेय विशेषण में और अनुवाद शब्द की अनूद्यमान विशेषण में लक्षणा होती है। अनूद्यमान का अर्थ उद्देश्य होता है, इसलिये अनूद्यमान विशेषण का अर्थ उद्देश्य का विशेषण होता है।

परिभाषा में आये हुए शब्दों का इस प्रकार लाक्षणिक अर्थ करने के उपरान्त इस परिभाषा का अर्थ ऐसा होता है—

परिभाषा से उपस्थाप्य का अन्वय विधेय के विशेषण में होता है, विधेय के विशेषण के विशेषण में अर्थात् अनूद्यमान के विशेषण में परिभाषोपस्थाप्य का अन्वय नहीं होता है।

पूर्व में किये गये अर्थ और इस अर्थ के फल में कोई भेद नहीं है, क्योंकि 'मृजेर्वृद्धि' में जिस इक् की उपस्थिति होती है उसका अन्वय विधेय वृद्धि के विशेषण 'मृजेः' इस षष्ठ्यन्त पद के अर्थ में होता है किन्तु 'वृद्धिर्यस्याचाम्' इस सूत्र में यदि 'इकः' परिभाषा से षष्ठ्यन्त इकपद की उपस्थिति होवे तो उसका अन्वय यहाँ वृद्धि-पद में नहीं होगा, क्योंकि यहाँ वृद्धिपद अनूद्यमान का विशेषण अर्थात् विधेय के विशेषण का विशेषण है। वृद्धिसंज्ञक वर्ण है आदि अवयव जिस समुदाय का; उसे वृद्ध संज्ञा होती है, ऐसा सूत्रार्थ होने के कारण यहाँ वृद्ध संज्ञा विधेय अर्थात् प्रधान है, उसमें विशेषण है समुदाय और समुदाय में विशेषण है वृद्धि। इस प्रकार वृद्धि अनूद्यमान का विशेषण है। इसलिये यहाँ इक् का अन्वय नहीं हो सकेगा। इस प्रकार अवतरण में वर्णित दोष का निराकरण इस प्रकार भी हो जाता है।

इससे स्पष्ट होता है कि प्रधानीभूत विधेयवाचकपद ही परिभाषा की उपस्थिति का लिंग होता है। जैसे 'मिदेर्गुणः' 'मृजेर्वृद्धिः' इन सूत्रों में गुण और वृद्धि विधेय और प्रधान हैं, इसलिये यहाँ 'इको गुणवृद्धी' इस परिभाषा की उपस्थिति होती है और परिभाषा से उपस्थापित 'इकः' इस षष्ठ्यन्त पद का अन्वय विधेय के विशेषण मिद् और मृज् में होता है।

'वृद्धिर्यस्याचाम्' इस सूत्र के सम्बन्ध में जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि वहाँ का वृद्धि पद अनूद्यमान (उद्देश्य) का विशेषण है, इसलिये वह 'इको गुण-वृद्धी' की उपस्थिति का लिंग नहीं है, अतः यह परिभाषा वहाँ उपस्थित नहीं होती है।

कुछ परिभाषाएँ ऐसी होती हैं जिनका उपस्थापक लिंग कभी भी विधेय कोटि में नहीं आता। उदाहरण के लिये 'षष्ठी स्थानेयोगा' और 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इन दोनों परिभाषाओं को लिया जा सकता है। इनमें पहली परिभाषा का लिंग अनिर्धारितसम्बन्धविशेषा षष्ठी होती है। यह षष्ठी सदा उद्देश्य कोटि में ही आयेगी। जैसे—'इको यणचि' सूत्र में 'इकः' पद की षष्ठी उद्देश्य वाचक के आगे है। इसी प्रकार इसी सूत्र में औपश्लेषिकाधिकरण बोधकः 'अचि' जो यह सप्तम्यन्त पद है, जिसके आधार पर यहाँ 'तस्मिन्निति' परिभाषा की उपस्थिति वाञ्छित है वह 'अचि' पद भी उद्देश्य कोटि में ही आता है। ऐसी स्थिति में इन दोनों परिभाषाओं की उपस्थिति यहाँ किस प्रकार संभव हो ? इस शंका के उत्तर में कहा गया है कि जहाँ पर विधेयवाची पद परिभाषा का लिंग न हो, किन्तु परिभाषा

का लिंग उद्देश्य कोटि में ही आता हो तो ऐसे स्थलों के लिये उद्देश्यगत प्रधानता ही परिभाषा की उपस्थिति का लिंग होती है। उद्देश्य की प्रधानता इस आधार पर मान ली जाती है कि वह साक्षात् विधेय का विशेषण है। विधेय में जो साक्षात् विशेषण होता है, वह परम्परया विधेय विशेषण की अपेक्षा प्रधान ही होता है। 'इको यणचि' सूत्र में यण् विधेय है। उस विधेय यण् का साक्षात् विशेषण 'इकः' इस षष्ठ्यन्तपद में 'षष्ठी स्थानेयोगा' इस परिभाषा की उपस्थिति हो जाती है। इसी प्रकार 'इको यणचि' का अच् पर में रहने पर यण् हो, ऐसा सूत्रार्थ होने के कारण उद्देश्य कोटिगत अच् का विधेय यण् के साथ साक्षात् अन्वय होने के कारण 'तस्मिन्निति' परिभाषा की भी यहाँ उपस्थिति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि परिभाषा सूत्रों के द्वारा विधेय का उपकार किया जाता है। उस उपकार के लिये जितनी परम्परा नान्तरीयक (अत्यावश्यक) है उतनी परम्पराओं में तो परिभाषा-सूत्रों की प्रवृत्ति हो जाती है, किन्तु उससे अधिक परम्परा में प्रवृत्ति नहीं होती है। 'इको यणचि' में 'षष्ठी स्थानेयोगा' इस परिभाषा से उपस्थाप्य 'स्थाने' पद का विधेय यण् के साथ साक्षात् अन्वय होने के कारण 'षष्ठी स्थाने' सूत्र की कृतार्थता हो जाती है, इसलिये यह परिभाषा 'उदीचामातः स्थाने' इस सूत्र में प्रवृत्त नहीं होती क्योंकि इस सूत्र का—'आत्स्थानिकत्वविशिष्ट यक पूर्वत्वविशिष्टाभिन्न जो अकार उसके स्थान पर इकार होता है' ऐसा अर्थ होने के कारण आत् का विधेय इकार के साथ साक्षात् अन्वय नहीं हो रहा है। उसका अन्वय तो अकार के साथ हो रहा है और अकार का इकार के साथ। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि 'इको यणचि' के षष्ठ्यन्त 'इकः' पद की भाँति 'उदीचामातः स्थाने' का षष्ठ्यन्त 'आतः' यह पद विधेय का साक्षात् विशेषण नहीं है, अतः यहाँ पर 'षष्ठी स्थानेयोगा' परिभाषा की उपस्थिति नहीं होती है।

'तस्मिन्निति' इस परिभाषा से उपस्थाप्य के द्वारा विधेय का संस्कार करने के लिये उद्देश्यमात्रघटितपरम्परा की नान्तरीयकता है, क्योंकि इसका लिंग सदैव उद्देश्य कोटि में ही आता है। इसलिये उद्देश्यमात्रघटितपरम्परा से 'इको यणचि' में विधेय का उपकार करके चरितार्थ यह परिभाषा 'अल्लोपोऽनः' इस सूत्र में प्रवृत्त नहीं होती है, क्योंकि यहाँ विधेय के उपकार के लिये उद्देश्यमात्रघटित परम्परा की अपेक्षा अधिक परम्परा की आवश्यकता है। यहाँ विधेय लोप है, उसका विशेषण अकार है, उसका विशेषण अन् है, उस अन् का विशेषण अङ्ग तथा भसंज्ञा के द्वारा आक्षिप्त 'यजाद्यसर्वनामस्थाने' यह पद है। इस प्रकार यहाँ न केवल उद्देश्य-मात्रघटितपरम्परा की आवश्यकता है, अपितु उद्देश्यतावच्छेदक जो अन् है उसमें सप्तम्यन्त पद के अन्वित होने के कारण 'तस्मिन्निति' परिभाषा को यहाँ उद्देश्य

और उद्देश्यतावच्छेदक उभयघटितपरम्परा की आवश्यकता है। इसलिये यह परिभाषा यहाँ उपस्थित नहीं होती है। इन्हीं सब बातों को कहने के लिये शेखरकार मूल में लिख रहे हैं—

अनूद्यमानविशेषणेषु तन्नियामिका परिभाषा नोपतिष्ठत इति तदर्थः। विध्यङ्गभूतानां परिभाषाणां विधेयेनासिद्धतया सम्बन्धासम्भवेऽपि तद्विशेषणव्यवस्थापकत्वेन चरितार्थानां तद्विशेषणव्यवस्थापकत्वे मानाभाव इति तर्कमूलेयम्। किञ्च 'उदीचामातः स्थाने' (७-३-४६) इति सूत्रे स्थानेग्रहणमस्या लिङ्गम्। अन्यथा 'षष्ठी स्थाने' (१-१-४९) इति परिभाषयैव तल्लाभे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेति।

अनूद्यमान=उद्देश्य के विशेषणों में तन्नियामिका परिभाषा की उपस्थिति नहीं होती है। अर्थात् परिभाषा से उपस्थाप्य का अन्वय उद्देश्य के विशेषण में नहीं होता है। किन्तु विधेय के विशेषण में ही परिभाषोपस्थाप्य का अन्वय होता है। जैसे 'इको यणचि' सूत्र में 'षष्ठी स्थानेयोगा' इस परिभाषा से उपस्थापित 'स्थाने' पद का अन्वय विधेय यण् के विशेषण इक् के साथ होता है जिससे इक् के स्थान पर यण् हो, ऐसा सूत्रार्थ सम्पन्न होता है। परिभाषाएँ विध्यङ्गभूत होती हैं। विध्यङ्गभूत का अर्थ है विधेयोपकारक। अर्थात् परिभाषाओं के द्वारा विधेय का उपकार किया जाता है। इसलिये परिभाषोपस्थाप्य का अन्वय विधेय के विशेषण में किया जाता है। जिन परिभाषाओं का लिङ्ग सर्वदा उद्देश्यकोटिप्रविष्ट होने के कारण कभी भी विधेय होने की स्थिति में नहीं होता, ऐसी 'षष्ठी स्थानेयोगा' 'तस्मिन्निति' इत्यादि परिभाषाओं से उपस्थापित का अन्वय विधेय के साथ संभव नहीं होता, क्योंकि वहाँ विधेयेनासिद्धतया=अर्थात् वहाँ परिभाषा के लिङ्ग की स्थिति विधेयरूप में नहीं रहती है। इसलिये ऐसे स्थलों पर परिभाषोपस्थाप्य का विधेय के साथ सम्बन्ध न होने पर भी तद्विशेषणे=विधेय के विशेषण अनूद्यमान इक् इत्यादि में परिभाषोपस्थाप्य का अन्वय कराकर ये परिभाषाएँ चरितार्थ होती हैं। इस प्रकार विधेय के विशेषण में व्यवस्थापकत्वेन चरितार्थ इन परिभाषाओं की प्रवृत्ति, तद्विशेषणव्यवस्थापकत्वे=अनूद्यमानविशेषणव्यवस्थापकत्वे' अर्थात् उद्देश्य के विशेषण की व्यवस्था करने में प्रवृत्त नहीं होती हैं, क्योंकि ऐसा करने में कोई प्रमाण नहीं है। सारांश यह है कि जब विधेय के विशेषण में व्यवस्था करके परिभाषाएँ चरितार्थ हो गई, तो विधेय के विशेषण के विशेषण में भी वे व्यवस्था करें इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यही तर्क इस परिभाषा का मूल है। इसलिये यह परिभाषा तर्कमूला है।

तर्कमूला इस परिभाषा में ज्ञापक भी है इस बात का उल्लेख करते हुए कह रहे हैं, किञ्च—'उदीचामातः स्थाने' इस सूत्र में किया गया स्थानेग्रहण इस परिभाषा का लिङ्ग (ज्ञापक) है। अन्यथा यदि यह परिभाषा नहीं होती तो 'षष्ठी स्थानेयोगा' इस परिभाषा के द्वारा ही 'आतः' पद के षष्ठी को स्थानषष्ठी मान लिया जाता। ऐसी स्थिति में जब कि परिभाषा के द्वारा ही 'स्थाने' पद का लाभ हो रहा है तो इस सूत्र में स्थाने ग्रहण की क्या आवश्यकता है। इस प्रकार 'स्थाने'ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है।

तन्न, 'उदात्तस्वरितयोर्यणः' (८-२-४) इत्यादौ 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' (६-१-१३) इति सूत्रभाष्योक्तरीत्या 'अल्लोपोऽनः' (६-४-१३४) इत्यादौ चैतस्या व्यभिचरितत्वात्, भाष्यानुक्तत्वाच्च। स्थानसम्बन्धो न परिभाषालभ्य इत्यर्थस्य 'षष्ठी स्थाने' (१-१-४९) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टमुक्तत्वेन त्वदुक्तज्ञापकासम्भवाच्च। तत्र स्थाने-ग्रहणन्तु स्पष्टार्थमेव। किञ्च विधौ परिभाषेति प्रवादः 'इको गुणवृद्धी' (१-१-३) 'अचश्च' (१-२-२८) इत्यनयोर्विधीयत इत्यध्याहारमूलकः। अन्यत्र तु नास्याः फलमित्यन्यत्र विस्तरः॥ १०२॥

नागेशभट्ट इस परिभाषा को स्वीकार नहीं करते हैं। इसलिये इसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं—तन्न इत्यादि। अर्थात् इस परिभाषा के लिये जो तर्क और ज्ञापन दिये गये हैं वे ठीक नहीं हैं, क्योंकि 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' इस सूत्र में परम्परया विशेषण में (विधेय के परम्परया विशेषण में) भी 'षष्ठी स्थानेयोगा' इस परिभाषा की प्रवृत्ति कराई गई है। उदात्त के स्थान पर और स्वरित के स्थान पर जो यण् उससे पर में जो अनुदात्त उस अनुदात्त को स्वरित होता है। इस प्रकार का वहाँ सूत्रार्थ होने से स्पष्ट है कि वहाँ विधेय स्वरित है। उसका विशेषण अनुदात्त है, उसका विशेषण यण् है और उसके विशेषण उदात्त और स्वरित हैं। इससे स्पष्ट है कि 'उदात्तस्वरितस्थानिक यण्परक अनुदात्त' यह जो यहाँ उद्देश्य दल है जिसे उद्देश्य करके स्वरित का यहाँ विधान किया जा रहा है उस उद्देश्य दल में अत्यन्त अप्रधान जो 'उदात्तस्वरितयोः' यह पद है, उसमें भी 'षष्ठी स्थानेयोगा' इस परिभाषा की प्रवृत्ति कराकर प्रस्तुत सूत्र का उपर्युक्त अर्थ किया गया है। इस प्रकार न केवल विधेय के परम्परया विशेषण में अपितु उद्देश्य के (अनूद्यमान के) परम्परया विशेषण अर्थात् अत्यन्त अप्रधान में भी जब 'षष्ठी स्थानेयोगा' इस परिभाषा की प्रवृत्ति कराई गई है तब यह कहना सर्वथा अर्थहीन हो जाता है कि परिभाषा की उपस्थिति अनूद्यमान के विशेषण में नहीं होती है। इससे स्पष्ट होता है कि यह परिभाषा नहीं है। यदि यह परिभाषा होती तो 'उदात्तस्वरितयोः' सूत्र का उपर्युक्त अर्थ कथमपि नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' सूत्र के भाष्य में 'अल्लोपोऽनः' इस सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर विधेय लोप के परम्परा सम्बन्ध से विशेषण, 'यजाद्यसर्वनामस्थाने' इस पद में जो भसंज्ञा द्वारा आक्षिप्त है 'तस्मिन्निति' परिभाषा की प्रवृत्ति कराकर ऐसा अर्थ किया गया है कि 'सर्वनामस्थानभिन्न यजादिस्वादि प्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट जो अङ्गावयव अन् उस अन् के अकार का लोप होता है। इस अर्थ से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यहाँ विधेय के परम्परया विशेषण 'यजाद्यसर्वनामस्थाने' इस अंश में तस्मिन्निति परिभाषा की प्रवृत्ति भाष्यकार ने की है। इसलिये यह मानना चाहिये कि 'विधौ परिभाषोपतिष्ठते' यह परिभाषा नहीं है। यदि यह परिभाषा होती तो भाष्यकार वहाँ 'तस्मिन्निति' की प्रवृत्ति कैसे कराते। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि भाष्यकार ने इस परिभाषा का उल्लेख कहीं किया भी नहीं है। इससे भी समझा जाता है कि इस परिभाषा का अस्तित्व नहीं है।

'उदीचामातः स्थाने' सूत्र के 'स्थाने' ग्रहण को जो इस परिभाषा का ज्ञापक बताया गया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ स्थान अर्थ की उपस्थिति 'षष्ठी स्थानेयोगा' इस परिभाषा से संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि 'षष्ठी स्थानेयोगा' यह सूत्र 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इस परिभाषा के ज्ञापन के लिये है। ऐसी स्थिति में जब कि स्थानार्थ की उपस्थिति यहाँ परिभाषालभ्य नहीं है तो यहाँ स्थानेग्रहण की अत्यन्त आवश्यकता हो जाती है। इसलिये उसे प्रस्तुत परिभाषा का ज्ञापक नहीं माना जा सकता। वस्तुतस्तु स्थान पदार्थ का लाभ अन्तरङ्गत्वात् हो जाने के कारण वहाँ किया गया स्थाने ग्रहण स्पष्टार्थ ही है। अब शंका होती है कि यदि 'विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे' इस परिभाषा को स्वीकार नहीं किया जाता है तो 'वृद्धिर्यस्याचाम्' इस सूत्र में भी 'इको गुणवृद्धी' सूत्र की उपस्थिति होने से अवतरण में दिया गया दोष यथावस्थित ही रह जायेगा, तो इस शंका का समाधान करते हुए कह रहे हैं कि 'विधौ परिभाषोपतिष्ठते' यह प्रवाद व्याकरणशास्त्र में 'इको गुणवृद्धि और 'अचश्च' इन दोनों में किये गये 'विधीयेते' और 'विधीयते' इन दोनों पदों के अध्याहार के कारण चल पड़ा है। इसका परिणाम यह होता है कि 'वृद्धिर्यस्याचाम्' इस सूत्र में वृद्धि का विधान न होने के कारण वहाँ 'इकः' षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति नहीं होती है। फलस्वरूप 'शालीयः' इत्यादि प्रयोगों का दोष का निराकरण स्वयमेव हो जाता है।

यदि कहा जाय कि 'विधीयेते' और 'विधीयते' इन दोनों पदों का अध्याहार भी इसी परिभाषा के कारण होता है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'इको गुणवृद्धी' में 'अदेङ् गुणः' और 'वृद्धिरादैच्' इन सूत्रों से ही गुण-वृद्धि पदों की अनुवृत्ति से कार्य

चल सकता था तो ऐसी स्थिति में सूत्रस्थ गुण और वृद्धि के ग्रहण सामर्थ्य से ही ऐसा अर्थ हो जाता है कि जहाँ गुण-वृद्धि शब्दों के द्वारा गुण और वृद्धि का विधान हो, वहीं 'इकः' षष्ठ्यन्तपद की उपस्थिति होती है। इसी प्रकार 'अचश्च' सूत्र में भी 'ऊकालोऽच्' सूत्र से अच् की अनुवृत्ति लाकर और उसकी आवृत्ति करके इष्टसिद्धि हो सकती थी तो 'अचः' ग्रहण की क्या आवश्यकता है? तत्सामर्थ्यात् यहाँ भी 'विधीयते' का अध्याहार हो जायेगा। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत परिभाषा ही इस अध्याहारमूलक मानी जा सकती है, न कि अध्याहार परिभाषामूलक है। इससे स्पष्ट है कि विधेय को परिभाषा का लिंग मानना केवल 'इको गुणवृद्धी' और 'अचश्च' इन दोनों सूत्रों के लिये ही है। अन्यत्र तो इस बात को स्वीकार करने का कोई फल नहीं है। इसीलिये 'तस्मिन्निति' 'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्यादि परिभाषाओं की प्रवृत्ति 'अनूद्यमान' के विशेषण में भी हो जाती है॥ १०२॥

ननु 'नमस्करोति देवान्, नमस्यति देवानि'त्यादौ 'नमः स्वस्ति' (२–३–१६) इति चतुर्थी दुर्वारेत्यत आह—

शंका होती है कि 'नमस्करोति' इस पद से जिस नमस्करण क्रिया की प्रतीति होती है, उस नमस्करण या नमन क्रिया का अर्थ है—स्वनिष्ठअपकृष्टत्वप्रकारक बोधप्रकारक बोधानुकूल करशिरःसंयोगरूपी व्यापार। 'देवान् नमस्करोति' इस वाक्य में नमस्करण क्रियाजन्यफलाश्रय होने के कारण देव शब्द से द्वितीया की प्राप्ति होती है, क्योंकि देव को नमस्कार करने से देवसमवेत देवविशेष्यताक उत्कर्ष की प्रतिपत्ति होती है। इस प्रकार क्रियाजन्य फलाश्रय होने के कारण देव शब्द से प्राप्त द्वितीया को परत्वात् बाध कर 'नमः' पद के योग में देव शब्द से चतुर्थी की प्राप्ति होती है।

यदि कहा जाय कि जब नमः पदार्थ में अन्वय की विवक्षा करेंगे, तब चतुर्थी, और जब कृ धात्वर्थ फल में अन्वय की विवक्षा करेंगे, तब द्वितीया की प्राप्ति होती है। इस प्रकार दोनों की एक साथ प्राप्ति न होने के कारण विप्रतिषेध सूत्र की यहाँ प्राप्ति ही नहीं है। ऐसी स्थिति में यहाँ परत्वात् चतुर्थी की प्राप्ति की बात कहना ठीक नहीं है, तो यह कथन उचित नहीं है क्योंकि 'नमः' यह निपात है और निपात द्योतक होते हैं। प्रस्तुत में नमस्कार अर्थ कृ धातु का ही है। नमः पद उसका द्योतक है। इसलिये नमस्कार पदार्थघटक बोध या प्रतिपत्ति में जब देव का अन्वय होता है तब उसका तात्पर्य यह है कि नमः और कृ इन दोनों का देव के साथ अन्वय हुआ है, क्योंकि द्योतक और वाचक के समभिव्याहार में विषयता उभयप्रयोज्य होती है। इस प्रकार दोनों के साथ देव का एक साथ ही योग होने के कारण दोनों विभक्तियों की साथ ही प्राप्ति होती है। इसलिये द्वितीया को बाध कर परत्वात् चतुर्थी की प्राप्ति होती है यदि कहा जाय कि स्वस्ति आदि पदों के साह-

चर्य से स्वयं नमस्कार अर्थ का वाचक जो नमः पद उसके योग में चतुर्थी होती 'नमस्करोति देवान्' यहाँ नमस्कार अर्थ कृ धातु का है और नमः उसका द्योतक है, इसलिये नमः में यहाँ स्वतन्त्र वाचकता न होने के कारण यहाँ चतुर्थी की प्राप्ति नहीं है, तो इस प्रकार यहाँ के दोष के निराकरण को देख कर 'नमस्यति देवान्' यह दोष दिया गया। यहाँ नमः शब्द नमस्कार का वाचक है और धातु भी है, इसलिये इसके योग में दोनों विभक्तियों की साथ ही प्राप्ति होती है। इनमें द्वितीया को परत्वात् बाध कर चतुर्थी की प्राप्ति होती है। चतुर्थी के हो जाने पर 'नमस्यति देवान्' ऐसा प्रयोग नहीं बन सकेगा। इसी प्रकार की शंका होने पर यह यह परिभाषा बनाई गई—

उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी ॥ १०३ ॥

उपपदविभक्ति से कारकविभक्ति बलवती होती है।

उपर्युक्त अवतरण में आये हुए उदाहरणों में प्राप्त चतुर्थी उपपदविभक्ति है। इसलिये कारकविभक्ति द्वितीया के द्वारा उसका बाध हो जाता है। इस प्रकार 'नमस्करोति देवान्' 'नमस्यति देवान्' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि होती है। कारकविभक्ति और उपपदविभक्ति किसे कहते हैं इस बात को स्पष्ट करते हुए लिख रहे हैं—

कारकविभक्तित्वञ्च क्रियाजनकार्थकविभक्तित्वम्, तच्च प्रथमाया अप्यस्तीति सापि कारकविभक्तिरिति 'सहयुक्ते' (२-३-१९) इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये ध्वनितम्।

इयं च वाचनिक्येव। अत एव 'यस्य च भावेन' (२-३-३७) इति सप्तम्यपेक्षयाधिकरणसप्तम्या बलवत्त्वमनेन न्यायेन 'तत्र च दीयते' (५-१-९६) इति सूत्रे भाष्ये ध्वनितं कैयटेन च स्पष्टमुक्तम्। एतेन क्रियान्वयित्वं कारकत्वमित्यपास्तम्। 'यस्य च भावेन' इति सप्तम्या अपि क्रियान्वयित्वात्।

जिस विभक्ति का अर्थ क्रिया का जनक हो, वह क्रियाजनकार्थक विभक्ति कारकविभक्ति कही जाती है। कर्त्ता से लेकर अधिकरण तक जितने कारक हैं वे सभी साक्षात् या परम्परया क्रिया के जनक होते हैं इसलिये इन अर्थों में होने वाली विभक्तियाँ कारकविभक्ति कही जाती हैं।

यदि कहा जाय कि चतुर्थी का अर्थ उद्देश्य है और यह उद्देश्यत्व भी 'उद्देश्यत्वं जानाति' इत्यादि वाक्यों में क्रिया का जनक स्पष्ट ही देखा जाता है, इसलिये चतुर्थी भी कारकविभक्ति ही कही जायेगी। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त उदाहरणों में द्वितीया

से उसका बाध नहीं होना चाहिये। तो इस शंका का समाधान यह है कि कारक-विभक्ति वही कही जायेगी, जिसका अर्थ क्रियामात्र का ही जनक हो।

'नमः स्वस्ति' सूत्र से जो चतुर्थी 'हरये नमः' इत्यादि प्रयोगों में होती है, उसमें क्रियाजनकत्व का सर्वथा अभाव है। इसलिये 'नमः' पद के योग में होने वाली चतुर्थी विभक्ति पदयोगनिमित्तक होने के कारण उपपदविभक्ति है। इसके विपरीत 'कर्मणि द्वितीया' से विहित द्वितीया विभक्ति कारक के अतिरिक्त किसी भी अर्थान्तर को कभी भी प्रतिपादित नहीं करती, इसलिए वह कारकविभक्ति है। इस प्रकार द्वितीया के कारकविभक्ति होने के कारण इसके द्वारा चतुर्थी का बाध हो जाता है।

यदि कहा जाय कि ऐसी स्थिति में चतुर्थी कारकविभक्ति नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह क्रियाजनकत्व मात्रार्थक विभक्ति नहीं है, 'हरये नमः' इत्यादि प्रयोगों में जहाँ क्रियाकारकभावसम्बन्ध नहीं है वहाँ भी उसे देखा जाता है तो इसका उत्तर यह है कि नमः पद के योग में होने वाली जो चतुर्थी है वह कारकविभक्ति नहीं है क्योंकि 'नमस्यति देवान्' इत्यादि प्रयोगों में जहाँ क्रियाकारकभावसम्बन्ध है वहाँ तथा 'हरये नमः' इत्यादि प्रयोगों में यहाँ सम्बन्ध नहीं है वहाँ भी उसकी प्राप्ति होने के कारण वह क्रियाजनकत्वमात्रार्थक विभक्ति नहीं कही जा सकती। नमः आदि पदों से अन्यत्र जो चतुर्थी होती है वह तो कारकविभक्ति है ही। यहाँ यह बात बात भी ध्यान में रखने की है कि 'नमस्यति' में क्यजन्त धातु घटक 'नमः' पदार्थ वैसे ही क्रिया है जैसे मुण्डयति इस ण्यन्त धातुघटक मुण्ड। इससे स्पष्ट होता है कि 'नमः' के योग में चतुर्थी होती है वह क्रियाकारकभाव तथा उससे रहित स्थल, इन दोनों स्थलों में होती है इसलिये वह कारकविभक्ति नहीं है।

इस प्रकार 'क्रियाजनकार्थकविभक्तित्वं कारकविभक्तित्वम्' यह कारकविभक्ति का लक्षण होता है। अथवा 'कारकत्वव्याप्य-कर्मत्वादिबोधकविभक्तित्वं कारक-विभक्तित्वम्' अर्थात् कारकत्व की व्याप्य जो कर्मत्वादि संज्ञाएँ उनकी बोधक विभक्तियों को कारकविभक्ति कहते हैं।

कारकविभक्ति का उपर्युक्त लक्षण प्रथमा में भी जाता है इसलिये प्रथमा भी कारकविभक्ति है। वस्तुतस्तु प्रथमान्तार्थ कर्त्ता ही मुख्य रूप से क्रिया का जनक होता है इसलिये प्रथमा का कारक विभक्तित्व असंदिग्ध है। 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इस सूत्र के भाष्य में यह बात ध्वनित भी है। भाष्यकार ने वहाँ विचार किया कि इस सूत्र में अप्रधान ग्रहण की क्या आवश्यकता है? ऐसी शंका करके कहा कि 'पुत्रेण सहागतः पिता' इस वाक्य में प्रधान पितृपद से तृतीया के वारण के लिए अप्रधानग्रहण है। इसके बाद भाष्यकार ने कहा कि इस कार्य के लिये अप्रधानग्रहण की आव-

श्यकता नहीं है क्योंकि उपपदविभक्ति से कारकविभक्ति बलीयसी होती है, इसलिये प्रथमा से तृतीया का बोध हो जायेगा। इस प्रकार प्रथमा प्राबल्य बोधन से यह स्पष्ट है कि प्रथमा भी कारकविभक्ति है।

प्राचीनों का कहना था कि उपपदविभक्ति की अपेक्षा कारकविभक्ति अन्तरङ्ग होती है क्योंकि क्रिया के साथ अन्वय के विना कारक पदार्थ में बोधजनकता होती ही नहीं, इसलिये कारकविभक्ति अन्तरङ्ग है। इसकी अपेक्षा उपपद का अन्वय जहाँ विवक्षित होता है वहाँ साक्षात् अन्वय न होकर स्वद्योत्य क्रिया के द्वारा होता है इसलिये उपपदविभक्ति बहिरंग है। यही अन्तरङ्ग-बहिरङ्गभाव इस परिभाषा का मूल है। प्राचीनों के इस कथन का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि यह परिभाषा वाचनिक है अर्थात् वचन रूप से पढ़ी गयी है। यदि क्रियान्वयित्व होना कारकविभक्ति कहा जाता और यही उसकी अन्तरङ्गता होती तो 'चैत्रः पचति' इत्यादि प्रयोगों में प्रथमार्थ का तिङर्थकर्ता में अन्वय होने के कारण क्रिया में अन्वय के अभाव होने से प्रथमा कारकविभक्ति कही ही नहीं जाती। ऐसी स्थिति में 'पुत्रेण सह आगतः पिता' इत्यादि वाक्यों में कारकविभक्ति होने के कारण प्रथमा बलवती है। यह भाष्यकार ने कैसे कहा। इससे सिद्ध होता है कि क्रियान्वितविभक्ति कारकविभक्ति नहीं है तथा यह परिभाषा न्यायमूलक न होकर वाचनिकी ही है।

अत एव=इस परिभाषा के वाचनिक होने के कारण ही। अथवा क्रियाजनकार्थकविभक्ति कारकविभक्ति कही जाती है इस बात को स्वीकार करने से ही 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इस सूत्र के द्वारा विहित सप्तमी की अपेक्षा अधिकरण सप्तमी की बलवत्ता 'तत्र च दीयते कार्यं भववत्' इस सूत्र के भाष्य में ध्वनित की गयी और कैयट भी इस बात को स्पष्ट किया। वहाँ प्रसंग इस प्रकार है—

भाष्यकार ने कहा कि इस सूत्र में 'दीयते' और 'कार्यम्' इन दोनों पदों की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो चीज वहाँ दी जाती है या जो कुछ वहाँ किया जाता है, वे सब 'तत्र भव' ही होते हैं इसलिये वहाँ 'तत्र भव' मान कर ही कार्य हो सकता है। इस प्रकार 'दीयते' और 'कार्यम्' इन दोनों पदों की अनावश्यकता बता कर आगे पुनः शंका की गई कि दीयते ग्रहण न करने पर कार्य सिद्ध नहीं होगा क्योंकि जो वस्तु दी जा रही है वह मास में नहीं दी जा रही है अपितु मास बीतने पर दी जा रही है। तात्पर्य यह है कि 'मासे दीयते' इस वाक्य में 'मासे' इस पद में जो सप्तमी है वह 'यस्य च भावेन' इससे विहित भावलक्षणसप्तमी है और 'तत्र भवः' में जो सप्तमी है वह अधिकरण सप्तमी है इस प्रकार 'मासे गते दीयते' इस अर्थ में 'तत्र भवः' से कैसे प्रत्यय होगा? इस प्रकार शंका करके कहा कि 'मासे दीयते' में जो सप्तमी है वह भावलक्षणसप्तमी नहीं है किन्तु 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी'

इस नियम के आधार पर औपश्लेषिकाधिकरण सप्तमी है। इस प्रकार भाष्यकार ने 'मासे दीयते' इस विग्रह में औपश्लेषिकाधिकरण मान कर 'तत्र भवः' सूत्र से कार्य चलाया। यदि क्रियान्वयनिमित्तक होने से 'कारकविभक्ति' होती और वही उसकी बलवत्ता का बीज होता तो अधिकरणसप्तमी और 'भावलक्षणसप्तमी' इन दोनों का अन्वय क्रिया में होने के कारण दोनों की समानता ही होती। ऐसी स्थिति में भावलक्षणसप्तमी की अपेक्षा अधिकरणसप्तमी को बलवान् किस प्रकार कहा गया। इससे सिद्ध होता है कि यह परिभाषा वाचनिकी है न कि अन्तरङ्ग न्यायमूलिका साथ ही यह भी सिद्ध होता है क्रिया का जनक होने से ही कोई विभक्ति कारकविभक्ति कही जा सकती है न कि क्रिया में अन्वय होने से।

एतेन=इस प्रकार कारकविभक्ति के स्वरूप का निर्धारण हो जाने के कारण जो लोग कहते थे कि कारक उसे कहते हैं जिसका अन्वय क्रिया में होता है वे लोग परास्त हो गये। क्योंकि ऊपर इस बात का भलीभाँति निराकरण किया जा चुका है कि क्रियान्वयित्व कारकत्व का प्रयोजक नहीं है। यदि ऐसा माना जाता तो 'यस्य च भावेन' इस सूत्र से विहित सप्तमी का भी क्रिया में अन्वय होने के कारण यह भी कारकविभक्ति हो जाती। ऐसी स्थिति में इसकी अपेक्षा अधिकरणसप्तमी की कारकविभक्तित्वात् बलवत्ता की बात करना असंगत ही हो जाता।

ये तु प्रधानीभूतक्रियासम्बन्धनिमित्तकार्यत्वेन कारकविभक्तीनां बलवत्त्वं वदन्ति तेषामुभयोरपि क्रियासम्बन्धनिमित्तकत्वेन तदसङ्गतिः स्पष्टैव, 'नमोवरिवः' (३-१-१९) इति सूत्रे नमस्यति देवानित्यादौ चतुर्थीवारणाय भाष्ये उपन्यासस्यासङ्गतेश्च।

एतेन क्रियाकारकसम्बन्धोऽन्तरङ्ग इति तन्निमित्ता विभक्तिरन्तरङ्गा, उपपदार्थेन तु यत्किञ्चित्क्रियाकारकभावमूलकः सम्बन्ध इति तन्निमित्ता विभक्तिर्बहिरङ्गेत्यपास्तम्। नमस्यतीत्यत्र नमःपदार्थेऽपि क्रियाकारकभावेनैवान्वयात्। अत्र च नमःपदार्थस्यापि क्रियात्वं मुण्डयतौ मुण्डस्येव।

'सहयुक्ते' (२-३-१९) इत्यादौ च प्रधाने प्रथमासाधनार्थमियं भाष्य उपन्यस्तेत्यन्यत्र विस्तरः॥ १०३॥

जो लोग कहते हैं कि प्रधानीभूतक्रिया से सम्बन्ध होने के कारण ही कारकविभक्तियाँ होती हैं, इसलिये बलवती होती हैं। उनका यह कहना भी असंगत है, क्योंकि 'गोषु दुह्यमानासु गतः' इत्यादि वाक्यों में सत् सप्तमी का जिस प्रकार मुख्य क्रिया में अन्वय होता है उसी प्रकार 'कूपे जलम्' इस वाक्य में अधिकरण सप्तमी का होता है। इस प्रकार 'उभयोः'=सत्सप्तमी और अधिकरणसप्तमी इन दोनों का क्रिया

सम्बन्ध निमित्तकत्व एक समान होने के कारण उन दोनों में से एक को बलवान और दूसरे को निर्बल कहना असंगत ही है।

'नमो वरिवश्चित्रङः क्यच्' इस सूत्र के भाष्यकार ने 'नमस्यति देवान्' इस प्रयोग में इस परिभाषा के आधार पर चतुर्थी का वारण किया है। यहाँ 'नमस्य' पदार्थ में क्रियाकारकभावसम्बन्ध से अन्वय होने के कारण ही द्वितीया और चतुर्थी इन दोनों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार दोनों विभक्तियाँ जब समान हो गई तो चतुर्थी की अपेक्षा द्वितीया को बलवती का उपन्यास करना भी असङ्गत हो जायेगा।

यहाँ स्वनिष्ठ-अपकृष्टत्वप्रकारक बोध नमः शब्दार्थ है और तदनुकूल व्यापार क्यजन्त का अर्थ है। इस प्रकार यहाँ 'नमः' भी क्रिया वाचक हो जाता है। यदि प्रधानीभूत क्रिया सम्बन्धनिमित्तक होने से कारकविभक्ति बलवती होती है तो यहाँ चतुर्थी की अपेक्षा द्वितीया बलवती नहीं हो सकेगी, क्योंकि दोनों का प्रधानीभूत क्रिया से सम्बन्ध है, इसलिये दोनों समान है। इसलिये इस परिभाषा को युक्ति अथवा तर्क से सिद्ध न मानकर वाचनिकी मानना ही ठीक है।

एतेन=इस प्रकार के व्याख्यान से वे परास्त हो गये जो लोग कहते थे कि क्रिया और कारक का सम्बन्ध अन्तरङ्ग है अतः तन्निमित्तक कारकविभक्ति अन्तरङ्ग है। उपपद के साथ तो यत्किञ्चित् क्रियाकारकभावमूलकसम्बन्ध होता है। जैसे 'नमस्करोति देवान्' इस प्रयोग में 'नमः स्वस्ति' इस सूत्र की प्रवृत्ति जब कराने चलते हैं तब 'स्वं रूपम्' सूत्र से यहाँ 'नमः' इस स्वरूप की उपस्थिति होती है। इस 'नमः' स्वरूप का स्वद्योत्यक्रियाकर्मत्वसम्बन्ध से देव पदार्थ में अन्वय होता है। इसकी अपेक्षा नमस्करण क्रिया का अन्वय देव पदार्थ में साक्षात् कर्मत्व सम्बन्ध से होता है। इस प्रकार साक्षात् क्रिया के साथ सम्बन्ध की अपेक्षा स्वद्योत्यक्रिया-कर्मत्व सम्बन्ध से उपपद का अन्वय होना उपपदविभक्ति की बहिरङ्गता को ही व्यक्त करता है। इसी बात को मूल में लिखा गया है कि 'उपपदार्थेन तु यत् किञ्चित् क्रियाकारकभावसम्बन्धः' अर्थात् उपपद का अन्वय कहीं भी स्वाध्याहृत क्रिया के द्वारा ही होगा। इसलिये उपपदविभक्ति बहिरङ्ग होती है। किन्तु ऐसा कहने वाले इसलिये परास्त हो गये कि 'नमस्यति देवान्' इस प्रयोग में देव का नमः पदार्थ में भी क्रियाकारकभावसम्बन्ध से ही अन्वय होता है। ऊपर बताया जा चुका है कि यहाँ 'नमः' भी क्रियावाचक है और क्यजन्त भी क्रियावाचक है। इसलिये चतुर्थी और द्वितीया की स्थिति यहाँ समान ही है। ऐसी स्थिति में जब कि दोनों विभक्तियाँ यहाँ क्रियाकारकभावसम्बन्ध के आधार पर ही प्राप्त होती हैं तो चतुर्थी की अपेक्षा

द्वितीया को बलवती कहना असंगत ही हो जायेगा। इसलिये अन्तरङ्गबहिरङ्गभाव इस परिभाषा का मूल है। ऐसा कहने वाले परास्त हो जाते हैं।

यदि कहा जाय कि 'नमः' यह तो प्रातिपदिक है तो उसके साथ क्रियाकारक भावसम्बन्ध से कैसे अन्वय होगा, तो इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि जिस प्रकार ण्यन्त मुण्डि धातु में मुण्ड यह क्रियावाचक है उसी प्रकार 'क्यजन्त' 'नमस्य' धातु में नमः यह क्रिया वाचक है। यह बात ऊपर भी स्पष्ट की जा चुकी है।

'सहयुक्तेऽप्रधाने' इस सूत्र के भाष्य में 'पुत्रेण सहागतः पिता' इस वाक्यघटक प्रधान पितृ पद से प्रथमा की सिद्धि के लिये इसका उपन्यास किया गया है। अप्रधान ग्रहण के अभाव में भी 'क्रियाजनकार्थक विभक्ति होने के कारण प्रथमा, तृतीया को बाध लेगी' यही वहाँ का सारांश है। यह बात भाष्य में विस्तार से कही गई है ॥ १०३ ॥

नन्वदमुयङ्ङित्यादौ पूर्वस्यापि मुत्वापत्तिरत आह—

'अमुम् अञ्चति' इस विग्रह में क्विन् प्रत्यय, उपपद समास, और विभक्ति का लुक् करने पर 'अदस् + अञ्च्' इस स्थिति में 'अनिदिताम्' सूत्र से नकार का लोप करने के अनन्तर 'अदस् + अच्' इस स्थिति में 'विष्वग्देवयोश्च' इस सूत्र से अदस् के टि भाग (अस्) के स्थान पर अद्रि आदेश किया जाता है। इसके बाद इकार को यण् करके 'अदद्रचच्' शब्द से सुविभक्ति लाने पर 'उगिदचाम्' सूत्र से नुम्, हलङ्यादि-लोप और संयोगान्तलोप और नुम् के नकार को कुत्वेन ङकार करने के बाद 'अदद्रचङ्' ऐसी स्थिति होने पर 'अदसोऽसेः' सूत्र से दूसरे दकार को मकार और तदुत्तर रकार को उकार करके 'अदमुयङ्' यह रूप सिद्ध किया जाता है।

यहाँ यह शंका होती है कि 'अदसोऽसेः' सूत्र से जिस प्रकार द्वितीय दकार को मकार और तदुत्तर रकार को उकार होता है, उसी प्रकार पूर्व दकार को भी मकार और तदुत्तर अकार को उकार क्यों नहीं होता ? इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य ॥ १०४ ॥

अन्त्यस्य विकारः=आदेशः, अन्त्यविकारः, न अन्त्यविकारो येन तदनन्त्य विकारम् शास्त्रम्, तस्मिन् अनन्त्यविकारे शास्त्रे इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस परि-भाषा का अर्थ इस प्रकार होता है—जिस सूत्र के द्वारा अन्त्य के स्थान पर कार्य की प्राप्ति न हो, किन्तु अन्त्य समीप और अनन्त्य समीप दोनों के स्थान पर कार्य की प्राप्ति हो, उस सूत्र में 'अन्त्य सदेशस्य' इस पद की उपस्थिति होती है। फलस्वरूप वह कार्य अन्त्य समीपवर्ती के स्थान पर ही होता है। 'अदद्रच् + अङ्' इस स्थिति में

'अदसोऽसेः' सूत्र से 'अन्त्य यकार के स्थान पर किसी विकार की प्राप्ति नहीं है क्योंकि वह दकार से पर में नहीं है, किन्तु अन्त्य यकार के समीपवर्ती, द्र् और उसके अनन्त्य सदेश 'द' इन दोनों के स्थान पर उत्व-मत्व की प्राप्ति होती है। ऐसी स्थिति में इस परिभाषा के साहाय्य से अन्त्य सदेश 'द्र्' के स्थान पर ही मुत्व होता है, जिससे 'अदमुयङ्' इस प्रयोग की सिद्धि होती है। इसी बात को लिख रहे हैं—

अन्त्यसदेशानन्त्यसदेशयोरेकप्रयोगे युगपत् प्राप्तावन्त्यसदेशस्यैवेति तदर्थः। अन्यथा धात्वादेर्नत्वसत्वे 'नेता सोते'त्यादावेव स्याताम्, न तु नमति सिञ्चतीत्यादौ।

एक प्रयोग में अन्त्यसमीपवर्ती, और अनन्त्यसमीपवर्ती इन दोनों के स्थान पर एक साथ कार्य प्राप्त होने पर अन्त्यसदेश के स्थान पर ही कार्य होता है। परिभाषा का ऐसा अर्थ न करके यदि ऐसा अर्थ करते कि अन्त्य के स्थान पर कार्य की प्राप्ति न होने पर अन्त्यसदेश (समीपवर्ती) के स्थान पर कार्य होता है, तो 'णो नः' सूत्र से धातु के आदि के णकार को नकार 'नेता' इस प्रयोग में तो होगा, किन्तु नमति में नहीं होगा। इसका कारण यह है कि 'णी' धातु में तो अन्त्य समीपवर्ती णकार है अतः यहाँ नत्वविधायकसूत्र की प्रवृत्ति हो जायेगी, किन्तु 'णम्' धातु में तो अन्त्य सदेश अकार है न कि णकार। इसलिये यहाँ नत्व नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार 'धात्वादेः षः सः' सूत्र से विधेय धातु के आद्य षकार को सकार 'षु' धातु में तो होगा किन्तु 'षिच् क्षरणे' के 'सिञ्चति' इस प्रयोग में नहीं हो सकेगा, क्योंकि यहाँ भी अन्त्य समीपवर्ती इकार है न कि षकार। इसलिये 'एक प्रयोग में अन्त्य सदेश और अनन्त्य सदेश दोनों को एक साथ कार्य की प्राप्ति होने पर ही इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है' ऐसा स्वीकार करके उपर्युक्त अर्थ ही करना चाहिये। ऐसा अर्थ करने से 'धात्वादेः षः सः' और 'णो नः' इन सूत्रों में इस परिभाषा की उपस्थिति नहीं होती है। परिणाम यह होता है कि यहाँ भी नत्व और सत्व की सिद्धि हो जाती है।

यदि कहा जाय कि 'अमू' इस प्रयोग की सिद्धि हेतु 'अदौ' इस स्थिति में दकार से पर में अन्त्य औकार के स्थान पर ऊत्व रूपी कार्य का विधायक होने के कारण 'अदसोऽसेः' इस सूत्र में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि इसकी प्रवृत्ति तो वहाँ होगी जहाँ अन्त्य के स्थान पर कोई कार्य प्राप्त न रहे। ऐसी स्थिति में जब मुत्वविधायक सूत्र में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होगी तो 'अदमुयङ्' प्रयोगसम्बन्धी आशंका यथावत् रह जाती है। इस प्रकार की शंका का समाधान यह है कि विधेय के भेद से वाक्य का भेद हो जाता है। प्रस्तुत में उत्व और मत्व ये दो विधेय हैं। इनमें 'दस्य मः' यह जो मत्वविधायकशास्त्र है यह अन्त्य विकार

का प्रयोजक नहीं है, इसलिये इस परिभाषा की प्रवृत्ति 'अदसोऽसेः' सूत्र में होने में कोई बाधा नहीं है।

अनन्त्यविकार इति च लिङ्गम्। अन्त्येन समानो देशो यस्य सोऽन्त्यसदेशः। तत्त्वं च अन्त्यवर्णतद्वर्णयोरितराव्यवधानेन बोध्यम्। अत एव विद्ध इत्याद्यर्थं 'न सम्प्रसारणे' (६-१-३७) इति चरितार्थम्।

'अल्लोपोऽनः' (६-४-१३४) इत्यादेः 'अनस्तक्ष्णे'त्यादावाद्याकारादावप्रवृत्तिरप्यस्याः फलम्, यजादिस्वादिपरानन्ताङ्गस्याकारस्य लोप इत्यर्थस्योत्थिताकाङ्क्षतयौचित्यादङ्गावयवयजादिस्वादिपरस्यान इत्यादिक्रमेणानेकत्रानेकक्लिष्टकल्पनापेक्षयाऽस्या उचितत्वात्।

यदि कहा जाय कि 'अन्त्यसदेशस्य' इतने कहने मात्र से कार्य चल सकता है तो इस परिभाषा में 'अनन्त्यविकारे' इस पद की क्या आवश्यकता है ? तो इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि 'अनन्त्यविकारे' यह अंश इस परिभाषा का लिंग है। अर्थात् जिस शास्त्र के द्वारा अन्त्य के स्थान में कोई विकार प्राप्त न हो, किन्तु अन्त्य सदेशानन्त्यसदेश को साथ ही प्राप्त हो, उसी शास्त्र में इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है।

अन्त्य के समान देश है जिसका वह अन्त्यसदेश कहा जाता है। यहाँ बहुव्रीहि समास और समान के स्थान पर स आदेश ये दोनों कार्य निपातन से हुए हैं। अन्त्यसदेशत्व क्या चीज है इसका स्पष्टीकरण करते हुए कह रहे हैं कि 'तत्त्वं च= अन्त्यसदेशत्वञ्च अर्थात् अन्त्य सदेश वह कहा जाता है कि अन्त्य वर्ण और तद्वर्ण (जिसके स्थान पर कार्य करना है) इन दोनों वर्णों का इतर वर्ण से व्यवधान न होवे। अत एव=इतराव्यवधान से अन्त्य सदेश का इस परिभाषा में ग्रहण करने से ही 'विद्धः' इस प्रयोग के लिये 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इस सूत्र की चरितार्थता होती है। तात्पर्य यह है यदि इस परिभाषा में इतराव्यवधान का निवेश नहीं किया गया होता तो सब जगह इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती। ऐसी स्थिति में 'व्यध्' धातु से क्त प्रत्यय करने पर 'व्यध्+त' इस स्थिति में इस परिभाषा से ही आद्य वर्ण वकार के सम्प्रसारण की व्यावृत्ति संभव थी। ऐसी स्थिति में 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' सूत्र की क्या आवश्यकता रह जाती है ? जब इतराव्यवधान के द्वारा अन्त्यसदेश का ग्रहण इस परिभाषा में किया जाता है तब अन्त्यवर्ण धकार और तद्वर्ण (जिसके स्थान पर कार्य करना है) यकार, इन दोनों का अकार से व्यवधान होने के कारण यहाँ अन्त्य सदेशत्व की उपलब्धि नहीं होती है। फलस्वरूप इस परिभाषा की प्रवृत्ति भी यहाँ नहीं होती है। ऐसी स्थिति प्रथम यण् वकार के स्थान पर सम्प्रसारण की व्यवृत्ति के लिये 'न सम्प्रसारणे' सूत्र की सार्थकता होती है। इस

प्रकार इस परिभाषा में इतराव्यवधान के निवेश में 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' यह सूत्र ही ज्ञापक होता है। यहाँ इतर शब्द से अच् वर्ण का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार 'अच्-व्यवधानशून्यत्वम् अन्त्यसदेशत्वम्' यह अन्त्य सदेश का लक्षण होता है। 'विद्धः' इस प्रयोग में अन्त्य वर्ण और तद्वर्ण के बीच अच् का व्यवधान होने के कारण अन्त्यसदेशत्व नहीं है, इसलिये यहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। 'अदमुयङ्' प्रयोग में अन्त्य वर्ण यकार और तद्वर्ण दकार के मध्य रकार का व्यवधान होने से अन्त्यसदेशत्व है, इसलिये यहाँ परिभाषा की प्रवृत्ति होती है।

परिभाषा का प्रयोजन बताते हुए कह रहे हैं कि 'अनस्तक्ष्णा' इस प्रयोग में इस इस परिभाषा के द्वारा 'अल्लोपोऽनः' इस सूत्र की प्रवृत्ति अन्त्यसदेश 'तक्षन्' घटक अन् के अकार में ही होती है। इस प्रकार आदि के अकार में लोपविधायक उक्त सूत्र की अप्रवृत्ति भी इस परिभाषा का फल है। यदि कहा जाय कि 'निर्दिश्यमान परिभाषा से ही यह कार्य हो सकता है क्योंकि यजादिस्वादिप्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्व-विशिष्ट, अंगावयव निर्दिश्यमान जो अन् उसके अकार का लोप होता है, ऐसा सूत्रार्थ करने से प्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट तक्षन् का ही अकार है न कि अन् का अकार, इसलिये आदि अकार का लोप नहीं होगा तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यय का सम्बन्ध अङ्ग के साथ होता है। उसी के साथ अन्वय के लिये प्रत्यय की उत्थिताकांक्षा होती है इसलिये यजादिस्वादि का अन्वय अङ्ग में न करके अन् के साथ करके उक्त अर्थ करने का कोई औचित्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि जिसका अन्वय जहाँ न्यायतः प्राप्त है वहाँ न करके अन्यत्र करने में अनेक क्लिष्ट कल्पना करनी होगी, इसलिये यजादिस्वादि का अन्वय अन् के साथ न करके अङ्ग के साथ ही किया जायेगा। इस स्थिति में इस प्रकार सूत्रार्थ होगा—यजादिस्वादिप्रत्यया-व्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट जो अन्नन्त अङ्ग, तदवयव निर्दिश्यमान जो अन् उसके अकार का लोप हो। ऐसा अर्थ करने पर अन्नन्त अङ्गावयवत्व तथा षष्ठी प्रकृति जन्य प्राथमिकोपस्थिति विषयत्वरूपी निर्दिश्यमानत्व, ये दोनों अन् में समान ही हैं, इसलिये दोनों अन् के अकार का लोप होने लग जायेगा। इसलिये आदि अन् के अकार के लोप का वारण इस परिभाषा से ही संभव है। इस प्रकार यह भी इस परिभाषा का फल है।

न चैषा 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' (६-१-१३) इति सूत्रे भाष्ये प्रत्याख्यातेति भ्रमितव्यम्, वार्तिकोक्तफलानामनेकक्लिष्टकल्पनाभिरन्यथासिद्धि प्रदर्श्यापि यान्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि तदर्थमेषा कर्त्तव्या प्रतिविधेयं दोषेषु प्रतिविधानं चोदात्तनिर्देशात्सिद्धमित्युपसंहारात्। मिमार्जिषतीत्यर्थं चैषा। तत्र वृद्धेः पूर्वमन्तरङ्गत्वाद् द्वित्वे परत्वादभ्यासकार्ये ततोऽभ्यासे-

कारस्य वृद्धिवारणायावश्यकी। न च वृद्धौ पुनरभ्यासह्रस्वत्वेन सिद्धिः 'लक्ष्ये लक्षणस्य' इति न्यायेन पुनरप्रवृत्तेः।

इस परिभाषा के सम्बन्ध में ऐसे भ्रम नहीं करना चाहिये कि यह परिभाषा 'ष्यङः सम्प्रसारणम्' इस सूत्र के भाष्य में प्रत्याख्यात है। वहाँ का तात्पर्य तो यह है कि वार्तिककार ने इस परिभाषा के जिन फलों का वहाँ उल्लेख किया था, उन फलों को भाष्यकार ने अनेक कल्पनाओं के द्वारा अन्यथासिद्ध करके कहा कि इस परिभाषा के जो प्रयोजन हैं उनके लिये यह परिभाषा करनी चाहिये। इस प्रकार भाष्यकार ने इस परिभाषा के कतिपय फलों की अन्यथासिद्धिमात्र प्रदर्शित की है। 'दोषाः खल्वपि साकल्येन परिगणिताः' अर्थात् इस परिभाषा को स्वीकार करने पर जितने दोष पड़ते हैं वे सारे परिगणित कर दिये गये हैं। इन दोषों में परिभाषा का प्रतिविधान अर्थात् अप्रवृत्ति कर देनी चाहिये। इस प्रतिविधान का स्वरूप उदात्तनिर्देश करने से सिद्ध हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि जहाँ परिभाषा की प्रवृत्ति अभीष्ट हो वहाँ उदात्त पढ़ देना चाहिये। इस प्रकार उदात्तत्व इस परिभाषा का लिंग हो जायेगा। जहाँ उदात्तत्व का निर्देश नहीं होगा, वहाँ इसकी प्रवृत्ति नहीं होगी। जो इसके प्रयोजन हैं उनके लिये यह परिभाषा करनी चाहिये 'भाष्यकार के इस कथन से इस परिभाषा की कर्त्तव्यता स्पष्ट होती है।

मृज् धातु से सन् प्रत्यय करने पर 'मि-मृज्-इ-ष-ति' इस स्थिति में 'मृजेर्वृद्धिः' सूत्र से अभ्यास के इकार और मृज्घटक ऋकार को साथ ही वृद्धि प्राप्त होने पर इस परिभाषा के द्वारा ऋकार के स्थान पर ही वृद्धि होती है जिससे 'मिमार्जिषति' इस प्रयोग की सिद्धि होती है। इस प्रकार इस प्रयोग के लिये भी यह परिभाषा आवश्यक है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि 'मृज्-स-ति' इसी अवस्था में पहले वृद्धि करके तब द्वित्व किया जायेगा, क्योंकि 'मृजेर्वृद्धिः' की वृद्धि प्रत्ययनिमित्तक होने के कारण बहिरङ्ग है, उसकी अपेक्षा अपरनिमित्तक होने के कारण 'सन्यङोः' सूत्र का द्वित्व अन्तरङ्ग है। इसलिये अन्तरङ्गत्वात् वृद्धि से पहले द्वित्व हो जायेगा। इसके बाद भी 'मृज्-मृज-सति' इस स्थिति में वृद्धि और अभ्यासकार्य के साथ ही प्राप्त होने पर वृद्धि को परत्वात् बाधकर अभ्यास कार्य करने के बाद 'मि-मृज्-इ-ष-ति' इस स्थिति में अभ्यास के इकार और ऋकार को साथ ही वृद्धि होती है। इनमें अभ्यास के इकार को वृद्धि वारण के लिये यह परिभाषा आवश्यक है। यदि कहा जाय कि इस परिभाषा के अभाव में अभ्यास के इकार को यदि वृद्धि हो भी जाती है तो कोई क्षति नहीं है क्योंकि वृद्धि होने के बाद फिर 'ह्रस्वः' सूत्र से ह्रस्व करने से वह इकार ही हो जायेगा। इस प्रकार यह परिभाषा का फल क्यों स्वीकार किया जाय ? तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते' इस नियम

के आधार पर 'ह्रस्वः' सूत्र की इस लक्ष्य में दुबारा प्रवृत्ति नहीं होगी। द्वित्व के बाद 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः' इस न्याय के अनुसार 'ह्रस्वः' सूत्र एक बार यहाँ ह्रस्व कर चुका है। अतः पुनः यहाँ उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी।

यत्तु 'न सम्प्रसारणे' इति सूत्रे भाष्ये नैतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानीत्युक्तं तस्यायमर्थः—एतत्सूत्रप्रयोजनान्येतस्याः परिभाषायाः न भवन्ति, व्यधादावन्त्यसमानदेशयणोऽभावादिति। नैतान्येतस्याः प्रयोजनानीति पाठोऽपि क्वचिद् दृश्यते।

वाचनिक्येवैषा। स्पष्टा च 'ष्यङः' (६-१-१३) इति सूत्रे 'अदसोऽसेः' (८-२-८०) इति सूत्रे च 'केचिदन्त्यसदेशस्ये'त्यनेन भाष्य इत्यन्यत्र विस्तरः॥ १०४॥

यहाँ अब यह शंका होती है कि 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने इस परिभाषा का उपन्यास करके कहा कि इस परिभाषा के प्रयोजन नहीं हैं। यदि उपर्युक्त प्रकार से इस परिभाषा की आवश्यकता होती तो भाष्यकार ने ऐसे कैसे कहा कि इस परिभाषा के प्रयोजन नहीं हैं? इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि भाष्यकार ने वहाँ जो कहा है उसका तात्पर्य यह है कि—'न सम्प्रसारणे' इस सूत्र में इस परिभाषा के प्रयोजन नहीं हैं, क्योंकि 'व्यध्' धातु में अन्त्य समानदेश यण् का अभाव है। इसलिये यह इस परिभाषा का प्रयोजन नहीं हो सकता। इसकी सिद्धि तो 'न सम्प्रसारणे' सूत्र से ही करनी चाहिये। कहीं पर ऐसा भी पाठ देखा जाता है कि ये इस परिभाषा के प्रयोजन नहीं हैं। अर्थात् 'न सम्प्रसारणे' सूत्र के उदाहरण इसके प्रयोजन नहीं हैं। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि इस परिभाषा की आवश्यकता नहीं है।

यह परिभाषा वाचनिक अर्थात् वचनरूप से पठित है। वाचनिक कहने का तात्पर्य यह है कि यह ज्ञापक सिद्ध नहीं है।

'ष्यङः सम्प्रसारणम्' इस सूत्र के भाष्य में तथा 'अदसोऽसेः' सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है। भाष्यकार ने वहाँ कहा कि अदस् शब्द में जो मुत्व विधान किया गया है वह 'केचिदन्त्यसदेशस्य' इस उक्ति के अनुसार अन्त्यसदेश को होता है यहाँ अन्त्यसदेश शब्द का उच्चारण करके भाष्यकार ने इस परिभाषा का स्पष्टतः उल्लेख किया है।

कुछ लोगों का कहना है कि यह परिभाषा भाष्यसम्मत नहीं है क्योंकि भाष्यकार ने कहा है कि 'नैतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि' अर्थात् इस परिभाषा का कोई प्रयोजन नहीं है। 'अनस्तक्षणा' में आदि अकार का लोपाभाव इसका प्रयोजन नहीं हो सकता, क्योंकि अनस् का अन् निर्दिश्यमान ही नहीं है। निर्दिश्यमान वह होता है

जो षष्ठी की प्रकृति से जन्य उपस्थिति का विषय होते हुए षष्ठीप्रकृतिजन्य उपस्थितिविषय के समभिव्याहृत वर्ण से घटित न हो। प्रस्तुत में षष्ठीप्रकृतिजन्य उपस्थितिविषय तक्षन् है उसके समभिव्याहृत वर्ण सकार है उससे घटित 'अनस्' है, इसलिये जब अनस् निर्दिश्यमान ही नहीं है तब उसके अकार में लोप का प्रश्न ही नहीं है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि 'अनः' इस षष्ठ्यन्त में षष्ठी की प्रकृति जो अन् है उससे अन् और अन्नन्त, इन दो की उपस्थिति होती है। इसीलिये ऊपर तक्षन् इस अन्नन्त को षष्ठीप्रकृतिजन्य उपस्थिति का विषय कहा गया है। इसीलिये 'मिमार्जिषति' इस प्रयोग में भी अभ्यास के इकार को वृद्धि की प्राप्ति नहीं है, क्योंकि अभ्यास निर्दिश्यमान 'मृज्' नहीं है।

'अदमुयङ्' के सम्बन्ध में भाष्यकार का कहना है कि यह प्रयोग होता ही नहीं, क्योंकि 'अदसोऽसेः' इस सूत्र की प्रवृत्ति वहीं होती है जहाँ अदस् के सकार के स्थान पर अकार हो गया हो। यहाँ तो 'अस्' के स्थान पर 'अद्रि' ऐसा आदेश हुआ है। इसलिये यहाँ 'अदद्र्यङ्' यही रूप बनता है। इस प्रकार फलाभाव के कारण इस परिभाषा की आवश्यकता नहीं है ॥१०४॥

ननुः 'अव्यक्तानुकरणस्यातः' (६-१-९८) इति पररूपं 'पटत् इति पटिती'त्यादौ 'अलोऽन्त्यस्य' (१-१-५२) इत्यन्त्यस्य प्राप्नोतीत्यत आह—

'अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ' यह सूत्र अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण अत् शब्द के आगे इति शब्द पर में रहने पर अत् को पररूप करता है। यहाँ 'अतः' यह षष्ठ्यन्त पद है, इसलिये इसके आधार पर यहाँ 'अलोऽन्त्यस्य' इस परिभाषा की प्रवृत्ति होगी। परिणाम यह होगा कि 'पटत्+इति' इस स्थिति में किया जाने वाला पररूप 'अत्' के स्थान पर न होकर अन्त्य अल् तकार के स्थान पर होने लगेगा। फलस्वरूप 'पटत्+इति=पटिति' ऐसा जहाँ रूप बनाना अभीष्ट है वहाँ तकार का पररूप और गुण करके 'पटेति' ऐसा रूप बनने लगेगा। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ॥ १०५ ॥

अनर्थक में 'अलोऽन्त्यस्य' इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु अभ्यासविकार के लिये यह बात नहीं है। तात्पर्य यह है कि अभ्यास के अनर्थक होने पर भी वहाँ 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि 'पटत्' घटक अत् के अनर्थक होने के कारण यहाँ 'अलोऽन्त्यस्य' की प्रवृत्ति नहीं हुई, इसलिये तकार के स्थान पर पररूप न होकर पूरे 'अत्' के स्थान पर पररूप होता है, जिससे 'पटिति' इस रूप की सिद्धि होती है।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये 'पटत्' यह अनुकार्य अव्यक्त ध्वनि का बोधक होने के कारण सार्थक है, किन्तु तद्घटक जो 'अत्' है वह तो निरर्थक ही है, इसलिये यहाँ अलोऽन्त्यस्य सूत्र प्रवृत्त नहीं हुआ है।

अनभ्यासेत्युक्ते 'बिभर्ती'त्यादौ 'भृञामित्' (७-४-७६) इत्याद्यन्त्यस्यैवाभ्यासोऽनर्थकोऽर्थावृत्त्यभावात्, किन्तु उत्तरखण्ड एवार्थवानिति अन्यत्र निरूपितम्।

एषा 'अलोऽन्त्यात्' सूत्रे भाष्ये स्पष्टा। फलानामन्यथासिद्धिकरणेन प्रत्याख्याता चेति तत एवावधार्यताम्॥ १०५॥

इस परिभाषा में जो अनभ्यास ग्रहण किया गया है, उससे स्पष्ट होता है कि अभ्यास के अनर्थक होने पर भी वहाँ 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र की प्रवृत्ति होती है। इसलिये 'ब-भृ+ति' इस स्थिति में 'भृञामित्' इस सूत्र से विधीयमान इत्व सम्पूर्ण अभ्यास को न होकर तदवयव अकार के स्थान पर होता है। 'अर्तिपिपर्त्योश्च' इस सूत्र में किया गया 'पिपर्ति' यह निर्देश ही इस बात का ज्ञापक है कि अभ्यास के अनर्थक होने पर भी वहाँ अलोऽन्त्यस्य सूत्र की प्रवृत्ति होती है। अन्यथा 'पिपर्ति' यह निर्देश ही नहीं बनता। यदि कहा जाय कि अभ्यास अनर्थक होता है, इसमें क्या प्रमाण है? तो इसका उत्तर यह है कि यदि अभ्यास सार्थक होता तो वहाँ 'नानर्थके' इस परिभाषा की स्वयमेव प्रवृत्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में 'अलोऽन्त्यस्य' की सहायता से 'बिभर्ति' 'पिपर्ति' इत्यादि प्रयोगों में स्वयमेव अन्त्य के स्थान पर इत्व की सिद्धि सम्भव थी, तो इस परिभाषा में 'अनभ्यासविकारे' इस पद के ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इसी 'अनभ्यासविकारे' के ग्रहण से समझा जाता है कि अभ्यास अनर्थक होता है। अभ्यास के अनर्थक होने का कारण यह है कि उसको सार्थक मानने पर अर्थ की आवृत्ति का प्रसंग होने लगेगा जो कि होता नहीं है। अर्थावृत्ति का तात्पर्य यह है कि अभ्यास से और उसके उत्तरखण्ड से एक ही धात्वर्थ की दो बार प्रतीति होने लगेगी। इसलिये अभ्यास को अनर्थक और उत्तरखण्ड को अर्थवान् माना गया है। यह बात अन्यत्र (भाष्य में) निरूपित की गई है।

यह परिभाषा 'अलोऽन्त्यात्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट की गई है। साथ ही इस परिभाषा के जितने फल हैं उनकी सिद्धि प्रकारान्तर से कर के इसका प्रत्याख्यान भी कर दिया गया है। यह बात उसी भाष्य से जान लेनी चाहिये। इसके फलों की अन्यथासिद्धि इस प्रकार की गई है 'आम्रेडितस्य वा' इस प्रकार के न्यास से 'अलोऽन्त्यस्य' इस परिभाषा के द्वारा 'अन्त्य' के स्थान पर वैकल्पिक पररूप सिद्ध है तो ऐसी स्थिति में 'नाम्रेडितान्त्यस्य तु वा' इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? यही सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'अव्यक्तानुकरणस्य' सूत्र में 'अलोऽन्त्यस्य' की

प्रवृत्ति नहीं होती है। इससे 'पटिति' प्रयोग की सिद्धि हो जाती है। 'आभ्याम्' प्रयोग के लिये भी इसकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वहाँ इदम् को अन् आदेश करके 'हलिलोपः' सूत्र में अनुवृत्ति तथा उसे षष्ठ्यन्तत्वेन विपरिणाम करके ऐसा अर्थ किया जायेगा कि इदम् शब्द सम्बन्धी जो अन् उसके अन्त्य नकार का लोप होता है। इस प्रकार नकार का लोप और अकार को दीर्घ करके 'आभ्याम्' प्रयोग सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार इसके फलों को प्रकारान्तर से सिद्ध करके यह परिभाषा भाष्यकार के द्वारा प्रत्याख्यात है ॥ १०५ ॥

ननु 'ब्राह्मणवत्सा च ब्राह्मणीवत्सश्चे'त्यादौ 'पुमान् स्त्रिया' (१-२-६७) इत्येकशेषापत्तिः स्त्रीत्वपुंस्त्वातिरिक्तकृतविशेषाभावादत आह—

'पुमान् स्त्रिया' इस सूत्र का स्त्रीवाचक के साथ उक्ति में पुंवाचक का शेष होता है, यदि उन दोनों शब्दों में स्त्रीत्व और पुंस्त्व मात्रकृत वैरूप्य हो' यह अर्थ है। यहाँ शङ्का होती है कि जिस प्रकार इस सूत्र से 'हंसश्च हंसी च इति हंसौ' यहाँ एक शेष होता है, क्योंकि मूलप्रकृति के एक होने के साथ यहाँ केवल स्त्रीत्व और पुंस्त्वकृत ही वैरूप्य है, उसी प्रकार 'ब्राह्मणवत्सा च ब्राह्मणीवत्सश्च' इस विग्रह में भी एकशेष क्यों नहीं होता ? यहाँ भी स्त्रीत्व और पुंस्त्व से अतिरिक्त कोई दूसरी विशेषता नहीं है। इस प्रकार यहाँ एकशेष की शङ्का होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः ॥ १०६ ॥

प्रधान और अप्रधान इन दोनों के मध्य प्रधान में ही कार्य का सम्प्रत्यय (निश्चय) होता है।

'ब्राह्मणवत्सा च ब्राह्मणीवत्सश्च' यहाँ वत्सा और वत्स प्रधान हैं। वत्सा में विशेषण ब्राह्मण और वत्स में विशेषण ब्राह्मणी है। इस प्रकार यहाँ न केवल प्रधान वत्सा और वत्स में ही स्त्रीत्व और पुंस्त्व मात्रकृत वैरूप्य है अपितु अप्रधान ब्राह्मण और ब्राह्मणी में भी स्त्रीत्व और पुंस्त्वकृतवैरूप्य है। इसलिये यहाँ एक शेष नहीं होता है। इसी बात को मूल में कह रहे हैं—

तेन प्रधानस्त्रीत्वपुंस्त्वातिरिक्ताऽप्रधानस्त्रीत्वपुंस्त्वकृतविशेषस्यापि सत्त्वेन न दोषः।

स्पष्टा चेयं 'पुमान् स्त्रिया' (१–२–६७) 'नपुंसकमनपुंसकेन' (१-२-६९) इत्यनयोर्भाष्ये। अन्तरङ्गोपजीव्यादपि प्रधानं प्रबलमिति 'हेतुमति च' (३–१–२६) इत्यत्र भाष्यकैयटयोः ॥ १०६ ॥

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि उपर्युक्त प्रयोग में प्रधान अर्थ जो वत्स है, तद्गतस्त्रीत्व और पुंस्त्व के अतिरिक्त अप्रधान ब्राह्मणगत स्त्रीत्व

और पुंस्त्वकृत भी विशेषता के होने के कारण यहाँ एकशेष नहीं होता, इसलिये दोष नहीं है।

'पुमान् स्त्रिया' 'नपुंसकमनपुंसकेन' इन दोनों सूत्रों के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है।

अन्तरङ्ग और उपजीव्य से भी प्रधान प्रबल होता है यह बात 'हेतुमति च' सूत्र के भाष्य और कैयट में कही गई है। पच् धातु से प्रेरणा अर्थ में णिच् प्रत्यय करने पर पाचि धातु बनता है। इसका अर्थ है, 'विक्लित्यनुकूलव्यापारानुकूलव्यापार'। यज्ञदत्त पका रहा है और देवदत्त उसे प्रेरित कर रहा है, इस अर्थ वाले 'पाचि' धातु का अर्थ जो प्रथम व्यापार है वह तो प्रयोज्य यज्ञदत्त में है और तदनुकूल व्यापार जो मुख्य व्यापार है वह प्रयोजकनिष्ठ है। यहाँ धात्वर्थ व्यापार (णिच् रहित) का आश्रय होने के कारण प्रयोज्य को कर्तृसंज्ञा प्राप्त है, यह कर्तृसंज्ञा अन्तरङ्गत्वात् प्राप्त है, क्योंकि णिजर्थव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वेन जो प्रयोज्य को कर्मसंज्ञा प्राप्त होती है, उसकी अपेक्षा उसे जो कर्तृसंज्ञा प्राप्त है वह अन्तरङ्ग है दूसरी बात यह है कि कर्ता के प्रयोजक के व्यापार को द्योतित करने के लिये णिच् होता है, इसलिये णिच् प्रत्यय के लिये प्रयोज्य की कर्तृसंज्ञा उपजीव्य भी है। इस प्रकार अन्तरङ्गत्वात् और उपजीव्यत्वात् प्रयोज्य को जो कर्तृसंज्ञा प्राप्त होती है, उसे प्रधानीभूत-प्रयोजक क्रियाजन्यफलाश्रयत्वेन कर्मसंज्ञा बाध लेती है। इस प्रकार 'गत्यादि' सूत्र का कार्य जब 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र से ही चल जाता है तो गत्यादि सूत्र की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार गत्यादि सूत्र की नियमार्थता को सिद्ध करके 'पाचयत्योदनं यज्ञदत्तेन देवदत्तः' ऐसा प्रयोग सिद्ध किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि प्रधान और अप्रधान में प्रधानप्रयुक्तकार्य ही होता है ॥१०६॥

ननु स्वस्रादित्वप्रयुक्तो मातृशब्दस्य ङीब्निषेधः परिच्छेतृवाचकमातृ-शब्देऽपि स्यादत आह—

'न षट्स्वस्रादिभ्यः' यह सूत्र षट् संज्ञक और स्वसृ आदि शब्दों से ङीप् और टाप् का निषेध करता है। इनमें स्वसृ आदि सात शब्दों से ऋदन्तत्वात् ङीप् प्राप्त होता है जिसका यह निषेध करता है। स्वसृ आदि शब्दों में मातृ शब्द आता है। यह मातृ शब्द दो प्रकार का है—एक तो उणादि से निष्पन्न जननीवाची मातृ शब्द और दूसरा 'माङ् माने' धातु से तृच् प्रत्यय करके बनाया हुआ मातृ शब्द, जिसका अर्थ है माप करने वाला। दोनों के अर्थ भिन्न होने पर भी आनुपूर्वी एक है।

यहाँ शङ्का होती है कि उक्तनिषेधकसूत्र स्वस्रादित्व प्रयुक्त ङीप् का निषेध जैसे जननीवाची मातृ शब्द से करता है, उसी प्रकार उससे परिच्छेतृवाची मातृ-

शब्द से भी ङीप् का निषेध होना चाहिये। इस प्रकार की शङ्का होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी ॥ १०७ ॥

अवयवप्रसिद्धेः=अवयवशक्तिग्रहसहकृतसमुदायशक्तिग्रह की अपेक्षा, समुदायप्रसिद्धिः=अवयवशक्तिग्रहनिरपेक्षसमुदायशक्ति बलीयसी होती है। अर्थात्—अवयवशक्ति से समुदायशक्ति बलवती होती है।

तेन शुद्धरूढस्य जननीवाचकस्यैव ग्रहणं न परिच्छेत्तृवाचकस्य। योगजबोधे तदनालिङ्गितशुद्धरूढिजोपस्थितिः प्रतिबन्धिकेति व्युत्पत्तिरेव तद्बीजम्। रथकाराधिकरणन्यायसिद्धोऽयमर्थः।

कश्चित्तु 'दीधीवेवीटाम्' (१–१–६) इत्यत्रानया परिभाषया दीधीङ्वेवीङोरेव ग्रहणं न दीङ्धीङ्वेञ्वीनामिति। तन्न। तथा सति दीवेधीवीटामित्येव वदेदित्यन्ये ॥ १०७ ॥

इस परिभाषा को स्वीकार करने 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' इस सूत्र में जननीवाचा मातृशब्द का ही ग्रहण होता है, परिच्छेतृ वाचक मातृ शब्द का ग्रहण नहीं होता है। जननीवाची मातृशब्द, जननी अर्थ में शुद्धरुढ़ है। शुद्धरूढ़ का तात्पर्य अवयवशक्तिनिरपेक्षसमुदायशक्ति से जननी अर्थ का वाचक है। परिच्छेतृवाचक मातृशब्द प्रकृतिप्रत्यय के शक्तिग्रह के सहकार से अर्थ का बोधक होता है। योगजबोध के प्रति तदनालिङ्गित=योगार्थ से अनालिङ्गित, शुद्धरुढ़िजन्य उपस्थितिप्रतिबन्धक होती है। यही व्युत्पत्ति इस न्याय का मूल है। रथकाराधिकरण न्याय से यह अर्थ सिद्ध है। वहाँ पर भी समुदायशक्ति ज्ञानाधीनबोध का निर्णय किया गया है। वहाँ की स्थिति इस प्रकार है—जैमिनीय तन्त्र के रथकाराधिकरण में लिखा गया है कि 'वर्षासु रथकारोऽग्निमादधीत' यहाँ सन्देह होता है कि रथकार शब्द से 'रथं करोति' इस व्युत्पत्ति के आधार पर रथ का निर्माण करने वाले ब्राह्मणादि त्रैवर्णिक का ग्रहण किया जाय, अथवा समुदायशक्तिग्रहाधीन उपस्थित जातिविशेष अर्थ में रुढ़ रथकार का ग्रहण किया जाय? ऐसी शङ्का करके वहाँ योगज बोध के प्रति रुढ़िजन्यबोध को प्रतिबन्धक मानकर जातिविशेष अर्थ में रूढ़ जो रथकार बढ़ई का ही ग्रहण किया गया है त्रैवर्णिक का ग्रहण जो योगशक्ति से प्राप्त था, वह नहीं किया गया। इससे सिद्ध होता है कि रुढ़िजन्यबोध योगजबोध का प्रतिबन्धक होता है। किन्तु यह व्याख्यान इसलिये चिन्त्य है कि रुढ़िज्ञान के योगज बोध के प्रति प्रतिबन्धक होने पर जहाँ योगार्थ में तात्पर्य रहेगा वहाँ भी उसका बोध नहीं हो सकेगा। उदाहरण के लिये 'कह्लारकैरवमुखेष्वपि पङ्कजेषु' इस पद्य में यदि पङ्कज शब्द से योगरुढ़ अर्थ कमल लिया जाय तो कह्लारादि के साथ उसका सामा-

नाधिकरण्य नहीं बन पायेगा, इसलिये पङ्कज शब्द से यहाँ केवल योगार्थ—पङ्कजनिकर्तृत्वरूपी अर्थ लिया जाता है। इसलिये ऐसा स्वीकार करना चाहिये कि तात्पर्य रहने पर योगार्थ का बोध होता है। ऐसी स्थिति में इस परिभाषा में प्रमाण, रुढ्यर्थ की शीघ्रोपस्थिति को समझना चाहिये। योगार्थजन्यउपस्थिति अवयवशक्तिग्रहसापेक्ष होने के कारण विलम्ब से होती है। इसलिये अवयवप्रसिद्धि से समुदायप्रसिद्धि बलीयसी होती है। अर्थात् योगार्थ की अपेक्षा रूढ़यर्थ बलवान् होता है, क्योंकि इसकी उपस्थिति के लिये अवयव के अर्थों की कोई अपेक्षा नहीं रहती जबकि योगार्थ की प्रतीति में अवयवों के अर्थ का ज्ञान आवश्यक रहता है।

किसी प्राचीन आचार्य का कहना है कि इस परिभाषा के कारण ही 'दीधीवेवीटाम्' इस सूत्र में 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' और 'वेवीङ् वेतिना तुल्ये' इन दोनों धातुओं का ही ग्रहण होता है, न कि दीङ् क्षये (दिवादि), धीङ् आधारे (दिवादि), वेञ् तन्तुसन्ताने (भ्वादि) और वी गतिव्याप्तिप्रजननकान्त्यसनखादनेषु (अदादि)—इन चार धातुओं का ग्रहण होता है। इसका कारण यह है कि इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो चुका है कि अवयवों से जिन 'दी, धी, वे और वी' की उपस्थिति होती है, उस उपस्थिति की अपेक्षा 'दीधी और वेवी' की उपस्थिति समुदाय से होने के कारण बलवती है। इसलिये उक्त सूत्र में इन दो धातुओं का ही ग्रहण हुआ। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि तथा सति=यदि 'दी, धी, वे और वी' इन चार धातुओं का ग्रहण यहाँ अभिप्रेत होता तो स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये (असंदिग्धज्ञान के लिये) पाणिनि को 'दीवेधीवीटाम्' ऐसा सूत्र करना चाहिये था क्योंकि ऐसा पाठ करने से उक्त चारों धातुओं का स्पष्ट पृथक् पृथक् ज्ञान हो जाता है। किन्तु सूत्रकार ने ऐसा न करके 'दीधीवेवीटाम्' ऐसा जो न्यास किया है, उससे सिद्ध है कि यहाँ धातुचतुष्टय का ग्रहण वाञ्छित नहीं है। इसलिये दीधीङ् और वेवीङ् इन दो धातुओं का यहाँ ग्रहण होना इस परिभाषा का फल है यह कहना असंगत है ऐसा कुछ अन्य विद्वान् मानते हैं ॥ १०७ ॥

ननु वातायनार्थे गवाक्षेऽवङो वैकल्पिकत्वाद् 'गोक्ष' इत्याद्यपि स्यादत आह—

'गवां किरणानामक्षीव' इस विग्रह में समास और समासान्त अच् प्रत्यय, इकार का लोप करके 'गो + अक्ष' इस स्थिति में 'अवङ् स्फोटायनस्य' इस सूत्र से अवङ् करके 'गवाक्ष' ऐसा रूप बनता है। यहाँ सन्देह होता है कि वातायन अर्थ वाले इस गवाक्ष शब्द में 'अवङ् स्फोटायनस्य' सूत्र से वैकल्पिक अवङ् होने के कारण जब अवङ् नहीं हुआ, तब उस पक्ष में 'सर्वत्र विभाषा गोः' इस सूत्र से पाक्षिक प्रकृतिभाव करके 'गो अक्षः' तथा इसके अभाव में पूर्वरूप करके 'गोऽक्षः' ये रूप भी बनने चाहिये।

इस प्रकार की शङ्का होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

व्यवस्थितविभाषयाऽपि कार्याणि क्रियन्ते ॥ १०८ ॥

व्यवस्थितविभाषा के द्वारा भी कार्य किये जाते हैं।

लक्ष्यानुसाराद् व्यवस्था बोध्या। 'शाच्छोः' (७-४-४१) इति सूत्रे 'लटः शतृ' (३-२-१२४) इत्यादिसूत्रेषु च भाष्ये स्पष्टा ॥ १०८ ॥

'व्यवस्था सञ्जाता यस्याः सा व्यवस्थिता' इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यवस्था-सम्पन्न विभाषा के द्वारा भी कहीं कहीं कार्य किये जाते हैं। जहाँ विकल्पविधि होती है, वहाँ भाव और अभावपक्ष स्वयं सिद्ध होते हैं। इनके लिये व्यवस्था इस प्रकार की जाती है कि कहीं तो भाव कार्य किया जाता है, कहीं अभाव कर दिया जाता है, कहीं भावाभाव दोनों किये जाते हैं। ये सारी व्यवस्थाएँ लक्ष्य के अनुरोध से की जाती हैं। इस व्यवस्थित विभाषा का आश्रयण भाष्योक्त स्थलों में ही किया जाता है, न कि सब जगह। भाष्यकार ने कहा है—

देवत्रातो गलो ग्राह इति योगे च सद्विधिः।
मिथस्ते न विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः ॥

यहाँ 'देवत्रातः' इस प्रयोग में 'नुदविद' सूत्र से पाक्षिक प्राप्त निष्ठा के तकार को नकार का अभाव कर दिया गया। 'गलः' इस प्रयोग में 'अचि विभाषा' सूत्र से लत्व कण्ठ अर्थ में नित्य ही किया जाता है। विष अर्थ में लत्व का सर्वथा अभाव करके 'गरः' प्रयोग बनाया जाता है। 'ग्राहः' इस प्रयोग में 'विभाषाग्रहः' सूत्र से ण प्रत्यय जलचर अर्थ में नित्य ही होता है। जहाँ नक्षत्र अर्थ रहता है वहाँ ण प्रत्यय न होकर पचाद्यच् होता है जिससे 'ग्रहः' यह रूप बनता है। 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इस सूत्र से विहित पाक्षिक शतृ शानच् विधि 'हन्तीति पलायते' इस इति शब्द के योग में नहीं होती। 'गवाक्षः' इस प्रयोग में 'अवङ् स्फोटायनस्य' इस सूत्र की नित्य ही प्रवृत्ति होती है। अर्थात् यहाँ अवङ् का भाव ही किया गया, अभाव नहीं किया गया। व्रत अर्थ वाच्य होने पर संपूर्वक शो धातु से त प्रत्यय करने पर 'शाच्छोरन्यतरस्याम्' सूत्र से नित्य ही इत्व होता है। अन्यत्र तो विकल्प से होता है।

उपर्युक्त उदाहरण व्यवस्थित विभाषा के उदाहरण मात्र हैं, परिगणन नहीं हैं। क्योंकि इनके अतिरिक्त भी व्यवस्थित विभाषा के उदाहरण भाष्यादि में देखे जाते हैं।

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'गवाक्षः' प्रयोग में 'अवङ्' नित्य ही किया गया। उसका अभाव नहीं किया गया। इसलिये अवतरणोक्त शङ्काओं का निराकरण हो जाता है।

'शाच्छोरन्यतरस्याम्' 'लटः शतृशानचौ' इत्यादि सूत्रों के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है ॥ १०८ ॥

विधिनियमसम्भवे विधिरेव ज्यायान् ॥ १०९ ॥

जहाँ किसी शास्त्र के सम्बन्ध में विधि और नियम दोनों की सम्भावना हो, वहाँ विधि मानना ही युक्त है।

विधि और नियम आदि के सम्बन्ध में तन्त्रवार्तिक का श्लोक इस प्रकार है—

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते ॥

प्रमाणान्तर से अत्यन्त अप्राप्त अर्थ जो प्राप्त करा दे, वह विधि है। अथवा जो अपूर्व विधायक हो वह विधि है।

मीमांसाशास्त्र में विधि का उदाहरण 'सोमेन यजेत' यह वाक्य है। इसका अर्थ है 'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्' यहाँ याग से इष्टसिद्धि की बात कही गई है, यह अपूर्वविधि है, क्योंकि यह बात किसी प्रमाणान्तर से सिद्ध नहीं है।

व्याकरणशास्त्र में विधि का उदाहरण 'इको यणचि' सूत्र को समझना चाहिये। अच् पर में रहने पर इक् के स्थान पर यण् हो यह बात किसी अन्य सूत्र से सिद्ध नहीं है। इसलिये सर्वथा अपूर्व (नवीन) का विधायक होने के कारण यह विधि सूत्र है।

नियम का लक्षण करते हुए कहा गया है कि जहाँ पाक्षिक अप्राप्ति हो वहाँ नियम होता है। पाक्षिक अप्राप्ति का तात्पर्य, एक पक्ष में प्राप्ति और एक पक्ष में अप्राप्ति से है। जैसे—'व्रीहीन् अवहन्ति' इस वाक्य के द्वारा व्रीहि का अवघात करके तण्डुल की निष्पत्ति की बात कही गई है। यह निष्पत्ति व्रीहि के अवहनन के द्वारा अथवा नख विदलन के द्वारा हो सकती है। यहाँ पर अवघात से तण्डुल की निष्पत्ति एक पक्ष में ही सिद्ध है। क्योंकि तण्डुलार्थी कोई व्यक्ति नख के द्वारा भी तुषविमोक करके तण्डुल की निष्पन्न कर सकता है। ऐसी स्थिति में 'व्रीहीनवहन्ति' यह वाक्य यह बताता है कि अवघात के द्वारा निष्पन्न तण्डुल से किया गया याग ही अपूर्व का साधक होता है। इस प्रकार 'व्रीहीन् अवहन्ति' यह नियम वाक्य है। वाञ्छित स्थल में और उससे अन्यत्र, दोनों जगह प्राप्ति होने पर अन्य की व्यावृत्तिपरक जो विधि है, उसे परिसंख्या कहते हैं। जैसे—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' यह परिसंख्या वाक्य है। इसे विधि नहीं कह सकते, क्योंकि बुभुक्षा की शान्ति के लिये पञ्चनख का भक्षण रागतः प्राप्त है।

इसे नियम भी नहीं कह सकते, क्योंकि पञ्चनखों का और उनसे भिन्न का भक्षण युगपत् प्राप्त होने के कारण भक्षण की एक पक्ष में प्राप्ति का अभाव नहीं है। जैसे नखविदलन पक्ष में तण्डुल के अवघात की प्राप्ति नहीं है, वैसे भक्षण की पाक्षिक

अप्राप्ति नहीं है। यही दोनों का भेद है। इसलिये यह परिसंख्या वचन, परिगणित जो पञ्च पञ्चनख हैं (गोधा, शश, कूर्म, शल्लकी, खड्ग) इनसे अतिरिक्त पञ्चनखों के भक्षण की निवृत्ति कर देता है।

इस व्याकरणशास्त्र में नियम शब्द से मीमांसकों से परिभाषित परिसंख्या ही ली जाती है। उदाहरण के लिये 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इस सूत्र का समास ग्रहण नियमार्थक है। यहाँ अर्थवत् सूत्र से समास और उससे भिन्न अर्थवत् को प्रातिपदिक संज्ञा एक ही साथ प्राप्त होती है; उसमें अर्थवत् सूत्र के लिये अर्थवत् समुदायातिरिक्तत्वेन संकोच करके समास ग्रहण से राजपुरुषः इत्यादि समास में प्रातिपदिक संज्ञा का विधान किया जाता है।

नियमे ह्यश्रुताया अन्यनिवृत्तेः सामर्थ्यात्परिकल्पनमुक्तानुवाददोषश्चेति लाघवाद्विधिरेवेति बोध्यम्। 'यस्य हलः' (६-४-४९) इत्यत्र 'इजादेः सनुमः' (८-४-३२) इत्यादौ च भाष्ये स्पष्टेयम्॥ १०९॥

नियमपक्ष मानने पर नियम शास्त्र के सामर्थ्य से अश्रुत अर्थात् शब्द के द्वारा जिसका प्रतिपादन नहीं किया गया है, ऐसी अन्यनिवृत्ति की परिकल्पना करनी पड़ती है। इसका तात्पर्य यह है कि नियम सूत्र की विधिमुखेन और निषेधमुखेन दोनों प्रकार से प्रवृत्ति होती है। उदाहरण के लिये 'सामासाश्च' इस सूत्र को लिया जा सकता है। इसकी प्रवृत्ति जब विधि-मुखेन होगी, तब अर्थवत् सूत्र से जहाँ समास और तदतिरिक्त, दोनों स्थान पर प्रातिपदिक संज्ञा प्राप्त रहती है, वहाँ 'समासाश्च' अर्थवत् सूत्र के लिये नियम बनाता है कि अर्थवत्समुदायातिरिक्त अर्थवान् की प्रातिपदिकसंज्ञा अर्थवत् सूत्र से हुआ करेगी। इस प्रकार अर्थवत्समुदायरूप समास की प्रातिपदिक संज्ञा अर्थवत् सूत्र से सिद्ध न होने के कारण समासग्रहण के द्वारा उसका विधान किया जाता है। इसका परिणाम होता है कि वाक्य की प्रातिपदिक संज्ञा की निवृत्ति हो जाती है। यह अन्य की निवृत्ति साक्षात् शब्द के द्वारा प्रतिपादित नहीं है। इस प्रकार नियम पक्ष में अश्रुत अन्य निवृत्ति की कल्पना करनी पड़ती है। यदि नियमसूत्र की निषेधमुखेन प्रवृत्ति की जाय तो 'समासातिरिक्त पूर्वभागपदघटितसमुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती है' ऐसा अर्थ करने के लिये 'भवति' पद का लाक्षणिक अर्थ 'न भवति' करना होगा, जो एक प्रकार का गौरव ही होगा।

किसी शास्त्र को नियम मानने में दूसरा दोष यह है कि यहाँ उक्त का अनुवाद करना पड़ता है। उक्त के अनुवाद का तात्पर्य यह है कि शाखान्तर से सिद्ध अर्थ का अनुवाद करना। जैसे अर्थवत् सूत्र से समास को प्रातिपदिक संज्ञा सिद्ध ही थी, तो समासग्रहण के द्वारा समास को प्रातिपदिक संज्ञा का विधान उक्त का अनुवाद ही है।

नियम पक्ष में तीसरा दोष यह है कि समासातिरिक्त पूर्वभाग पदघटित को जो प्रातिपदिक संज्ञा प्राप्त होती है (अर्थवत् सूत्र से) उसका बाध करना पड़ता है।

इस प्रकार अश्रुत अन्य निवृत्ति, उक्तानुवाद, और प्राप्तबाध, ये तीन दोष नियम पक्ष में आते हैं। इससे लाघवात् विधिपक्ष मानना ही श्रेष्ठ है।

यह परिभाषा 'यस्य हलः' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। वहाँ ऐसा विचार किया गया कि यहाँ 'अतः' इस पद का सम्बन्ध करके हल् से पर में ही रहने वाले यकार के अकार का लोप हो ऐसा अर्थ करके इसे नियमार्थक माना जाय, अथवा 'अतः' पद की अनुवृत्ति न करके सम्पूर्ण का लोप विधान करने से इसे विधिसूत्र माना जाय। ऐसा सन्देह करके भाष्यकार ने कहा कि यह अपूर्वविधि है नियम नहीं है। इस प्रकार यह परिभाषा वहाँ स्पष्ट की गई है। 'इजादेः सनुमः' इस सूत्र के भाष्य में भी यह स्पष्ट है॥ १०९॥

ननु 'आशंसायां भूतवच्च' (३-३-१३२) इत्यनेन लुङ इव लङ्लिटोरप्यतिदेशः स्यादत आह—

'आशंसायां भूतवच्च' इस सूत्र से भविष्यत् काल में भूतवत् और वर्तमानवत् प्रत्यय विकल्प से किये जाते हैं यदि आशंसा अर्थ हो तो। देवश्चेदवर्षीत् धान्यमवाप्स्म' यह इसका उदाहरण है। यहाँ शंका होती है भूतवत् अतिदेश से जिस प्रकार यहाँ लुङ् का अतिदेश होता है, वैसे ही 'अनद्यतने लङ्' और 'परोक्षे लिट्' इन दोनों का भी अतिदेश क्यों नहीं होता? इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः॥ ११०॥

सामान्यधर्म और तत्प्रयुक्त कार्य का अतिदेश संभव हो तो विशेष धर्म और तत्प्रयुक्त कार्य का अतिदेश नहीं होता।

इस परिभाषार्थ का और स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिये—

लोक में जब कहा जाता है कि 'ब्राह्मणवत् अस्मिन् क्षत्रिये वर्तितव्यम्' अर्थात् ब्राह्मण के समान इस क्षत्रिय में व्यवहार करना चाहिये तो वहाँ ब्राह्मण का सामान्य धर्म जो अग्रासनलाभकर्तृत्व आदि हैं उसी का क्षत्रिय में अतिदेश होता है किन्तु उसका विशेष धर्म जो ऋत्विक्त्वेन वरणादि अथवा माठर कौण्डिन्य की भाँति परिवेषणकर्तृत्वादि है उसका अतिदेश क्षत्रिय में नहीं होता।

इसी प्रकार व्याकरणशास्त्र में जहाँ कहा जाता है 'आदेशः स्थानिवत्' आदेश स्थानी के तुल्य हो अर्थात् सदृश हो, वहाँ स्थानी में भी दो प्रकार के धर्म देखे जाते हैं—एक तो स्थानी में रहने वाला धर्म जिसे स्थानितावच्छेदक धर्म या स्थानी के सादृश्य प्रतियोगी होने के कारण उसे सादृश्यप्रतियोगितावच्छेक धर्म भी कहते हैं,

और दूसरा धर्म वह होता है जो स्थानितावच्छेदक या सादृश्यप्रतियोगितावच्छेदक का व्यापक होता है। आदेश स्थानी के तुल्य हो ऐसा कहने पर आदेश को स्थानी के तुल्य बनाने के लिये इन्हीं धर्मों का अतिदेश किया जाता है। किन्तु स्थानितावच्छेदक का व्याप्य जो धर्म है उस विशेषधर्म की नियमतः उपस्थिति न होने के कारण उसका अतिदेश नहीं होता।

उदाहरण के लिये 'ङेर्यः' सूत्र को लिया जा सकता है। यहाँ ङे के स्थान पर य आदेश किया जाता है। इसके बाद 'स्थानिवत् सूत्र' से यादेश को ङे के तुल्य किया जाता है। यहाँ ङे में ङेत्व और सुप्त्व ये दो धर्म उपस्थित होते हैं। इनमें ङेत्व स्थानितावच्छेदक और सुप्त्व उसका व्यापक धर्म है। इन दोनों धर्मों की यहाँ उपस्थिति होने पर भी आवश्यकतानुसार यादेश में ङेत्व के व्यापकधर्म सुप्त्व का अतिदेश करके 'रामाय' प्रयोग में 'सुपि च' सूत्र से दीर्घ किया जाता है। ङेत्व के व्याप्य किसी धर्म की उपस्थिति न होने के कारण उसके अतिदेश का यहाँ प्रश्न ही नहीं होता।

प्रस्तुत अवतरण में 'आशंसायां भूतवच्च' सूत्र से भविष्यत् में भूतसादृश्य का विधान किया गया है। इसलिये इस परिभाषा के द्वारा भविष्यत् में सादृश्यप्रतियोगितावच्छेदकभूतत्वसामान्य का ही अतिदेश किया जाता है। परिणाम यह होता है कि भूतसामान्य में विहित लुङ् लकार ही यहाँ होता है। परोक्षत्व और अनद्यतनत्व ये भूतत्व के व्याप्यधर्म या विशेषधर्म हैं। इन विशेषधर्मों का अतिदेश न हो सकने के कारण यहाँ लङ् और लिट् का अतिदेश नहीं होता। इस प्रकार अवतरण में दिये गये दोष का निराकरण हो जाता है।

विशेष धर्म का अतिदेश नहीं होता, इसका क्या बीज है, इस बात को स्पष्ट करते हुए लिख रहे हैं—

सामान्योपस्थितिकाले नियमेन विशेषोपस्थापकसामग्र्यभावोऽस्या बीजम्। तेनानद्यतनभूतरूपे विशेषे विहितयोस्तयोर्नातिदेशः। इयमनित्या, 'न ल्यपि' (६-४-६९) इति लिङ्गात्। तेन स्थानिवत्सूत्रेण विशेषातिदेशोऽपि। स्पष्टं चैतत् सर्वं स्थानिवत्सूत्रे भाष्ये॥ ११०॥

सामान्य की उपस्थिति के समय विशेषोपस्थापक सामग्री का अभाव इस परिभाषा का बीज है। जैसे ब्राह्मण के समान इस क्षत्रिय में व्यवहार करना चाहिये, ऐसा कहने पर ब्राह्मणसामान्य का जो कार्य अग्रासनलाभकर्तृत्वादि हैं उनकी उपस्थिति जिस समय होती है उस समय माठर-कौण्डिन्यवृत्ति जो परिवेषणकर्तृत्व है उसकी उपस्थिति नहीं होती, क्योंकि विशेषधर्मावच्छिन्न कार्य भिन्न-भिन्न होने के कारण सामान्य की उपस्थिति के साथ उनकी भी उपस्थिति होने में कोई विनिगमक नहीं

है। इसी प्रकार शास्त्र में भी सामान्य की उपस्थिति के समय विशेष की उपस्थिति न होने के कारण उसका अतिदेश नहीं किया जाता। इसलिये अनद्यतन और परोक्षरूपी विशेष अर्थ में विहित लङ् और लिट् का अतिदेश यहाँ नहीं होता।

यह परिभाषा अनित्य है। इसके अनित्यत्व में प्रमाण 'न ल्यपि' यह सूत्र है। 'प्रमाय' 'प्रगाय' इत्यादि प्रयोगों में स्थानिवद्भाव से हलादिकित्वनिमित्तक प्राप्त इट् के निषेध के लिये यह सूत्र है। यदि इस परिभाषा के कारण विशेषधर्म का अतिदेश नहीं होता है तब क्त्वावृत्ति कित्व का अतिदेश ल्यप् में होगा ही नहीं, क्योंकि 'न क्त्वा सेट्' सूत्र से सेट् क्त्वा में कित्वाभाव कर दिया जाता है। इसलिये अनिट् क्त्वा ही कित् होता है। इसलिये कित्त्व धर्म क्त्वात्व का विशेष धर्म हो जाता है, और विशेष धर्म का अतिदेश होता नहीं। इसलिये 'प्रगाय' इत्यादि प्रयोगों में इत्व की प्राप्ति स्वयमेव नहीं होती है। ऐसी स्थिति में इत्व के निषेध के लिये इस सूत्र की क्या आवश्यकता रह जाती है। इस प्रकार यह सूत्र व्यर्थ होकर इस परिभाषा की नित्यता ज्ञापित करता है। इसलिये 'स्थानिवत्' सूत्र से विशेषातिदेश भी किया जाता है। विशेषातिदेश होने पर क्त्वा का कित्व ल्यप् में आ जायेगा, अतः प्रगाय आदि प्रयोगों में इत्व की प्राप्ति होगी, जिसके निषेध के लिये 'न ल्यपि' सूत्र की आंश में चरितार्थता होती है। ये सारी बातें स्थानिवत् सूत्र के भाष्य में स्पष्ट हैं॥

ननु 'तित् स्वरितम्' (६-१-१८५) इति स्वरितत्वं 'चिकीर्षती'त्यादौ स्यादत आह—

कर्त्तुम् इच्छति 'चिकीर्षति' कृ धातु से सन् प्रत्यय करके 'अज्झनगमां सनि' सूत्र से ऋकार को दीर्घ करने पर 'ऋत इद्धातोः' सूत्र और ऋकार को इत् और रपर किया जाता है। इसके बाद 'हलि च' सूत्र से इकार को दीर्घ और सकार को षत्व करके 'चिकीर्षति' यह प्रयोग बनाया जाता है।

यहाँ शंका होती है कि यहाँ ऋकार को इत् विधान किया गया है, इसलिये 'इत' के तित्त्व को लेकर 'तित्स्वरितम्' सूत्र से यहाँ स्वरित होना चाहिये। इस प्रकार शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

प्रत्ययाप्रत्ययोः प्रत्ययस्य ग्रहणम्॥ १११॥

प्रत्यय और अप्रत्यय के मध्य प्रत्यय का ग्रहण होता है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि जब प्रत्यय और अप्रत्यय दोनों तित् होंगे तो उनमें से 'तित्स्वरितम्' इस सूत्र में तित्प्रत्यय का ही ग्रहण किया जायेगा। इसलिये 'चिकीर्षति' में स्वरितत्व की आपत्ति नहीं होती, क्योंकि यहाँ धात्वावयव इकार तित् है। इस प्रकार तित्प्रत्यय न होने के कारण यहाँ स्वरित नहीं होता।

इयं च 'अङ्गस्य' (६-४-१) इति सूत्रे भाष्ये पठिता। वर्णग्रहणे च न प्रवर्त्तत इति तत्रैव कैयटे स्पष्टम्। अत एव 'सनाशंसभिक्ष उः' (३-२-१६८) 'वले' (६-३-११८) इत्यत्र सन्वलयोः प्रत्यययोर्ग्रहणम्।

परे तु 'तित् स्वरितम्' (६-१-१८५) इति सूत्र एषा परिभाषा लक्ष्य-संस्काराय भाष्ये क्वापि नाश्रितेति कैयटेनोक्तम्। 'अङ्गस्य' (६-४-१) इति सूत्रे तत्प्रत्याख्यानायैषा भाष्य एकदेशिनोक्ता। अत एव 'तिति प्रत्यय-ग्रहणं कर्तव्यमि'ति वार्तिककृतोक्तम्। उक्तसत्रयोर्व्याख्यानात् प्रत्यययोरेव ग्रहणमित्याहुः ॥ १११ ॥

यह परिभाषा 'अङ्गस्य' इस सूत्र के भाष्य में पढ़ी गई है। पढ़ी गई है ऐसा कहने से यह बात ध्वनित होती है कि यह परिभाषा वाचनिक है। यह परिभाषा वर्णग्रहण में नहीं लगती है यह बात भी वहीं कैयट में स्पष्ट है। इसका फल यह होता है कि 'शुक्लीभवति' इत्यादि प्रयोगों में प्रत्ययभिन्न अकार को भी 'अस्य च्वौ' सूत्र से ईत्व का विधान किया जाता है। अन्यथा अकार तो प्रत्यय और अप्रत्यय दोनों का प्रकार का होता है। यदि यह परिभाषा नित्य होती तो 'अस्य च्वौ' इस सूत्र में अकार से प्रत्ययरूपी अकार का ही ग्रहण होता। परिणाम यह होता कि 'शुक्लीभवति' में अकार के प्रत्यय न होने के कारण ईत्व नहीं होता।

अत एव=इस परिभाषा को स्वीकार करने से ही 'सनाशंसभिक्ष उः' इस सूत्र में 'वले' इस सूत्र में 'सन् और वल' ये दोनों प्रत्यय ही लिये जाते हैं। अन्यथा 'सन् शब्द से 'षणु दाने' अथवा 'षण संभक्तौ' इन धातुओं का और वल शब्द से 'वल संवरणे' इस धातु का ग्रहण होने लगता।

परे तु—नागेश भट्ट का कहना है कि 'प्रत्ययाप्रत्ययय़ोः' यह परिभाषा लक्ष्य-संस्कार के लिये भाष्य में कहीं भी आश्रित नहीं है, यह बात कैयट ने 'तित्स्वरितम्' सूत्र में कहा है।

'अङ्गस्य' सूत्र के भाष्य में इसके (अङ्गस्य के) प्रत्याख्यान के लिये एकदेशी ने इस परिभाषा का उल्लेख किया है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि अङ्गस्य का अधिकार नहीं होगा तो 'अपो भि' इस सूत्र की प्रवृत्ति 'अब्भक्षः' इस प्रयोग में भी होने लगेगी। जब अङ्गस्य का अधिकार होता है तब प्रत्यय पर में रहने पर ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, इसलिये 'अब्भक्षः' इस प्रयोग में 'अपो भि' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये अङ्गस्य का अधिकार आवश्यक है, ऐसा कहा गया। इसके ऊपर एकदेशी ने कहा कि अंगाधिकार की आवश्यकता नहीं है। 'अब्भक्षः' का दोष तो 'प्रत्ययाप्रत्ययय़ोः' इस परिभाषा से ही दूर हो जायेगा, क्योंकि यहाँ भकारादि प्रत्यय नहीं है। किन्तु परिभाषा का आश्रयण करके सूत्र का प्रत्याख्यान करना

उचित नहीं है इसलिये यह एकदेशी भाष्य है ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि यह परिभाषा भाष्यसम्मत नहीं है।

अत एव=इस परिभाषा के अनाश्रयण से ही 'तित्स्वरितम्' सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर वार्तिककार ने कहा कि 'किरति, गिरति, चिकीर्षति' इत्यादि प्रयोगों में स्वरितत्वापत्ति के वारण के लिये उक्त स्वरितत्वविधायक सूत्र में तित् प्रत्यय का ग्रहण करना चाहिये।

अब यहाँ यह शंका होती है कि यदि यह परिभाषा नहीं है तब 'सनाशंसभिक्ष उः' इस सूत्र में तथा 'वले' सूत्र में सन् और वल से प्रत्यय का ग्रहण कैसे होगा? इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि उक्तसूत्रयोः=सनाशंसभिक्ष उः तथा 'वले' इन दोनों सूत्रों में व्याख्यान से प्रत्यय का ग्रहण होगा। व्याख्यान का प्रकार यह है कि 'सनाशंसभिक्ष उः' इस सूत्र में प्रतिपदोक्त परिभाषा से सन् धातु का ग्रहण नहीं होगा क्योंकि धातुभूत सन् लाक्षणिक है प्रतिपदोक्त नहीं। 'वले' सूत्र में इसके उत्तर-सूत्र 'मतौ वह्वचोऽनजिरादीनाम्' इस सूत्र के मतुप् के साहचर्य से 'वल' प्रत्यय ही लिया जायेगा॥ १११॥

ननु 'विपराभ्यां जेः' (१-३-१९) इत्यात्मनेपदम् परा सेना जयतीत्यर्थके 'पराजयति सेने'त्यत्र प्राप्नोतीत्यत आह—

'विपराभ्यां जेः' यह सूत्र वि और परा से पर में रहने वाले जि धातु से आत्मनेपद का विधान करता है। 'विजयते' और 'पराजयते' इसके उदाहरण हैं। यहाँ शंका होती है कि जहाँ परा शब्द सेना का वाचक है वहाँ परा=सेना जयति इस अर्थ में जो 'पराजयति सेना' रूप बनता है यहाँ पर भी परा से पर में जि धातु के होने के कारण आत्मनेपद क्यों नहीं होता?

इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

सहचारितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्॥ ११२॥

सहचरित और असहचरित के मध्य सहचरित का ही ग्रहण होता है।

तेन विशब्दसाहचर्यादुपसर्गस्यैव पराशब्दस्य ग्रहणमिति तत्रैव भाष्ये स्पष्टम्।

सहचरणं सदृशयोरेवेति सहचरितशब्देन सादृश्यवानुच्यते। 'रामलक्ष्मणावि'त्यादावपि सादृश्यमेव नियामकम्। सदृयोरेव सहविवक्षा तयोरेव सहप्रयोग इत्युत्सर्गाच्च।

तेन=इस परिभाषा को स्वीकार करने से 'विपराभ्याम् जेः' इस सूत्र में वि शब्द के साहचर्य से उपसर्ग परा का ही ग्रहण किया गया, इसलिये सेना अर्थ वाले परा शब्द से पर में रहने वाले जि धातु से आत्मनेपद नहीं हुआ।

यदि कहा जाय कि वि शब्द पक्षीवाचक है तो उसके साहचर्य से उपसर्ग परा किस प्रकार लिया जायेगा, तो इसका उत्तर यह है कि यद्यपि वि शब्द पक्षी का वाचक है तथापि परा शब्द तो पक्षी का वाचक नहीं है, इसलिये अपक्षीवाची परा शब्द के साहचर्य से वि शब्द भी अपक्षीवाची ही लिया जायेगा, और अपक्षीवाची वि शब्द उपसर्ग होता है, इसलिये उपसर्ग वि के साहचर्य से उपसर्ग परा शब्द ही लिया जायेगा। इस प्रकार परस्पर के साहचर्य से परा यह उपसर्ग ही लिया गया जिससे पराजयति सेना यहाँ आत्मनेपद नहीं होता है।

जिनका सह (साथ) चरण हो वे सहचरित कहे जाते हैं। यह सहचरण सदृश पदार्थों का ही होता है, इसलिये सहचरित शब्द से सादृश्यवान् (सदृश) का बोध होता है। 'रामलक्ष्मणौ' इस पद में आये हुए दोनों शब्द नानार्थक हैं इसलिये यहाँ भी साहचर्य ही अर्थात् सादृश्य ही अभिधा का नियामक होता है। इसलिये राम के साहचर्य से दुर्योधनापत्यलक्ष्मण से भिन्न लक्ष्मण का ग्रहण किया जाता है। ऐसा लक्ष्मण दशरथापत्य ही है, इसलिये इसके साहचर्य से दशरथापत्य राम ही लिये जाते हैं।

ऐसा होता इसलिये है कि दो सदृशों की ही सहविवक्षा होती है और उन्हीं का सहप्रयोग होता है, यह बात औत्सर्गिक अर्थात् स्वाभाविक है।

ध्वनितं चेदं 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (२-३-८) इति सूत्रे भाष्ये। तत्र हि—'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' (२-३-१०) इति सूत्रेण लक्षणादि-द्योतकपरियोगे पञ्चमीमाशङ्क्य "यद्यप्ययं परिर्दृष्टापचारो वर्जने चावर्जने च, अयं खल्वपशब्दोऽदृष्टापचारो वर्जनार्थ एव कर्मप्रवचीयस्तस्य कोऽन्यः सहायो भवितुमर्हत्यन्यो वर्जनार्थाद्यथाऽस्य गोः सहायेनार्थ इति गौरेवानीयते नाश्वो न गर्दभ" इत्युक्तम्। तेन हि—सदृशानामेव प्रयोगे सहायभावो बोधितः।

'द्विस्त्रिश्चतुः' (८-३-४३) इति सूत्रे साहचर्येणैव कृत्वोऽर्थस्य ग्रहणे सिद्धे कृत्वोऽर्थग्रहणादेषानित्या। तेन 'दीधीवेवीटाम्' (१-१-६) इत्यत्र धातुसाहचर्येऽप्यागमस्येटो ग्रहणमित्यन्यत्र विस्तरः॥ ११२॥

इदम्=सदृश वस्तुओं का ही सहप्रयोग होता है यह बात, अथवा सहचरित शब्द सदृश अर्थ का वाचक है यह बात 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इस सूत्र के भाष्य में ध्वनित है। वहाँ यह विचार किया गया कि जहाँ 'परि' लक्षण इत्थं-भूताख्यान आदि अर्थ का द्योतक रहेगा वहाँ 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इस सूत्र से पञ्चमी होनी चाहिये। ऐसी शंका करके भाष्यकार ने कहा कि यद्यपि यह परि शब्द दृष्टा-पचार है, अर्थात् यह शब्द दृष्टव्यभिचार है। तात्पर्य यह है कि किसी अर्थ में नियत

न होकर वर्जन और अवर्जन दोनों अर्थों में देखे जाने के कारण अनियतार्थक है। और यह जो अपशब्द है वह अदृष्टापचार है अर्थात् अपशब्द लोक में वर्जन अर्थ में ही देखा जाता है, इसलिये यह अदृष्टापचार अर्थात् नियतार्थक है। इस वर्जनार्थक अप के साथ दूसरे किसका प्रयोग किया जा सकता है सिवाय वर्जनार्थक के। तात्पर्य यह है कि वर्जनार्थक अप के साथ वर्जनार्थक परि का ही प्रयोग 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' सूत्र में हुआ। जैसे लोक में कहा जाता है कि इस गौ के समान एक और अपेक्षित है तो ऐसा कहने पर उस गौ के समान दूसरा गौ ही लाया जाता है न कि घोड़ा या गधा। इससे सिद्ध होता है कि समान वस्तुओं का ही सह प्रयोग होता है। इस प्रकार 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' सूत्र में अप के साथ प्रयोग होने के कारण वर्जनार्थक परि का ही ग्रहण होगा, इसलिये लक्षणादि का द्योतक जहाँ परि रहेगा, वहाँ पञ्चमी नहीं होगी।

'द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे' इस सूत्र में द्विस् तथा त्रिस् शब्द सुच् प्रत्ययान्त है और सुजन्त होने के कारण ये कृत्वोर्थक हैं ऐसी स्थिति में कृत्वोर्थक द्विस् और त्रिस् के साहचर्य से कृत्वोर्थक ही चतुर् शब्द भी लिया जायेगा इसलिये 'चतुष्कपालः' में वैकल्पिक पत्वापत्ति का दोष भी नहीं होगा, तो पुनः इस सूत्र में कृत्वोऽर्थग्रहण क्यों किया गया ? इस प्रकार कृत्वोर्थग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापन करता है। इसका फल यह होता है कि 'दीधीवेवीटाम्' सूत्र में 'दीधीङ्' और 'वेवीङ्' धातुओं के साहचर्य रहने पर भी इट् शब्द से आगम रूपी इट् का ही ग्रहण किया जाता है। इट् धातु का ग्रहण नहीं होता। यह बात अन्यत्र=उद्योत आदि में स्पष्ट है॥ ११२॥

ननु 'अस्थि' (७-१-७५) इत्यनङ् 'प्रियसक्थ्ना ब्राह्मणेने'त्यत्र न स्यात् अङ्गस्य नपुंसकत्वाभावादत आह—

'अस्थि दधिसक्थ्यक्ष्णामनडुदात्तः' इस सूत्र से 'नपुंसकस्य' इस पद की अनुवृत्ति होती है। यह सूत्र अंगाधिकारी है, इसलिये यहाँ 'अङ्गस्य' यह पद भी आता है। अब जिज्ञासा होती है कि 'नपुंसकस्य' पद की जो यहाँ अनुवृत्ति की गई है वह सूत्र में उल्लिखित अस्थि आदि शब्दों का विशेषण है अथवा तदन्त अंग का ही विशेषण ? ऐसा जिज्ञासा में 'प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः' इस न्याय के आधार पर उसे प्रधान अंग का विशेषण बनाने पर इस प्रकार सूत्रार्थ होगा कि 'नपुंसक में वर्तमान जो अस्थ्याद्यन्त अंग उसे अनङ् होता है।' इस प्रकार के अर्थ का परिणाम यह होगा कि—प्रियं सक्थि यस्यासौ—'प्रियसक्थिः तेन प्रियसक्थ्ना' इस प्रयोग में अनङ् नहीं होगा, क्योंकि प्रियसक्थि जो अंग है वह नपुंसकलिंग में वर्तमान न होकर पुंलिंग में वर्तमान है। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलवान् ॥ ११३ ॥

श्रुत और अनुमित के मध्य श्रुत के साथ सम्बन्ध बलवान् होता है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने के फलस्वरूप 'नपुंसकस्य' इस पद का अन्वय श्रुत (सूत्रोच्चारित) अस्थ्यादि शब्दों के साथ ही हुआ। इसलिये नपुंसकलिंग में वर्तमान सक्थि शब्द के होने के कारण 'प्रियसक्थि' शब्द से टा विभक्ति लाने पर अनङ् हो जाता है, जिससे प्रियसक्थ्ना प्रयोग की सिद्धि होती है।

श्रुतेनैव सम्बन्धो नानुमितेन प्रकरणादिप्राप्तेनेत्यर्थः। प्रकरणादितः श्रुतेर्बलवत्त्वादिति भावः। एवं च तत्र लिङ्गमस्थ्यादीनामेव विशेषणं नाङ्गस्य। शिशीलुङ्नुम्विधिषु तु गृह्यमाणस्याभावात् प्रकरणप्राप्ताङ्गस्यैव विशेषणम्।

अत एव 'वा नपुंसकस्य' (७-१-७९) इति सूत्रे वा शाविति न कृतम्। तत्र नपुंसकग्रहणं हि गृह्यमाणस्य शत्रन्तस्यैव नपुंसकत्वे यथा स्यात्। 'बहवो ददतो येषु तानि कुलानि बहुददती'त्यत्र मा भूद्, 'बहूनि ददन्ति येषु ते बहुददन्त' इत्यत्र यथा स्यादित्येवमर्थम्। स्पष्टं चेदं 'स्वमोर्नपुंसकात्' (७-१-२३) इत्यत्र भाष्ये।

श्रुत के साथ ही सम्बन्ध=अन्वय होता है, न कि प्रकरणादि के द्वारा प्राप्त अनुमित (सूत्रानुच्चरित) के साथ। क्योंकि प्रकरणादि की अपेक्षा श्रुति बलवती होती है। श्रुति लिंगवाक्य इत्यादि नियम के आधार पर प्रकरणादि की अपेक्षा श्रुति का बलवत्व बोधित है। दूसरी बात यह भी है कि अनुमित अङ्ग की अपेक्षा श्रुत की शीघ्रोपस्थिति होती है। यह भी उसकी बलवत्ता का कारण है। इस प्रकार 'अस्थिदधि' सूत्र में लिङ्ग (नपुंसक लिंग) अस्थिदधि आदि श्रुत का ही विशेषण होता है। अङ्ग का विशेषण नहीं होता। इसलिये 'प्रियसक्थ्ना' प्रयोग की सिद्धि में कोई बाधा नहीं होती।

अब यहाँ यह शंका होती है कि 'अस्थिदधि' सूत्र में आया हुआ 'नपुंसकस्य' यह पद जब श्रुत का विशेषण होता है, तब 'नपुंसकाच्च' 'जश्शसोः शिः' 'स्वमोर्नपुंसकात्' 'नपुंसकस्य झलचः' इन शी शि लुक् और नुम् विधायक सूत्रों में वह (नपुंसक) अङ्ग का विशेषण क्यों होता है ? इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि इन विधियों में किसी गृह्यमाण (श्रुत) का उल्लेख नहीं किया गया है जैसे कि 'अस्थिदधि' सूत्र में अस्थि आदि का उल्लेख किया गया है। इसलिये यहाँ गृह्यमाण के न होने के कारण प्रकरणप्राप्त और अश्रुत अङ्ग का ही विशेषण नपुंसक पद होता है। परिभाषा का तात्पर्य यह है कि यदि श्रुत हो तो उसके साथ सम्बन्ध करना चाहिये। जब श्रुत है ही नहीं तब वहाँ जो प्रकरणप्राप्त रहेगा, उसी के साथ

सम्बन्ध होगा। इसलिये उपर्युक्त विधियों में नपुंसक, अङ्ग का विशेषण होता है। अतएव—इस परिभाषा को स्वीकार करने के कारण ही नुम् विधायक 'वा नपुंसकस्य' इस सूत्र की जगह 'वा शौ' ऐसा सूत्र नहीं किया गया। इसका तात्पर्य यह है कि उक्त सूत्र में जो नपुंसकग्रहण किया गया है वह इस सूत्र से अव्यवहित पूर्व सूत्र 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से अनुवृत्त, इसलिये गृह्यमाण (श्रुत) जो शतृ पद है उसका विशेषण बनने के लिये किया गया है। इसलिये शतृ प्रत्ययान्त शब्द जब नपुंसकलिंग में वर्तमान रहेगा तभी नुम् होगा, और शत्रान्तान्त अंग यदि नपुंसक में रहे और शतृ प्रत्ययान्त नपुंसक में न रहे तो नुम् नहीं होगा। इसलिये बहूवो ददतो येषु तानि कुलानि 'बहुददति कुलानि' यहाँ नुम् नहीं हुआ क्योंकि शतृ प्रत्ययान्त ददत् शब्द यहाँ नपुंसक में वर्तमान न होकर पुंलिंग में वर्तमान है। 'बहूनि ददन्ति कुलानि येषु ते, बहुददन्तो ग्रामाः' यहाँ पर नुम् हो जाता है क्योंकि यहाँ शतृप्रत्ययान्त ददत् शब्द नपुंसक में वर्तमान है। यदि यहाँ 'वा शौ' यह न्यास किये होते तो अंग के नपुंसकलिंग में वर्तमान होने पर ही नुम् होता। इसके वारण के लिये किया गया नपुंसकग्रहण प्रस्तुत परिभाषा के बिना अनुपपन्न हो जाता। क्योंकि परिभाषा के अभाव में नपुंसकग्रहण, प्रधान अंग का ही विशेषण होता, न कि शत्रान्त का। ऐसी स्थिति में वाञ्छित रूप की सिद्धि न होने के कारण नपुंसक ग्रहण व्यर्थ हो जाता। इसी से यह परिभाषा ज्ञापित की जाती है। यह बात 'स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

केचित्तु 'अचो रहाभ्यां द्वे' (८-४-४६) इत्यत्र श्रुतेन रेफस्य निमित्तत्वेन यरन्तर्भावादनुमितेन कार्यित्वं बाध्यत इत्येतदुदाहरणमाहुः, तन्न। तक्रकौण्डिन्यन्यायेन सिद्धेरित्यन्यत्र विस्तरः ॥ ११३ ॥

कुछ लोगों ने 'अचो रहाभ्यां द्वे' इस सूत्र में रेफनिष्ठनिमित्तता से तन्निष्ठकार्यिता का बाध, इस परिभाषा का उदाहरण है ऐसा कहा है। उनका तात्पर्य यह है—'अचो रहाभ्यां द्वे' यह सूत्र अच् से पर में जो रेफ और हकार उससे पर में रहने वाले यर् को द्वित्व विकल्प से करता है। यहाँ रेफ और हकार में द्वित्व के प्रति निमित्तता श्रुत है। अर्थात् शब्दतः पठित है। उधर द्वित्व का कार्यी यर् है। उस यर् के अन्तर्गत रकार भी आता है इसलिये वह भी द्वित्व का कार्यी होता है। किन्तु उसकी यह कार्यिता अर्थतः सिद्ध है, शब्दतः उच्चारित नहीं है, इसलिये यह कार्यिता अनुमित है। अब शंका होती है कि रेफ का अन्वय निमित्तता के साथ हो या कार्यिता के साथ। ऐसी शंका में इस परिभाषा के द्वारा श्रुत निमित्तता में ही रेफ का अन्वय होता है कार्यिता में नहीं होता। अर्थात् श्रुत रेफनिष्ठनिमित्तता से अनुमित रेफनिष्ठकार्यिता का बाध हो जाता है। इस प्रकार यह इस परिभाषा का उदाहरण होता है।

किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यह बात तो तक्रकौण्डिन्य न्याय से ही सिद्ध है। जैसे कौण्डिन्य को ब्राह्मणत्वेन दधिदान की प्राप्ति है और कौण्डिन्य नाम के द्वारा तक्र की प्राप्ति है। यदि इन्हें दधि दे दिया जाय तो तक्रदान सर्वथा व्यर्थ हो जायेगा, इसलिये तक्रदान से दधिदान का बाध होता है। उसी प्रकार यहाँ रेफ के यर् अन्तर्गतत्वेन कार्यिताप्राप्त है और 'रहाभ्याम्' इस पद के द्वारा निमित्तता। इनमें कार्यिता तो रेफातिरिक्त अन्य वर्णों में चरितार्थ है। ऐसी स्थिति में यदि रेफ को भी द्वित्व का कार्यी बना दिया जाय तो तन्निष्ठनिमित्तता सर्वथा व्यर्थ हो जायेगी। इसलिये यहाँ निमित्तता से कार्यिता का बाध हो जायेगा। इस प्रकार जब कार्यिता का बाध यहाँ तक्रकौण्डिन्य न्याय से ही सिद्ध है तब प्रस्तुत परिभाषा का उदाहरण इसे देना ठीक नहीं है। यह बात अन्यत्र भाष्यादि में विस्तार से कही गई है ॥ ११३ ॥

ननु 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' (६-२-२) इति स्वरः 'परमेण कारकेण, परमकारकेणे'त्यादौ स्यात्तथा 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः' (२-४-७७) इति लुक् 'पै ओवै शोषण' इत्यतः कृतात्त्वात्परस्यापि स्यादत आह—

'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः' इस सूत्र से तत्पुरुष-समास में ये सात यदि पूर्वपद में होते हैं तो इन्हें प्रकृतिस्वर किया जाता है। यहाँ शंका होती है कि जिस प्रकार इस सूत्र से 'किरिणा काणः किरिकाणः' इस प्रयोग में पूर्वपदप्रकृतिस्वर होता है, उसी प्रकार 'परमेण कारकेण=परमकारकेण' इस प्रयोग में जहाँ परिनिष्ठित विभक्त्यन्त का कर्मधारण समास किया गया है, यहाँ भी यह स्वर क्यों नहीं होता, क्योंकि यहाँ भी पूर्वपद तृतीयान्त है।

इसी प्रकार 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः' इस सूत्र से विहित सिच् का लुक् जिस प्रकार 'पा पाने' धातु के लुङ् लकार में 'अपात्, अपाताम्, अपुः' इत्यादि प्रयोगों में होता है उसी प्रकार 'पै ओवै शोषणे' धातु जिसे लुङ् लकार में आत्व करके 'अपासीत्' रूप बनाया जाता है, यहाँ भी सिच् का लुक् क्यों नहीं होता? आत्व करने के बाद पा रूपत्व यहाँ भी उपलब्ध ही है। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् ॥ ११४ ॥

परिभाषा में लक्षणावृत्ति से लक्षण शब्द का अर्थ, लक्षण से निष्पन्न अर्थात् लाक्षणिक किया गया है। इसलिये परिभाषा का अर्थ इस प्रकार होता है—लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त के मध्य प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण किया जाता है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि अवतरण में दिये गये दोषों का निराकरण हो गया, क्योंकि 'परमकारकेण' में जो समास हुआ है वह

'तृतीया' इस पदघटित सूत्र से विहित न होने के कारण प्रतिपदोक्त नहीं है, इसलिये यहाँ उक्त स्वर का दोष नहीं होता। इसी प्रकार 'अपासीत्' में सिच् के लुक् का प्रसंग नहीं होता क्योंकि यहाँ का पा लक्षणवश सम्पन्न लाक्षणिक है।

लक्षणं लाक्षणिकमुपचारात्।

तत्तद्विभक्तिविशेषाद्यनुवादेन विहितो हि समासादिः प्रतिपदोक्तस्तस्यैव ग्रहणं शीघ्रोपस्थितिकत्वात्। द्वितीयो हि विलम्बोपस्थितिकः। 'पै' इत्यस्य पा इति रूपं लक्षणानुसन्धानपूर्वकं विलम्बोपस्थितिकम्, पिबतेस्तु तच्छीघ्रोपस्थितिकम्। इदमेव ह्येतत्परिभाषाबीजम्।

इयं च वर्णग्रहणेऽपि 'ओत्' सूत्रे भाष्ये सञ्चारितत्वात्।

यत्तु वर्णग्रहणे नैषा 'आदेचः' (६-१-४५) इत्यत्रोपदेशग्रहणादिति, तत्तु तस्मिन्नेव सूत्रे शब्देन्दुशेखरे दूषितमिति तत एव द्रष्टव्यम्।

अनित्या चेयं 'भुवश्च महाव्याहृतेः' (८-२-७१) इति महाव्याहृतिग्रहणादित्यन्यत्र विस्तरः॥ ११४॥

परिभाषा में लक्षण शब्द का अर्थ लाक्षणिक अर्थात् लक्षण (सूत्र) से निष्पन्न किया गया है। यह अर्थ उपचार से (लक्षणा वृत्ति से) किया गया है। तत्तद् विभक्तिविशेष का उल्लेख करके उसे उद्देश्य बनाकर विहित जो समासादि हैं वे प्रतिपदोक्त हैं। जैसे—'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' इस सूत्र में तृतीया पद का उल्लेख करके तृतीयान्त को उद्देश्य बनाकर यह समास विहित है, इसलिये यह प्रतिपदोक्त है। साक्षादुच्चरित्वेन शीघ्र उपस्थित होने के कारण लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त के मध्य प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है। लाक्षणिक विलम्बोपस्थिति वाला होता है। पै धातु का 'पा' यह रूप लक्षण (सूत्र) के अनुसन्धान के अनन्तर ही होता है, अतः विलम्बोपस्थितिक है। इसकी अपेक्षा 'पा पाने' धातु का पा रूप शीघ्र उपस्थित होता है, क्योंकि यह 'पा' उसी आनुपूर्वी में शुरू से पढा गया है। इसलिये जिस सूत्र में 'पा' का ग्रहण किया गया है वहाँ 'पा पाने' का ही ग्रहण होगा न कि पै धातु के आत्वनिष्पन्न 'पा' का ग्रहण।

इदमेव=शीघ्रोपस्थितिकत्व ही इस परिभाषा का बीज है। यह परिभाषा वर्णग्रहण में भी प्रवृत्त होती है। ओत् सूत्र के भाष्य में इसका संचार किया गया है, इससे यह बात सिद्ध होती है। भाष्यकार ने वहाँ—'अनदः अदः अभवत्=अदोऽभवत्' इस प्रयोग में चित्र प्रत्ययान्त होने के कारण 'अदो' की निपात संज्ञा करके 'ओत्' सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा की आशंका किया और 'लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा के द्वारा समाधान कर दिया कि यह ओकार लाक्षिणक है—अतः 'ओत्' सूत्र यहाँ नहीं

लगेगा। इस प्रकार ओंकाररूपी वर्ण के विषय में इस परिभाषा का प्रयोग करने से यह स्पष्ट होता है कि यह परिभाषा वर्णग्रहण में लगती है।

कुछ लोगों का कहना है कि 'आदेच उपदेशेऽशिति' इस सूत्र में जो उपदेश ग्रहण किया गया है, इससे समझते हैं कि वर्णग्रहण में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। 'चेता, स्तोता' इत्यादि प्रयोगों में आत्व न होने लगे, इसलिये यहाँ उपदेश ग्रहण किया गया है कि औपदेशिक एच् को ही आत्व हो। यदि वर्णग्रहण में इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती तो 'चेता' इत्यादि प्रयोगों में लाक्षणिक होने के कारण एकार को आत्व की प्राप्ति स्वयमेव नहीं होती, तो ऐसी स्थिति में उपदेशग्रहण की क्या आवश्यकता है? इससे स्पष्ट होता है कि यह परिभाषा वर्णग्रहण में नहीं लगती।

किन्तु यह बात उसी सूत्र के शब्देन्दुशेखर में दूषित कर दी गई है। दूषित करने का कारण यह है कि वर्णग्रहण में इसकी अप्रवृत्ति मानने पर 'ओत्' सूत्र का भाष्य असंगत हो जायेगा। यदि कहा जाय कि वर्णग्रहण में इसकी प्रवृत्ति मानने पर उपदेशग्रहण व्यर्थ हो जाता है तो इसका उत्तर यह है कि वहाँ का उपदेशग्रहण अन्यार्थक है अर्थात् किसी अन्य प्रयोजन के लिये है। यह बात वहीं 'आदेच उपदेशे' के शब्देन्दुशेखर में ही देखनी चाहिये।

'भुवश्च महाव्याहृतेः' इस सूत्र में किये गये महाव्याहृति ग्रहण से यह परिभाषा अनित्य है। यह सूत्र तीन महाव्याहृतियों में मध्यम महाव्याहृति जो 'भुवस्' है उसे रु और रेफ विकल्प से करता है, जिससे 'भुव इति' 'भुवरिति' ये रूप सिद्ध होते हैं। यहाँ 'महाव्याहृति' ग्रहण इसलिये किया गया है कि 'भू' शब्द का जस् विभक्ति में 'भुवः' जो रूप बनता है उसका ग्रहण न होवे। किन्तु भू शब्द का जो 'भुवः' रूप बनता है वह तो लाक्षणिक है, इसलिये इस सूत्र में तो उसका ग्रहण ही नहीं होगा। ऐसी स्थिति में इस सूत्र में 'महाव्याहृति' ग्रहण की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार महाव्याहृति ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापन करता है। यह बात अन्यत्र विस्तार से कही गई है॥ ११४॥

नन्वेवं देङो दोधातोश्च कृतात्वस्य घुसंज्ञा न स्यात्, तथा मेङ आत्वे 'प्रणिमाते'त्यादौ 'नेर्गदनद' (८-४-१७) इति णत्वं न स्यात्, तथा 'गै' इत्यस्यात्वे 'घुमास्था' (६-४-६६) इतीत्वं न स्यादत आह—

नन्वेवम्=इस प्रकार लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा स्वीकार करने पर यह दोष आ रहा है कि 'गा, मा' और दा पदघटित सूत्रों में वे ही गा, मा और दा लिये जायेंगे जो धातु पाठ में इसी रूप में पढे गये हों। इसका परिणाम यह होगा कि 'देङ् रक्षणे' 'दो अवखण्डने' धातुओं में आत्व करके 'दा' रूप बनाने पर इस दा का ग्रहण दाघटित सूत्रों में नहीं होगा, क्योंकि यह दा लाक्षणिक है। फलस्वरूप इस

प्रकार के लाक्षणिक दा की घु संज्ञा नहीं होगी। इसी प्रकार 'मेङ्' धातु के एकार को आकार करने पर 'प्रणिमाता' प्रयोग में 'नेर्गदनद' सूत्र से णत्व नहीं होगा, क्योंकि यह लाक्षणिक मा 'नेर्गद' सूत्रस्थ मा से गृहीत नहीं होगा।

इसी प्रकार 'गै शब्दे' धातु के ऐकार को आकार करने पर 'घुमास्थागापा' सूत्र में इसका ग्रहण नहीं होगा, इसलिये उससे यहाँ ईत्व नहीं होगा।

इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

गामादाग्रहणेष्वविशेषः ॥ ११५ ॥

गा, मा और दापदघटित सूत्रों में विशेष का ग्रहण नहीं होता, किन्तु गा मा और दा सामान्य का ग्रहण होता है। तात्पर्य यह है कि विशेषोपस्थापक परिभाषाएँ—लुग्विकरण परिभाषा, लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा, निरनुबन्धक परिभाषा और अर्थवद्ग्रहण परिभाषा—ये चार परिभाषाएँ गामादा ग्रहण में नहीं लगती हैं। इसलिये वहाँ सामान्य का ग्रहण हो जाता है।

अत्र च ज्ञापकं दैपः पित्त्वम्। तद्धि 'अदाबि'ति सामान्यग्रहणार्थम्। अन्यथा लाक्षणिकत्वादेव विधौ तदग्रहणे सिद्धे किं निषेधे सामान्यग्रहणार्थेन पित्त्वेन। तेन चैकदेशानुमतिद्वारा सम्पूर्णपरिभाषा ज्ञाप्यते।

इयं च 'लक्षणप्रतिपदोक्त'परिभाषा-'निरनुबन्धक'परिभाषा-'लुग्विकरण' परिभाषाणां बाधिका। 'दाधाघु' (१-१-२०) सूत्रे भाष्ये स्पष्टा।

'गातिस्था' (२-४-७७) इति सूत्रे इणादेशगाग्रहणमेवेष्यत इति दोष इत्यन्यत्र विस्तरः ॥ ११५ ॥

'दैप् शोधने' इस धातु में जो पित् करण किया गया है वही पित्व इस परिभाषा का ज्ञापक है। 'दाधाघ्वदाप्' इस सूत्र में 'अदाप्' इस निषेधबोधकपद में दाप् शब्द से 'दाप् लवने' और 'दैप् शोधने' इन दोनों का संग्रह किया जाता है। किन्तु लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से अदाप्घटक दाप् शब्द से प्रतिपदोक्त 'दाप् लवने' ही लिया जायेगा, न कि दैप् धातु का आत्वनिष्पन्न दाप्। ऐसी स्थिति जब 'दैप्' धातु का 'दाप्' शब्द से गृहीत ही नहीं होगा तो यहाँ पित् करण की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार पित् करण व्यर्थ है।

दूसरी बात यह है कि विधौ=घुसंज्ञाविधि में प्रतिपदोक्त दा का ही ग्रहण होगा, न कि लाक्षणिक दा का। ऐसी स्थिति में दैप् धातु का जो दा है उसको तो लाक्षणिक होने के कारण ही घु संज्ञा नहीं हो सकेगी, तो 'अदाप्' इस निषेधबोधक पद से सामान्यतया दाप् और दैप् दोनों के ग्रहण के लिये किये गये दैप् धातु के पित्व की आवश्यकता क्या है? इस प्रकार पित् करण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है। यह ज्ञापन यद्यपि केवल दा ग्रहण के लिये होना चाहिये, किन्तु

परिभाषा के एक अंश में जब प्रमाण मिल गया, तब एकदेशानुमत्या सम्पूर्ण परिभाषा ही उस पित् करण से ज्ञापित होती है ऐसा समझना चाहिये।

यह परिभाषा 'लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा' 'निरनुबन्धक परिभाषा' तथा 'लुग्-विकरण परिषाषा' इन परिभाषाओं की बाधिका है। इन परिभाषाओं से तत्तद् विशेष के ग्रहण की प्राप्ति रहने पर इस परिभाषा से इन विशेषोपस्थापक परिभाषाओं का बाध हो जाने पर अविशेष अर्थात् सामान्य का ग्रहण होता है। 'दाधाघ्वदाप्' सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है।

अब यहाँ यह सन्देह होता है कि 'गातिस्था' सूत्र में गाति यह निर्देश 'इणो गा लुङि' इस सूत्र से अदादिगण के इण् धातु को जो गा आदेश किया जाता है, उसके अनुकरण से श्तिप् प्रत्यय करके बनाया हुआ है। इससे स्पष्ट है कि इस सूत्र में इण् स्थानिक गा का ही ग्रहण अभिप्रेत है, किन्तु प्रस्तुत परिभाषा 'गा' ग्रहण में अविशेष के ग्रहण की बात कहती है। इस प्रकार परिभाषाविरोध हो रहा है। इस शंका का उत्तर देते हुए लिख रहे हैं कि 'गातिस्था' सूत्र में इण् के स्थान आदेश गा का ही ग्रहण वाञ्छित है क्योंकि भाष्यकार ने कहा है कि—'गापोर्ग्रहणे इण्-पिबत्योर्ग्रहणम्' इसलिये कोई दोष नहीं है। यह बात अन्यत्र (भाष्यादि) में विस्तार से कही गई है ॥ ११५ ॥

ननु वृद्धचादिसंज्ञाः समुदाये स्युरत आह –

पूर्व परिभाषा में घु संज्ञा का प्रसंग आने से वृद्धि आदि संज्ञाओं का स्मरण करके उनके विषय में सन्देह कर रहे हैं कि 'वृद्धिरादैच्' 'अदेङ् गुणः' 'दाधाघ्वदाप्' इत्यादि सूत्रों से विहित, वृद्धि, गुण और घु संज्ञाएँ समुदाय को ही होनी चाहिये, क्योंकि 'आदैच्' इस समुदाय को उद्देश्य कर वृद्धि विधान करने से यह बात स्पष्ट होती है कि आदैच् में समुदायत्व, और वृद्धित्व ये दो वस्तुएँ हैं। ऐसी स्थिति में आदैच्निष्ठ समुदायत्व जिस प्रकार आदैच्निष्ठ उद्देश्यताप्रतियोगिक पर्याप्ति की अनुयोगिता का अवच्छेदक है, उसी प्रकार वृद्धित्वप्रतियोगिक पर्याप्ति की अनुयोगिता का अवच्छेदक समुदायत्व को ही होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जब आदैच् समुदाय को उद्देश्य करके वृद्धि विधेय है तब वृद्धि संज्ञा समुदाय को ही होनी चाहिये न कि आ, ऐ, औ, को पृथक्-पृथक्। इसी प्रकार गुणादि संज्ञाएँ भी समुदाय को ही होनी चाहिये। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः ॥ ११६ ॥

देवदत्तादयो भोज्यन्तामित्यत्र भुजिवत् ॥ ११६ ॥

वाक्य की समाप्ति प्रत्येक में होती है।

यहाँ वाक्य शब्द का अर्थ वाक्य जन्य शाब्दबोधीय उद्देश्यता है। उस उद्देश्यता की परिसमाप्ति अर्थात् प्रर्याप्तिलक्षणसम्बन्ध प्रत्येकम्=अर्थात् प्रत्येक के साथ होता

है। जैसे 'वृद्धिरादैच्' इस वाक्यजन्य शब्दबोधीय उद्देश्यता 'आदैच्' में है। यह उद्देश्यता पर्याप्तिसम्बन्ध से 'आदैच्' समुदाय में न रह कर आ, ऐ, औ इन तीनों में पृथक्-पृथक् पर्याप्तिसम्बन्ध से रहती है। इस प्रकार जब उद्देश्यता प्रत्येक में रह गई तो वृद्धि इत्यादि संज्ञाएँ भी प्रत्येक की होंगी। जिस प्रकार कहा जाता है कि 'देवदत्त आदि को भोजन कराओ' तो यहाँ भुजि क्रिया का सम्बन्ध प्रत्येक के साथ होता है। प्रत्येक के भोजन किये विना समुदाय का भोजन हो ही नहीं सकता। उसी प्रकार वृद्धि इत्यादि संज्ञाएँ प्रत्येक को ही होती हैं। भुजि क्रिया के प्रत्येक वृत्तित्व से उसमें समुदायावृत्तित्व भी माना जाता है, किन्तु उसके समान वृद्धि आदि संज्ञाओं के प्रत्येक वृत्तित्व से उन्हें समुदायवृत्ति नहीं माना जा सकता क्योंकि समुदाय में वृद्धि आदि संज्ञाओं को करने का कोई फल नहीं है। किसी एक प्रयोग में 'आदैच्' समुदाय का आदेश सर्वथा असम्भव है। इस प्रकार वृद्धि आदि संज्ञाएँ प्रत्येक को होती हैं ॥ ११६ ॥

नन्वेवं संयोगसंज्ञासमाससंज्ञाऽभ्यस्तसंज्ञा अपि प्रत्येकं स्युरत आह—

एवम् = इस प्रकार 'प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः' इस न्याय को स्वीकार करने पर यह दोष आता है कि गुणवृद्धि संज्ञाओं की भाँति संयोग संज्ञा भी एक-एक हल् वर्ण को होने लगेगी। इस प्रकार समास संज्ञा भी 'राजन् + ङस्' को पृथक् और 'पुरुष + सु' को पृथक् होने लगेगी। इसी प्रकार अभ्यस्त संज्ञा जो समुदाय को होती है वह भी द्वित्व स्थल में दोनों को पृथक्-पृथक् होने लगेगी। इस प्रकार की आशंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

क्वचित्समुदायेऽपि ॥ ११७ ॥

कहीं पर वाक्य की परिसमाप्ति समुदाय में भी होती है।

'गर्गाः शतं दण्डच्यन्ताम्, अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ती'त्यादौ दण्डनवत्। लक्ष्यानुरोधेन च व्यवस्था ॥ ११७ ॥

समुदाय में वाक्य की परिसमाप्ति का दृष्टान्त देते हुए कह रहे हैं कि 'गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्, अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति' अर्थात् 'गर्ग के गोत्र वालों से शत मुद्रा दण्ड रूप में ली जाय, राजा लोग हिरण्य के अर्थी होते हैं' इस वाक्य के सुनने पर यह सन्देह होता है कि क्या सभी गार्ग्यों से (गार्ग्यसमुदाय से) सौ रुपया लिया जाय या प्रत्येक गार्ग्य से सौ-सौ रुपया लिया जाय ? ऐसी शंका होने पर यह विचार हुआ कि यहाँ 'शतम्' यह प्रधान कर्म है और 'गर्गाः' यह अप्रधान कर्म है। यदि प्रत्येक गार्ग्य से सौ-सौ रुपया लिया जाता है तब यह अप्रधान गार्ग्य के अनुरोध पर प्रधान शत की आवृत्ति होगी, किन्तु यह उचित नहीं है कि अप्रधान के अनुरोध पर प्रधान की आवृत्ति की जाय। इसलिये एक-एक गार्ग्य का शतदण्डन न होकर गार्ग्य

समुदाय से शतदण्डन किया जाता है। स्वीकारविशेषानुकूल व्यापार ही दण्डन कहा जाता है। यह दण्डन 'गार्ग्य' समुदाय से सौ रुपया ग्रहण स्वरूप है। इस प्रकार देखा जाता है कि यहाँ समुदाय में ही वाक्य की परिसमाप्ति हो रही है। इसी प्रकार अवतरण में कहे गये स्थलों पर तत्तद् संज्ञाएँ भी समुदाय की ही होती है; प्रत्येक की नहीं होती। इसलिये कोई दोष नहीं होता।

कुछ लोगों का कहना है कि अभ्यस्त संज्ञा में 'उभे' ग्रहण से समास संज्ञा में 'सह' ग्रहण से तथा संयोग संज्ञा में 'अनन्तर' ग्रहण करने से ही ये संज्ञाएँ प्रत्येक की न होकर समुदाय की ही होंगी। इस प्रकार अवतरणोक्त दोष स्वयमेव नहीं है तो इस परिभाषा का अनन्यथासिद्ध फल नहीं है।

वस्तुतस्तु 'उभे अभ्यस्तम्' इस सूत्र में 'उभे' ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया गया है। इसी प्रकार 'सह सुपा' इस सूत्र घटक सह शब्द की भी अनावश्यकता बतलाई गई है, क्योंकि 'समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः' स्वीकार कर लेने पर इन पदों की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस प्रकार अब ये दोनों न्याय सामने प्रस्तुत हैं कि परिसमाप्ति प्रत्येक में होती है और वाक्य की परिसमाप्ति समुदाय में भी होती है। जैसा लक्ष्य होगा उसके अनुरोध पर व्यवस्था कर ली जाती है। जैसे—वृद्धि आदि संज्ञाओं के लिये 'प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः' और समासादि संज्ञाओं के लिये 'समुदायपरिसमाप्तिः' न्याय का आश्रयण करने से कोई दोष नहीं होता है॥ ११७॥

ननु 'यूस्त्याख्यौ' (१–४–३) इत्यत्र व्यक्तिपक्षे दीर्घनिर्देशादनणत्वेन ग्राहकसूत्राप्राप्त्योदात्ताद्यन्यतमोच्चारणेऽन्यस्वरकस्य संज्ञा न स्यादत आह–

'यूस्त्याख्यौ नदी' यह सूत्र नित्य स्त्रीलिङ्ग दीर्घ ईकारान्त और ऊकारान्त की नदी संज्ञा करता है। यहाँ यह शंका होती है कि वर्णों के सम्बन्ध में जब जाति पक्ष होता है तब एक वर्ण के उच्चारण करने पर तज्जात्यवच्छिन्न सारे वर्णों का बोध उस वर्ण से हो जाता है, किन्तु जातिपक्ष न मान कर जब व्यक्तिपक्ष माना जायेगा तो उस व्यक्तिपक्ष में तो उसी व्यक्ति का बोध होगा, जिसका उच्चारण किया गया होगा। ऐसी स्थिति में 'यूस्त्याख्यौ नदी' इस सूत्र में व्यक्ति पक्ष में पाणिनि द्वारा उदात्तत्वादि के मध्य यद्गुणक ईकार, ऊकार का उच्चारण माना जायेगा, उससे भिन्न स्वर वाले ईकार-ऊकार का ग्रहण नहीं हो सकेगा। यदि कहा जाय कि अणुदित्सूत्र से दीर्घ ईकार ऊकार के सवर्णों का ग्रहण हो जायेगा, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अणुदित् सूत्र की प्रवृत्ति वहीं होती है, जहाँ णकार अनुबन्ध का प्रयोग करके अण् प्रत्याहार का परिज्ञान कराया गया हो। 'यूस्त्याख्यौ' सूत्र में ऐसी स्थिति नहीं है। फलस्वरूप यहाँ के ईकार ऊकार अण् नहीं हैं, इसलिये अनण् ईकार ऊकार में ग्राहक सूत्र (अणुदित्सूत्र) की प्रवृत्ति नहीं होगी। इस प्रकार यहाँ उदा-

त्तादि के मध्य अन्यतम का उच्चारण करने पर उससे भिन्न का ग्रहण नहीं होगा। इस शंका के होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

अभेदका गुणाः ॥ ११८ ॥

गुण=उदात्तत्वानुदात्तत्वादि गुण, भेदक अर्थात् स्वेतरगुणविशिष्ट के व्यावर्तक नहीं होते हैं।

यदि किसी विशेष गुण के ग्रहण के लिये उदात्तादि शब्दों का उच्चारण रूपी यत्न किया गया हो तो वह गुण विवक्षित होता है। इसलिये इस परिभाषा का अर्थ ऐसा होता है कि—यत्न न करने पर स्वरूपतः उच्चारित गुण विवक्षित नहीं होता है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि 'यूस्त्र्याख्यौ' सूत्र में उदात्तत्वादि में से किसी के ग्रहण के लिये कोई यत्न नहीं किया गया है, इसलिये पाणिनि ने यहाँ ईकार और ऊकार को चाहे किसी भी गुण से विशिष्ट करके उच्चारण किया हो, वह गुण यहाँ व्यावर्तक नहीं होगा; अर्थात् यहाँ सभी प्रकार के दीर्घ ईकार और ऊकार का ग्रहण हो जायेगा।

असति यत्ने स्वरूपेणोच्चारितो गुणो न भेदको न विवक्षित इत्यर्थः।

अत्र च 'अस्थिदधि' (७-१-७५) इत्यादावनङादेरुदात्तस्यैवोच्चारणेन सिद्धे उदात्तग्रहणं ज्ञापकम्।

'स्वरूपेणोच्चारित' इत्युक्तेरनुदात्तादेरन्तोदात्तादित्युदात्तादिशब्दोच्चारणे विवक्षैव। 'उञः' (१-१-१७) 'ऊँ' (१-१-१८) इत्यत्र अननुनासिके एवोच्चारणीये यत्नाधिक्येनानुनासिकोच्चारणाद्विवक्षा बोध्या। 'पथिमथ्यृभुक्षाम्' (७-१-८५) इत्यादौ स्थान्यनुरूपतयानुनासिक एवोच्चारणीये निरनुनासिकोच्चारणात्तद्विवक्षा। एतदर्थमेव 'असति यत्न' इत्युक्तम्।

न चैवमस्थ्यादीनां 'नब्विषयस्य' इत्याद्युदात्ततया अन्त्यादेशस्यानङः स्थान्यनुरूपेऽनुदात्त एवोच्चारणीये उदात्तोच्चारणं विवक्षार्थं भविष्यतीति कथमस्य ज्ञापकत्वमिति वाच्यम्। परमास्थिशब्दादावन्तोदात्त उदात्तगुणकस्यापि स्थानित्वेन विवक्षायां मानाभावात्।

विना यत्न के स्वरूपतः उच्चारित गुण भेदक अर्थात् विवक्षित नहीं होता है। इस परिभाषा में प्रमाण 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनडुदात्तः' इस सूत्र में किया गया उदात्तग्रहण है। यदि विना यत्न के स्वरूपतः उच्चारित उदात्तादि गुण विवक्षित होता तो 'अनङ्' का ही उदात्तत्वगुणविशिष्ट उच्चारण कर दिये होते। उसी से उदात्तस्वरविशिष्ट अनङ् का ग्रहण हो जाता तो फिर ऐसी स्थिति में उक्त सूत्र में

'उदात्त' ग्रहण की क्या आवश्यकता है ? यही उदात्तग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है। जब परिभाषा ज्ञापित हो गई तो अब उदात्तगुणविशिष्ट अनङ् का उच्चारण करने पर वह उदात्तत्व विवक्षित नहीं होगा, इसलिये सूत्र में उदात्तग्रहण की स्वांश में चरितार्थता होती है। यही उदात्तग्रहण 'स्वरूपेण उच्चारितः' इस विशेषणांश का भी ज्ञापन करता है। अन्यथा यदि अविशेषेण गुणों को अविवक्षित मान लिया जाय तो परिभाषा के ज्ञापन के बाद भी उदात्त ग्रहण की स्वांश में चरितार्थता नहीं होती क्योंकि उसके रहने पर भी वहाँ उदात्तत्व विवक्षित नहीं होता। स्वरूपेण उच्चारितः का अर्थ है कि उदात्तादि शब्दों का तो उच्चारण न किया जाय, किन्तु जिसे उदात्त या अनुदात्त करना है, उसे वैसे ही (उच्चैरुदात्तः) इत्यादि क्रम से सूत्र में पढ़ दिया जाय। ऐसा पढ़ा हुआ उदात्तत्वादिगुण विवक्षित नहीं होता, यही इस परिभाषा का तात्पर्य है।

अब स्वरूपेणोच्चारितः इस विशेषण का फल देते हुए लिख रहे हैं कि 'अनुदात्तादेरञ्' 'अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्याम्' इन सूत्रों में 'उदात्त और अनुदात्त' शब्दों का उच्चारणरूपी यत्न करने के कारण यहाँ उदात्तत्व और अनुदात्तत्व गुणों की विवक्षा ही है। इसी बात में 'उञ' 'ऊँ' का दृष्टान्त देते हुए कह रहे हैं कि 'उञ्' को 'ऊँ' यह आदेश, सूत्र में ऐसा उच्चारण करके ही किया जाता है। उञ् यह स्थानी निरनुनासिक है, अतः उसके स्थान पर होने वाले आदेश का उच्चारण भी अननुनासिक ही करना चाहिये था, किन्तु वैसा न करके 'ऊँ' ऐसा अनुनासिकोच्चारणरूपी यत्न किया गया है। इस यत्नाधिक्य के कारण यहाँ अनुनासिकत्व की विवक्षा होती है।

'पथिमथ्यृभुक्षामात्' इस सूत्र से सूत्रस्थ शब्दों के नकार को आकार किया जाता है। यहाँ भी नकार रूपी स्थानी के अनुनासिक होने के कारण तदनुरूप अनुनासिकाकार का ही उच्चारण करना चाहिये था, किन्तु वैसा न करके आकार का निरनुनासिकोच्चारण किया गया है। आकार के इस निरनुनासिकोच्चारण रूपी यत्नाधिक्य के कारण यहाँ निरनुनासिकत्व की विवक्षा होती है और निरनुनासिक आदेश होता है। इसीलिये मूल में 'असति यत्ने' ऐसा कहा गया है। इसका आत्पर्य है कि यत्न न करने पर गुण विवक्षित नहीं होते। किन्तु यदि यत्न किया जाता है तो विवक्षा होगी ही।

अब यहाँ यह शंका होती है कि 'नञ्विषयस्यानिसन्तस्य' इस सूत्र से इसन्तवर्जितनञ्विषय अर्थात् नित्यनपुंसकलिंग शब्द आद्युदात्त होता है। इस सूत्र से अस्थि आदि शब्द जब आद्युदात्त कर दिये जायेंगे तो 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' सूत्र से अस्थ्यादि शब्दों का अन्त्य इकार अनुदात्त हो जायेगा। उस अनुदात्त इकार के स्थान पर होने वाले आदेश अनङ् का उच्चारण स्थानी के अनुरूप अनुदात्त ही करना चाहिये

किन्तु उसका अनुदात्तोच्चारण न करके यदि स्वरूपतः उदात्तस्वरयुक्त उच्चारण कर दिया जाय तो यह उदात्तोच्चारण भी यत्नाधिक्य ही कहा जायेगा क्योंकि अनुदात्त उच्चारण को रोक कर उदात्तोच्चारण किया जा रहा है। इस प्रकार यत्नाधिक्य के कारण अनङ् का उदात्तोच्चारण विवक्षित हो जायेगा, इस लिए सूत्र में 'उदात्त ग्रहण की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् उदात्तग्रहण परिभाषा के ज्ञापन के बाद भी स्वांश में चरितार्थ नहीं हो रहा है। इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि जहाँ अस्थि शब्द का परमशब्द के साथ कर्मधारय समास कर देंगे, वहाँ 'परमास्थि' शब्द 'समासस्य' सूत्र से अन्तोदात्त हो जायेगा। इस प्रकार अनङ् का स्थानी इकार उदत्तगुणक भी सम्भव है। ऐसी स्थिति में यदि अनङ् का उदात्तोच्चारण किया जाता है तो वह विवक्षित नहीं हो सकता। इसलिये उदात्त की विवक्षा के लिये उदात्तग्रहण स्वांश में चरितार्थ होता है। अर्थात् सूत्र में 'उदात्त' यह शब्द लिखना सार्थक होता है।

'चतसर्याद्युदात्तनिपातं करिष्यते, वधादेश आद्युदात्तनिपातनं करिष्यते, पदादयोऽन्तोदात्ता निपात्यन्ते, सहस्य स उदात्तो निपात्यत' इत्यादिभाष्यं त्वेकश्रुत्याष्टाध्यायीपाठे क्वचिदुदात्ताद्युच्चारणं विवक्षार्थमित्याशयेन। त्रैस्वर्येण पाठ इति पक्षे तु ज्ञापकपरं भाष्यमिति कैयटादयः।

परे तु—निपातनं नामान्यादृशे प्रयोगे प्राप्तेऽन्यादृशप्रयोगकरणम्, तत्तद्रूपाद् यत्नात्तत्र तत्रोदात्तादिविवक्षा। 'तिसृचतसृ' इत्यत्र द्वन्द्वप्रयुक्तेऽन्तोदात्ते उच्चारणीये आद्युदात्तोच्चारणमन्यत्र स्थान्यनुरूपे स्वर उच्चारणीये तत्तदुच्चारणं विवक्षार्थम्।

सम्पूर्णाष्टाध्याय्याचार्येणैकश्रुत्या पठितेत्यत्र न मानम्। क्वचित्पदस्यैकश्रुत्यापि पाठो यथा 'दाण्डिनायन' (६-४-१७४) इत्यादि सूत्र 'ऐक्ष्वाके'ति। यद्यप्यध्येतार एकश्रुत्यैवाङ्गानि पठन्ति ब्राह्मणवत्तथापि व्याख्यानतोऽनुनासिकत्वादिवदुदात्तनिपातनादिज्ञानमित्याहुः।

विधेयाण्विषये त्वप्रत्यय इति निषेधान्न गुणाभेदकत्वेन सवर्णग्रहणम्। अत एव घटवदित्यादौ मतोर्मस्य नानुनासिको वकारः। अत एव 'तद्वानाम्' (४-४-१२५) इति सूत्रनिर्देशः। अन्यथा 'प्रत्यये भाषायाम्' इति नित्यमनुनासिकः स्यात्। जातिपक्षे तु नास्योपयोग इति बोध्यम्। 'यू' इत्यादौ दीर्घमात्रवृत्तिजातिनिर्देशान्न क्षतिरित्यन्यत्र विस्तरः॥ ११८॥

'चतस्रः पश्य' इस प्रयोग में 'चतुरः शसि' इस सूत्र से चतसृ आदेश की अन्तोदात्तता की प्राप्ति होती है, इसके निवारण के लिये भाष्यकार ने कहा कि 'चतसर्याद्युदात्तनिपातनं करिष्यते' चतसृ आदेश में आद्युदात्त निपातन किया जाता है।

इसी प्रकार 'वधिषीष्ट' इस प्रयोग में इट् का प्रतिषेध न होने लगे इसलिये वध आदेश को भी आद्युदात्त निपातन किया गया है इसी प्रकार 'पादस्य पदज्याति' इस सूत्र से विहित पद आदेश को अन्तोदात्त निपातन किया गया है। ऐसे ही सह के स्थान पर किये गये स आदेश को उदात्त निपातन किया गया है।

ये सारे निपातन इस बात को अभिव्यक्त करते हैं कि अष्टाध्यायी में यदि एक-श्रुति से पाठ है तो कहीं पर किया गया उदात्तादि शब्दों का उच्चारण विवक्षार्थ है। इसका तात्पर्य यह है कि अष्टाध्यायी में दो प्रकार के पाठ हैं—पहला एक-श्रुत से और दूसरा त्रैस्वर्येण। एक श्रुति का अर्थ है उदात्तादि स्वरों की अवि-भागेन स्थिति, अर्थात् किसी भी स्वर से विशिष्ट (युक्त) पाठ न करके स्वर-सामान्यभाव से पाठ करना एक श्रुति से पाठ कहा जाता है। त्रैस्वर्येण पाठ वह कहलाता है, जिसमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का स्व-स्व स्थान पर उच्चारण कर दिया गया हो। कैयट उपर्युक्त निपातन को दोनों पक्षों में लगाते हैं उनका कहना है कि यदि अष्टाध्यायी एकश्रुत्या पढ़ी गई है अर्थात् उदात्तादि स्वरों का स्वरूपतः उच्चारण नहीं किया गया है तो इस पक्ष में यदि कहीं उदात्तादि शब्दों उच्चारण कर दिया जाता है तो वह विवक्षार्थ हो जाता है। कारण यह है कि जब स्वरसामान्यभाव से अष्टाध्यायी पढ़ी गई है तो ऐसी स्थिति में उदात्तादि शब्दों का उच्चारण करना यत्नाधिक्य ही कहा जायेगा। इसलिये वहाँ उदात्तादि की विवक्षा हो जाती है। इसी प्रकार उपर्युक्त निपातन भी विवक्षार्थ ही है, क्योंकि एक-श्रुति पाठ में यह भी यत्नाधिक्य ही है।

अष्टाध्यायी त्रैस्वर्येण पढ़ी गई है, यदि यह पक्ष मानते हैं तो उदात्तादिस्वर-विशिष्ट का पाठ स्वाभाविक होने के कारण उदात्तत्व आदि स्वरविशिष्ट का ग्रहण सिद्ध ही था तो ऐसी स्थिति में यदि कहीं उदात्तादि शब्दों का उच्चारण कर दिया जाता है तो वह उच्चारणज्ञापकपरक होता है। ज्ञापकपरक होने का तात्पर्य यह है कि बिना यत्न किये उदात्तादि स्वरों का स्वरूपतः पाठ (उच्चारण) विवक्षित नहीं होता, अतः विवक्षा के लिए उदात्तादि शब्दों का उच्चारण वहाँ सार्थक होता है, क्योंकि उदात्त आदि शब्दों का उच्चारण या ग्रहण करना ही वहाँ यत्नाधिक्य हो जाता है। इसी प्रकार निपातनरूपी यत्न के द्वारा उपर्युक्त स्थलों में उदात्तादि की विवक्षा की गई है। इस प्रकार कैयट दोनों पक्षों में निपातन को संगत करते हैं। 'अस्थिदधि' सूत्र के उदात्तग्रहण के द्वारा किये गये ज्ञापन की सुसंगति के लिये यह मानना आवश्यक है कि अष्टाध्यायी का पाठ त्रैस्वर्येण किया गया है। अन्यथा एकश्रुत्या पाठ को यदि औत्सर्गिक माना जाय तो कहीं पर किया हुआ उदात्त आदि शब्दों का उच्चारण वहाँ यत्नाधिक्य के कारण विवक्षार्थ ही होगा। ऐसी स्थिति में 'अस्थिदधि' का उदात्तग्रहण जब विवक्षार्थ हो जायेगा तब एकश्रुति पाठ वाले पक्ष

में उसकी ज्ञापकता किस प्रकार हो सकेगी ? इसलिये 'त्रैस्वर्येण' पाठ को स्वीकार करना चाहिये। इस पक्ष में तीनों स्वरों से युक्त पाठ करना जब स्वाभाविक हो जाता है तब उदात्तग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापक होता है। किन्तु त्रैस्वर्येण पाठ स्वीकार करने पर यह दोष आता है कि इस पक्ष में 'चतसर्याद्युदात्तनिपातनं करिष्यते' इत्यादि भाष्यों की असंगति हो रही है क्योंकि इस पक्ष में तीनों स्वरों से युक्त पाठ जब स्वाभाविक हो जाता है तब उक्त निपातनों को यत्नाधिक्य नहीं माना जा सकता और जब यत्नाधिक्य नहीं हुआ, तब उन उदात्तादिकों की वहाँ विवक्षा भी नहीं हो सकती। इस प्रश्न के उत्तर में कह रहे हैं कि ये सारे निपातन अष्टाध्यायी के एक-श्रुत्या पाठ में संगत होते हैं क्योंकि स्वरसामान्याभाव से जब पाठ है तब ये सारे निपातन यत्नाधिक्य हो जाते हैं, इसलिये वहाँ उदात्तादि की विवक्षा हो जाती है।

इस प्रसंग में नागेशभट्ट 'परे तु' शब्द से अपना मत व्यक्त करते हुए कह रहे हैं कि 'सूत्र के द्वारा अन्य रूप में प्राप्त प्रयोग को अन्य रूप प्रदान करना निपातन कहा जाता है। अर्थात् जो कार्य सूत्र से सिद्ध न हो वह कार्य नियातन के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार निपातन भी एक प्रकार का यत्न विशेष ही हो जाता है। ऐसी स्थिति में भाष्यकार ने तत्तत्स्थलों में जो 'आद्युदात्तनिपातनं करिष्यते' आदि उल्लेख किया है उस उल्लेखरूपी यत्नाधिक्य से तत्तत्स्थलों में उदात्तादि की विवक्षा होती है।

'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इस सूत्र में 'तिसृचतसृ' इस पद में द्वन्द्व समास होने के कारण 'समासस्य' सूत्र के अनुसार अन्तोदात्त उच्चारण करना चाहिये, किन्तु वैसा न करके इसका आद्युदात्त उच्चारण यह सिद्ध करता है कि अन्यत्र स्थानी के अनुरूप स्वर का उच्चारण न करके उससे भिन्न तत्तद्विशेष स्वर का उच्चारण विवक्षार्थ होता है। जैसे वधादेश का स्थानी हन् धातु अनुदात्त है अतः उसके स्थान पर होने वाले वध आदेश को भी अनुदात्त ही होना चाहिये, किन्तु वैसा न करके वध आदेश का जो उदात्तोच्चारण किया गया है, वह विवक्षित हो जाता है। इसका फल होता है कि हन् धातु से कर्मवाच्य में आशिष् लिङ् में 'वधिषीष्ट' इस प्रयोग में 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इस सूत्र से इट् का निषेध नहीं होता है।

सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पाणिनि के द्वारा एकश्रुति से पढ़ी गई है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। कहीं पर किसी पद का एक श्रुति से भी पाठ किया गया है। जैसे 'दाण्डि-नायन' इत्यादि पाणिनिसूत्र में ऐक्ष्वाक शब्द एकश्रुति से पढ़ा गया है। इसका कारण यह है कि 'इक्ष्वाकु' शब्द से जब 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' इस सूत्र से अञ् प्रत्यय करते हैं तब आदिवृद्धि के निष्पन्न 'ऐक्ष्वाकु + अ' यह अञन्त शब्द शब्द ञित् होने के कारण आद्युदात्त होता है। जब इक्ष्वाकु शब्द से 'कोपधाच्च' सूत्र चातुर-र्थिक अण् प्रत्यय करते हैं तब 'ऐक्ष्वाकु + अ' यह अणन्त शब्द अन्तोदात्त होता है।

इस तरह दो प्रकार के 'ऐक्ष्वाकु' शब्दों को एक उक्ति के द्वारा ग्रहण करने के लिये इस सूत्र में एकश्रुति से 'ऐक्ष्वाक' ऐसा पाठ करके निपातन से उकार का लोप किया जाता है। जब यहाँ एकश्रुति से पाठ कर दिया गया है अर्थात् किसी भी स्वर का उल्लेख नहीं किया गया है तब अविशेषात् दोनों प्रकार की 'ऐक्ष्वाकु+अ' यह आनुपूर्वी यहाँ गृहीत हो जाती है, दोनों प्रकार के ऐक्ष्वाक शब्दों का एकशेष के द्वारा एकश्रुति से पाठ करने का प्रयोजन यहाँ स्पष्ट है।

यद्यपि अध्येता ब्राह्मण ग्रन्थों की भाँति अङ्गों को भी एकश्रुति से ही पढ़ते हैं तथापि उदात्तादिस्वरों का और निपातन का ज्ञान व्याख्यान विशेष के आधार पर हो जाता है, जैसे 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इस सूत्र से अनुनासिक अच् की इत् संज्ञा का विधान किया गया है किन्तु 'एध वृद्धौ' का अकार 'टुनदि समृद्धौ' का इकार तथा अन्य अनेक अच् जिनकी इत्संज्ञा वाञ्छित है, उन्हें अनुनासिक चिह्न लगा कर न पढ़े जाने पर भी व्याख्यान-विशेष के आधार पर उन्हें अनुनासिक मान लिया जाता है, उसी प्रकार उदात्तत्व आदि का ज्ञान भी व्याख्यान विशेष के आधार पर कर लेना चाहिये।

'यूस्त्र्याख्यौ नदी' सूत्र में सभी प्रकार के (उदात्तत्वादि विशिष्ट) ईकार और ऊकार के ग्रहण के लिये यह परिभाषा आवश्यक है क्योंकि 'अणुदित्' सूत्र से वहाँ सवर्णग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि 'यू' यह पद अण् नहीं है। ऐसी स्थिति में जब कि यह परिभाषा स्वीकार कर ली गई, तब विधेय (विधीयमान) अण् में भी इस परिभाषा की प्रवृत्ति होनी चाहिये, इस प्रकार की शंका होने पर कह रहे हैं कि जहाँ अण् विधीयमान होता है वहाँ इस परिभाषा से सवर्णग्रहण नहीं होता। अर्थात् वहाँ यह परिभाषा नहीं लगती है। इसका कारण यह है कि 'अणुदित् सूत्र' में जो अप्रत्यय ग्रहण किया है उससे (एकदेशानुमत्या) ज्ञापित जो 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' यह परिभाषा है उससे विधीयमानस्थल में सवर्णग्रहण का निषेध हो जाता है। इसीलिये 'घट' शब्द से मतुप् प्रत्यय करने पर 'मादुपधायाश्च' इत्यादि सूत्र से विधीयमान मतुप् के मकार के स्थान पर 'वकार' स्थानी के अनुरूप अनुनासिक नहीं हुआ। अत एव=विधीयमानस्थल में 'गुणा अभेदकाः' इस परिभाषा की प्रवृत्ति न होने के कारण ही 'तद्वानासामुपधानो मन्त्रः' (४।४।१२५) इस में 'तद्वान्' यह पाणिनि का निर्देश संगत होता है। यहाँ भी मतुप् के मकार को अनुनासिक वकार नहीं हुआ है। अन्यथा यदि यहाँ अनुनासिक वकार हो जाता तो उस अनुनासिक वकार प्रत्यय के पर में रहने पर 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' से तद् के दकार को नित्य अनुनासिक होने लगता।

जैसा कि इस परिभाषा के अवतरण में कहा गया है कि यह परिभाषा व्यक्तिपक्ष के लिये ही आवश्यक है, इससे सिद्ध होता है कि जातिपक्ष में इस परिभाषा का

कोई उपयोग नहीं है क्योंकि इस पक्ष में तज्जात्यवच्छिन्न सकल व्यक्ति का बोध स्वतः सिद्ध है। यदि कहा जाय कि जाति पक्ष में जब जाति के सकल घटकों का बोध हो जाता है तब 'यूस्त्राख्यौ नदी' सूत्र में भी ईत्व जात्यवच्छिन्न ह्रस्व इकार का भी ग्रहण होना चाहिये तो इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि 'यूस्त्याख्यौ' सूत्र में दीर्घमात्रवृत्ति जाति का निर्देश हुआ है। इसलिये दीर्घत्व जात्यवच्छिन्न दीर्घ ई और ऊकार का ग्रहण होने पर भी ह्रस्वत्व जात्यवच्छिन्न इकारादि का ग्रहण नहीं हो सकता। इस प्रकार कोई दोष नहीं रह जाता। यह बात अन्यत्र भाष्यप्रदीपोद्योत में विस्तार से कही गई है ॥ ११८ ॥

ननु 'सर्वनामानि' (१–१–२७) इत्यत्र णात्वाभावनिपातनेऽपि लोके सणत्वप्रयोगस्य साधुत्वं स्यादत आह—

'सर्वादीनि सर्वनामानि' इस सूत्र में जो 'सर्वनामानि' यह पद है—इसमें 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इस सूत्र से नकार को णकार प्राप्त रहता है, किन्तु पाणिनि ने यहाँ णकार न करके निपातन से णत्व का अभाव कर दिया है। यहाँ शंका होती है कि इस सूत्र में णत्वाभाव का निपातन करने पर भी लोक में (लौकिक प्रयोग में) णकार सहित प्रयोग का साधुत्व होना ही चाहिये। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

बाधकान्येव निपातनानि ॥ ११९ ॥

अपवाद की भाँति निपातन भी 'येन नाप्राप्ति' न्याय से अपने उत्सर्ग के नित्य ही बाधक होते हैं। इसलिये लोक में भी सर्वनाम शब्द में णत्व नहीं होगा।

तत्तत्कार्ये नाप्राप्ते निपातनारम्भात्। 'पुराणप्रोक्तेषु' (४–३–१०५) इति निपातितपुराणशब्देन पुरातनशब्दस्य बाधः प्राप्तोऽपि पृषोदरादित्वाच्चेति बोध्यम्।

पुराणेति पृषोदरादिः पुरातनेति चेत्यन्ये।

इयं सर्वादिसूत्रे भाष्ये स्पष्टा। अबाधकान्यपि निपातनानीति तु भाष्यविरुद्धम् ॥ ११९ ॥

तत्तत् कार्यों (णत्वादिकार्यों) की अवश्य प्राप्ति में निपातन का आरम्भ करने के कारण 'येन नाप्राप्तिन्याय' से निपातन तत्तत् कार्यों का बाधक होता है।

अब यहाँ यह शंका होती है कि निपातन बाधक ही होते हैं, इस बात को स्वीकार करने पर पुरा शब्द से भव अर्थ में 'सायं चिरम्' सूत्र से ट्यु प्रत्यय करने पर उसे तुडागम की अवश्यप्राप्ति होती है। उस अवश्यप्राप्त तुडागम का 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' इस सूत्र में आये हुए 'पुराण' इस निर्देश से बाध कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में जब तुट् कभी होगा ही नहीं तो 'पुरातन' शब्द की सिद्धि किस

प्रकार होगी ? इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि यद्यपि पुरातन शब्द का बाध प्राप्त है, तथापि 'पृषोदरादित्वात्' पुरातन शब्द सिद्ध हो जाता है। पृषोदरादि गण में पुरातन शब्द का पाठ मान लेने से यहाँ तुट् का बाध नहीं होता है।

कुछ लोगों का कहना है कि 'पुरातन' शब्द 'सायं चिरम्' सूत्र से सिद्ध होता है। पुराण शब्द ही पृषोदरादिगणपठित है। इसी के लिये पृषोदरादित्वात् तुट् का अभाव कर दिया जाता है।

कुछ अन्य लोगों का कहना है कि पुराण और पुरातन ये दोनों शब्द पृषोदरादि गण में हैं, इसलिये पृषोदरादित्वात् ही दोनों शब्दों की सिद्धि संभव होने के कारण निपातन का क्लेश नहीं करना पड़ता है, यह लाघव भी होता है।

पृषोदरादि गण में पाठ होने के कारण तुट् के तकार का वैकल्पिक लोप होने से 'पुराण और पुरातन' दोनों की सिद्धि निर्बाध है।

यह परिभाषा 'सर्वादीनि सर्वनामानि' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

'पुरातन' शब्द की सिद्धि के लिये वृत्तिकार ने कहा है कि 'निपातनानि अबाधकानि' अर्थात् निपातन बाधक नहीं भी होते हैं। किन्तु यह बात 'सर्वादि सूत्र' के भाष्य से विरुद्ध है क्योंकि वहाँ कहा गया है कि निपातन बाधक ही होते हैं ॥११९॥

ननु 'उख' धातोर्द्वित्वे स्वत एव ह्रस्वत्वात् पूर्वमभ्यासह्रस्वाप्रवृत्तौ हलादिःशेषे सवर्णदीर्घे ह्रस्वापत्तिरत आह—

उख् धातु से लिट् लकार और उसके स्थान पर अतुस् आदेश और धातु को द्वित्व करने पर 'उख्—उख्+अतुस्' इस स्थिति में अभ्यास के अच् को स्वतः ही ह्रस्व होने के कारण 'ह्रस्वः' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। इसके बाद हलादि शेष करके सवर्ण दीर्घ करने के बाद 'ऊख्+अतुस्' इस स्थिति में ह्रस्व होना चाहिये। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा आवश्यक हुई—

पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः ॥ १२० ॥

सूत्र की प्रवृत्ति पर्जन्य (बादल) की भाँति होती है। जिस प्रकार जल परिपूर्ण सरित् समुद्रादि में भी पर्जन्य की प्रवृत्ति होती है अर्थात् वृष्टि होती है उसी प्रकार कार्य सिद्ध होने पर भी 'स्वकीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन' सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि—'उख्—उख्+अतुस्' इस स्थिति में यद्यपि अभ्यास का अच् स्वतः ह्रस्व है तथापि 'ह्रस्वः' सूत्र की प्रवृत्ति यहाँ होती ही है, क्योंकि उसकी उद्देश्यता यहाँ सुरक्षित है। इस प्रकार ह्रस्व को भी जब ह्रस्व कर दिया जाता है तो लक्ष्ये लक्षणन्याय से दीर्घ के बाद पुनः ह्रस्व की प्राप्ति नहीं होती है।

एवं च ह्रस्वस्यापि ह्रस्वे कृते 'लक्ष्ये लक्षणस्य' इति न्यायेन न पुनर्ह्रस्वः। तदुक्तम् 'इको झल्' (१-२-९) इति सूत्रे भाष्ये—'कृतकारि खल्वपि शास्त्रं पर्जन्यवदि'ति। सिद्धेऽपि ह्रस्वादिकारीत्यर्थः।

न च लक्ष्ये लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तिरित्यत्र न मानमिति वाच्यम्, 'समो वा लोपमेके' इति लोपेनैकसकारस्य, द्वित्वेन द्विसकारस्य, पुनर्द्वित्वेन च त्रिसकारस्य सिद्धौ 'समः सुटि' (८-३-५) इति सूत्रस्यैव मानत्वात्। 'सम्प्रसारणाच्च' (६-१-१०८), 'सिचि वृद्धिः' (७-२-१) इत्यादौ भाष्ये स्पष्टमुक्तत्वाच्च।

अत्र विकारकृतो लक्ष्यभेदो न इति 'सिचि वृद्धिः' इति भाष्यात् प्रतीयत इत्यन्यत्र विस्तरः॥ १२०॥

एवञ्च=इस परिभाषा को स्वीकार कर लेने के बाद ह्रस्व उकार को भी ह्रस्व कर देने पर 'लक्ष्ये लक्षणस्य' इस न्याय से 'सवर्णदीर्घ' के बाद पुनः ह्रस्व नहीं होता। यह बात 'इको झल्' सूत्र के भाष्य में इस प्रकार कही गई है कि—शास्त्र पर्जन्य की भाँति कृतकारी होता है, अर्थात् किये हुए (पूर्वतः सम्पन्न) कार्य को भी करता है। उख् धातु में पहले से ही ह्रस्व के सिद्ध होने पर भी 'ह्रस्वः' सूत्र ह्रस्व-कारी होता है।

यदि कहा जाय कि 'लक्ष्ये लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तिः' इस न्याय में कोई प्रमाण नहीं है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'समः सुटि' यह सूत्र ही इसमें प्रमाण है। 'संस्कर्त्ता' प्रयोग में मकार को रु विधान कर उसे सकार और सकार को द्वित्व करके एकसकारक, द्विसकारक और त्रिसकारक रूप बनाने में इसका उपयोग है। यदि लक्ष्य में लक्षण की प्रवृत्ति अनेक बार होती तो 'समो वा लोपमेके' इस वार्तिक से मकार का लोप करने पर एकसकारक तथा 'अनचि च' सूत्र से सकार को द्वित्व करने पर द्विसकारक, तथा उसी से सकार को पुनः द्वित्व करने पर त्रिसकारक रूपों की सिद्धि हो ही जाती तो 'समः सुटि' सूत्र की क्या आवश्यकता है। यही सूत्र व्यर्थ होकर 'लक्ष्ये लक्षणन्याय' का ज्ञापन करता है।

'सम्प्रसारणाच्च' और 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इन सूत्रों के भाष्य में यह न्याय स्पष्टतः कहा गया है। लक्ष्ये लक्षणन्याय के सम्बन्ध में विकारकृत लक्ष्यभेद नहीं माना जाता, यह बात 'सिचि वृद्धिः' सूत्र के भाष्य से प्रतीत होती है। वहाँ पर 'उदवोठाम्' इस प्रयोग में 'वदव्रजहलन्तस्य' सूत्र से ओकार को वृद्धि प्राप्त होने पर वार्तिककार में 'सिचिवृद्धावोकारस्य प्रतिषेधः' ऐसा वार्तिक बनाया। भाष्यकार ने इस वार्तिक का खण्डन करते हुए कहा कि 'अवह्—स्+ताम्' इस स्थिति में पहले परत्वात् 'वदव्रजहलन्तस्य' सूत्र से अकार को आकार वृद्धि ही होती है। इसके बाद 'सहिवहोः' सूत्र से आकार को ओकार हो जाता है। लक्ष्ये लक्षणन्याय से पुनः

वृद्धि नहीं होती है। यहाँ ओकार रूपी विकार के होने पर लक्ष्ये लक्षणन्याय का आश्रयण करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विकारकृतलक्ष्यभेद नहीं माना जाता, यही भाष्यकार का अभिप्राय है। यह बात अन्यत्र=भाष्यादि में विस्तार से कही गई है॥ १२०॥

ननु 'स्यन्दू'धातोः 'स्यन्त्स्यती'त्यादावात्मनेपदनिमित्तत्वाभावनिमित्तत्वाच्च 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' (७-२-५९) इति निषेधस्य बहिरङ्गत्वेन अन्तरङ्गत्वाद्दिल्लक्षणस्येड्विकल्पस्यापत्तिरत आह—

स्यन्दू धातु प्रस्रवण अर्थ में है। इससे लृट् लकार लाने पर 'वृद्भ्यः स्यसनोः' सूत्र से परस्मैपद विकल्प से किया जाता है। इस परस्मैपद वाले पक्ष में 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' इस सूत्र से इट् का निषेध हो जाता है जिससे 'स्यन्त्स्यति' ऐसा रूप बनता है। यहाँ सन्देह होता है कि यहाँ जो इट् का निषेधक सूत्र है उसमें आत्मनेपद के निमित्त का अभाव निमित्त है। इसलिये यह निषेध बहिरङ्ग है। इसकी अपेक्षा 'स्वरतिसूति' इत्यादि सूत्र से इसे ऊदित मान कर जो इड्-विकल्प प्राप्त है वह अन्तरङ्ग है। इसलिये यहाँ वैकल्पिक इट् होना चाहिये। इस प्रकार उक्त प्रयोग में इड् विकल्प की आपत्ति होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

निषेधाश्च बलीयांसः॥ १२१॥

अन्तरङ्ग और अपने उपजीव्य (उपकारक) विधिशास्त्र की अपेक्षा, निषेधशास्त्र बलवान् होते हैं। विधिशास्त्र, निषेधशास्त्र के उपजीव्य इसलिये होते हैं कि यदि विधिशास्त्र न रहें तो निषेध रूप अभाव का प्रतियोगी ही अप्रसिद्ध हो जायेगा और जब प्रतियोगी ही नहीं रहेगा, तब अभाव किसका होगा। इस प्रकार प्रतियोगी का समर्पक होने के कारण विधिशास्त्र निषेधशास्त्र के उपजीव्य होते हैं। निषेधशास्त्र के अन्तरङ्ग और उपजीव्य की अपेक्षा बलवान् होने का परिणाम यह हुआ कि 'स्यन्त्स्यति' प्रयोग में अन्तरङ्ग इट् का निषेध हो गया, जिससे उक्त प्रयोग की सिद्धि हुई।

अन्तरङ्गादुपजीव्यादपि बलीयांस इत्यर्थः।

'चतुर्भ्यः' इति तु स्पष्टार्थमेव। अत एव तत्प्रत्याख्यानं भाष्योक्तं सङ्गच्छते।

अत एव सवर्णसंज्ञादेर्निषेधविषये न विकल्पः। अन्यथा मीमांसकरीत्या विधेरुपजीव्यत्वेन प्राबल्यात्तस्य सर्वथा बाधानुपपत्त्या दुर्वारः स इति मञ्जूषायां विस्तरः।

अत एव 'द्वन्द्वे च' (१-१-३१) 'विभाषा जसि' (१-१-३२) इति चरितार्थम्।

विध्युन्मूलनाय प्रवृत्तिरस्या बीजम्। 'न लुमता' (१-१-६३) 'कमेर्णिङ्' (३-१-३०) इत्यनयोर्भाष्ये स्पष्टैषा ॥ १२१ ॥

अन्तरङ्गशास्त्र से और अपने उपजीव्यशास्त्र से भी निषेधशास्त्र बलवान् होते हैं। इसलिये 'स्यन्त्स्यति' में अन्तरङ्ग इट् का निषेध हो जाता है। अब यहाँ यह शंका होती है कि 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' इस सूत्र में किये गये चतुर्ग्रहण के सामर्थ्य से ही इस प्रयोग में इट् का निषेध सिद्ध है तो इसके लिये इस परिभाषा की क्या आवश्यकता है ?

इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि प्रस्तुत परिभाषा से ही 'स्यन्त्स्यति' प्रयोग में इट् का निषेध सिद्ध होने के कारण चतुर्ग्रहण स्पष्टार्थ है। अत एव= चतुर्ग्रहण स्पष्टार्थ है, इस बात को स्वीकार करने से ही भाष्यकार द्वारा किया गया चतुर्ग्रहण का प्रत्याख्यान संगत होता है। यदि चतुर्ग्रहण आवश्यक होता तो भाष्यकार उसका प्रत्याख्यान नहीं करते।

अत एव=निषेधशास्त्र अपने उपजीव्य शास्त्र से भी बलवान् होता है, इस बात को स्वीकार करने से ही 'नाज्झलौ' इस सवर्णसंज्ञा के निषेध के विषय में सवण संज्ञा का विकल्प नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह है कि अपनी सफलता के लिये निषेधशास्त्र को विधिशास्त्र की अपेक्षा होती है। इसलिये विधिशास्त्र निषेध-शास्त्र का उपजीव्य होता है। यदि उपजीव्य की अपेक्षा निषेधशास्त्र बलवान् न होवे तो उसकी सार्थकता ही नहीं हो सकेगी। इसलिये निषेधशास्त्र की सार्थकता के लिये पाक्षिकविधि-बाध आवश्यक हो जाता है जिससे पक्ष में निषेधशास्त्र की भी सार्थकता हो जाय। इस प्रकार निषेध यदि अपने उपजीव्य का बाधक न हो तो वहाँ विधिविकल्प होना अवश्यम्भावी है। यह अवश्यम्भावी विधिविकल्प सवर्णसंज्ञा के विषय में भी होने लग जाता, किन्तु निषेध शास्त्र के द्वारा अपने उपजीव्य का बाध होता है, यह बात स्वीकार कर लेने पर सवर्ण संज्ञा के विषय में विकल्प नहीं होता।

अन्यथा=उपजीव्य की अपेक्षा निषेध बलवान् होता है, इस बात को स्वीकार न करने पर, जिस प्रकार मीमांसक लोग 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'उदिते जुहोति' 'अनुदिते जुहोति' इत्यादि स्थलों में षोडशी के ग्रहण और उदय में होम का वैकल्पिक विधान करते हैं, उसी प्रकार विधिशास्त्र, निषेधशास्त्र के लिये उपजीव्य होने के कारण प्रबल होता और प्रबल होने के कारण उसका सर्वथा बाध हो नहीं सकता था। ऐसी स्थिति में विधि और निषेध दोनों के समन्वय के लिये सः=वह विकल्प दुर्वार हो जाता। तात्पर्य यह कि मीमांसा शास्त्र की भाँति यहाँ भी विकल्प होने लग जाता। यह बात मञ्जूषा ग्रन्थ में विस्तार से कही गई है।

अत एव=निषेध के प्रबल होने के कारण उसके विषय में विकल्प नहीं होता, इस बात को स्वीकार करने से ही 'द्वन्द्वे च' और 'विभाषा जसि' इन दोनों सूत्रों की चरितार्थता होती है। 'द्वन्द्वे च' यह सूत्र द्वन्द्व की सर्वनाम संज्ञा का निषेध करता है। 'विभाषा जसि' यह सूत्र जस् को शी भाव की कर्त्तव्यता में द्वन्द्व में सर्वनाम संज्ञा विकल्प करता है। यदि निषेधशास्त्र बलवान् नहीं होता तो 'द्वन्द्वे च' यह निषेध अपने उपजीव्य सर्वनाम संज्ञा का सर्वथा बाध न करके पाक्षिक बाध करता। ऐसी स्थिति में विकल्प की सिद्धि स्वयमेव हो सकती तो फिर इस सूत्र (विभाषा जसि) की क्या आवश्यकता रह जाती ? इससे स्पष्ट है कि निषेध अपने उपजीव्य से बलवान् होता है। इसीलिये 'सर्वादीनि सर्वनामानि' सूत्र से प्राप्त सर्वनाम संज्ञा का 'द्वन्द्वे च' सूत्र से सर्वथा बाध हो जाने पर जस् विभक्ति में विकल्प करने के लिये 'विभाषा जसि' सूत्र की आवश्यकता होती है।

विधिशास्त्र के उन्मूलन=निवृत्ति के लिये निषेध की प्रवृत्ति होती है, यही इस परिभाषा का बीज है। 'न लुमताङ्गस्य' 'कर्मेणिङ्' इन दोनों सूत्रों के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है ॥ १२१ ॥

ननु अत्यन्तस्वार्थिकानामर्थप्रत्यायकत्वरूपप्रत्ययत्वानुपपत्तिरत आह—

प्रतिपूर्वक अन्तर्भावितण्यर्थक इण् धातु से अच् प्रत्यय करने पर प्रत्यय शब्द बनता है। भाष्यकार ने इसे अन्वर्थक संज्ञा माना है। इसलिये प्रत्यय के द्वारा अर्थ का प्रत्यायन आवश्यक है। प्रत्ययों के भीतर कुछ ऐसे प्रत्यय होते हैं जिन्हें अत्यन्त-स्वार्थिक प्रत्यय कहा जाता है। ये अत्यन्तस्वार्थिक प्रत्यय अर्थविशेष का निर्देश करके विहित नहीं होते हैं, जैसे—'यावादिभ्यः कन्' सूत्र से विहित कन् प्रत्यय किसी अर्थ का उल्लेख करके विहित नहीं हैं। ऐसी स्थिति में जो अर्थ का प्रत्यायक हो वह प्रत्यय कहा जाता है, ऐसा प्रत्यय का लक्षण अत्यन्तस्वार्थिक प्रत्ययों में न जाने के कारण उनका प्रत्ययत्व अनुपपन्न है। ऐसी शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे ॥ १२२ ॥

जिनका अर्थ निर्दिष्ट नहीं है ऐसे प्रत्यय स्वार्थ अर्थात् अपनी प्रकृति के अर्थ में होते हैं।

इस प्रकार अत्यन्तस्वार्थिक प्रत्यय, प्रकृति के अर्थ के बोधक होने के कारण सार्थक हो गये, जिससे उनका प्रत्ययत्व उपपन्न हो गया।

यस्यार्थः प्रकृत्या प्रत्याय्यते सोऽपि प्रत्यय इत्यस्याप्यङ्गीकारात्तस्य प्रत्ययत्वमिति न दोषः। स्वार्थ इत्यस्य स्वीयप्रकृत्यर्थ इत्यर्थः।

महासंज्ञाबलादर्थाकाङ्क्षायामन्यानुपस्थितिरस्या बीजम्। 'सुपि स्थः' (३-२-४) इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये स्पष्टैषा ॥ १२२ ॥

जिसका अर्थ प्रकृति के द्वारा कहा जाय, वह भी प्रत्यय कहा जाता है इस बात को स्वीकार करने से 'तस्यापि'=अत्यन्तस्वार्थिक का भी प्रत्ययत्व हो जाता है इसलिये कोई दोष नहीं होता।

परिभाषा में जो स्वार्थ शब्द आया है, उसमें स्व शब्द आत्मीयवाची है। प्रत्यय के लिये आत्मीय उसकी प्रकृति होती है, इसलिये स्वार्थ शब्द का अर्थ स्वीय (स्वकीय) प्रकृति का अर्थ है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि जो अपने अर्थ का अथवा अपनी प्रकृति के अर्थ का प्रत्यायक हो, वह प्रत्यय कहा जाता है। अत्यन्तस्वार्थिक प्रत्यय यद्यपि अपने अर्थ के प्रत्यायक नहीं हैं किन्तु अपनी प्रकृति के अर्थ के प्रत्यायक तो हैं ही, इसलिये उनके प्रत्ययत्व में कोई बाधा नहीं है।

प्रत्यय यह महती संज्ञा है। महती संज्ञा अन्वर्थ होती है, इसलिये प्रत्यय का क्या अर्थ है, ऐसी आकांक्षा उपस्थित होती है। ऐसी आकांक्षा होने पर अत्यन्त-स्वार्थिकप्रत्ययस्थल में प्रकृत्यर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ की उपस्थिति का न होना ही इसका बीज है। प्रकृत्यर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ की उपस्थिति न होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ प्रत्यय का वही अर्थ है जो प्रकृति का है। अन्यथा प्रत्यय यह महती संज्ञा व्यर्थ हो जायेगी। 'सुपि स्थः' इत्यादि सूत्रों के भाष्य में यह परि-भाषा स्पष्ट है ॥ १२२ ॥

पूर्व परिभाषा में 'सुपि स्थः' सूत्र का उल्लेख किया गया है। 'द्विपः' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि के लिये इस सूत्र में 'सुपि' ऐसा योगविभाग किया गया है। इसी प्रसंग में योगविभाग का स्मरण हो जाने से उससे सम्बन्धित परिभाषा कही जा रही है—

योगविभागादिष्टसिद्धिः ॥ १२३ ॥

योगविभाग से इष्टसिद्धि की जाती है।

इष्टसिद्धिरेव न त्वनिष्टापादनं कार्यमित्यर्थः। तत्तत्समानविधिक-द्वितीययोगेन विभक्तस्यानित्यत्वज्ञापनमेतद्बीजम् ॥ १२३ ॥

योगविभाग से इष्ट प्रयोगों की सिद्धि ही की जाती है। उससे अनिष्ट प्रयोग की आपत्ति नहीं करनी चाहिये। इसलिये 'आतो धातोः' सूत्र में 'आतः' इस योग-विभाग से 'क्त्वः' 'ञनः' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि की जाती है, किन्तु 'हाहान्' प्रयोग में इस योगविभाग के द्वारा आकार का लोप करके अनिष्ट का आपादन नहीं

किया जाता है। योगविभाग के द्वारा अनेकार्थ का बोधकत्व ही सूत्रों का विश्वतोमुखत्व है।

इस परिभाषा के बीज का उल्लेख करते हुए कह रहे हैं कि—

'आतो धातोः' सूत्र में जहाँ योगविभाग किया जाता है वहाँ 'आतः' इस योग का विधेय जो आकार का लोप है वही 'धातोः' इस योग का भी विधेय है। इस प्रकार दोनों योग समानविधिक होते हैं। इनमें 'आतः' यह योग आकारमात्र का लोप करे तो 'धातोः' इस योग का वैयर्थ्य स्पष्ट है। इसलिये द्वितीय योग के सामर्थ्य से विभक्त प्रथमयोग का अनित्यत्व ज्ञापित किया जाता है। इससे प्रथम योग का क्वाचित्कत्व सिद्ध होता है। प्रथम योग का यह क्वाचित्कत्व इष्टसिद्धि के लिये होता है, न कि अनिष्टापादन के लिये। यही इस परिभाषा का बीज है॥ १२३॥

पूर्व परिभाषा में योगविभाग का उल्लेख हुआ है। योगविभाग जहाँ होता है वहाँ वाक्यभेद, पूर्वयोग का अनित्यत्व आदि गौरव होता है। इसी प्रकार का गौरव अन्यत्र भी अङ्गीकृत होता है, इस बात की सूचक परिभाषा का उल्लेख करते हुए कह रहे हैं—

पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते॥ १२४॥

पर्यायवाचक शब्दों के बीच लाघव और गौरव की चर्चा का आदर नहीं होता। अर्थात् पर्यायवाची शब्दों में क्या लाघव है और क्या गौरव है यह विचार नहीं किया जाता है।

तत्र तत्रान्यतरस्यां विभाषा वेति सूत्रनिर्देशज्ञापितमिदम्॥ १२४॥

तत्तत्सूत्रों में 'वा' 'विभाषा' 'अन्यतरस्याम्' ये निर्देश इस परिभाषा के ज्ञापक हैं। ऊपर लिखे गये तीनों शब्द विकल्पार्थक हैं। इनमें लाघवात् 'वा' शब्द का पाठ ही सब जगह करना उचित था, किन्तु कहीं तो 'विभाषा' शब्द का पाठ किया गया है और कहीं 'अन्यतरस्याम्' शब्द का पाठ किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि जो शब्द पर्यायवाची होते हैं उनसे लाघव-गौरव का विचार नहीं होता। निष्कर्ष यह निकला कि पर्याय शब्दों में उच्चारण गौरव होने पर भी अर्थान्तरकल्पना का आग्रह नहीं करना चाहिये॥ १२४॥

पूर्व परिभाषा नञ्घटित है। नञ्घटितत्व की समानता के आधार पर यह परिभाषा लिखी गई—

ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र॥ १२५॥

जो ज्ञापकसिद्ध होता है वह सार्वत्रिक नहीं होता।

स्पष्टमेव पठितव्येऽनुमानाद् बोधनमसार्वत्रिकत्वार्थमित्यर्थः। तेन

ज्ञापकसिद्धपरिभाषयानिष्टं नापादनीयमिति तात्पर्यम्। भाष्येऽपि ध्वनितमेतत् ङ्याप्सूत्रादौ।

ज्ञापकेति न्यायस्याप्युपलक्षणम्। न्यायज्ञापकसिद्धानामपि केषाञ्चित्कथनमन्येषामनित्यत्वबोधनायेति भावः। यथा 'तत्स्थानापन्ने तद्धर्मलाभ' इति न्यायसिद्धं स्थानिवत्सत्रम्, ज्ञापकसिद्धं च तत्र 'अनल्विधावि'ति ॥ १२५ ॥

किसी वस्तु का ज्ञान जब स्पष्टतः उसका पाठ करके (उच्चारण करके) कराया जा सकता है तो ऐसा न करके अनुमान के द्वारा उसका बोध कराने से यह सिद्ध होता है कि वह चीज सार्वत्रिक नहीं है। यद्यपि शब्दतः उच्चारण करने में कण्ठ-तालवादि के अभिघात का गौरव होता है तथापि अनुमान से उसका बोध कराने में ज्ञानजनकमनोव्यापार का गौरव भी कम नहीं होता। इस प्रकार गौरव की समानता होने पर भी स्पष्टोच्चारण में प्रतिपत्ति का लाघव होता है। ऐसा न करके गौरव-ग्रस्त अनुमान के द्वारा बोध कराना सार्वत्रिक नहीं होता। इसलिये ज्ञापकसिद्ध परिभाषाओं से अभीष्ट की सिद्धि तो की जा सकती है किन्तु अनिष्ट की आपत्ति नहीं की जा सकती। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' सूत्र के भाष्य में यह बात ध्वनित है। वहाँ पर ज्ञापकसिद्ध 'लिङ्गविशिष्ट परिभाषा' की प्रवृत्ति 'द्विषतीतायः' इस प्रयोग में नहीं की गई है। इसका फल यह होता है कि यहाँ 'द्विषत्परयोस्तायै' सूत्र से सुम् नहीं होता।

इसी प्रकार 'कार्मस्ताच्छील्ये' से ज्ञापित 'ताच्छीलिकेऽण्कृतानि भवन्ति' इस परिभाषा की प्रवृत्ति छत्र शब्द से ण प्रत्यय करके स्त्रीलिंग बनाने पर नहीं होती। फलस्वरूप 'छात्रा' प्रयोग में अण् प्रयुक्त ङीप् न होकर स्त्रीत्व का द्योतक टाप् ही होता है।

यदि कहा जाय कि उपर्युक्तव्याख्यान के आधार पर यह निष्कर्ष निकला कि जो ज्ञापकसिद्ध है वह सार्वत्रिक नहीं है तो ऐसी स्थिति में जो परिभाषाएँ न्यायसिद्ध हैं वे तो सार्वत्रिक हो सकती है। इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि परिभाषा में जो ज्ञापक शब्द आया है वह न्याय का भी उपलक्षण है।

अर्थात् न्याय सिद्ध भी सार्वत्रिक नहीं होता। किन्तु ज्ञापकसिद्ध और न्याय-सिद्ध का भी यदि शब्दतः कथन कर दिया जाय तो उसका तात्पर्य यह है कि उनसे अन्य जो ज्ञापकसिद्ध और न्यायसिद्ध हैं वे अनित्य हैं। जैसे 'तत् स्थानापन्नस्तद्धर्मं लभते' इस लौकिक न्याय से सिद्ध स्थानिवत् सूत्र है और 'अनल्विधौ' यह अंश ज्ञापकसिद्ध है। क्योंकि 'अदो जग्धिः' सूत्र में ल्यप् ग्रहण न करके 'ति किति' इतना ही करना चाहिये था। इतना करने पर भी स्थानिवत् सूत्र से ही क्त्वा प्रत्यय का तादि कित्व स्थानिवद्भाव से ल्यप् में चला आता। ऐसी स्थिति में इस सूत्र में ल्यप्

ग्रहण की क्या आवश्यकता है ? वही ल्यप् ग्रहण ज्ञापन करता है कि अल्विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता। स्थानिवद्भाव जब नहीं होगा तब तादि कित्व ल्यप् में नहीं जायेगा। इसलिये वहाँ ल्यप् ग्रहण करना स्वांश में चरितार्थ होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि 'स्थानिवत्' और 'अनल्विधौ' ये दोनों ज्ञापक न्यायसिद्ध हैं। इन ज्ञापकन्यायसिद्धों का शब्दतः पाठ भी किया गया है। इससे यह समझा जाता है कि इनसे भिन्न ज्ञापकन्यायसिद्ध असार्वत्रिक होते हैं, जैसे लोकन्याय से सिद्ध यदागमपरिभाषा 'दिदीपे' प्रयोग में प्रवृत्त नहीं होती है ॥ १२५ ॥

ननु 'द्रोग्धा द्रोग्धा द्रोढा द्रोढे'त्यादौ घत्वादीनामसिद्धत्वात् पूर्वं द्वित्वे एकत्र घत्वमपरत्र ढत्वमित्यस्याप्यापत्तिरत आह—

द्रुह् धातु से तृच् प्रत्यय करने पर हकार को वैकल्पिक घत्व करने के कारण 'द्रोग्धा' और 'द्रोढा' ये दो रूप बनते हैं। यहाँ 'नित्यवीप्सयोः' इस सूत्र से वीप्सा अर्थ में द्वित्व करने से 'द्रोग्धा द्रोग्धा' 'द्रोढा द्रोढा' इस प्रकार द्वित्वविशिष्ट रूप होते हैं।

यहाँ शंका होती कि 'वा द्रुहमुह्' इस सूत्र से विधेय घत्व और 'हो ढः' सूत्र से विधेय ढत्व ये दोनों त्रैपादिक हैं। इसलिये 'नित्यवीप्सयोः' (८।१।४) के सपादसप्ताध्यायी द्वित्व की दृष्टि में घत्व और ढत्व असिद्ध हो जायेंगे, ऐसी स्थिति में 'द्रोह्ता' इस आनुपूर्वी को द्वित्व करने पर एक जगह घत्व की और एक जगह ढत्व की आपत्ति होगी। तात्पर्य यह कि घत्वविशिष्ट और ढत्वविशिष्ट दो-दो रूप न बन कर एक-एक रूप भी बनने लगेंगे। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे ॥ १२६ ॥

'पूर्वत्रासिद्धम् इत्यधिकारे भवम् पूर्वत्रासिद्धीयम्' 'गहादित्वाच्छः' पूर्वत्रासिद्धम् सूत्र के अधिकार में होने वाले जो सूत्र, अर्थात् त्रिपादी सूत्र हैं उनमें 'अद्वित्वे' इस पद की उपस्थिति होती है। इस प्रकार इस परिभाषा का यह अर्थ होता है—द्वित्व से भिन्न पूर्वशास्त्र की कर्त्तव्यता में परशास्त्र असिद्ध होता है अवतरण में आये हुए प्रयोगों में पूर्वशास्त्र 'नित्यवीप्सयोः' के द्वारा द्वित्व ही कर्त्तव्य है इसलिये यहाँ 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र से घत्व और ढत्व की असिद्धि नहीं होगी। तस्मात् 'द्रोग्धा और द्रोढा' रूप बना कर ही द्वित्व किया जायेगा, जिससे वाञ्छित रूप की सिद्धि हो जायेगी।

द्वित्वभिन्ने पूर्वत्र कर्त्तव्ये परमसिद्धमित्यर्थः। 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८-२-१) इत्यधिकारभवं शास्त्रमस्या लिङ्गम्।

यत्र च सिद्धत्वासिद्धत्वयोः फले विशेषस्तत्रैवेयम्। 'कृष्णर्द्धिरि'त्यादौ

जश्त्वात्पूर्वमनन्तरं वा द्वित्वे रूपे विशेषाभावेन नास्याः प्रवृत्तिरित्यन्यत्र विस्तरः। 'सर्वस्य द्वे' (८-१-१) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टेयम् ॥ १२६ ॥

द्वित्व से भिन्न कार्य के विधायक पूर्वशास्त्र की कर्त्तव्यता में परशास्त्र असिद्ध होता है यही परिभाषार्थ है। इसकी जगह ऐसा परिभाषार्थ नहीं किया जा सकता कि द्वित्व की कर्त्तव्यता में 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र प्रवृत्त नहीं होता अर्थात् त्रैपादिक असिद्ध नहीं होता। क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर 'दिव्+भ्याम्' इस स्थिति में 'अनचि च' (८।४।४७) इस त्रिपादी सूत्र से वकार को जो द्वित्व प्राप्त होगा, उसकी कर्त्तव्यता में पूर्वत्रासिद्धम् सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। उसका परिणाम यह होगा कि 'दिव उत्' (६।१।१३१) इस सपादसप्ताध्यायी के प्रति 'अनचि च' सूत्र असिद्ध नहीं होगा। फल-स्वरूप वकार को द्वित्व करके उत्व विधान करने पर उससे पूर्व वकार का श्रवण होने लगेगा। इसलिये परिभाषा का ऐसा अर्थ करना संगत नहीं है। द्वित्व से भिन्न कार्यविधायक पूर्वशास्त्र की कर्त्तव्यता में परशास्त्र असिद्ध होता है ऐसा सिद्धान्त-भूत अर्थ के करने पर दोनों दोष नहीं रहते, क्योंकि 'द्रोग्धा' में द्वित्वभिन्न पूर्वशास्त्र नहीं है इसलिये यहाँ ढत्वादि असिद्ध नहीं होंगे। 'द्युभ्याम्' में द्वित्वभिन्न वकार विधान करने वाला 'दिव उत्' शास्त्र है अतः यहाँ त्रैपादिक द्वित्व असिद्ध हो जाता है। इस प्रकार सब तगह संगति बैठ जाती है।

'पूर्वत्रासिद्धम्' इस अधिकार के अन्तर्गत आने वाले सूत्र अर्थात् त्रैपादिक सूत्र इस परिभाषा के लिङ्ग हैं। इसलिये उसकी प्रवृत्ति वहीं होती है जहाँ त्रिपादी सूत्र हों।

जहाँ सिद्धत्व और असिद्धत्व के बीच फल की विशेषता हो, जैसे उदाहृत 'द्रोग्धा' और 'द्युभ्याम्' इत्यादिस्थलों में, वहीं इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। 'कृष्णार्-ध्-धि' इस स्थिति में इस परिभाषा के द्वारा 'अचो रहाभ्याम्' इस द्वित्व की दृष्टि में 'झलां जश् झशि' इस जश् को असिद्ध न किया जाय, किन्तु परत्वात् पहले जश्त्व के द्वारा धातु के धकार को दकार कर दिया जाय और उसके बाद द्वित्व किया जाय तो दो दकारक और एक धकारकरूप बनेगा। यदि इस जगह परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं की जाय और जश्त्व से पहले धकारों को द्वित्व कर दिया जाय और इसके बाद दोनों धकारों को जश्त्व कर दिया जाय तो भी वही रूप बनेगा। इस प्रकार यहाँ जश्त्व से पहले या बाद में द्वित्व करने पर रूप में कोई विशेषता नहीं होती, इसलिये यहाँ परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। यह बात अन्यत्र शेखर आदि ग्रन्थों में विस्तार से कही गई है। 'सर्वस्य द्वे' इस सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है। वहाँ 'द्रोग्धा द्रोग्धा' इस प्रयोग की सिद्धि के लिए भाष्यकार ने कहा 'पूर्वत्रासिद्धी-यमद्विर्वचने, इति वक्ष्यामि' इस प्रकार भाष्य में यह वचन रूप में पढी गई है।

इस परिभाषा में द्वित्वपद से अष्टम अध्याय के पदद्वित्व तथा वर्णद्वित्व और छठे अध्याय का द्वित्व इन सभी का ग्रहण किया जाता है क्योंकि द्वित्व विशेष का ही ग्रहण किया जाय, इसका कोई विनिगमक नहीं है। इसी लिये 'वाक्क्, वाक्' ये वर्ण द्वित्व के भाष्योदाहरण संगत होते हैं। यहाँ 'अनचि च' की दृष्टि में चर् असिद्ध नहीं होता, अतः ककार को द्वित्व होता है।

यह परिभाषा अनित्य है। 'उभौ साभ्यासस्य' यह सूत्र इसकी अनित्यता में प्रमाण है। 'प्राणिणत्' इस प्रयोग में अभ्यास के नकार और उसके उत्तरखण्ड के नकार इन नकारों को णकार करने के लिये यह सूत्र है। यदि यह परिभाषा नित्य होती, तो 'प्र-अन्-इ-अत्' इस स्थिति में 'चङि' (६।१।११) सूत्र से धातु को द्वित्व, तथा 'अनितेः' (८।४।१९) सूत्र से धातु के नकार को णकार प्राप्त रहने पर इस परिभाषा से 'अनितेः' सूत्र असिद्ध नहीं होता, क्योंकि द्वित्वभिन्न पूर्वत्र की कर्त्तव्यता में पर असिद्ध होता है। यहाँ पूर्वशास्त्र से द्वित्व ही करना है इसलिये णत्व असिद्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में पहले णत्व करके पीछे द्वित्व किया जाता, जिससे प्राणिणत् प्रयोग की सिद्धि हो सकती थी, तो 'उभौ साभ्यासस्य' सूत्र की क्या आवश्यकता रह जाती है। इस प्रकार यह सूत्र व्यर्थ होकर इस परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापन करता है। परिभाषा के अनित्य होने पर द्वित्व की दृष्टि से 'अनितेः' सूत्र के असिद्ध हो जाने के कारण प्राणिणत् में दोनों नकारों को णत्वविधान करने के लिये 'उभौ साभ्यासस्य' सूत्र की स्वांश में चरितार्थता होती है। इसलिये 'प्रणिनाय' प्रयोग की सिद्धि होती है। यहाँ द्वित्व की कर्त्तव्यता में 'उपसर्गादसमासेऽपि सूत्र असिद्ध हो जाता है, जिससे पहले द्वित्व करके पीछे णत्व किया जाता है। इस प्रकार 'प्रणिनाय' यह प्रयोग सिद्ध होता है॥ १२६॥

ननु 'गोष्वश्वेषु च स्वामी'त्यादिवद् 'गोष्वश्वानां च स्वामी'त्यपि स्यात् 'स्वामीश्वर' (२–३–३९) इति सूत्रेण षष्ठीसप्तम्योर्विधानादत आह—

'गोषु अश्वेषु च स्वामी' यहाँ दोनों जगह सप्तमी विभक्ति हुई है, 'गवाम्, अश्वानाम् च स्वामी' यहाँ दोनों जगह षष्ठी विभक्ति हुई है। यहाँ शंका यह होती है कि इन प्रयोगों में 'स्वामीश्वराधिपति' इत्यादि सूत्र से षष्ठी और सप्तमी का विधान किया गया है। स्वामी आदि शब्दों के योग में यह सूत्र षष्ठी और सप्तमी का विधान करता है। ऐसी स्थिति में 'गोषु अश्वेषु च स्वामी' इस प्रयोग की भाँति 'गोषु अश्वानाञ्च स्वामी' इस प्रकार का एक जगह षष्ठी युक्त और दूसरी जगह सप्तमी विभक्ति से युक्त प्रयोग क्यों नहीं होता? 'स्वामीश्वराधिपति' इत्यादि सूत्र से जब दोनों विभक्तियों का विधान किया जाता है तो एक जगह षष्ठी और

दूसरी जगह सप्तमी घटित प्रयोग भी होना चाहिये। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनाई गई—

एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भविष्यति ॥ १२७ ॥

इस परिभाषा में 'एकस्याः' इस पद से पहले 'यत्र' पद का और 'द्वितीयस्याः' इस पद से पहले 'तत्र' पद का समावेश है, ऐसा समझना चाहिये। आकृति का अर्थ स्वरूप अर्थात् श्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदकधर्म है। 'चरितः' इस पद का अर्थ 'कृतः' है। इसके बाद 'अतः' पद का सन्निवेश करके इस प्रकार परिभाषा का अर्थ किया जाता है—जहाँ पर एक आकृति (स्वरूप) का प्रयोग कर दिया गया है, इसलिये वहाँ द्वितीय या तृतीय आकृति का प्रयोग नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिस वाक्य में जिस अर्थवाले और जिस धर्मवाले शब्द का प्रयोग एक जगह कर दिया गया हो, उस वाक्य में दूसरी जगह भी उसी धर्मवाले और उसी अर्थवाले शब्द का प्रयोग करना चाहिये, न कि उससे भिन्न अर्थवाले और भिन्न धर्मवाले का प्रयोग। 'गोषु अश्वेषु च स्वामी' इस वाक्य में गो शब्द से सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। अब यदि अश्व शब्द से षष्ठी का प्रयोग करते हैं तो यह भिन्न धर्म वाले और भिन्न अर्थ वाले का प्रयोग कहा जायेगा, जिससे वाञ्छित अर्थ की अपेक्षा भिन्न अर्थ की प्रतीति होने लगेगी जो सर्वथा अनभीष्ट है। इसलिये दोनों जगह षष्ठी का ही अथवा सप्तमी का ही प्रयोग करना चाहिये, न कि एक जगह षष्ठी का और दूसरी जगह सप्तमी का प्रयोग।

यत्रान्याकृतिकरणे भिन्नार्थत्वसम्भावना तद्विषयोऽयं न्याय इत्यन्यत्र विस्तरः। 'कृञ्चानुप्रयुज्यते' (३-१-४०) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टेयम् ॥१२७॥

जहाँ अन्य आकृति का प्रयोग करने पर भिन्न अर्थ की सम्भावना हो, वहीं इस न्याय की प्रवृत्ति होती है। जैसे 'गोषु अश्वानां स्वामी' ऐसा प्रयोग करने पर 'अश्वों का स्वामी गायों में है' इस अर्थ की सम्भावना हो जाती है। इस अनभीष्ट अर्थ के निवारण के लिए प्रकरणादि का अन्वेषण करना पड़ेगा; जो एक प्रकार का गौरव होगा। इसकी अपेक्षा दोनों जगह यदि षष्ठी का या सप्तमी का प्रयोग किया जाता है तो असन्दिग्ध अर्थ की प्रतीति झटिति हो जाती है। यही इस परिभाषा का बीज है। 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इस सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा स्पष्ट है। वहाँ कहा गया है कि आमन्त शब्द लिङन्त होता है अर्थात् उससे पर में लिट् प्रत्यय होता है ऐसी स्थिति में इस परिभाषा के द्वारा अनुप्रयुज्यमान कृ, भू, और अस् भी लिट्-परक ही होंगे। इस प्रकार इस परिभाषा से अनुप्रयुज्यमान कृ, भू, अस् की लिट्-

परकता जब स्वयंसिद्ध है तब 'कृञ्चानुप्रयुज्यते' सूत्र में लिट् ग्रहण की आवश्यकता नहीं है। इस सूत्र में यह परिभाषा स्पष्ट की गई है ॥ १२७ ॥

ननु 'विव्याधे'त्यादौ परत्वाद् 'हलादिः शेषे' वस्य सम्प्रसारणं स्यादत आह—

'व्यध् ताडने' धातु लिट् लकार लाने पर द्वित्व करके 'लिट्यभ्यासस्य' सूत्र से अभ्यास को सम्प्रसारण करके 'विव्याध' प्रयोग को सिद्ध किया जाता है। यहाँ शंका होती है कि 'व्यध्—व्यध्+अ' इस स्थिति में सम्प्रसारण हलादिशेष दोनों की साथ ही प्राप्ति होने पर सम्प्रसारण की अपेक्षा 'हलादिः शेषः' के पर में होने के कारण पहले परत्वात् हलादिशेष ही किया जायेगा। इसके बाद अवशिष्ट वकार को ही सम्प्रसारण होगा। परिणाम यह होगा कि 'विव्याध' प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनायी गयी—

सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत् ॥ १२८ ॥

सम्प्रसारण और तदाश्रयकार्य ('सम्प्रसारणच्च' सूत्र से किया जाने वाला पूर्वरूप) बलवान् होते हैं।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह हुआ कि प्रस्तुत प्रयोग में 'हलादिः शेषः' की अपेक्षा बलवान् होने के कारण पहले सम्प्रसारण ही हो गया। इसके बाद 'हलादिः शेषः' करके 'विव्याध' प्रयोग की सिद्धि की गई।

तदाश्रयं 'सम्प्रसारणाच्च' (६-१-१०८) इति पूर्वरूपम्।

वस्तुतो 'लिट्यभ्यासस्य' (६-१-१७) इति सूत्रे उभयेषां ग्रहणस्योभयेषां सम्प्रसारणमेव यथा स्यादित्यर्थकत्वेनेदं सिद्धमित्येषा व्यर्थेति 'लिट्यभ्यासस्य' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। फलान्तरान्यथासिद्धिरपि तत्रैव भाष्ये स्पष्टा। 'णौ च संश्चङोः' (६-१-३१) इत्यादौ संश्चङोरित्यादि विषयसप्तमीति तत्रापि न दोष इत्यन्यत्र विस्तरः ॥ १२८ ॥

परिभाषा में आये हुए तदाश्रय शब्द का अर्थ है सम्प्रसारणाश्रयकार्य 'सम्प्रसारणाच्च' इस सूत्र से किया जाने वाला पूर्वरूप। ये दोनों कार्य अर्थात् सम्प्रसारण और सम्प्रसारणाश्रय पूर्वरूप, अन्य कार्यों की अपेक्षा बलवान् होते हैं।

यह परिभाषा कोई अपूर्ववचन नहीं है किन्तु सिद्ध बात का कथन मात्र है इसी बात को वस्तुतः शब्द से कह रहे हैं कि वस्तुतस्तु यह परिभाषा व्यर्थ है, क्योंकि 'लिट्यभ्यासस्य' इस सूत्र में वाच्यादि और ग्रह्यादि की अनुवृत्ति से ही कार्य चल सकता था तो ऐसी स्थिति में वहाँ 'उभयेषाम्' का ग्रहण क्यों किया गया? वही 'उभयेषाम्' का ग्रहण यह बोधित करता है कि 'वाच्यादि और ग्रह्यादि' के अभ्यास को सम्प्रसारण ही होता है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी प्राप्त होता है वह नहीं

होता है। इस प्रकार 'विव्याध' प्रयोग में हलादि शेष की अपेक्षा सम्प्रसारण का ही होना निश्चित हो जाता है। ऐसी स्थिति में इदं सिद्धम्='विव्याध' यह प्रयोग सिद्ध हो ही जाता है तो इसके लिये इस परिभाषा की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार यह परिभाषा व्यर्थ है, यह बात 'लिट्यभ्यासस्य' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। वहाँ का प्रकरण इस प्रकार है—'विव्याध' प्रयोग की सिद्धि के लिये वार्तिककार ने वार्तिक बनाया 'अभ्यासस्य सम्प्रसारणं हलादिः शेषाद् विप्रतिषेधेन'। इस पूर्वविप्रतिषेधपरक वार्तिक का खण्डन करते हुए भाष्यकार ने कहा कि 'न वा सम्प्रसारणाश्रयबलीयस्त्वादन्यत्रापि' अर्थात् पूर्ववार्तिक की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सम्प्रसारणाश्रयकार्य बलवान् होते हैं। इसका प्रयोजन अन्यत्र भी है। अन्यत्र से तात्पर्य रमागम, आकार का लोप, इयङ् और यण् से है। भाष्यकार ने कहा है 'प्रयोजनं रमाल्लोपेयङ्यणः'। 'भृष्टः' 'भृष्टवान्' इन प्रयोगों में सम्प्रसारण को बाध कर परत्वात् 'भ्रस्जोरोपधयो रमन्यतरस्याम्' सूत्र से रम् का आगम प्राप्त है। ह्वेञ् धातु लिट् लकार में 'जुहुवतुः' प्रयोग में 'आतो लोप' सूत्र से आकार का लोप प्राप्त होता है। यदि आकार का लोप हो जाता है तो उसके स्थानिवद्भाव से उकार को उवङ् नहीं हो सकेगा, क्योंकि उवङ् अजादि प्रत्यय पर में रहने पर होता है। इस प्रकार यहाँ प्रकार यहाँ उवङ् का अभाव और यण् की प्राप्ति होने लगेगी।

इसी प्रकार श्वि धातु से लिट् लकार लाने पर जो 'शुशुवतुः' प्रयोग बनता है, यहाँ सम्प्रसारण से पहले इयङ् आदेश की प्राप्ति होती है और सम्प्रसारण के बाद प्राप्त पूर्वरूप को परत्वात् बाध कर यण् प्राप्त होता है, यहाँ 'विभाषा श्वेः' सूत्र से सम्प्रसारण होता है।

इन सब कार्यों को बाधने के लिये तथा सम्प्रसारण और तदाश्रयकार्य को करने के लिये इस परिभाषा का आश्रयण करना चाहिये, ऐसा भाष्यकार ने कहा। ऐसा कह कर भाष्यकार ने आगे कहा कि सम्प्रसारण के साथ जो विधियाँ प्राप्त हैं उनकी अपेक्षा सम्प्रसारण नित्य है, इसलिये नित्यत्वात् उनको बाधकर सम्प्रसारण स्वयमेव हो जायेगा। इसी प्रकार 'सम्प्रसारणाच्च' सूत्र का पूर्वरूप अन्यविधियों की अपेक्षा अन्तरङ्ग है, इसलिये ये अन्तरङ्गत्वात् उन्हें बाध लेगा। इस प्रकार नित्यत्वात् और अन्तरङ्गत्वात् सम्प्रसारण और तदाश्रय कार्य की सिद्धि करके भाष्यकार ने इस परिभाषा का प्रत्याख्यान कर दिया।

इस प्रकार 'विव्याध' इस फल की अपेक्षा 'भृष्टः, जुहुवतुः' इत्यादि जो इस परिभाषा के फलान्तर थे, उनकी अन्यथासिद्धि=प्रकारान्तर से सिद्धि उसी भाष्य में स्पष्ट कर दी गई है।

यदि कहा जाय कि इस परिभाषा को स्वीकार नहीं करते हैं तो ण्यन्त श्वि धातु से लुङ् लकार लाने पर 'च्ल और चिङ्' आदेश के बाद 'अ-श्वि-इ-अत्' इस स्थिति में 'णौ च संश्चङोः' (६।१।३१) सूत्र से क्रियमाण सम्प्रसारण की अपेक्षा 'अचो ञ्णिति' की वृद्धि अन्तरङ्ग होने के कारण अन्तरङ्गत्वात् यदि पहले वृद्धि और आयादेश कर देते हैं तो 'अशूशवत्' यह वाञ्छित प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा, तो इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि सम्प्रसारणविधायक उक्त सूत्र में जो 'संश्चङोः' यह पद है इसमें विषयसप्तमी है। विषयसप्तमी स्वीकार करने का परिणाम यह होता है कि चङ् की विषयता में ही सम्प्रसारण हो जाता है। तात्पर्य यह है कि सम्प्रसारण की अपेक्षा वृद्धि की जो अन्तरङ्गता हो रही थी, वह अन्तरङ्गता विषयसप्तमी मानने से समाप्त हो जाती है। इसलिए पहले सम्प्रसारणादि कार्य करके पीछे द्वित्व आदि कार्य किया जाता है जिससे 'अशूशवत्' प्रयोग की सिद्धि हो जाती है। यह बात अन्यत्र=भाष्यादि में स्पष्ट है॥ १२८॥

अब प्राचीनसम्मत वाचनिक दो परिभाषाओं के खण्डन के उद्देश्य से उनका उपक्रम करते हुए कह रहे हैं—

यत्तु—

क्वचिद्विकृतिः प्रकृतिं गृह्णाति॥ १२९॥

कहीं पर विकृति से प्रकृति का ग्रहण होता है।

तेन 'निसमुपविभ्यो ह्वः' (१-३-३०) इत्यत्र ह्वाग्रहणेन ह्वेञो ग्रहणसिद्धिः।

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह होता है कि 'निसमुपविभ्यो ह्वः' इस सूत्र में ह्वे के विकारभूत ह्वा शब्द से उसकी प्रकृति 'ह्वे' धातु का ग्रहण होता है, इसीलिये 'निह्वयते' प्रयोग में आत्मनेपद की सिद्धि होती है।

तथा—

इसी प्रकार—

औपदेशिकप्रायोगिकयोरौपदेशिकस्यैव ग्रहणम्॥ १३०॥

औपदेशिक और प्रायोगिक के मध्य औपदेशिक का ही ग्रहण होता है।

तेन 'दादेर्धातोः' (८-२-३२) इत्यत्र औपदेशिकधातोरेव ग्रहणमिति। तन्न। तयोर्निर्मूलत्वाद्भाष्याव्यवहृतत्वाच्च। न च विकृतिः प्रकृतिं गृह्णातीति 'ग्रहिज्या' (६-१-१६) इति सूत्रस्थभाष्येणाद्यायास्तिरस्काराच्च 'निसमुपविभ्यो ह्वः' इत्यादौ ह्वेऽनुकरणे सौत्रः प्रयोगः।

आत्वविषय एवात्मनेपदं प्रयोगस्थानामेवानुकरणस्य घुसंज्ञासूत्रे भाष्ये स्पष्टमुक्तत्वादित्यन्ये ।

अन्त्यापि तत्रोपदेशग्रहणं कुर्वतः सूत्रकृतो वार्तिककृतश्चासम्मता । "इह हि व्याकरणे सर्वेष्वेव सानुबन्धकग्रहणेषु रूपमाश्रीयते यत्र अस्यैतद्रूपमिति । रूपनिर्ग्रहश्च शब्दस्य नान्तरेण लौकिकं प्रयोगम् । तस्मिंश्च लौकिके प्रयोगे सानुबन्धकानां प्रयोगो नास्तीति कृत्वा द्वितीयः प्रयोग उपास्यते, क उपदेशो नामे"ति घुसंज्ञासूत्रस्थभाष्येण प्रायोगिकासम्भवे तद्ग्रहणमित्यर्थस्य लाभेन भाष्यासम्मता च ।

भाष्ये सानुबन्धकेत्यादि प्रकृताभिप्रायेण । 'दादेः' इति सूत्रे दादिपदस्यौपदेशिकदादित्ववति लक्षणेति न दोष इत्यन्यत्र विस्तरः ॥ १२९-१३० ॥

इस परिभाषा को स्वीकार करने का फल यह होता है कि 'दादेर्धातोर्घः' इस सूत्र में औपदेशिक दादिधातु का ग्रहण किया जाता है । परिणाम इसका यह होता है कि 'अधोक्' प्रयोग में अडागम होने के कारण यद्यपि दादित्व का अभाव हो गया है, तथापि 'दुह्' धातु के अपौदेशिक दादि होने के कारण उसके हकार को घकार हो जाता है, किन्तु 'दामलिहमात्मन इच्छति' इस विग्रह में धातु बनाये गये 'दामलिह्' धातु के दादि होने पर भी उसके हकार को घकार नहीं होता है क्योंकि 'दामलिह्' औपदेशिक धातु नहीं है ।

नागेशभट्ट इन दोनों परिभाषाओं का खण्डन करते हुए कह रहे हैं—तन्न; अर्थात् उपर्युक्त दोनों परिभाषाएँ निर्मूल तथा भाष्यकार के द्वारा अव्यवहृत होने के कारण मान्य नहीं हैं ।

'ग्रहिज्यावयि' इत्यादि सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने पहली परिभाषा का तिरस्कार करते हुए कहा कि 'न च विकृतिः प्रकृतिं गृह्णाति' अर्थात् विकृति से प्रकृति का ग्रहण नहीं होता । अब इसके ऊपर प्रश्न होता है कि जब विकृति से प्रकृति का ग्रहण नहीं होता तो 'निसमुपविभ्यो ह्वः' इस सूत्र में ह्वा शब्द से ह्वे धातु का ग्रहण कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए नागेशभट्ट कह रहे हैं कि उक्त सूत्र में जो 'ह्वः' यह निर्देश किया गया है वह एकारान्त ह्वे धातु का अनुकरण है । अनुकरण से अनुकार्य का बोध होता है इसलिये ह्वा शब्द से ह्वे धातु का बोध हो जायेगा । यदि कहा जाय कि आत्वविधायकसूत्र 'आदेच उपदेशेऽशिति' में अशिति पद में यद्यपि प्रसज्यप्रतिषेध का आश्रयण किया गया है, तथापि उसी एच् को आत्व होता है जिसमें शित्परत्व की योग्यता हो, अन्यथा सर्वत्र आत्व की आपत्ति होने लगेगी । ऐसी स्थिति में सूत्रस्थ ह्वे धातु में शित् परत्व की योग्यता न होने के कारण यहाँ आत्व किस प्रकार हुआ है ?

इस शंका के उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि यह सौत्र प्रयोग है। जैसे—'उदीचां माङो व्यतीहारे' सूत्र में सूत्रत्वात् आत्व हो गया है वैसे ही यहाँ भी सूत्रत्वात् आत्व हो गया है। आत्व हो जाने के बाद 'आतो धातोः' सूत्र की प्रवृत्ति हो जाने से 'ह्वः' यह निर्देश उपपन्न हो जाता है।

कुछ लोगों का कहना है कि शित् भिन्न प्रत्ययों में जहाँ ह्वे धातु के एकार को आत्व होता है, उन प्रयोगस्थ ह्वा शब्दों का अनुकरण यह 'निसमुपविभ्यो ह्वः' सूत्र का ह्वा शब्द है। इसलिये नि, सम्, उप् और वि से पर में रहने वाले ह्वे धातु से आत्मनेपद वहीं होगा जहाँ आत्व की विषयता होगी। आत्व की विषयता अशित् लकार में होती है, इसलिये वहीं आत्मनेपद भी होगा, अन्यत्र नहीं होगा। घुसंज्ञा विधायक सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि 'ह्वः' यह अनुकरण प्रयोगस्थ ह्वा शब्द का है। इस प्रकार 'क्वचित् विकृतिः प्रकृतिं गृह्णाति' यह पहली परिभाषा अनावश्यक है।

अन्त्यापि=दूसरी परिभाषा जो औपदेशिक के ग्रहण के लिये उपात्त है उसकी भी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जहाँ-जहाँ औपदेशिक ग्रहण अभिप्रेत है वहाँ-वहाँ सूत्रकार और वार्तिककार ने उपदेश ग्रहण कर दिया है। जैसे—'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इत्यादि सूत्रों में सूत्रकार ने उपदेश का ग्रहण किया है। वार्तिककार ने भी 'स्यसिच्' (६।४।६२) सूत्र में कहा है कि 'चिण्वद्भाव उपदेशवचनमृकारगुणबलीयस्त्वात्'। इस प्रकार सूत्रकार और वार्तिककार के द्वारा तत्तद्स्थलों में उपदेशग्रहण करने से यह स्पष्ट है कि उन्हें यह परिभाषा अभिप्रेत नहीं है।

यह परिभाषा भाष्यकार को भी सम्मत नहीं है। 'तरप्तमपौ घः' इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने विचार किया कि 'नद्यास्तरो नदीतरः' यहाँ तर को घ संज्ञा क्यों नहीं होती? ऐसी शंका करके भाष्यकार ने कहा कि इस व्याकरण शास्त्र में जहाँ-जहाँ अनुबन्ध सहित का ग्रहण किया गया है उन सभी सानुबन्धक स्थलों में रूप का आश्रयण किया जाता है। जहाँ उसका वैसा रूप रहेगा, वहीं पर वह कार्य होगा। किसी भी शब्द के रूप का प्रयोग लौकिक प्रयोग के बिना सम्भव नहीं है। उस लौकिक प्रयोग में सानुबन्धक शब्द का प्रयोग नहीं होता, जैसे—'लघुतरः, लघुतमः' इन प्रयोगों में अनुबन्ध पकार का उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार 'नदीतरः' प्रयोग में भी अनुबन्ध का उल्लेख न होने के कारण 'लघुतर और नदीतरः' में कोई पार्थक्य न होने के कारण 'नदीतरः' में भी घ संज्ञा की प्राप्ति होती है। इस दोष को दूर करने के लिये भाष्यकार कहते हैं कि 'द्वितीयः प्रयोग उपास्यते' अर्थात् तरप् आदि प्रत्ययों के दूसरे प्रयोग का आश्रयण किया जायेगा। अब प्रश्न होता है कि

लौकिक प्रयोग के अतिरिक्त इनका दूसरा प्रयोग कहाँ होता है ? उत्तर में भाष्यकार का कहना है कि दूसरा प्रयोग उपदेश अवस्था में होता है अर्थात् औपदेशिक प्रयोग का ग्रहण किया जायेगा। नदीतरः का तर शब्द औपदेशिक तरप् नहीं है जैसे कि 'लघुतरः' 'ब्राह्मणितरा' इत्यादि प्रयोगों का तरप् औपदेशिक तरप् है। 'नदीतरः' का जो तर शब्द है वह तो तृ धातु से अप् प्रत्यय (ऋदोरप्) करने से बना है। इसलिये यहाँ घ संज्ञा नहीं होती इस प्रकार भाष्यकार ने प्रायोगिक सानुबन्धक के असम्भव होने के कारण औपदेशिक सानुबन्धक का ग्रहण करके इस बात को ध्वनित किया है कि इस कार्य के लिये इस परिभाषा की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जब प्रायोगिक असम्भव होगा तो औपदेशिक का ग्रहण स्वयमेव सिद्ध है। इस प्रकार यह दूसरी परिभाषा भी सूत्र, वार्तिक और भाष्य से असम्मत होने के कारण व्यर्थ ही है।

यहाँ यह बात भी स्पष्ट हो जानी चाहिये कि पकार अनुबन्ध के साथ रहते ही तरप् और तमप् प्रत्ययों की उपदेश अवस्था में ही घ संज्ञा हो जाती है। 'ब्राह्मणितरा' इत्यादि प्रयोगों में स्थानिवद्भाव से यह घ संज्ञा 'तर' में मानी जाती है। 'नदीतरा' का 'तर' कभी भी पकारानुबन्ध सहित औपदेशिक नहीं होता, अतः यहाँ घ संज्ञा नहीं हो सकती।

'तरप्तमपौ घः' इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कहा है कि 'इह हि व्याकरणे सर्वेष्वेव सानुबन्धकग्रहणेषु रूपमाश्रीयते' इस भाष्य में जो 'सानुबन्धकग्रहणेषु' यह अंश है वह प्रकृत अर्थात् प्रस्तुत प्रकरणगत 'तरप्तमपौ घः' इस सूत्र के अभिप्राय से लिखा गया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सानुबन्धक तरप् यहाँ उपदेश अवस्था में मिलता है और इसे यहीं घ संज्ञा हो जाती है, इसी प्रकार सभी सानुबन्धक-स्थलों समझना चाहिये।

यहाँ अब यह शंका होती है कि जब यह परिभाषा नहीं है तब 'दादेर्धातोर्घः' इस सूत्र में औपदेशिक दादिधातु का ग्रहण किस प्रकार होगा ? और जब यहाँ औपदेशिक दादि का ग्रहण नहीं होगा तो 'अधोक्' में अजादि धातु हो जाने के कारण घत्व न होने से अव्याप्ति दोष तथा 'दामलिट्' प्रयोग में दादि (नामधातु) धातु होने के कारण प्रसक्त घत्व के कारण अतिव्याप्ति दोष का वारण किस प्रकार होगा ? इस शंका के उत्तर में नागेशभट्ट का कहना है कि यहाँ दादिपद औपदेशिक दादित्व का बोध लक्षणा से करा देता है जिससे 'अधोक्' प्रयोग में अडागम के द्वारा अजादि हो जाने पर भी दुह धातु के औपदेशिक दादि होने के कारण यहाँ घत्व हो जाता है। 'दामलिट्' प्रयोग में यद्यपि दादित्व है तथापि यह दामलिह् औपदेशिक धातु नहीं है। यह तो नामधातु है अतः यहाँ घत्व नहीं होता। इस प्रकार इस परिभाषा के अभाव में भी उपर्युक्त अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों का निराकरण हो जाता है।

यहाँ लक्षणा के द्वारा उपदेशपदार्थ के लाभ के सम्बन्ध में तीन मत हैं। प्राचीन दीक्षित आदि विद्वानों का कहना है कि 'दादेर्धातोर्घः' इस में जो धातु पद है उसकी आवृत्ति की जाती है। उनमें आवृत्त 'धातोः' यह पद व्यर्थ होकर उपदेशकाल में लाक्षणिक होता है। अर्थात् उपदेशकालिक धातु का यहाँ ग्रहण किया जायेगा। किन्तु ऐसा व्याख्यान करने पर 'दामलिट्' प्रयोग में दोष न होने पर भी 'अधोक्' की अव्याप्ति नहीं मिटेगी क्योंकि औपदेशिक धातु होने पर भी सम्प्रति यह दादि नहीं है। नागेशभट्ट ने उपर्युक्त दोष को दूर करने के लिये 'दादेः' इसी पद की आवृत्ति की है। एक ही 'दादेः' पद से वाञ्छित सिद्धि हो जाने की स्थिति में आवृत्त दादि पद की क्या आवश्यकता है ? यही 'दादेः' पद व्यर्थ होकर उपदेशकालिक दादि अर्थ में लाक्षणिक होता है। इस प्रकार दामलिट् और अधोक् दोनों दोषों का निराकरण हो जाता है।

भाष्यकार ने 'धुक्' इत्यादि प्रयोगों में पूर्वत्रिपादी 'हो ढः' सूत्र से परत्रिपादी 'दादेर्धातोर्घः' का बाध होकर ढ्त्व न होने लगे इसलिए अपवादत्वेन घत्व से ढ्त्व का बाध करके एक समाधानानन्तर दिया कि 'हो ढोऽदादेः' और 'धातोर्घः' ऐसा न्यास किया जायेगा। इसमें उत्तर योग में नञ् रहित 'दादेः' इस पद की अनुवृत्ति की जायेगी। फिर प्रश्न होगा कि जब दादिभिन्न के हकार को ढकार होता है तब यह स्वयं सिद्ध है कि घत्व जो होगा वह तो दादि धात्वावयव हकार को ही होगा। ऐसी स्थिति में उत्तर योग में 'दादेः' पद की की गई अनुवृत्ति व्यर्थ होकर उपदेशकालिकदादित्वविशिष्ट में लाक्षणिक होती है। इस प्रकार 'दादेर्धातोर्घः' इस सूत्र में भी प्रस्तुत परिभाषा के अभाव में औपदेशिक का ग्रहण हो जाने के कारण कोई दोष नहीं रह जाता है। यह बात 'दादेर्धातोर्घः' सूत्र के शब्देन्दुशेखर में विस्तार से कही गई है॥ १२९-१३०॥

प्राचीनाभिमत पूर्व परिभाषाद्वय का खण्डन करके उनके द्वारा स्वीकृत ज्ञापकसिद्ध परिभाषा का खण्डन करने का उपक्रम करते हुए कह रहे हैं—

यदपि ननु 'अजघ्र्, बेभिदीति'त्यादौ तत्तद्गणप्रयुक्ता विकरणा यङ्लुकि स्युः, तथा यङ्लुकि 'बेभिदिते'त्यादौ 'एकाचः' (७-२-१०) इती इण्निषेधः स्यादत आह—

'गृधु अभिकाङ्क्षायाम्' इस धातु से यङ् प्रत्यय और 'यङोऽचि च' सूत्र से यङ् का लुक् करके प्रत्ययलक्षण से यङन्त मानकर 'सन्यङोः' सूत्र से द्वित्व, 'उरत्' सूत्र से अत्व रपरत्व और हलादि शेष करने के बाद 'रुग्रिकौ च लुकि' सूत्र से अभ्यास को रुक् का आगम और 'कुहोश्चुः' सूत्र से चवर्गादेश के उपरान्त लङ्-लकार, सिप्, अट् का आगम, शप्, उसका लुक्, लघूपधगुण, रपरत्व करने पर 'अजगर्ध्+सि'

इस स्थिति में 'इतश्च' सूत्र से इकार का लोप और 'हलङ्याब्भ्यः' सूत्र से सकार का लोप करके 'एकाचो वशो भष्' सूत्र से भष्भाव के द्वारा गकार को घकार किया जाता है। इसके बाद धकार को जश्त्वेन दकार करके 'दश्च' सूत्र से दकार को रु आदेश किया जाता है। इसके बाद 'अजघर्—र्' इस स्थिति में 'रो रिः' से लोप 'ढ्रलोपे' सूत्र से दीर्घ और रेफ को विसर्ग करके 'अजघाः' यह रूप सिद्ध किया जाता है। इसी प्रकार 'अतिशयेन पुनः पुनर्वा भिनत्ति' इस अर्थ में भिद् धातु से यङ् प्रत्यय, लुक्, द्वित्व, हलादि शेष 'गुणो यङ्लुकोः' सूत्र से अभ्यास को गुण करने के उपरान्त 'बेभिद्' धातु से लट्, तिप् 'यङो वा' इस सूत्र से ईट् का आगम करने पर 'बेभिदीति' रूप बनता है। इसी यङ्लुगन्त 'बेभिद्' धातु का लुट् लकार में 'बेभेदिता' रूप बनता है।

यहाँ यह शंका होती है कि गृध् धातु दिवादिगण का धातु है। इससे यङ्लुक् करके सिबादि प्रत्यय लाने पर 'दिवादिभ्यः श्यन्' सूत्र से श्यन् प्रत्यय होना चाहिये। इसी प्रकार 'बेभिदीति' प्रयोग में 'रुधादिभ्यः श्नम्' सूत्र से श्नम् होना चाहिये। 'बेभेदिता' प्रयोग में 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' सूत्र से इट् का निषेध होना चाहिये, क्योंकि भिद् धातु उपदेश में एकाच् है।

इस प्रकार की शंका होने पर कुछ लोगों ने यह परिभाषा स्वीकार की—

श्तिपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च।
यत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि ॥ १३१ ॥

श्तिप् विशिष्ट, शप् विशिष्ट, अनुबन्ध विशिष्ट, गण विशिष्ट और जिस शास्त्र (सूत्र) में 'एकाच्' पद का उच्चारण किया गया है, इन पाँच प्रकार के सूत्रों की प्रवृत्ति यङ्लुक् प्रकरण में नहीं होती है।

अनुबन्धनिर्देशो द्विधा–स्वरूपेण 'ङित' इत्यादिपदेन च। 'हन्ति, याति, वाति' 'सनीवन्त' (७–२–४९) इति सूत्रे 'भरे'ति, 'दीङो युडचि' (६–४–६३), 'अनुदात्तङितः' (१–३–१२), 'दिवादिभ्यः श्यन्' (३–१–६९), 'एकाच उपदेशे' (७–२–१०), इत्युदाहरणानि।

द्वित्वं 'सनाद्यन्ताः' (३–१–३२) इति 'भूवादयः' (१–३–१) इति च धातुत्वं भवत्येव, 'गुणो यङ्लुकोः' (७–४–८२) इत्यादिभिर्निषेधानित्यत्व-कल्पनात्। तेन भष्भावोऽप्यजघा' इत्यादौ भवति। अत एव 'श्वीदितः' (७–२–१४) इति सूत्रे कैयटे 'यत्रैकाज्ग्रहणं किञ्चिदि ति पाठः।

'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (७–२–१०) इति सूत्रे एकाज्ग्रहणेनैक-देशानुमत्यैषा ज्ञाप्यते। अन्यथोपदेशेऽनेकाचामुदात्तत्वस्यैव सत्त्वेन तद्वैयर्थ्य

स्पष्टमेवेति । तदपि न, भाष्यानुक्तत्वात्, एकाज्ग्रहणस्य वधिव्यावृत्त्यर्थमावश्यकत्वाच्च । न च वधिस्थान्युपदेश एकाजेवेति वाच्यम्, साक्षादुपदेशसम्भवेनैतद्विषये स्थान्युपदेशाग्रहणादुपदेशत्वावच्छेदेनैकाजित्यर्थाच्च । किञ्च उत्तरार्थमेकाज्ग्रहणम् । अत एव 'जागरितवानि'त्यादावुपदेश उगन्तत्वमादाय 'श्नयुकः किति' (७-२-११) इतीण्निषेधो न । तत्रोपदेश इत्यनुवृत्तिश्च स्तीर्णमित्यादाविण्निषेधायेत्याकरे स्पष्टम् ।

इस परिभाषा में जिस अनुबन्धनिर्देश का उल्लेख है वह अनुबन्धनिर्देश दो प्रकार का होता है—पहला स्वरूपेण अनुबन्धनिर्देश और दूसरा ङित् इत्यादि पदों के द्वारा अनुबन्धनिर्देश । स्वरूपेण अनुबन्धनिर्देश का यह तात्पर्य है कि जहाँ इत्संज्ञक अनुबन्धघटित रूप स्वरूपतः पढ़ा गया हो । जैसे 'दीङो युडचि क्ङिति' इस सूत्र में ङकार अनुबन्ध का स्वरूपतः उल्लेख किया गया है । इसी प्रकार 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इस सूत्र में भी ङकार अनुबन्ध का स्वरूपतः उल्लेख किया गया है ।

दूसरे अनुबन्धनिर्देश का उदाहरण 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' यह सूत्र है । यहाँ अनुबन्ध का ङित् पद के द्वारा निर्देश किया गया है । जिस धातु मे ङकार की इत्संज्ञा हुई हो उससे आत्मनेपद का विधान किया जाता है ।

इसी प्रकार अन्यत्र भी अनुबन्धनिर्देश समझना चाहिये ।

अब उपर्युक्त पाँचों स्थलों का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है, जिनकी प्रवृत्ति यङ्लुगन्त में नहीं होती है । इनमें श्तिप् निर्दिष्ट का उदाहरण—

१. नेर्गदनद इत्यादि सूत्र में 'हन्ति, याति, वाति, द्राति' आदि रूप 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इस वार्तिक से श्तिप् प्रत्यय लगाकर बनाये गये हैं । अतः ये श्तिपा निर्दिष्ट हैं । श्तिपा निर्दिष्ट पदघटित सूत्र 'नेर्गदनदपत' की प्रवृत्ति 'यङ्लुक्' में नहीं होने के कारण 'प्रनिजङ्घनीति' में नकार को णकार नहीं हुआ ।

२. शपा निर्दिष्ट का उदाहरण 'सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भुश्रिस्वृयूर्णुभरज्ञपिसनाम्' में 'भर' यह निर्देश है । भृ धातु से शप् और गुण करके 'भर' ऐसा रूप बनाया गया है । इस शपा निर्दिष्ट पद वाले 'सनीवन्तर्ध' सूत्र की प्रवृत्ति यङ्लुगन्त बर्भृ धातु से सन् प्रत्यय करने पर 'बर्भरिषति' प्रयोग में नहीं होती है । फलस्वरूप यहाँ वैकल्पिक इट् न होकर 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' सूत्र से नित्य ही इट् होता है ।

३. अनुबन्धनिर्दिष्ट कार्य यङ्लुगन्त में नहीं होते हैं । जैसे—'दीङो युडचि' सूत्र से विहित युट् का आगम 'दिदीये' की भाँति यङ्लुगन्त देदी धातु से तस् प्रत्यय लाने पर 'देदीतः' प्रयोग में नहीं हुआ । इसी प्रकार यङ्लुगन्त 'शेशी' धातु लट् लकार में झि प्रत्यय करने पर 'शेशियति' रूप में 'शीङो रुट्' सूत्र से रुट् का आगम

नहीं हुआ। ये दोनों स्वरूपतः अनुबन्धनिर्देश के उदाहरण हैं। 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' यह ङित् पद का उच्चारण करके अनुबन्धनिर्देश है, इसलिये इसकी प्रवृत्ति भी यङ्लुगन्त में नहीं होती है। फल यह होता है कि 'शेशयीति, मोमुदीति' इत्यादि प्रयोगों में धातु के ङित् होने पर भी आत्मनेपद नहीं होता है।

४. गणनिर्दिष्ट कार्य यङ्लुगन्त में नहीं होते हैं। 'दिवादिभ्यः श्यन्' 'ऱ्यादिभ्यः श्ना' इत्यादि सूत्रों से विहित श्यन् आदि विकरण तत्तद्गण का उल्लेख करके विहित हैं, अतः ये गणनिर्दिष्ट कार्य हैं। इनकी प्रवृत्ति यङ्लुक् में नहीं होती है। फलस्वरूप 'अतिशयेन पुनः पुनर्वा दूयते' इस विग्रह में दूङ् धातु से यङ्लुक् करने पर 'दोदवीति' प्रयोग में 'दिवादिभ्यः श्यन्' सूत्र से श्यन् नहीं हुआ। इसी प्रकार 'बेभिदीति' प्रयोग में 'ऱ्यादिभ्यः श्ना' सूत्र से श्ना विकरण नहीं हुआ।

५. जिस सूत्र में 'एकाच्' शब्द का ग्रहण हो उस एकाच् पदघटित सूत्र की प्रवृत्ति यङ्लुक् में नहीं होती है। इसका फल यह होता है कि—'जाहिता, जाहिष्यति, बेभेदिता इत्यादि प्रयोगों में 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' सूत्र से इट् का निषेध नहीं हुआ। यङ्लुक् में न होने वाले पाँच कार्यों के ये ही उदाहरण हैं।

अब यहाँ यह शंका होती है कि 'सन्यङोः' सूत्र से किया जाने वाला द्वित्व भी 'यङ्लुक्' में नहीं होना चाहिये क्योंकि इस सूत्र में 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' सूत्र की अनुवृत्ति आने के कारण यह सूत्र भी एकाच् पदघटित हो जाता है। इसी प्रकार 'अजघाः' प्रयोग में 'एकाचो वशो भष्' सूत्र से भष्भाव भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह सत्र भी एकाच् पदघटित है। इसी प्रकार 'भूवादयो धातवः' सूत्र से की जाने वाली धातुसंज्ञा भी गणनिर्दिष्ट कार्य होने के कारण यङ्लुक् में नहीं होनी चाहिये। इसी प्रकार 'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र से विधीयमान धातुसंज्ञा भी यङ्लुक् में नहीं होनी चाहिये। इन शंकाओं के उत्तर में कह रहे हैं कि 'सन्यङो' का द्वित्व, 'सनाद्यन्ता धातवः' तथा 'भूवादयो धातवः' सूत्रों से विधीयमान धातु संज्ञा ये दोनों कार्य तो यङ्लुक् में होते ही हैं। इसका कारण यह है कि 'गुणो यङ्लुकोः' यह सूत्र यङ्लुक् में अभ्यास को गुण करता है। यदि यङ्लुक् में द्वित्व न हो तो अभ्यास संज्ञा किसे होगी ? और जब अभ्यास संज्ञा ही नहीं होगी तो यह सूत्र गुण किसे करेगा ? इस प्रकार यङ्लुक् में यदि द्वित्व न हो तो यह सूत्र ही व्यर्थ हो जाता है। इसी से यह ज्ञापन करते हैं कि यह परिभाषा अनित्य है। फलस्वरूप परिभाषाबोधितनिषेध के अनित्य हो जाने के कारण द्वित्व और धातु संज्ञा आदि कार्य यङ्लुगन्त में हो जाते हैं। परिभाषा के अनित्य होने के कारण 'अजघाः' प्रयोग में 'एकाचो वशो भष्' सूत्र की प्रवृत्ति करके भष्भाव कर दिया जाता है। अत एव=इस परिभाषा के अनित्य होने के कारण ही 'श्वीदितो निष्ठायाम्' सूत्र के कैयट में 'यत्रैकाज्ग्रहणं

किञ्चित्' इस पाठ की संगति होती है। कैयट के इस कथन का तात्पर्य यह है कि एकाच् पदघटित किञ्चित् शास्त्र ही यङ्लुक् में प्रवृत्त नहीं होते अर्थात् एकाच् पदघटित कोई शास्त्र यङ्लुक् में प्रवृत्त नहीं होता, और कोई तो प्रवृत्त होता भी है। इसलिये 'एकाच उपदेशे' सूत्र की प्रवृत्ति न होने से 'बेभेदिता' प्रयोग में इट् का निषेध नहीं हुआ और 'एकाचो वशो भष्' की प्रवृत्ति हो जाने से 'अजघाः' प्रयोग में भष् भाव हो जाता है।

कैयट के वाक्य में आये हुए 'किञ्चित्' पद का सबके साथ अन्वय करने के कारण सामान्यतया इस निषेधवाक्य की अनित्यता स्पष्ट हो जाती है।

'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इस सूत्र में किया गया एकाच्ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। इस सूत्र में उल्लिखित 'उपदेशे' इस पद का अन्वय 'एकाचः' तथा 'अनुदात्तात्' इन दोनों पदों के साथ होता है। इसलिये जो धातु उपदेश अवस्था में एकाच् और अनुदात्त हों उससे पर में रहने वाले बलादि आर्धधातुक को इट् का आगम न हो, ऐसा इस सूत्र का अर्थ होता है। इस सूत्र में एकाच् ग्रहण इसलिये किया गया है कि अनेकाच् अनुदात्त धातु से पर में वलादि आर्धधातुक को इट् का निषेध न होने लगे। अब प्रश्न यह होता है कि जितने अनेकाच् धातु 'जागृ, चकासृ' इत्यादि हैं वे तो उपदेश अवस्था में उदात्त ही हैं क्योंकि उपदेश अवस्था में अनुदात्त जो धातु हैं वे सभी एकाच् हैं जैसा कि कौमुदी में उनका प्रतिपदपाठ किया गया है। इस प्रकार जब यह स्पष्ट है कि उपदेश अवस्था के अनुदात्त धातु एकाच् ही होते हैं, तब उपर्युक्त सूत्र में एकाच् ग्रहण की क्या आवश्यकता रह जाती है? ऐसी स्थिति में तो लाघवात् 'उपदेशेऽनुदात्तात्' ऐसा न्यास कर देना चाहिये। किन्तु ऐसा न करके एकाच् पद का जो ग्रहण किया गया है वह व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापन करता है।

एकाच् ग्रहण की यह ज्ञापकता एकदेशानुमत्या होती है। एकदेशानुमत्या का अर्थ स्थालीपुलाकन्यायेन है। जिस प्रकार स्थाली में एक तण्डुल के पक जाने पर सारे तण्डुलों को पका हुआ मान लिया जाता है। उसी प्रकार एकाच् ग्रहण से यही ज्ञापित होता है कि जिस सूत्र में एकाच् ग्रहण हो वह सूत्र यङ्लुगन्त में प्रवृत्त नहीं होता। ऐसा ज्ञापन होने के बावजूद पाँच कार्यों की यङ्लुक् में अप्रवृत्ति की जो बात कही गई है, उनमें 'एकाच्' इस अंश में जब प्रमाण मिल गया, तब शेष चारों अंश भी प्रमाणित हो जाते हैं। इस प्रकार एकाच् ग्रहण से एकदेशानुमत्या यह परिभाषा ज्ञापित होती है।

अन्यथा=इस परिभाषा के अभाव में, अनेकाच् धातुओं के उपदेशावस्था में उदात्त होने के कारण ही वहाँ इट् निषेध की प्राप्ति न होने के कारण उनकी निवृत्ति

के लिये किये गये एकाच् ग्रहण की व्यर्थता स्पष्ट ही हो जाती । परिभाषाज्ञापन के बाद एकाच् ग्रहण की स्वांश में चरितार्थता इसलिये हो जाती है कि इसके द्वारा 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' सूत्र एकाच् पदघटित होता है, जिससे यङ्लुक् में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है ।

सीरदेव प्रभृति कतिपय प्राचीन वैयाकरणों से स्वीकृत यह परिभाषा नागेशभट्ट को मान्य नहीं है । इसलिये इसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं—तदपि न । अर्थात् यह परिभाषा भाष्य में उक्त नहीं है । भाष्यकार ने इसका उल्लेख नहीं किया है । अतः यह परिभाषा स्वीकार्य नहीं है । यदि कहा जाय कि जिस बात का निषेध नहीं किया जाता, वह बात अनुमत या अभिमत मान ली जाती है । भाष्यकार ने यद्यपि इस परिभाषा का उल्लेख नहीं किया है तथापि इसका प्रतिषेध भी तो नहीं किया है । इसलिए ऐसा क्यों न मान लिया जाय कि यह परिभाषा भाष्यकार को अभिमत है, तो इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि एकाच् ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक नहीं हो सकता । इसका कारण यह है कि 'अवधीत्' प्रयोग में इट् का निषेध न होने लगे इसलिये 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' सूत्र में एकाच् ग्रहण आवश्यक है । वध आदेश को अदन्त माना गया है जिससे 'अवधीत्' प्रयोग में 'अतो हलादेर्लघोः' सूत्र से वृद्धि न होने लगे, क्योंकि जब वृद्धि करने चलते हैं तब वह लुप्त अकार स्थानिवत्त्वेन वहाँ चला आता है । इस प्रकार वहाँ वकारोत्तरवर्ती अकार को वृद्धि नहीं होती है । इससे स्पष्ट है कि वध आदेश अदन्त अर्थात् अनेकाच् है । इस अनेकाच् वध से सम्पन्न 'अवधीत्' प्रयोग में इट् का निषेध न होने लगे, इसलिये एकाच् ग्रहण आवश्यक है तो वह इस परिभाषा का ज्ञापक कैसे हो सकता है । यदि कहा जाय कि एकाच् ग्रहण करने पर भी 'अवधीत्' प्रयोग में इट् का निषेध होना ही चाहिये क्योंकि वध का स्थानी 'हन्' तो उपदेशावस्था में एकाच् ही है, इसलिये स्थानी के औपदेशिक एकाच्त्व को लेकर यहाँ इट् का निषेध होना चाहिये । इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि जिसको इट् का निषेध करना है उसका यदि साक्षात् उपदेश मिल रहा है तो वहाँ उसके स्थानी के उपदेश का ग्रहण नहीं किया जायेगा । प्रस्तुत स्थल में वध का जब अदन्तोपदेश किया गया है और उसके द्वारा वह अनेकाच् हो रहा है तब उसके स्थानी के औपदेशिक एकाच्त्व को लेकर यहाँ इट् का निषेध नहीं किया जा सकता । दूसरी बात यह है कि जिसका अनेक उपदेश हो, उसे इट् का निषेध तभी होगा, यदि वह उपदेशत्वावच्छेदेन अर्थात् सारे उपदेशों में एकाच्त्व ही हो । इस प्रकार 'अवधीत्' में इट् का निषेध नहीं होगा क्योंकि वध के हन् और वध ये जो दो उपदेश हैं उनमें स्थानी के उपदेश में एकाच् होने पर भी यह आदेशोपदेश में अनेकाच् है । इस प्रकार उपदेशत्वावच्छेदेन एकाच् न होने के कारण यहाँ

इट् का निषेध नहीं होगा। उपदेशत्वावच्छेदेन एकाच् का ग्रहण करने में प्रमाण 'एकाच्' घटक एक ग्रहण ही है क्योंकि जो धातु अनुदात्तोपदेश हैं वे सभी एकाच् ही हैं। ऐसी स्थिति एक में अच् के साथ में एक विशेषण लगाने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार एक ग्रहण व्यर्थ होकर उपदेशत्वावच्छेदेन एकाच् के ग्रहण के लिये सार्थक होता है।

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'एकाच उपदेशे' सूत्र का एकाच् ग्रहण 'अवधीत्' में इट् के निषेध के अभाव के लिये (अर्थात् इट् करने के लिये) आवश्यक है। ऐसी स्थिति में उसे इस परिभाषा का ज्ञापक मानना कथमपि संभव नहीं है। यदि कहा जाय कि एकाच् की भाँति अनुदात्तत्व भी उपदेशत्वावच्छेदेन लिया जायेगा और वध आदेश को निपातन से आदि उदात्त कर दिया जायेगा। ऐसी स्थिति में हन् उपदेश में अनुदात्त होने पर भी वध उपदेश में अनुदात्त न होने के कारण यहाँ इट् का निषेध नहीं होगा तो इस कार्य के लिये एकाच् ग्रहण अनावश्यक ही है; इसलिये वह परिभाषा का ज्ञापक हो सकता है। इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि एकाच् ग्रहण 'श्युकः किति' इस उत्तर सूत्र में अनुवृत्ति के लिये आवश्यक है। इसलिये श्री धातु और एकाच् उगन्त से पर में रहने वाले गित् और कित् प्रत्यय को इट् का निषेध वह सूत्र करता है। इसका फल यह होता है कि जागृ धातु से क्तवतु प्रत्यय करने पर 'जागरितवान्' इस प्रयोग में इट् का निषेध नहीं होता है। यद्यपि जागृ धातु उगन्त है तथापि एकाच् नहीं है, इसलिये यहाँ इट् का निषेध नहीं होता। इस प्रकार जब एकाच् ग्रहण सार्थक है तब वह इस परिभाषा का ज्ञापक कथमपि नहीं हो सकता।

यदि कहा जाय कि जागृ धातु से क्तवतु प्रत्यय करने पर 'जाग्रोऽविचिण्णल् ङित्सु' इस सूत्र से गुण हो जाने के कारण 'जागर्' इस स्थिति में उगन्तत्व के अभाव के कारण ही यहाँ इट् का निषेध नहीं होगा तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'श्युकः किति' सूत्र में उपदेशे पद की अनुवृत्ति होती है जिससे उपदेशकालिक उगन्त को इट् का निषेध किया जाता है। जागृ धातु औपदेशिक उगन्त है ही, इसलिये इससे पर में वलादि आर्धधातुक को इट् का निषेध न होने लगे, इसलिये यहाँ एकाच् की अनुवृत्ति आवश्यक है। जागृ धातु के एकाच् न होने के कारण इट् का निषेध नहीं होता। यहाँ उपदेश की अनुवृत्ति करना इसलिये आवश्यक है कि स्तृ धातु से क्त प्रत्यय करने पर 'ऋत इद् धातोः' से इत्व, रपरत्व और दीर्घ करने के बाद 'रदाभ्याम्' सूत्र से निष्ठा के तकार को नकार और उसे णत्व करके निष्पन्न 'स्तीर्णम्' इस रूप में 'स्तृ' धातु को औपदेशिक उगन्त मानकर इट् का निषेध कर दिया जाय। इस प्रकार जब औपदेशिक उगन्त का ग्रहण यहाँ किया जाता है तब जागृ

धातु में भी इट् निषेध की प्राप्ति रहती है, उसे निवारण कर 'जागरितवान्' प्रयोग में इट् करने के लिये यहाँ 'एकाच्' पद की अनुवृत्ति आवश्यक होती है, जिससे जागृ धातु में इट् का निषेध नहीं होता है। इस प्रकार एकाच् ग्रहण जब उत्तरार्थ हो गया तब वह इस परिभाषा का ज्ञापक नहीं हो सकता। यह बात आकर में (कैयट ग्रन्थ में) स्पष्ट है।

न च भाष्ये यङ्लोपे 'बेभिदिते'त्यादाविट्प्रवृत्त्यर्थम् उपदेशेऽनुदात्तादेकाचः श्रूयमाणादङ्गादित्यर्थे सनीट्प्रतिषेधो वक्तव्यः, बिभित्सती ति दोषोपन्यासवद्यङ्लुकि दोषानुपन्यासेन तत्रेडिष्टः, यङ्लोपेत्यादिभाष्यं तूपक्रमोपसंहारबलेन न यङ्लुग्विषयम्। किञ्च तस्य तद्विषयकत्वे यङ्लोपे स्थानिवत्त्वस्येव यङ्लुक्युपायाप्रदर्शनेन न्यूनतापत्तिरिति वाच्यम्। इड्विषये यङ्लुको लोकेऽनभिधानेन छन्दसि सर्वविधीनां वैकल्पिकत्वेन च तत्र दोषानुपन्यासेनादोषात्। अन्यथा 'एकाज्ग्रहणं किमर्थमि'ति प्रश्नस्य 'उत्तरत्र जागर्त्यर्थमिह च वध्यर्थमि'त्युत्तरस्य च भाष्ये निरालम्बनतापत्तेः।

अब यहाँ 'न च' शब्द से यह आशंका कर रहे हैं कि यद्यपि यह परिभाषा भाष्यकार ने कण्ठतः नहीं पढ़ी है तथापि 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' सूत्र के भाष्य से यह परिभाषा ध्वनित होती है इसलिये यह भाष्यानुमत है। वहाँ का प्रसंग इस प्रकार है—'एकाच उपदेशे' सूत्र का जब ऐसा अर्थ किया जाता है कि उपदेश में जो धातु एकाच् हो और अनुदात्त हो, उससे पर में रहने वाले वलादि आर्धधातुक को इट् नहीं होता, तो ऐसी स्थिति में भिद् धातु से यङ् प्रत्यय करके 'बेभिद्य' धातु से लुट् लकार, तास् विकरण करने पर 'बेभिद्य-ता' इस स्थित में इट् का आगम 'यस्य हलः' सूत्र से यकार का लोप और 'अतो लोपः' से अकार का लोप करने पर बनने वाले 'बेभिदिता' रूप में इट् का निषेध हो जाना चाहिये क्योंकि यह धातु यद्यपि इस समय अनेकाच् बन गया है, तथापि उपदेश अवस्था में तो यह एकाच् और अनुदात्त ही है। इस दोष के वारण के लिये भाष्यकार ने उक्त सूत्र का ऐसा अर्थ किया कि 'उपदेश में अनुदात्त और श्रूयमाण एकाच् धातु से पर में रहने वाले वलादि को इट् नहीं होता है। इस प्रकार का अर्थ करने पर 'बेभिदिता' का दोष दूर हो जाता है क्योंकि यह सम्प्रति एकाच् नहीं है, किन्तु ऐसा करने पर 'बिभित्सति' प्रयोग में भी इट् की प्राप्ति हो जाती है क्योंकि यह भी औपदेशिक अनुदात्त होते हुए भी सम्प्रति एकाच् नहीं है। भाष्यकार ने इस 'बिभित्सति' के दोष को दूर करने के लिए कहा 'सनीट् प्रतिषेधो वक्तव्यः' अर्थात् सन् पर में रहने पर इट् का प्रतिषेध करना चाहिये। इस प्रकार 'बिभित्सति' प्रयोग में इट् की शंका और उसका समाधान तो भाष्य में किया गया, किन्तु उसी की भाँति यङ्लुक् में न तो इट् की शंका की गई और न समाधान

दिया गया। उपदेश में अनुदात्त और सम्प्रति एकाच् को इट् का निषेध होता है ऐसा कहने पर सम्प्रति एकाच् न होने के कारण जिस प्रकार सन्नन्त में इट् की प्राप्ति होती है और उसके लिये निषेध वचन किया गया है, उसी प्रकार यङ्लुक् में भी सम्प्रति एकाच् न होने कारण इट् की शंका और उसके लिये निषेधवचन करना चाहिये था। किन्तु भाष्यकार ने ऐसा नहीं किया। इससे सिद्ध होता है कि यङ्लुक् में इट् का होना भाष्यकार को अभिप्रेत है। उस इट् की सिद्धि के लिये 'श्तिपा शपानुबन्धेन' यह परिभाषा आवश्यक है। जब यह परिभाषा रहती है तब एकाच् पदघटित निषेधसूत्र 'एकाच उपदेशे' की प्रवृत्ति यङ्लुक् में नहीं हुई, जिससे वहाँ इट् सिद्ध हो गया। इस प्रकार यह परिभाषा भाष्य से अनुमत है।

यदि कहा जाय कि 'यङ्लोपो बेभिदिता' इत्यादि भाष्य 'यङ्लोप और यङ्लुक्' इन दोनों के उद्देश्य से लिखा गया है। अर्थात् 'बेभिदिता' इस यङ्लोप वाले रूप तथा 'बेभेदिता' इस यङ्लुगन्त वाले रूप इन दोनों में इट् की प्रवृत्ति के लिये शंका करके भाष्यकार ने समाधान दिया था कि जो धातु उपदेश में अनुदात्त हो और श्रूयमाण एकाच् हो उससे पर में वलादि आर्धधातुक को इट् नहीं होता। ऐसा करने से यङ्लुक् में इट् के निषेध की प्राप्ति न होने के कारण इस परिभाषा की कोई आवश्यकता नहीं है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जब उस भाष्य के उपक्रम और उपसंहार पर विचार किया जाता है तब यह स्पष्ट होता है कि यह भाष्य केवल यङ्लोपविषयक है. न कि यङ्लुक्विषयक भी। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—उपक्रम में भाष्यकार ने 'यङ्लोपे बेभिदिता' ऐसा लोप शब्द का स्पष्ट उल्लेख करके उपसंहार के समय कहा कि 'उपदेश में अनुदात्त और उपदेश में एकाच् धातु से पर में वलादिलक्षण इट् का निषेध होता है'। ऐसा ही 'एकाच उपदेशे' सूत्र का अर्थ है ऐसा अर्थ करके पुनः शंका की कि यङ्लोप में इट् कैसे होगा तो इसका उत्तर दिया कि 'अकारेण व्यवहितत्वात् न भविष्यति' अर्थात् 'अतो लोपः' से जिस अकार का लोप हुआ है वह अकार व्यवधान में आ जाता है इसलिये निषेध नहीं होगा। ऐसा कहकर पुनः शंका की कि जब अकार का लोप हो गया है तब औपदेशिक एकाच् धातु और वलादि आर्धधातुक इन दोनों के मध्य अकार का व्यवधान कहाँ है ? इस शंका के समाधान में भाष्यकार ने कहा कि यहाँ 'अचः परस्मिन्' सूत्र से लुप्त अकार का स्थानिवद्भाव हो जायेगा। इस प्रकार भाष्यकार ने यङ्लोप के लिये तो स्थानिवद् भाव रूपी उपाय को उल्लेख किया किन्तु यङ्लुक् के लिये किसी उपाय का प्रदर्शन नहीं किया। यदि उक्त भाष्य लोप और लुक् उभयपरक होता तो लोप की भाँति लुक् के सम्बन्ध में भाष्यकार को कोई उपाय बतलाना चाहिये। किन्तु भाष्यकार ने वैसा नहीं किया, यह भाष्यकार की न्यूनता ही कही जायेगी।

इससे स्पष्ट होता है कि उक्त भाष्य केवल यङ्लोपविषयक है न कि यङ्लुक्विषयक भी। जब उक्त भाष्य यङ्लुक्विषयक नहीं है तब यह स्पष्ट हो गया, कि 'बिभित्सति' इस सन्नन्त प्रयोग में जिस प्रकार इट् की प्राप्ति बताकर उसके लिये निषेधवचन किया गया है इस प्रकार यङ्लुक् में दोषोपन्यास और उसका निवारण आदि कुछ भी न करने के कारण यङ्लुक् में इट् इष्ट है और उसकी सिद्धि के लिये यह परिभाषा आवश्यक है। इस शंका के उत्तर से कह रहे हैं कि इट् के विषय में यङ्लुक् का लोक में अर्थात् लौकिक प्रयोग में अनभिधान है। अनभिधान का अर्थ है कि लोक में इसका प्रयोग हो नहीं होता। अब रही बात वेद की तो वेद में तो 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा' इस सूत्रस्थ 'वा' इस अंश के योगविभाग के द्वारा वेद में सभी कार्य विकल्प से होते हैं। इस प्रकार जब लोक में इट् के विषय में यङ्लुक् का प्रयोग होता ही नहीं और वेद में इट् की वैकल्पिकता सिद्ध ही है तो इसीलिये भाष्यकार ने 'बिभित्सति' की शंका और उसके समाधान की भाँति यङ्लुक् में दोष का उपन्यास नहीं किया। इसलिये दोष का उपन्यास न करने के कारण कोई दोष नहीं है। इस प्रकार यह कहना असंगत सिद्ध हो गया कि यङ्लुक् में इट् का दोष नहीं देने के कारण यह बात अभिव्यक्त होती है कि यङ्लुक् में इट् इष्ट है और वह इस परिभाषा से साध्य है अतः यह परिभाषा आवश्यक है। क्योंकि लोक में जब इट् विषयक यङ्लुक् का प्रयोग होता ही नहीं तो उसके लिये इस परिभाषा की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् यह परिभाषा नहीं है। अन्यथा=यदि ऐसा माना जाय कि एकाच् ग्रहण यङ्लुक् में अप्रवृत्ति के लिये है। अर्थात् एकाच् ग्रहण से यह परिभाषा ज्ञापित होती है और इसी परिभाषा रूपी उपायान्तर को ध्यान में रख कर भाष्यकार ने यङ्लुक् में दोष का उपन्यास नहीं किया और न कोई समाधान दिया, यदि ऐसा स्वीकार करते हैं तब भाष्यकार का यह प्रश्न कि एकाच् ग्रहण क्यों किया गया, निराधार हो जायेगा क्योंकि भाष्यकार जब एकाच् ग्रहण को यङ्लुक् में अप्रवृत्ति के लिये मानते हैं तब फिर उसका ग्रहण क्यों किया गया, ऐसा प्रश्न ही क्यों करते हैं। इसके साथ ही उत्तर सूत्र 'श्युकः किति' में एकाच् ग्रहण अनुवृत्ति के लिये आवश्यक है जिससे जागृधातु का 'जागरितवान्' रूप बन सके, तथा वध का रूप 'अवधीत्' बन सके, ऐसा भाष्यकार का कथन निराधार हो जायेगा। इसलिये यही स्वीकार करना चाहिये कि परिभाषा नहीं है।

न च आर्द्धधातुकाक्षिप्तधातोरेकाच इति विशेषणम्। एवं च 'बिभित्सतीत्यादावुत्तरखण्डस्य धातोरेकाच्त्वमस्त्येवोत्तरखण्डेऽस्तित्ववत्। एतच्च 'दयतेः' (७-४-९) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। एवं च प्रकृतभाष्यासङ्गतिरिति वाच्यम्। आक्षेपे आक्षिप्तस्यान्वये च मानाभावात्। अङ्गत्वं तु

विशिष्ट एवेति 'एकाचो द्वे' (६–१–१) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। निरूपितं च तनादिशेषे शब्देन्दुशेखरे। धातुत्वं तूत्तरखण्ड एव। अत एव 'एकाचो बशो भष्' (८–२–३७) इति सूत्रे धातोरवयवस्यैकाच इति वैयधिकरण्येनान्वये 'गर्धप्'सिद्धिः प्रयोजनमुक्तं भाष्ये, न तु प्रसिद्धम् 'अजर्घा' इति।

'अजर्घा, बेभिदीती'त्यादौ श्नम्श्यनादयस्तु 'चर्करीतं चे'त्यस्यादौ पाठेन यङ्लुगन्ते गणान्तरप्रयुक्तविकरणस्याप्राप्त्या न भवन्ति।

छान्दसत्वादेव कार्यान्तरणामपि छन्दसि दृष्टप्रयोगेष्वदृष्टानामभावो बोध्यः। भाषायां तु तादृशानामभाव एव। शितप्शबादिनिर्देशास्तु 'भवतेरः' (७–४–७३) इत्यादिसूत्रस्थतन्निर्देशवन्नार्थसाधका इत्यन्यत्र विस्तरः।१३१।

यदि कहा जाय कि 'एकाच उपदेशे' इस सूत्र में यद्यपि आर्धधातुक पद श्रुत नहीं है और न अनुवृत्तिलभ्य ही है क्योंकि 'एकाच उपदेशे' (७।२।१०) के बाद में आर्धधातुकपदघटित 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) सूत्र है तथापि आर्धधातुक को ही बाहुल्येन इट् का विधान किया जाता है इसलिये इस सूत्र में अर्थतः आर्धधातुक का लाभ होता है। अर्थतः लब्ध इस आर्धधातुक के द्वारा 'धातोः' इस पञ्चम्यन्त पद का आक्षेप होगा, क्योंकि धातु से विहित प्रत्यय ही आर्धधातुक होता है उस आक्षिप्त 'धातोः' पद में 'एकाचः' यह पद (पदार्थ) विशेषण बनेगा। ऐसी स्थिति में एकाच् धातु से पर में वलादि आर्धधातुक को इट् न हो, यही सूत्रार्थ होगा। इसका परिणाम यह होगा कि 'बिभित्सति' प्रयोग में अभ्यासोत्तरखण्ड में एकाच्त्व और धातुत्व इन दोनों धर्मों के रहने के कारण यहाँ इट् का निषेध स्वयं सिद्ध है। ऐसी स्थिति में भाष्यकार ने इस दोष को दूर करने के लिये उक्त सूत्र का जो अर्थ किया था कि उपदेश में अनुदात्त और श्रूयमाण एकाच् धातु से पर में वलादि आर्धधातुक को इट् नहीं होता, यह प्रस्तुत भाष्य असंगत है। यदि कहा जाय कि द्वित्व करने के बाद अभ्यासोत्तरखण्ड में धातुत्व रहता है इस बात में कोई प्रमाण नहीं है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'दयतेर्दिगि लिटि' इस सूत्र के भाष्य में विचार किया गया कि जब अस् धातु को द्वित्व करके उसमें उत्तरखण्ड को भू आदेश कर देंगे तो पूर्व का (अस् का) श्रवण होने लगेगा। इस भाष्य से यह सिद्ध होता है कि अभ्यासोत्तरखण्डमात्र के स्थान पर भू धातु का आदेश करके भाष्यकार ने उत्तरखण्ड में धातुत्व को स्वीकार किया है। इस प्रकार अस् धातु में जैसे उत्तरखण्ड में धातुत्व स्वीकार किया गया है उसी प्रकार सभी जगह उत्तरखण्ड में धातुत्व स्वीकार करना चाहिये। इसीलिये 'पेचतुः' 'फेलतुः' इत्यादि प्रयोगों में जहाँ अभ्यास का लोप हो जाता है, वहाँ उत्तरखण्ड मात्र से ही क्रिया की प्रतीति होती है। इस उपर्युक्त व्याख्यान का सारांश यह निकला कि 'बिभित्सति' प्रयोग में उत्तरखण्ड के एकाच् धातु होने के कारण इट् का निषेध जब सिद्ध ही था तब भाष्यकार ने श्रूयमाण

एकाच् वाला व्याख्यान करके इट् का निषेध क्यों किया। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत-भाष्य अपने आप में असंगत है। इस असंगत भाष्य के आधार पर यह कहना ठीक नहीं है कि इट् के विषय में यङ्लुक् का लोक में अनभिधान है। किन्तु यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ धातु के आक्षेप और आक्षिप्त का शाब्दबोध में अन्वय इन दोनों बातों में कोई प्रमाण नहीं है। दूसरी बात यह है कि उत्तरखण्ड को एकाच् धातु मानने पर भी अङ्गत्व (अङ्गसंज्ञा) तो पूर्व और उत्तर इन दोनों खण्डों को मिलाकर ही होगा क्योंकि प्रत्यय की प्रकृति तो पूर्वभाग ही होगी और अङ्ग संज्ञा तदादि को होती है। इसलिये अङ्गत्वविशिष्ट में ही रहेगा। यह बात 'एकाचो द्वे' (६।१।१) के भाष्य में स्पष्ट है। वहाँ कहा गया है कि अङ्ग संज्ञा समुदाय को होती है। यह बात शब्देन्दुशेखर के तनादि प्रकरण के अन्त में निरूपित की गई है।

धातुत्व तो उत्तरखण्ड में ही रहता है। इसीलिए 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इस सूत्र में एकाच् और धातु इन दोनों का सामानाधिकरणान्वय के द्वारा एकाच् जो धातु, ऐसा अर्थ न करके, धातु का अवयव जो एकाच् झषन्त तदवयव वश् को भष् भाव होता है, ऐसा अर्थ किया गया और इसका फल 'गर्धप' इस प्रयोग में भष् भाव का होना बताया गया। गर्दभ शब्द से आचष्ट अर्थ में णिच् तथा उससे कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय और णि प्रत्यय का लोप करने पर 'गर्दभ' शब्द बनता है। णिच् प्रत्यय करने से यह नामधातु है तथा क्विप् प्रत्यय करने से प्रातिपदिक है। इससे सु विभक्ति लाने पर इसे भष् भाव करके 'गर्धप्' रूप बनाया जाता है। यह भष् भाव एकाच् और धातु के मध्य वैयधिकरण अन्वय अर्थात् धातु का अवयव जो एकाच्, झषन्त आदि अर्थ करके किया जाता है। यदि यहाँ 'सम्भवति, सामानाधिकरण्ये वैयधिकरणमन्याय्यम्' इस नियम के आधार पर सामानाधिकरणान्वय करते तो 'गर्दभ' इस नामधातु के अनेकाच् होने के कारण यहाँ भष् भाव नहीं होता। इस प्रकार धातु का अवयव जो एकाच् इस प्रकार के वैयधिकरणान्वय का फल भष् भाव होना यहाँ बताया गया। यदि धातुत्वसमुदाय में रहता तो वैयधिकरण अन्वय का फल प्रसिद्ध प्रयोग 'अजघाः' देना चाहिये था, क्योंकि 'अजगर्ध' इस धातु का अवयव एकाच् और झषन्त 'गर्ध' यह अंश मिल ही जाता तो वैयधिकरण अन्वय का फल संभव ही है। किन्तु यह उदाहरण न देकर 'गर्दभ्' धातु के एकाच् 'दभ्' अंश में भष् भाव का उदाहरण दिया गया इससे स्पष्ट होता है कि धातुत्व उत्तरखण्ड में ही रहता है। इसीलिये भष्भावविधायक सूत्र में समानाधिकरणान्वय के पक्ष में 'गर्धप्' प्रयोग में भष् भाव की असिद्धि की शंका करके वैयधिकरण अन्वय के द्वारा उसका समाधान किया गया।

उपर्युक्त व्याख्यान से स्पष्ट हो जाता है कि यह परिभाषा अनावश्यक है। यदि

कहा जाय कि यदि यह परिभाषा नहीं है तब 'अजर्घाः' प्रयोग में दिवादिगण प्रयुक्त श्यन् और बेभिदीति प्रयोग में रुधादिगण प्रयुक्त श्नम् क्यों नहीं होंगे ? तो इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि 'अजर्घा' 'बेभिदीति' इत्यादि प्रयोगों 'श्यन् श्नम्' आदि तत्तद्गण प्रयुक्त विकरण इसलिये नहीं होंगे कि 'चर्करीतं च' इस गणसूत्र (१९५) के द्वारा 'यङ्लुगन्त' का पाठ अदादि में माना गया है। चर्करीत यह यङ्लुक् की संज्ञा है। इसका अदादिगण में पाठ मानने का प्रयोजन यही है कि 'अदि-प्रभृतिभ्यः शपः' सूत्र से शप् का लुक् हो जाय। इसलिये यङ्लुक् में केवल शप् विकरण ही होता है न कि श्नादि विकरण। इस प्रकार तत्तद्गणप्रयुक्त विकरणों की निवृत्ति यङ्लुक् में स्वयं सिद्ध हो जाती है। इसलिये परिभाषा के अभाव में ये सब दोष अर्थहीन हो जाते हैं।

यङ्लुक् छान्दस है। इसलिये छन्द में जिन यङ्लुगन्त प्रयोगों को देखा जाता है और उनमें तत्तद्गणप्रयुक्त विकरणों से भिन्न कार्यान्तर जो 'श्तिपा शपा' इस परिभाषा से साध्य हैं उन कार्यों का वहाँ यदि अभाव देखा जाता है तो इस परिभाषा से साध्य नहीं मानना चाहिये, अपितु छन्द में 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' इस नियम के आधार पर उनका दृष्टानुविधित्व मानना चाहिये। यदि कहा जाय कि वेद में दृष्टानुविधित्व के आधार पर यङ्लुक् के प्रयोगों का निर्वाह हो जाने पर भी लोक में इनका प्रयोग कैसे होगा ? तो इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि भाषा में तो यङ्लुक् के उन प्रयोगों का अभाव ही होता है जो 'श्तिपा शपा' आदि परिभाषा से साध्य होते हैं। अब यह शंका होती है कि जब 'श्तिपा शपाऽनुबन्धेन' यह परिभाषा नहीं है तो तत्तत्स्थलों में किया गया श्तिप् निर्देश, शप् निर्देश आदि व्यर्थ हो जायेंगे तो इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं कि 'श्तिप् शप्' आदि का निर्देश किसी विशेष प्रयोजन का साधक है। जैसे 'भवतेरः' सूत्र में किये गये श्तिप् निर्देश से किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती, अपितु उससे केवल भू धातु का बोध होता है। उसी प्रकार तत्तत्स्थलों में किये गये श्तिपादि निर्देश, कार्यविशेष के साधक न होकर स्वसम्बद्धधातु के परिचायक मात्र हैं। यह बात अन्यत्र विस्तार से कही गई है।

वस्तुतस्तु—'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' सूत्र की जगह 'अञ्चत उपदेशेऽनुदात्तात्' ऐसा न्यास करना चाहिये। जो धातु उपदेश में अनुदात्त है वे सभी अच् वाले ही हैं, ऐसी स्थिति में यहाँ अच् ग्रहण का भी कोई औचित्य न रहने के कारण अच् ग्रहण व्यर्थ होकर उपदेशत्वावच्छेदेन 'एकाच्' का बोधक हो जायेगा, जिस वधादेश की व्यावृत्ति हो जायेगी। इस प्रकार एक पद से युक्त 'एकाच्' ग्रहण सूत्र में व्यर्थ ही है। अतः वह व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक हो जाता है। दूसरी बात

यह है कि यङ्लोप के उदाहरण 'बेभिदिता' में दोष वारण के लिये भाष्यकार ने जिस प्रकार स्थानिवद्भाव का प्रदर्शन किया उस प्रकार 'यङ्लुक्' के लिये कोई उपाय प्रदर्शित नहीं किया। इससे सिद्ध होता है कि यङ्लुक् में इट् करना भाष्यकार को अभीष्ट ही है। और वह इट् का आगम इस परिभाषा से ही साध्य है, है, अतः यह परिभाषा स्वीकार करनी चाहिये। इट् के विषय में लोक में यङ्लुक् का अनभिधान है। इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसके खण्डन के लिये अनेक क्लिष्ट कल्पना करने की अपेक्षा, इस परिभाषा को स्वीकार करना ही श्रेष्ठ है। इसे स्वीकार करने से यदि कोई दोष आता है तो उसका निराकरण उसकी अनित्यता मानकर कर लेना चाहिये। 'गुणो यङ्लुकोः' सूत्र के द्वारा इसकी अनित्यता की बात पहले बताई जा चुकी है ॥ १३१ ॥

ननु 'जभोऽचि' 'रधेश्च' 'नेट्यलिटी'त्येव सूत्र्यतां किं द्वीरधिग्रहणेनेत्यत आह—

'रधिजभोरचि' और 'नेट्यलिटिरधेः' ये दोनों पाणिनि के सूत्र हैं। अष्टाध्यायी ये दोनों अव्यवहितपूर्वापरीभाव से पढ़े गये हैं। पहला सूत्र रध् और जभ् धातु से अच् पर में रहने पर नुम् का विधान करता है। दूसरा सूत्र लिट्लकार में विहित इट् से भिन्न इट् पर में रहने पर रध् धातु को इट् का निषेध करता है। इस पाठक्रम में रध् धातु दो बार पढ़ा गया है। इससे लाघव तो यह होता कि उन दोनों सूत्रों की जगह 'जभोऽचि' 'रधेश्च' 'नेट्यलिटि' ऐसा सूत्र कर दिया गया होता तो दो बार 'रधि' ग्रहण नहीं करना पड़ता। इस प्रकार की शंका होने पर यह परिभाषा बनी—

पदगौरवाद्योगविभागो गरियान् ॥ १३२ ॥

पदगौरव की अपेक्षा योगविभाग का गौरव अधिक होता है।

प्रतिवाक्यं भिन्नवाक्यार्थबोधकल्पनेन गौरवं स्पष्टमेव। परन्तु भाष्यासम्मतेयम्। 'टाङसि' (७-१-१२) इति सूत्रस्थभाष्यविरुद्धा च।

तत्र च इनादेशे इकारप्रत्याख्यानं योगविभागेनैव कृतमिति बहवः ॥ १३२ ॥

योगविभाग में गौरव की अधिकता कैसे होती है, इस बात को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि योगविभाग करने पर प्रत्येक का अलग-अलग वाक्यार्थ बोध करना होता है। उन वाक्यार्थबोधों की सिद्धि के लिये वाक्यसम्पादक तिङन्त क्रियाओं की कल्पना भी अधिक करनी होती है। इस प्रकार योगविभागीय वाक्यजन्यबोध की अधिकता में उसके जनक कारणकलाप की अधिकता अनिवार्य है। उदाहरण के लिये उपर्युक्त दो सूत्रों की जगह तीन सूत्र करने पर तीनों का पृथक्-पृथक् वाक्यार्थ-

बोध करना पड़ेगा और उस वाक्यार्थबोध के लिये 'जभोऽचि' सूत्र से 'अचि' इस अंश को 'रधेश्च' योग में लाना पड़ेगा और 'रधेश्च' योग को 'नेट्यलिटि' इस सूत्र में लाना पड़ेगा। इस प्रकार योगविभाग करने पर प्रतिपत्ति का गौरव होता है जो पदगौरव की अपेक्षा गुरुतर है। इसलिये यथाश्रुत पाठ ही प्रस्तुत स्थल में ठीक है।

यह बात लोकसिद्ध है कि जहाँ अल्पआयाससाध्य से इष्टसिद्धि संभव हो तो वहाँ बहुत आयाससाध्य की उपेक्षा कर दी जाती है। अर्थात् थोड़े प्रयास से यदि कार्यसिद्धि हो रही है तो अधिक प्रयास क्यों किया जाय? इस प्रकार यह परिभाषा लोकसिद्ध है।

नागेशभट्ट इस परिभाषा को नहीं मानते, इसलिये कह रहे हैं कि—यह परिभाषा भाष्यसम्मत नहीं है, क्योंकि योगविभाग के कारण होने वाले गौरव का उल्लेख भाष्य में कहीं भी नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त 'दादेर्धातोर्घः' सूत्र में भाष्यकार ने योगविभाग स्वीकार करके वहाँ उपदेश अर्थ का लाभ किया है जिससे 'अधोक्' में भष्भाव हुआ है और 'दामलिट्' में नहीं हुआ है। इस प्रकार भाष्यकार योगविभाग को गौरव नहीं मानते हैं।

यदि कहा जाय कि भाष्यकार ने इस परिभाषा का उल्लेख नहीं किया है तो खण्डन या प्रतिषेध भी नहीं किया है। ऐसी स्थिति में भाष्य में अप्रतिसिद्ध और लोकन्यायसिद्ध इस परिभाषा को स्वीकार करने में क्या आपत्ति है? तो इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि 'टाङसिङसामिनात्स्याः' (७-१-१२) इस सूत्र के भाष्य से यह परिभाषा विरुद्ध भी है। वहाँ का विरोध इस प्रकार होता है—भाष्यकार ने वहाँ विचार किया कि टा के स्थान पर जो इन आदेश किया जा रहा है वहाँ इन आदेश न करके केवल 'न' आदेश ही किया जाय। ऐसा कह कर भाष्यकार ने कहा कि केवल न आदेश करने से 'वृक्षेण' 'रामेण' इत्यादि प्रयोग कैसे बनेंगे? तो इस शंका के उत्तर में भाष्यकार ने वहाँ योगविभाग स्वीकार किया और कहा कि 'बहुवचने झल्येत्' (७-३-१०३) के बाद 'ओसि च' (७-३-१०४) और इसके बाद 'आङि चाप' (७-३-१०५) जो सूत्र क्रम है इसमें 'आङि च' पृथक् योग करेंगे और 'आपः' यह पृथक् योग करेंगे। इन दोनों योगों में 'बहुवचने झल्येत्' सूत्र से एत् (एकार) की अनुवृत्ति करके आङ् अर्थात् टा विभक्ति पर में रहने पर एत्व होता है ऐसा अर्थ करेंगे। ऐसा अर्थ करने पर जहाँ टा को न आदेश करेंगे वहाँ भी एत्व होकर 'वृक्षेण' इत्यादि प्रयोग सिद्ध हो जायेंगे। ऐसी स्थिति में 'इन' आदेश की जगह 'न' आदेश ही करना चाहिये। इस प्रकार भाष्यकार ने योगविभाग को स्वीकार कर इनादेश में इकार प्रत्याख्यान किया है। इस परिभाषा को स्वीकार करने पर इस भाष्य से विरोध स्पष्ट ही हो जायेगा। क्योंकि यह परिभाषा योगविभाग को गौरवग्रस्त

मानती है जब कि भाष्यकार योगविभाग को स्वीकार कर इनादेश के इकार का प्रत्याख्यान करते हैं। इस प्रकार भाष्यविरुद्ध होने के यह परिभाषा मान्य नहीं है।

अब प्रश्न होता है कि इस परिभाषा के अभाव में दो बार 'रधि'ग्रहण का क्या औचित्य रह जाता है, तो इसका उत्तर यह है कि दो बार रधि धातु का ग्रहण यह ज्ञापन करता है कि 'क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते' यह परिभाषा अनित्य है। अन्यथा 'रधिजभोरचि' से रधि इस एकदेश की अनुवृत्ति 'नेट्यलिटिरधेः' इस सूत्र में करके कार्य चल सकता था तो ऐसी स्थिति में 'नेट्यलिटि' सूत्र का रधिग्रहण व्यर्थ ही हो जाता ॥ १३२ ॥

अब ग्रन्थ के अन्त में मङ्गलार्थ, लाघव को आनन्दजनिका बतानेवाली परिभाषा लिख रहे हैं।

अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः ॥ १३३ ॥

'अर्धमात्रालाघवेन' इस पदं में जो तृतीया विभक्ति है वह हेतु अर्थ में हुई है। पुत्रोत्सव पद लक्षणा के द्वारा पुत्रजन्मजन्य आनन्दसदृश आनन्द का बोधक है। इस प्रकार इस परिभाषा का अर्थ होता है कि अर्धमात्रा के लाघव से होने वाला जो सुख है वह वैयाकरणों के लिये पुत्रजन्म से होने वाले सुख के समान है। अर्थात् वैयाकरण लोग अर्धमात्रा के लाघव को पुत्रोत्सव मानते हैं।

'एओङ्' 'ऐऔच्' सूत्रयोर्ध्वनितैषा भाष्ये। तत्रानेकपदघटितसूत्रे प्रायेण पदलाघवविचार एव, न तु मात्रालाघवविचार इति 'ऊकालोऽच्' (१-२-२७) 'अप्तृक्त एकाल्' (१-२-४१) इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये ध्वनितम्। तत्र हि सूत्रे "अलग्रहणहलग्रहणयोर्विशेषविचारे संज्ञायां हलग्रहणं 'ण्यक्षत्रिया' (२-४-५८) इति सूत्रेऽणिञोरिति वाच्यमिति त्रीणि पदान्यलग्रहणे, तदेकं स्वादिलोपे हलग्रहणं ण्येतिसूत्रेऽणिञोरिति न वाच्यमप्तृक्तस्येति वाच्यमिति त्रीण्येव पदानीति नास्ति लाघवकृतो विशेष" इत्युक्तम्।

'एओङ्' 'ऐऔच्' इन सूत्रों के भाष्य में यह परिभाषा ध्वनित है। वहाँ यह विचार किया गया कि एकार आदि जो सन्ध्यक्षर हैं उनके पाठ के अवसर पर वर्णसमाम्नाय में तपरकरण तो किया नहीं गया है, इसलिये एकार और ओकार से एकमात्रिक एकार और ओकार अर्थात् अर्ध एकार और अर्ध ओकार का भी ग्रहण होगा। ऐसी स्थिति में जहाँ एच् को ह्रस्व आदेश के प्रसंग में अर्ध एकार और अर्ध ओकार आदेश होने लगेंगे। इसलिये उनकी निवृत्ति के लिये 'एच इग्ह्रस्वादेशे' यह सूत्र करना चाहिये जिससे एच् के स्थान पर ह्रस्व आदेश करते समय इक् ही हो सके। ऐसा कह कर भाष्यकार ने कहा कि 'एच इग्ह्रस्वादेशे' सूत्र की आवश्यकता नहीं है। इसके अभाव में भी एच् के स्थान पर इक् ही ह्रस्व होगा, न कि

अर्ध एकार और अर्ध ओकार। क्योंकि न तो लोक में और न वेद में ही अर्ध एकार और अर्ध ओकार की सत्ता है। यदि ये दोनों होते तो आचार्य के द्वारा लाघवात् उन्हीं का उपदेश किया गया होता। इसलिये अर्ध एकार और अर्ध ओकार की सत्ता न होने कारण अगत्या एच् के स्थान पर इक् ही ह्रस्व होगा। तस्मात् 'एच इग्ह्रस्वादेशे' की अनावश्यकता है। इस प्रसंग में भाष्यकार का यह कथन कि 'यदि अर्ध एकार और ओकार होते तो उन्हीं का उपदेश किया गया होता' से स्पष्ट होता है कि वैयाकरणों के लिये थोड़ा भी लाघव आदरणीय होता है।

मात्रालाघव और पदलाघव के विषय में व्यवस्था बताते हुए कह रहे हैं कि—अनेक पद वाले सूत्रों में प्रायः पदलाघव का ही विचार किया जाता है, मात्रालाघव का नहीं। यह बात 'ऊकालोऽच्' 'अपृक्त एकाल्' इत्यादि सूत्रों के भाष्य में ध्वनित है। ध्वनन का प्रकार इस प्रकार है—

'ऊकालोऽच्' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने यह विचार किया कि ह्रस्व संज्ञा-विधान का क्या फल है ? इसके उत्तर में कहा कि 'एच इक् ह्रस्वादेशे' सूत्र में जहाँ ह्रस्वादेश विधेय है वहाँ इस संज्ञा का प्रयोजन है। यदि ह्रस्व संज्ञा नहीं करेंगे तो 'ह्रस्वो नपुंसके' 'णौ चङि' और 'ह्रस्वः' इन तीन सूत्रों में 'एच इक्' ऐसा कहना पड़ेगा जो एक प्रकार का गौरव होगा। इसके बाद पुनः भाष्यकार ने कहा कि उक्त तीनों जगह 'एच इक्' ऐसा करने से छः पद कहने पड़ते हैं। इसकी अपेक्षा ह्रस्व-विधान करने में ही गौरव है क्योंकि इस पक्ष में ह्रस्वविधायक 'ऊकालोऽच्' सूत्र में ह्रस्व ग्रहण करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उक्त तीनों सूत्रों में ह्रस्व ग्रहण करना होता है। इसके बाद 'एच इग् ह्रस्वादेशे' इस सूत्र के चार पद, ये सभी मिलकर ह्रस्व संज्ञा विधान पक्ष में आठ पद करने होते हैं। इस प्रकार इस पक्ष में पद का गौरव होता है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ पदलाघव का ही विचार किया गया है। इसी प्रकार 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' इस सूत्र के भाष्य में अल् और हल् ग्रहण के सम्बन्ध में विशेष विचार करते हुए भाष्यकार ने कहा कि संज्ञायाम्=अपृक्त संज्ञा में जो अल् ग्रहण किया गया है उसकी जगह लाघवात् हल् ग्रहण करना चाहिये। ऐसा करने से एक हल् को अपृक्त संज्ञा होगी। इसका परिणाम यह होगा कि 'हल्-ङ्याब्भ्यः' सूत्र में हल् ग्रहण नहीं करना पड़ेगा, क्योंकि जब अपृक्त संज्ञा हल् को हो रही है तब अपृक्त का लोप कहने से ही हल् का लोप हो जायेगा। किन्तु अपृक्त संज्ञा में हल् ग्रहण करने पर 'ण्यक्षत्रियार्षञितः' इस सूत्र में अण् और इञ् ग्रहण करना होता है क्योंकि ये हल् नहीं हैं। इस प्रकार इस पक्ष में अपृक्त संज्ञा में हल् ग्रहण तथा 'ण्यक्षत्रिय' सूत्र में अण् और इञ् ग्रहण इन तीन पदों का ग्रहण करना पड़ता है। यदि अपृक्त संज्ञा में अल् ग्रहण करते हैं तब 'हलङ्याब्भ्यः' सूत्र में हल्

ग्रहण करना पड़ता है जिससे अपृक्त हल् का लोप हो। इसके अतिरिक्त 'ण्यक्षत्रियार्ष' सूत्र में अपृक्त ग्रहण करने से ही कार्य चल सकता है क्योंकि 'अण् और इञ्' ये दोनों अपृक्त ही हैं। इस प्रकार वहाँ अण् और इञ् का ग्रहण नहीं करना पड़ता है। इस प्रकार इस पक्ष में अपृक्त संज्ञा में अल् ग्रहण, स्वादि लोप में हल् ग्रहण और 'ण्यक्षत्रिय' सूत्र में अपृक्त ग्रहण करना पड़ता है। इस तरह दोनों पक्षों में तीन-तीन पद करने पड़ते हैं, इसलिये किसी भी पक्ष में लाघवकृत विशेषता नहीं है ऐसा कहा गया है। इस भाष्य से स्पष्ट है कि अनेक पद वाले सूत्रों में पदलाघव का ही विचार किया जाता है। वहाँ मात्रा के गौरव-लाघव का विचार नहीं किया जाता है।

'अचि श्नु' (६-४-७७) इति सूत्रे इण इत्येव सिद्धे य्वोरिति सम्मृद्य ग्रहणान्न पूर्वेणेण्ग्रहणम्। तत्र विभक्तिनिर्देशे सम्मृद्य ग्रहणे च सार्धास्तिस्रो मात्रा इण् ग्रहणे तिस्रो मात्रा इति लण्सूत्रे भाष्योक्तेः। तथा 'ओतः श्यनि' (७-३-७१) इति सूत्रे शितीति न वक्तव्यम्। तत्रायमर्थः—'ष्ठिवुक्लमु' (७-३-७५) इति सूत्रे शितीति न कर्तव्यं भवतीति भाष्ये न केवलं मात्रालाघवं यावदयमप्यर्थ इति कैयटोक्तेः प्रायेणेति शिवम्॥ १३३॥

इति शास्त्रशेषनामकं तृतीयं प्रकरणम्॥

इति श्रीमन्महामहोपाध्याय-शिवभट्ट-सतीगर्भजनागोजीभट्टकृतः
परिभाषेन्दुशेखरः समाप्तः।

पहले कह आये हैं कि अनेकपदघटित सूत्रों में प्रायः पदलाघव का ही विचार किया जाता है। इसमें 'प्रायः' पद का फल देते हुए कह रहे हैं कि प्रायः पदलाघव का विचार होता है अर्थात् कहीं-कहीं अनेकपदघटित सूत्रों में मात्रालाघव का भी विचार किया जाता है। जैसे—'अचि श्नु' (६।४।७७) सूत्र से इकार और उकार को इयङ् और उवङ् आदेश किया जाता है। यहाँ स्थानी के रूप में 'य्वोः' यह निर्देश किया गया है। इश्च-उश्च इति यू तयो 'य्वोः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ द्वन्द्वसमास करके 'य्वोः' इस रूप में स्थानी का समृद्य ग्रहण किया गया है। समृद्य ग्रहण करने का तात्पर्य यह है कि यहाँ यणादेश के द्वारा इकार और उकार की निवृत्ति करके 'य्वोः' यह निर्देश किया गया है। यहाँ शंका होती है कि जब इकार और उकार को ही इयङ् और उवङ् करना है तो वहाँ 'इणः' ऐसा स्थानी का पाठ करना चाहिये। इण् कहने से इकार और उकार ये दो ही वर्ण लिये जाते हैं। ऐसी स्थिति में समृद्य=आदेश के द्वारा स्थानी की निवृत्ति करके 'य्वोः' ऐसा पाठ क्यों किया गया? इससे विदित होता है कि इण् प्रत्याहार पूर्व णकार तक नहीं लिया किन्तु

परणकार तक इण् प्रत्याहार लिया जाता है। अब यदि 'इणः' ऐसा पाठ करते तो इण् प्रत्याहार के सारे वर्णों को इयङ् उवङ् की अतिप्रसक्ति होने लगती। इसलिये केवल इकार और उकार के ग्रहण के लिये 'य्वोः' यह निर्देश सार्थक होता है। यदि इण् प्रत्याहार पूर्वणकार तक होता तो उसमें केवल दो ही वर्ण आते। ऐसी स्थिति में 'य्वोः' इस निर्देश की अपेक्षा 'इणः' इस निर्देश में ही लाघव था। क्योंकि 'य्वोः' इस विभक्त्यन्त पद में जहाँ स्थानी का समृद्य ग्रहण (आदेश के द्वारा निवृत्ति करके ग्रहण) किया गया है इसमें साढ़े तीन मात्राएँ होती हैं जब कि 'इणः' इस विभक्त्यन्त पद में तीन मात्राएँ होती हैं। किन्तु 'इणः' ऐसा लघुन्यास न करके 'य्वोः' यह जो मात्राकृत गुरुन्यास किया गया है इससे यही सिद्ध होता है कि इण् प्रत्याहार पर णकार तक होता है। यह बात लण् सूत्र के भाष्य में कही गई है।

यहाँ भाष्यकार ने मात्राकृत गौरव को ही गौरव माना है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कहीं-कहीं मात्राकृत गौरव-लाघव का भी विचार अनेकपद-घटित सूत्रों में किया जाता है।

इसी प्रकार 'ओतः श्यनि' सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि 'शितीति न वक्तव्यम्' इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ 'ओतः श्यनि' ऐसा सूत्र है वहाँ 'ओतः शिति' ऐसा सूत्र कर देना चाहिये। इसका परिणाम यह होगा कि इसके आगे वाले सूत्र 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' (३।४।७५) में शिति ग्रहण नहीं करना पड़ेगा। इस भाष्य से विदित होता है कि भाष्यकार पद लाघव को महत्व देते हैं। कैयट ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा कि न केवल मात्रालाघव ही लाघव है किन्तु अयमपि अर्थः=पद-लाघव भी लाघव है। इससे स्पष्ट होता है कि अपने-अपने स्थानों पर दोनों लाघवों का महत्त्व है। इसीलिये नागेश भट्ट ने मूल में ही लिख दिया कि 'अनेकपदघटित-सूत्रे प्रायेण पदलाघवविचार एव' अर्थात् अनेकपदघटित सूत्र में प्रायः पदलाघव का ही विचार किया जाता है। प्रायः ग्रहण से कहीं-कहीं मात्रालाघव का भी विचार किया ही जाता है। जैसे—'अचि श्नु' सूत्र में मात्रालाघव का विचार किया गया है। इस प्रकार मात्रालाघव और पदलाघव दोनों में भाष्य की सम्मति उपलब्ध होने के कारण भैरवीकार ने परिभाषा के भीतर अपि शब्द के अर्थ का भी सन्निवेश किया है। उनके अनुसार 'अर्धमात्रालाघवेनापि' ऐसा पाठ मानकर इस परिभाषा का ऐसा अर्थ करना चाहिये कि जब वैयाकरणों के लिये अर्धमात्रा का लाघव भी सुखदायक होता है तो पद का लाघव तो अवश्यमेव सुखदायक होगा। इति शिवम्॥ १३३॥

इस प्रकार शास्त्रशेष नामक तृतीय प्रकरण समाप्त हुआ।

इस प्रकार महामहोपाध्याय सतीगर्भज शिवभट्ट सुत नागोजीभट्ट कृत परिभाषेन्दुशेखर सम्पूर्ण हुआ।

विश्वनाथ मिश्र कृत सुबोधिनी हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

जगदानन्द झा

परिशिष्टम्

परिभाषेन्दुशेखरस्थपरिभाषानुक्रमणी

परिभाषाः	परिभाषाङ्कः	पृष्ठ
अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः	५६	२५३
अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तौ	९३	३७९
अनन्तरस्य विधिर्वा	६२	२९०
अनन्त्यविकारे	१०४	४०७
अनिनस्मन्	१६	८०
अनिर्दिष्टार्थाः	१२२	४४९
अनुदात्तेत्त्वलक्षणम्	९७	३८४
अनेकान्ता अनुबन्धाः	४	१९
अन्तरङ्गादप्यपवादो बलीयान्	५७	२६५
अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग् बाधते	५२	२२५
अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यप् बाधते	५४	२४१
अपवादो यद्यन्यत्र	६६	३०१
अभेदका गुणाः	११८	४३८
अभ्यासविकारेषु	६७	३०४
अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य	१४	६६
अर्द्धमात्रालाघवेन	१३३	४७८
अवयवप्रसिद्धेः	१०७	४१७
असिद्धं बहिरङ्गम्	५०	१८०
आगमशास्त्रम्	९५	३८३
आतिदेशिकमनित्यम्	९९	३८८
उणादयोऽव्युत्पन्नानि	२२	९५
उत्तरपदाधिकारे	२५	१०६
उपपदविभक्तेः	१०३	४०२
उपसञ्जनिष्यमाण	६५	२९७
उभयनिर्देशे	७१	३१४
उभयगतिरिह भवति	९	३२
एकदेशविकृतम्	३७	१४७
एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा	१७	८३
एकस्या आकृतेश्चरितः	१२७	४५६
एकान्ताः	५	२५
औपदेशिकप्रायोगिकयोः	१३०	४५९

कार्यकालं संज्ञा	३	६
कार्यमनुभवन् हि कार्यी	१०	३५
कृद्ग्रहणे गति	२८	११७
क्तल्युट्तुमुन्	६९	३१०
क्वचित् कृताकृत	४६	१७५
क्वचित् समुदायेऽपि	११७	४३६
क्वचित् स्वार्थिकाः	८४	३४७
क्वचिदपवादविषये	५९	२८१
क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्त्तते	१८	८६
क्वचिद् विकृतिः	१२९	४५९
गणकार्यमनित्यम्	९६	३८३
गतिकारकोपपदानाम्	७६	३२६
गामादाग्रहणेष्वविशेषः	११५	४३४
गौणमुख्ययोः मुख्ये	१५	७०
ग्रहणवता प्रातिपदिकेन	३१	१३३
चानुकृष्टम्	७९	३३५
ज्ञापकसिद्धं न	१२५	४५१
तदनुबन्धकग्रहणे	८३	३४४
तन्मध्यपतितः	९०	३७४
ताच्छीलिके णेऽण्	८८	३६९
ताच्छीलिकेषु वासरूप	६८	३०७
धातोः कार्यमुच्यमानम्	८९	३७१
नञिवयुक्तमन्य	७५	३२३
नञ्घटितमनित्यम्	९८	३८५
नाजानन्तर्ये बहिष्ट्व	५१	२१५
नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिः	१०५	४१३
नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्	६	२६
नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्	७	२९
नानुबन्धकृतमसारूप्यम्	८	३१
निरनुबन्धकग्रहणे	८२	३४४
निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति	१२	५१
निषेधाश्च बलीयांसः	१२१	४४७
पदगौरवाद् योग	१३२	४७६
पदाङ्गाधिकारे	२९	१२२
परान्नित्यं बलवत्	४२	१७०

पर्जन्यवल्लक्षण	१२०	४४५
पर्यायशब्दानाम्	१२४	४५१
पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्	३९	१५५
पुरस्तादपवादाः	६०	२२८
पूर्वं ह्यपवादाः	६३	२९४
पूर्वत्रासिद्धीयम्	१२५	४५३
पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानाम्	३८	१५२
पूर्वोत्तरपदनिमित्त	५३	२४०
प्रकल्प्य चापवाद	६४	२९६
प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्यापि	९२	३७८
प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि	१०१	३९१
प्रकृतिवदनुकरणम्	३६	१४५
प्रत्ययग्रहणे चापश्चम्याः	२४	१०१
प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स	२३	९६
प्रत्ययाप्रत्ययोः	१११	४२४
प्रत्येकं वाक्य	११६	४३५
प्रधानाप्रधानयोः	१०६	४१५
प्रातिपदिकग्रहणे	७२	३१६
बहुव्रीहौ तद्गुण	७८	३३३
बाधकान्येव	११९	४४४
भाव्यमानेन सवर्णानाम्	१९	८७
भाव्यमानोप्युकारः	२०	९१
मध्येपवादाः पूर्वान्	६१	२८९
यत्रानेकविधमान्तर्यम्	१३	६३
यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्	२	६
यदागमास्तद्गुणीभूताः	११	४१
यस्मिन् विधिस्तदादौ	३३	१३९
यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते तदप्यनित्यम्	४७	१७६
यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम्	४८	१७७
येन नाप्राप्ते यो विधिः	५८	२६८
योगविभागादिष्टसिद्धिः	१२३	४५०
लक्षणप्रतिपदोक्तयोः	११४	४३१
लक्षणान्तरेण प्राप्नुवन्	४५	१७४
लादेशेषु वासरूप	७०	३१२
लुग्विकरणालुग्विकरणयोः	९१	३७५

वर्णाश्रये नास्ति	२१	९२
वार्णादाङ्गं बलीयः	५५	२४२
विकरणेभ्यो नियमः	४१	१६६
विधिनियमसम्भवे	१०९	४२०
विधौ परिभाषोपतिष्ठते	१०२	३९५
विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्	७३	३२०
व्यपदेशिवदेकस्मिन्	३०	१२५
व्यपदेशिवद्भावः	३२	१३६
व्यवस्थितविभाषयापि	१०८	४१९
व्याख्यानतो विशेष	१	३
शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन्	४३	१७२
शब्दान्तरात् प्राप्नुवतः	४४	१७३
श्तिपा शपाऽनुबन्धेन	१३१	४६४
श्रुतानुमितयोः	११३	४२९
संज्ञापूर्वकविधेः	९४	३८२
संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे	२७	११५
सकृद्गतौ विप्रतिषेधे	४०	१५६
सन्निपातलक्षणो विधिः	८६	३५०
सन्नियोगशिष्टानाम्	८७	३६५
सम्प्रसारणं तदाश्रयञ्च	१२८	४५७
समासान्तविधिरनित्यः	८५	३४८
सर्वविधिभ्यो लोपविधिः	१००	३८९
सर्वे विधयश्छन्दसि	३५	१४४
सर्वो द्वन्द्वो विभाषा	३४	१४१
सहचरितासहचरितयोः	११२	४२६
सामान्यातिदेशे	११०	४२२
साम्प्रतिकाभावे	७७	३३२
सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्	७४	३२१
स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न	२६	१०८
स्वरभिन्नस्य प्राप्नुवन्	४९	१७८
स्वरविधौ व्यञ्जनम्	८०	३३८
हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्	८१	३४२

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१६	अम्बयती	अम्बयति
१	२०	गन्थ	ग्रन्थ
१	२६	कैय्यटादि	कैयटादि
२	३०	वाचनिकाभि-	वाचनिकानि-
३	२३–२४	इस प्रथम	इस प्रकार प्रथम
४	६	किसी	किस
४	१३	-व्यवहारेण । सन्देह-	-व्यवहारेण सन्देह-
६	२८	यथोद्देश्यपक्ष	यथोद्देशपक्ष
७	९	मृजेर्वृद्धि	मृजेर्वृद्धिः
७	२१	श्रुतग्रहि	श्रुतग्राहि
८	३	कैयटभाष्य	कैयट
८	६	सप्तमीनिर्देशादिः क्व	सप्तमीनिर्देशादि क्व
९	२२	पदार्थ	परार्थ
१०	५	प्रधानान्यत्म	प्रधानान्यात्म
१०	८	व्यवहर्तृणां	व्यवहर्तृणां
१०	२६	व्यावहारिक	व्यावहारिक जन
११	१९	जीव्योपजीवकभाव	जीव्योपजीवकभावपन्न
११	१९	वाक्यैक्य-वाक्यता	वाक्यैकवाक्यता
१२	२९	सूत्र प्रवृत्ति	सूत्र की प्रवृत्ति
१३	२	इत्यादि	इत्त्वादि
१३	१९	हैं । यह	हैं यह
१३	२९	जाता है । ऐसा	जाता है ऐसा
१४	१८	कार्यकाल ‘	‘ कार्यकालं
१८	२०	संस्कारभाव	संस्काराभाव
१९	३	यथोद्देशपक्ष में	यथोद्देशपक्ष में स्वदेश में
२१	९	समीपेऽवयवत्वरोपेण	समीपेऽवयवत्वारोपेण
२२	२३	अनेकान्ता	अनेकान्ताः
२२	२४	एव’ । यह	एव’ यह
२२	२६	वह्नि	वह्निः
२३	४	हैं । यह	हैं यह
२३	१२	अनवयवत्वाभाव वन्तो	अनवयवत्वाभाववन्तो
२३	१८	अनुबन्धा	अनुबन्धाः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३	२४	अनुबन्धा	अनुबन्धाः
२३	२६	अनुबन्धा	अनुबन्धाः
२४	१२	अनुबन्धा	अनुबन्धाः
२४	३१	अनुबन्धा	अनुबन्धाः
२५	३०	अनुबन्धबोधक	अनुबन्ध बोधक
२६	६	अनुबन्धा	अनुबन्धाः
२६	८	है । इस	है इस
२८	२१	दान	दात
३१	२८	अण	अण्
३२	७	इति	डति
३२	१६	शब्दों को	शब्दों के
३३	३१	क्रत्रिम	कृत्रिम
३५	२	अकिञ्चितकर	अकिञ्चित्कर
३५	७	शायिता	शयिता
३५	२२	सप्तम्पन्त	सप्तम्यन्त
३६	१७	ङित्निमित्तक नहीं कहा	ङित्निमित्तक कहा
३६	२६	अतिरिषति	अरिरिषति
३७	२२	सन्यङो	सन्यङोः
३८	२४	तथा	तथा नु
३९	१	अर्णृनविषति	उर्णुनविषति
३९	६	इसमें	इस में
३९	१४	इसको	इस को
३९	२१	सकल और	सकल लोक और
३९	२९	है । वह	है वह
३९	३०	सकता । यह	सकता; यह
४०	४	जेघ्रीयते' इन	'जेघ्रीयते' और 'देध्मीयते' इन
४०	६	ध्या धातु	ध्मा धातु
४०	६	ध्या-य	ध्मा-य
४०	७	घ्राध्योः	घ्राध्मोः
४०	११	देध्यीयते	देध्मीयते
४२	३१	(आगामी)	(आगमी)
४३	१०	दार	दार्
४३	२५	पचान्	पचान
४३	२६	पच-आन्	पच-आन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४	१४	सकता है? क्योंकि	सकता है? किन्तु यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि
४४	२०	सदृश में है	सदृश है
४७	२५	शब्द की	शब्द के
४७	२९	सहित करना	सहित आदेश करना
४८	१५	परिभाषया	परिभाषाया
४८	१८	त्रयोदेश	त्रयादेश
४८	२०	स्थानिवत्सूत्रग्रहणेन	स्थानिवत्सूत्रे ग्रहणेन
४९	२६	उपास्थाप्य	उपस्थाप्य
५१	२८	आकार	अकार
५३	३	परिस्थिति	पस्थिति
५४	२०	अकार	आकार
५४	२५	जो शब्द	जो उ शब्द
५४	२८	निर्दिश्यमान्	निर्दिश्यमान
५५	७	हो। किन्तु	हो, किन्तु
५५	१३	लिए अन्त्य	लिए और अन्त्य
५५	१४	कारण	करण
५५	१८	निर्दिश्यमान्	निर्दिश्यमान
६२	१६	दोनों के दोनों स्थान	दोनों के स्थान
६२	२०	निर्दिश्यमान्	निर्दिश्यमान
६४	२	वाक्यमेव	वाक्यभेद
६५	१८	पद	पद्
६६	१९	षठीसमास	षष्ठीसमास
६६	३२	अनर्थ	अनर्थक
६७	२६	विशेष	विशेष्य
६८	२५	व्यावृत्त	व्यावृत्ति
७०	७	शब्द का	शब्द शब्द का
७०	३२	से	में
७१	२६	शब्द प्रयोग	शब्द का प्रयोग
७३	३०	परिभाषा	परिभाषा का
७८	७	कृष्णं	कृष्णां
७८	८	है। इस	है, इस
७८	१५	द्वितीय	द्वितीया

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८२	१७	लगे । इस	लगे इस
८२	२३	परिवेविष	परिवेविष्
८५	२५	इदूत्	ईदूत्
८९	२१	न' इस	न' । इस
९०	११	न' यह	न' । यह
९०	२०	उदित	उदित्
९०	२२	उदित	उदित्
९०	२५	दीर्घविधानं	दीर्घविधानं न
९५	१८	कर कर	कर
९९	१०	स्पष्ट	स्पष्ट है
१०२	९	विशेष	विशेष्य
१०२	२२	धात्वयव	धात्ववयव
१०३	२१	ऐसा देशरूपी	ऐसादेशरूपी
१०५	२०	'उक्तमैकाभ्याम्'	'उत्तमैकाभ्याम्'
११२	३२	तदर्थ	तदर्थं
११४	२१	समासग्रहणअप्राप्त-	समासग्रहण अप्राप्त-
११७	२८	-द्धतस्य	—द्धृतस्य
१२६	३	सभासन्नयनेन	समासन्नयने
१२६	२६	शब्द असहाय	शब्द है, उससे घटित होने के कारण सभासन्नयन शब्द असहाय
१२६	३०	व्यपदेशिवद्भाव	व्यपदेशिवद्भाव
१२७	३	असहाय	ससहाय
१२७	४	भासन्नयन	सभासन्नयन
१२७	७	इकारान्तर	इकारान्त
१२८	१९	तद्द्वितीय	तद्धितीय
१२९	२२	भीतरवर्ती	भीतर वर्ती
१२९	२२	विपक्षा	विवक्षा
१३०	७	है असहाय	है । असहाय
१३३	१९	लगे । इसलिये	लगे इसलिये
१३७	१	ङ,	ङ,
१३७	१२	तावत्	तावत
१४६	७	कि यह	कि यह परिभाषा अनित्य है । यह
१४६	२०	देश औ	देश से औ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४८	२४	कुता	कुत्ता
१५९	३१	जातिपद	जाति, पद
१६४	१८	विशिष्ट	विशिष्ट में
१६८	२	करने	करने पर
१६८	२३	'पक्षविहितानां	पक्ष 'विहितानां
१६८	२९	तबादि-	तिबादि-
१६९	२१	होंगी । और	होंगी और
१७१	३०	करें	करें या न करें
१७२	१४	स्थिति	इस स्थिति
१७२	२५	'न विश्	'नि विश्
१७४	१०	होता जाता	हो जाता
१७५	२१	अपेक्षा तो	अपेक्षा
१७६	४	नित्यत्वे न	नित्यत्वेन
१७६	१८	डवङ्	उवङ्
१७७	१९	वक्तव्यम्' यह	वक्तव्यम्'
१७८	१७	स्वर-भिन्न के भिन्न के	स्वर-भिन्न के
१८०	२७	निमितानि	निमित्तानि
१८४	२९	गुणादूड-	गुणादूठ-
१८५	६	गुणादूड-	गुणादूठ-
१८५	१७	है ।	है ?
१८८	१२	चारितार्थ	चरितार्थं
१८८	३२	बनाकर बहि-	बनाकर
१८९	५	वृश्चादिषु	व्रश्चादिषु
१८९	१३	एकारादेश	ऐकारादेश
१८९	१५	बहिरङ्ग	बहिरङ्ग असिद्ध
१९०	११	परिभाषा के	परिभाषा के प्रति
१९०	२३	सूत्रं	सूत्रे
१९५	१५	वृद्धि होगी	विसर्ग होगा
१९५	२३	दृष्टि	दृष्टि में
१९७	१५	नित्यवात् । पहले	नित्यत्वात् पहले
२०२	१४	सारूप	रूप
२०२	२२	कृत	कृत्
२०८	१३	नहीं है । इस	नहीं है, इस
२१२	१०	दिया है ।	दिया जाता है ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१२	१६	सूत्र है ।	सूत्र बाधक है ।
२१३	१३	आदणीय	आदरणीय
२१४	१७	'हम्यन्तक्षण'	'ह्म्यन्तक्षण'
२१५	११	लक्षण	लक्षणा
२१७	४	आकार	अकार
२२१	३२	ह्रास्वान्त	ह्रस्वान्त
२२३	२१	में	ये
२२५	२१	'हय:'	'ह्य:'
२२७	७	है । ऐसा	है ऐसा
२२७	२३	है । तब	है तब
२२९	७	होता है,	होता,
२२९	१२	बाधकाबाधनार्थं	बाधकबाधनार्थं
२३१	१४	केयट	कैयट
२३३	२९	आधे	आद्ये
२३४	१३	बोध न	बोधन
२३५	२	प्राप्त है	प्राप्त है ।
२३६	९	'इन्द्र'	'न्द्र'
२३६	२०	मरुदा-	मरुदादि-
२३८	२१	विग्रह में विभक्ति	विग्रह में समास और विभक्ति का लुक्
२४०	४	स्थिति में	स्थिति में पूर्वपद के आदि अच् की भाँति
२४०	१७	इव	एव
२४२	३१	'इषतु:'	'ईषतु:'
२४५	१०	दीर्घ को	दीर्घ
२४६	२२	यहाँ	जहाँ
२४७	७	प्राप्त	प्राप्ति
२४८	१५	कार्यी है ।	कार्यी है
२४८	२२	कार्य यहाँ	कार्य
२५०	३१	जाता है ।	जाता है
२५१	२७	स्थित	स्थिति
२५४	६	'सौत्थित:'	'सौत्थिति:'
२५६	९६	'आ न'	'आन'
२६१	१८	इनका है	इनका कहना है
२६३	३	इदम् समर्थग्रहण,	इदम्=समर्थग्रहण

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६५	१०	जाय ।	जाय
२६७	१८	यही	यह
२६८	२५	तेन	येन
२७०	३०	सम्बन्ध में	सम्बन्ध से
२७६	८	रहता है ।	रहता है
२८१	१६	उपसर्ग	उत्सर्ग
२८१	१८	होती	होता
२८१	२६	वह	वहाँ
२८४	१३	ह्रस्वइकारघटक	ह्रस्वइकारघटित
२८४	१४	के भी ग्रहण	के मी ग्रहण
२९४	२१	तो यह	तो
२९७	२४	होती है ।	होती है
३०१	१७	गया	गया है ॥ ६५ ॥
३०१	१८	यजे	अयजे
३०७	३१	नृन्	तृन्
३०८	१०	जाता है । उनमें	जाता है उनमें
३११	१४	कत्य	कृत्य
३१२	२८	लङ् की	लङ् विधान की
३१२	२९	लङ् का विकल्प	लङ् का बाध विकल्प
३१५	४	की है ।	की गई है ।
४१७	३०	मद्रराज्ञी	मद्रराजी
३२०	१९	लिङ्गविशिष्टग्रहणम्	लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्
३२१	११	'गार्यो,	'गार्ग्यो,
३२१	२८	वान्य	धान्य
३२५	१८	अकार	आकार
३३२	५	सुत	स्रत्
३३६	११	होता	होती
३३६	१५	'द्युप्रागयाग्'	'द्युप्रागपाग्'
३३६	१६	'अधीद्यत्'	'अर्धाद्यत्'
३३६	२०	'पितृर्यच्च'	'पितुर्यच्च'
३३९	१	स्वराद्देश्यक-	स्वरोद्देश्यक-
३४१	३२	'राजदृषद'	'राजदृषद्'
३४४	४	निरकबन्धक-	निरनुबन्धक-
३४७	८	में हुआ	में किया हुआ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५०	६	'मीनति	मीनाति
३५०	१३	विधान	विघात
३५०	२७	सनिपातः	सन्निपातः
३५१	१४	तद्विघातकत्वात् ।	तदविघातकत्वात् ।
३५९	३२	-प्रकृतीन्-	-प्रकृतीञ्-
३६३	२३	तो अनित्य	तो । अनित्य
३६३	३०	'त्यदीनामः'	'त्यदादीनामः'
३६४	३०	रही है	होनी चाहिए
३६५	२२	कुकोनिवृत्तिर्यथा	कुकोऽनिवृत्तिर्यथा
३६७	१३	से की कुक्	से ही कुक्
३६८	२	है ऐसे	है कि ऐसे
३७२	१५	चर्दुपधस्या	चर्युपधस्या
३७३	२९	'सर्वको'	'सर्वके'
३७६	८	इट् का निषेध	वैकल्पिक इट् का विधान
३७६	१८	'षूङ्०'	'सूङ्
३७६	२२	'षूङ्'	'सूङ्'
३७६	२३	षूङ्	सूङ्
३७८	३	षङ्	षूङ्
३७९	२२	लोप	टिलोप
३८१	२६	परिभाषा	परिभाषा का
३८३	१	वव्रत	प्रव्रत
३८३	२०	तर्त्तम्	तर्त्तुम्
३८४	१२	अनुदात्तेश्च	अनुदात्तेतश्च
३८७	३	वा' धा	वा' से धा
३८८	२१	सुभ्रू	सुभ्रु
३८८	२४	सुभ्रू	सुभ्रु
३८९	२	ड्लोट्	ङ्लोट्
३९५	१२	हों	होंगे
४०१	३३	है यदि	है । यदि
४०२	१	होती	होती है ।
४०२	८	पर यह	पर
४०३	१५	यहाँ	जहाँ यह
४०३	१७	यह बात	यह
४०३	२०	में चतुर्थी	में जो चतुर्थी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४०३	२१	में होती	में प्राप्त होती
४०४	२	बोध	बाध
४०४	१५	है । यह	है यह
४०४	२१	कैयट	कैयट ने
४०५	७	न्यायमूलिका	न्यायमूलिका ।
४०५	२८	हैं, इसलिये	हैं और इसलिये
४०६	३	सूत्र के	सूत्र के भाष्य में
४०९	२३	है यदि	है कि यदि
४०९	३१	स्थिति	स्थिति में
४१०	८	में इस	में
४११	२५	मृज	मृज्
४११	२७	वृद्धि होती	वृद्धि प्राप्त होती
४१७	१३	करने	करने पर
४१७	२६	बढ़ई का	बढ़ई उसका
४२०	२२	की	को
४२१	२९	शाखान्तर	शास्त्रान्तर
४२४	२०	ऋत	ऋत
४२४	२०	सूत्र और ऋकार	सूत्र से ऋकार
४२५	७	सत्र	सूत्र
४२७	५	शब्द ही	शब्द उपसर्ग ही
४२८	२३	से	में
४२९	१७	को	की
४३४	२४	स्थिति जब	स्थिति में जब
४३४	२३	धातु का	धातु का दाप्
४३५	१३	स्थान	स्थान पर
४३५	३३	प्रर्याप्ति-	पर्याप्ति-
४३६	८	समुदायावृत्तित्व	समुदायवृत्तित्व
४३७	८	तो इस	तो वे इस
४३७	१३	हैं कि	हैं कि वाक्य की
४३८	२९	'डुदात्तः'	डुदात्तः'
४४१	८	श्रुत	श्रुति
४४२	१३	नियातन	निपातन
४४२	३२	सूत्र	सूत्र से
४४३	५	है, दोनों	है । इस प्रकार दोनों

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४४	९	णात्वाभाव-	णत्वाभाव-
४४६	२९	'उदवोठाम्'	'उदवोढाम्'
४४८	१४	सवण	सवर्ण
४५२	५	स्थानिवत्सत्र, म्	स्थानिवत्सूत्रम्,
४५२	१५	'द्विषतीतायः'	'द्विषतीतापः'
४५२	१६	'द्विषत्परपोस्तायें'	'द्विषत्परयोस्तापें'
४५२	१७	'ताच्छीलिकेऽण् कृतानि	'ताच्छीलिके णेऽण्कृतानि
४५४	१५	उत्' शास्त्र	उत्' पूर्वशास्त्र
४५४	१६	तगह	जगह
४५४	२०	'कृष्णार्-	'कृष्णर्-
३५७	५	धातु	धातु से
४५७	२९	को	की
४५८	९	हैं । इसका	हैं इसका
४५८	१३	धातु	धातु से
४५९	२	'च्ल और चिङ्'	'च्लि और चङ्'
४५९	३०	ह्वेऽनुकरणे	ह्वेओऽनुकरणे
४६०	१४	अपौदेशिक	औपदेशिक
४६४	४	'रो रिः'	'रो रि'
४६५	३१	धातु	धातु से
४६९	३	स्थिति एक में	स्थिति में
४७१	१०	'यङ्लोपो	'यङ्लोपे
४७२	८	हो	ही
४७४	१४	'गर्धप'	'गर्धप्'
४७४	१६	'गर्दभ'	'गर्दभ्'
४७४	२५	'अजर्गर्ध'	'अजर्गर्ध्'
४७४	२६	'गर्ध'	'गर्ध्'
४७५	३०	जिस	जिससे
४७६	२१	गरियान्	गरीयान्
४७६	२५	कृतिमिति	कृतमिति
४७७	५	अल्पआयासासाध्य	अल्पआयाससाध्य
४७८	९	आनन्दजनिका	आनन्दजनक

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

'बालमनोरमा' एवं 'दीपिका' हिन्दी व्याख्या सहित

व्याख्याकार—श्री गोपालदत्त पाण्डेय

(भूतपूर्व उप-शिक्षानिदेशक, उत्तरप्रदेश)

(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत)

श्रीयुत् भट्टोजिदीक्षित प्रणीत सिद्धान्तकौमुदी का प्रस्तुत अभिनव संस्करण एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर भट्टोजिदीक्षित ने प्रक्रियोपयोगी सूत्रों का यथा-स्थान चयन कर प्रकरण-विभाग का समावेश करते हुए "सिद्धान्तकौमुदी" नामक वृत्तिग्रन्थ लिखा। कौमुदी का मूल आधार अष्टाध्यायी के सूत्र हैं। इसकी अनेक टीकाओं में वासुदेव दीक्षित विरचित "बालमनोरमा" बहुत प्रसिद्ध एवम् उपयोगी है। वर्तमान समय में हिन्दी राष्ट्रभाषा होने के कारण संस्कृत के ग्रन्थरत्नों का हिन्दी में मौलिक व्याख्यान अपेक्षित है। व्याख्याकार ने व्याकरण की वैज्ञानिकता को दृष्टिगत कर 'दीपिका' व्याख्या द्वारा विषय को बोधगम्य बनाया है। साधनिका (रूपसिद्धि) करते समय प्रक्रिया के प्रत्येक चरण को तत्सम्बन्धी सूत्रों द्वारा स्पष्ट करने का (गणित के समान हल करने का) प्रयास किया है। सूत्रार्थ करते समय अनुवृत्ति-क्रम, विभक्ति-विपर्यय, शब्दों की यौगिकसिद्धि, परिभाषाओं का ज्ञापन आदि प्रकारों की उपयोगिता पर भी यथेष्ट बल दिया गया है। प्रस्तुत संस्करण की सहायता से छात्र मूल ग्रन्थ की उपयोगिता को समझ व्याकरण-शास्त्र की व्यावहारिकता को जानने में समर्थ होंगे। केवल छात्रवर्ग ही इससे उपकृत नहीं होगा अपितु शोध-कर्ताओं के लिये भी इसमें प्रचुर सामग्री उपलब्ध होगी। कारकान्त प्रथम भाग ७५-००

शेष भाग शीघ्रप्राप्य

हिन्दी लघुसिद्धान्तकौमुदी

व्याख्याकार—श्री महेशसिंह कुशवाहा एम. ए.

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत, नवीन शिक्षण-पद्धति पर आधारित

वैज्ञानिक, विवेचनात्मक सर्वोत्तम संस्करण)

पुस्तक की व्याख्या बहुत ही सुबोध और आधुनिक शैली में प्रस्तुत की गई है। कहीं भी पुरानी पण्डिताऊ शैली का प्रयोग नहीं हुआ है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके व्याख्या में वृत्ति का अर्थ न देकर सूत्र का अर्थ दिया गया है। प्रत्येक सूत्र का विभक्ति-निर्देश कर पहले शब्दार्थ दिया गया है और फिर अनुवृत्ति देकर उसका भावार्थ। अन्त में उपयुक्त उदाहरण देकर उस अर्थ को पुष्ट किया गया है। सूत्र में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों और प्रत्याहारों को भी स्पष्ट और प्रचलित शब्दों में प्रकट किया गया है। अनेकों आलोच-नात्मक और विवेचनात्मक टिप्पणियाँ दी गई हैं जो कि सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों को भी स्पष्ट कर देती हैं। व्याख्या सरल होने के साथ ही प्रामाणिक भी है, क्योंकि उसका आधार वृत्ति न होकर महाभाष्य, काशिका आदि आर्षग्रन्थ हैं। **व्याख्या भाग—संपूर्ण ८५-००**

द्वितीयखण्ड : परिशिष्टात्मक रूपसिद्धि भाग २५-००

पुस्तक-प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१